प्रकाशक—
श्रीमुकुन्दीलाल श्रीवास्तव
श्रीकाशी विद्यापीठ, काशी ।



मुद्रक—
वा० वि० पराड़कर
ज्ञानमण्डल यंत्रालय, काशी ।

हिन्दूभारतका उत्कर्ष ।

अर्थात्

राजपूतोंका प्रारंभिक इतिहास ।

प्रशंसन ।

श्री चिंतामणि विनायक वैद्यजीकी यह इच्छा हुई कि उनके लिखे हुए "मध्यकालीन भारतके इतिहास" के हिन्दी रूपका उपस्थापन, हिन्दी भाषा बोलनेवाली जनताके सामने, मैं करूँ। श्री वैद्यजीकी उदारबुद्धि, देशभक्ति, देशसेवा, भारतोद्धारेच्छा, बृहत्पांडित्य, पौरस्त्यपाश्चात्योभयविद्यापूर्णता, सरलहृदयता, प्रसन्नचित्तता, श्रमशीलता और वयोवृद्धताके लिये मेरे मनमें जो भूयिष्ठ आदर है उसने मुझको विवश किया कि उनकी आज्ञाका पालन करूँ। तथा भारतीय मध्यकालीन इतिहासके विषयमें मेरी अल्पज्ञता विवश करती है कि प्रस्तावनाको संक्षिप्त करूँ।

इस पुस्तकके अंग्रेजी रूपकी तीनों जिल्द मैंने अक्षरशः आद्योपांत पढ़ीं। मेरे जानमें ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ अबतक नहीं लिखा गया है, जिसमें ६०० से १२०० ई० (अर्थात् ६५७ से १२५७ वि०) तक छः सौ वर्षका इतिहास, भारतका, इस योग्यतासे, इस विस्तारसे, इस शृंखलाबद्ध क्रमसे, इस तथ्यान्वेषणके भावसे, इस युक्तिपूर्ण कार्यकारणसम्बन्धप्रदर्शनसे, और भारतके उद्धारके कार्यमें सहायता देनेकी ऐसी नियतसे, लिखा गया हो। प्रत्येक भारतवासीको चाहिये कि इस ग्रंथको पढ़े और इसमें एकत्र किये हुए ज्ञानको अपने मनमें विचारपूर्वक ले आवे, किन किन कारणोंसे कब कब भारतवर्षके भिन्न प्रांतोंके जनसमुदायोंका उत्कर्ष हुआ और किन किन कारणोंसे क्या क्या आपत्ति
उनका अधःपात हुआ, इसको विशेष ध्यानसे अपने मनमें स्थिर

करै, और तब देशोद्धार कार्यमें यथाशक्ति स्वयं प्रयत्न करै और दूसरोंकी सहायता करै।

इतिहासकी बड़ी महिमा प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंमें तथा पाश्चात्य आधुनिक विद्वद्ग्रन्थोंमें कही है।

इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदं भगवोऽध्येमि। (छांदोग्य उपनिषत्)।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥

(मनु-महाभारतादि)

इतिहासके उदाहरणोंसे वेद वेदांत और तन्निष्ठ धर्मका मर्म ठीक ठीक समझमें आता है, अन्यथा नहीं। जो बहुश्रुत नहीं, जो विविध ज्ञान नहीं रखता, जिसको इतिहासका विषय विदित नहीं, उससे वेद डरता है कि यह मेरे अर्थका प्रवचन नहीं प्रवञ्चन करैगा, प्रसारण प्रचारण नहीं प्रतारण करैगा, वह धर्मके स्थानमें अधर्मका उपदेश करैगा। ऐसे मनुष्यका अपनेको धर्म-व्यवस्थापक कहना दम्भमात्र है। वह वेदके अर्थका भी और समस्त जनताका भी प्रतारण प्रवञ्चन करैगा।

महाभारतादि आर्ष लोकहितैषी कारुणिक ग्रन्थोंमें भीष्मादि महाप्रामाणिक महापुरुष जब उपदेश करते हैं तो बीच बीच में,

अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्।

कहके उदाहरण द्वारा उस उपदेशको समझा देते हैं, श्रोता के मनमें बैठा देते हैं। सर्वाङ्गीण शिक्षा उत्तम इतिहासके ग्रन्थसे जैसी हो सकती है वैसी किसी दूसरे विशेष शास्त्रके ग्रन्थसे नहीं।

इसलिये ऐसे ग्रन्थोंका परिशीलन, जैसा वैद्यजीका यह ग्रन्थ है, सब भारतीयोंके लिये नितांत उपयोगी है।

यदि इसमें दोष है तो इतना ही कि यह तीन ही जिल्दोंमें क्यों समाप्त हो गया है, इसको तो नौ नहीं तो छः तक में विस्तीर्ण होना चाहता था। श्रेयसि केन तृप्यते। यदि इसके दूसरे संस्करणमें, तत्कालीन साहित्यका इतिहास भी समाविष्ट किया जाय तो बिना आयास इसका परिमाण दूना हो जाय, तात्कालिक सामाजिक रहन-सहनपर प्रकाश पड़े और उसका भी हाल बहुत सा विदित हो, और ग्रन्थकी सरसता भी बढ़ जाय। इन छ- सौ वर्षोंमें बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, तामिल, तेलगू, तथा अन्य देशभाषाओंमें वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम आदि संप्रदायों के अनुयायी विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने सहस्रों ग्रन्थ विविध काव्य और विविध शास्त्रके लिखे हैं। उनकी जीवनी और उनके ग्रंथोंके विशेषोंका अति संक्षिप्त वर्णन भी, उनके समयकी बड़ी बड़ी प्रभावशालिनी परिवर्त्तनकारिणी घटनाओंके सम्बन्धमें, यदि कुछ इस ग्रन्थके दूसरे संस्करणमें मिला दिया जाय तो यह ग्रंथ अधिक रोचक और शिक्षाप्रद हो जाय। पुनरपि, श्रेयसि केन तृप्यते। मैं बहुत आशा करता हूँ कि इस उत्तम ग्रन्थके निदर्शनसे प्रभावित होकर नयी पीढ़ीके भावी उत्तम विद्वान् "मध्यकाल" के पूर्वकाल और पश्चात्कालका भी इसी प्रकारसे विस्तृत इतिहास लिखकर देशकी सतज्ञानवृद्धिमें सहायता देंगे।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

दीपावली, १९८५ } भगवान् दास

विषय-सूची

तीसरी पुस्तक

राजपूतोंकी उत्पत्ति

चौथी पुस्तक

अन्यान्य हिन्दू राज्य

प्रकरण पृष्ठ

पाँचवीं पुस्तक

साधारण परिस्थिति

परिशिष्ट

प्रस्तावना ।

'मध्ययुगीन भारत' का यह दूसरा भाग आज हम पाठकोंको भेंट कर रहे हैं। जैसा कि पहले भागकी प्रस्तावनामें कहा जा चुका है, 'मध्ययुगीन भारत' भारतवर्षका मध्ययुगका इतिहास है और यह काल ६०० ई० से १२०० ई० तक माना गया है। पहले भागकी प्रस्तावनामें यह भी दिखाया जा चुका है कि भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके तीन विभाग होते हैं—१. आर्यकाल (५००० ई० पू० से ३०० ई० पू० तक), २. आर्य-बौद्ध-काल (३०० ई० पू० से ६०० ई० तक) और ३. हिन्दू-काल (६०० ई० से १२०० ई० तक)। इसी तीसरे कालका इतिहास हम लिखने जा रहे हैं। इस कालको हम हिन्दूकाल इसलिये कहते हैं कि इसमें हिन्दूधर्मको वह रूप प्राप्त हुआ जिसमें हम आजकल उसे पाते हैं। थोड़ेमें यों कह सकते हैं कि दूसरे कालविभागमें प्राचीन आर्यधर्म और बौद्धधर्मका जो संघर्ष चलता रहा इस कालमें वह मिट गया और आर्यधर्मको हिन्दूधर्मका रूप प्राप्त हुआ जो प्राचीन आर्यधर्म और बौद्ध धर्म दोनोंका मिश्रण है। भारतवर्षके इतिहासका इसे मध्ययुग ही कहना उचित होगा, क्योंकि इस कालके अन्तमें उत्तरी हिन्दुस्थानमें मुसलमानोंकी सत्ता स्थापित हो गयी और थोड़े ही दिनोंमें—१३०० ई० के लगभग—दक्षिण भी उनके अधीन हो गया।

पहले भागके मुखपृष्ठपर इस इतिहासका एक और नाम दिया गया है—"हिन्दू राज्योंका उदय, उत्कर्ष और उच्छेद।"

इस नामकी सार्थकता प्रस्तुत प्रस्तावनामें दिखाई जा सकती है। हिन्दूकालके भी मोटे हिसाबसे तीन उपविभाग होते हैं और प्रत्येक उपविभागमें साधारणतः भिन्न भिन्न हिन्दू राजा दिखाई देते हैं। प्रथम दो सौ वर्षोंके उपविभागमें पहले हिन्दू राज्य स्थापित हुए देख पड़ते हैं--अर्थात् आर्य-बौद्ध राजवंशोंका नाश होकर उनकी जगह नये हिन्दू राज्य स्थापित हुए। फलतः प्रथम उपविभाग (६०० से ८०० ई० तक) हिन्दू राज्योंका उदयकाल ठहरता है। दूसरे उपविभागमें ये राज्य भी नष्ट हो गये और दूसरे नये हिन्दू राज्योंकी स्थापना तथा अतिशय उत्कर्ष हुआ अतः इस विभागके राज्योंका काल हिन्दू राज्योंका उत्कर्ष-काल है। ये राज्य प्रायः सब एक साथ ही नष्ट हुए और तीसरे उपविभागमें हिन्दू राज्योंकी तीसरी श्रेणीकी स्थापना हुई जिसे महम्मद ग़ोरी आदि मुसलमान बादशाहोंने लगभग २५ सालके अरसेमें ही नष्ट कर डाला। फलतः अगले विभागमें हमें हिन्दू राज्योंके विनाशका वर्णन करना पड़ेगा। इस उपविभागका विस्तार १००० ई० से १२०० ई० तक है। इसमें महमूद ग़ज़नवीके आक्रमणोंसे लगाकर महम्मद-ग़ोरीके साथ पानीपतके मैदानमें हुए पृथ्वीराजके घोर संग्राम तकका इतिहास देना होगा। अस्तु, इस भागमें हमें हिन्दू राज्योंके उत्कर्ष-वर्णनका प्रिय तथा महत्वयुक्त कार्य करना है। इसीसे हमने इस भागके अन्तमें एक प्रकरण खास तौरसे बढ़ाया है जिसका शीर्षक है—"नवीं और दसवीं शताब्दी—अर्थात् भारतके इतिहासमें अत्यन्त सुखसमृद्धिका समय" उसमें जो विवेचना की गयी है वह कहाँतक ग्राह्य है, इसका निर्णय पाठकोंपर ही छोड़ देना ठीक होगा।

इस भागका एक और भी नाम हमने दिया है--"राजपू-

तोंका प्रारंभिक इतिहास"। इस महत्वमय नामकी यथार्थता इस भागको पढ़नेसे सहज ही प्रकट हो जावगी। राजपूत लोग इस कालके अर्थात् ८०० ई० के आसपास कहांसे भारतीय इतिहासकी रङ्गभूमि पर आगये, यह इस देशके प्राचीन इतिहासका एक बहुत बड़ा प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि ये लोग वैदिक आर्योंके वंशज थे और मुसलमान धर्मने जो भारतपर पहला आक्रमण कर सिंधु देशको पादाक्रान्त किया उससे जागृत होकर ये हिन्दूधर्मकी रक्षा करनेको आगे बढ़े थे। प्रस्तुत उपविभागमें इन लोगोंके राज्य हिन्दुस्थान भरमें स्थापित होगये थे। और इनकी बहादुरीकी बदौलत इसलामका भारत-प्रवेश और ५०० वर्षों तक रुका रहा। ये राजपूत राज्य मुख्यतः मेवाड़के गुहिलोत, सांभरके चाहमान और कन्नौजके प्रतिहार थे। इन लोगोंने इस कालमें बड़ी ही वीरता दिखायी। ये लोग धर्मरक्षणके उत्साहसे आगे बढ़े थे, अतः इनकी नीतिमत्ता उच्च प्रकारकी थी और शासन-व्यवस्था भी उत्तम थी।

इस भागमें वर्णित इतिहास हिन्दी पाठकोंके लिये प्रायः अज्ञातसा है, बल्कि कह सकते हैं कि अंग्रेजी जाननेवालोंके लिये भी बहुत कुछ यही बात है। कर्नल टाड लिखित राजस्थानका इतिहास प्रसिद्ध ग्रंथ है, परन्तु उसमें राजपूतोंका आरंभिक इतिहास बहुत ही थोड़ा है और वह भी बहुत करके दन्तकथामूलक है। हां, मुसलमानी कालसे इधरका जो इतिहास उन्होंने दिया है वह सिलसिलेवार तथा साधार है। राजपूतोंका प्रारंभिक इतिहास ठीक प्रकारसे न दे सकनेके लिये कर्नल टाडको दोष नहीं दिया जा सकता। कारण यह कि उस समयतक शिलालेख आदि प्राचीन इति-

हासकी सामग्रीका अध्ययन बहुत ही थोड़ा हो पाया था। खुद हमें भी यह सामग्री अधिकतर प्राच्य तथा पाश्चात्य इतिहास शोधकोंके परिश्रम तथा आलोचनाओंसे ही प्राप्त हुई है। इस संबन्धमें यहां कीलहार्न, फ्लीट, स्मिथ, व्यूलर, होर्नल, भाण्डारकर, डाक्टर डी. आर. जान्सन इत्यादि शोधक विद्वानोंके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना कर्तव्य है। पर हमारी · लोगोंने जो यह भ्रान्त धारणा कर ली थी कि राजपूत हिन्दुस्थानके वाहरसे आये हुए अनार्य लोग थे, उसके कारण इनसे सम्पूर्ण भारतवर्षका क्रमबद्ध तथा संगत इतिहास न देते वना। हमने उक्त खोजी विद्वानोंकी खोजोंका उपयोग कर तथा हिन्दू दृष्टिसे उनकी विवेचना कर प्रस्तुत इतिहास तैयार किया है। विंसेंटस्मिथका इस कालका इतिहास वहुत ही संक्षिप्त और उपर्युक्त कारणसे अनेक स्थलोंपर ग़लत भी है। हमें भरोसा है कि पाठक इस इतिहासको उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा अधिक संभवकोटिका पायेंगे।

पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वानोंके उपर्युक्त भ्रमका निरसन हमने इस भागकी एक स्वतंत्र पुस्तकमें किया है। हमने यह वात सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि राजपूतोंकी उत्पत्ति शक, हूण आदि विदेशी अथवा इसी देशकी गोंड, भर आदि अनार्य जातियोंसे नहीं है, वल्कि वे वैदिक आर्योंके वंशज हैं। चौथी पुस्तकमें हमने हिन्दू राज्योंकी दूसरी श्रेणी अर्थात् राजपूत राज्योंका इतिहास दिया है। प्रथम कालविभागके सम्वन्धमें जिस प्रकार विदेशी यात्री हुएन्सांग द्वारा लिखी हुई वातोंका उपयोग होता है वैसे ही इस भागवाले काल अर्थात् ८०० से १००० ई० तक का इतिहास लिखनेमें अरव यात्रियोंके लिखे

हुए वृत्तान्तोंसे बहुत सहायता मिलती है। उनका उपयोग कर पांचवीं पुस्तकमें इस कालकी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि स्थितियोंका सामान्य सिंहावलोकन किया गया है। यह आलोचना अन्यत्र उपलब्ध न होनेसे आशा है पाठकोंके लिये विशेष रुचिकर होगी। भारतवर्षका इतिहास विशेषतः धार्मिक इतिहास है और इस कालमें बौद्ध धर्मके पूर्ण पराभव तथा हिन्दू धर्मके आजकल वाले रूपमें दृढ़ताके साथ स्थापित होनेका विवेचन इस भागमें विस्तारसे किया गया है। इस धर्म-क्रान्तिका श्रेय मुख्यतः कुमारिल भट्ट और शंकराचार्यको है, अतः इनका जीवन-वृत्तान्त भी जितना मिल सका देनेका यत्न किया गया है।

पिछले काल-विभागके समान इस कालमें भी राजनीतिक दृष्टिसे कन्नौजके राज्यका महत्व था। विदेशवाले कन्नौजको ही हिन्दुस्थान समझते थे। कन्नौजके प्रतिहार थे भी बड़े बलिष्ठ। परन्तु दक्षिणमें मालखेड़का राष्ट्रकूट राज्य इससे भी अधिक शक्तिशाली था। इन राष्ट्रकूटोंका इतिहास प्रायः हालके मराठा इतिहास जैसा ही है और मनोरंजक है। बंगालके पाल राजाओंका साम्राज्य भी इस समय बलसम्पन्न था।

यही इस भागके वर्णनीय विषयकी रूपरेखा है। आशा है कि वह पाठकोंको पहले भागके जैसा ही रुचिकर होगा। परिशिष्टमें चार पांच महत्वपूर्ण किन्तु वादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है। मराठोंके क्षत्रिय होनेके जो नये प्रमाण दिये गये हैं और उनपर जो विवेचना की गयी है वह अवश्य पाठकोंके लिये मनन करने योग्य है।

तीसरी पुस्तक

राजपूतोंकी उत्पत्ति ।

पहला प्रकरण ।

राजपूत ।

ईसाकी नवीं शताब्दीके प्रारम्भमें भारतके इतिहासका स्वरूप सब भाँति बदल गया था। उस समय भारतमें वैदिक आर्यधर्म और आर्य-बौद्ध-सम्मिश्र संस्कृतिका लोप हो चुका था और वर्तमान समयमें जिस अवस्थामें हिन्दूधर्म देख पड़ता है, उस अवस्थामें देख पड़ने लगा था। मगध जैसे कुछ छोटे-मोटे भागोंके सिवा देशमें कहीं बौद्धधर्मका अवशेष भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। इस इतिहासके प्रथम भागके साथ जो मानचित्र दिया गया है, उसका तीन-चौथाई भाग आर्य-बौद्ध-सम्मिश्र संस्कृति-सूचक गुलाबी रंगका होनेपर भी इस भागके साथके मानचित्रका प्रायः सारा भाग गेरुए रङ्गका देख पड़ेगा; क्योंकि बौद्धधर्मका स्थान अबतक हिन्दूधर्मने ले लिया था। फिर भी जिस प्रकार बौद्धधर्म लुप्त हो गया था, उसी प्रकार वैदिक आर्यधर्म भी अब अपने पहले स्वरूपमें नहीं रह गया था। पशुयज्ञके प्रति द्वेषकी भावना हिन्दुओंके अन्तःकरणमें गहरी पैठ गयी थी, इसीसे बौद्धधर्मकी जड़को हिलानेवाले पूर्वमीमांसा दर्शनका आदर बहुत दिनोंतक टिक नहीं सका। वास्तवमें बौद्धधर्म और पूर्वमीमांसा, दोनोंने एक दूसरेका नाश किया। लोगोंमें वेदोंके सम्बन्धमें आदर उत्पन्न हुआ और जोरोंसे बढ़ा भी, किन्तु साथ ही याग-यज्ञोंका आदर भी नष्ट हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि,

हर्षकी मृत्युके पश्चात्, ईसवी सन् ६५० (वि० ७०७) के लगभग कुछ समयतक, पूर्वमीमांसामें बार बार प्रतिपादन की हुई इस बातपर कि वैदिक याग-यज्ञोंसे इच्छित फलकी प्राप्ति होती है, कुछ लोगोंका विश्वास हो गया था; किन्तु सन् ७५० (वि० ८०७) के लगभग पशुयज्ञके प्रति द्वेषकी ऐसी प्रचण्ड लहर उठी कि फिर पशुयज्ञका नामतक नहीं सुन पड़ा।

वर्तमान समयमें भारतमें प्रचलित हिन्दूधर्मने पशुयज्ञका स्वीकार नहीं किया; इसीसे इस सम्बन्धकी पूर्वमीमांसाकी शिक्षा, उसके नष्ट किये बौद्धधर्मके साथ ही, नष्ट हो गयी। पहलेके हिन्दूराज्योंके संस्थापक राज्यारोहणके अवसरपर राजवैभव-सूचक अश्वमेध किया करते थे; परन्तु अब जो हिन्दू राजवंशोंकी दूसरी मालिका अधिकारारूढ़ हो चली, उसके हृदयमें अश्वमेधका कुछ भी महत्व नहीं रहा। नये हिन्दू राजा पुराणोंमें वर्णित और आधुनिक हिन्दूधर्ममें सर्व-श्रेष्ठ माने हुए शिव, विष्णु, सूर्य, देवी, तथा गणेश, विशेषतः शिवके श्रद्धावान् उपासक थे। वर्तमान भारतका शैव सम्प्रदाय, प्राचीन भारतमें उन्नत हुए शैव सम्प्रदायसे भिन्न है। जिस समयका इतिहास हम लिख रहे हैं, उस समय उसका घृणित स्वरूप बहुत कुछ बदल गया था और थानेश्वरके राजवंशके संस्थापक पुण्यभूतिके समयमें शिवकी तान्त्रिक उपासनाके अन्तर्गत जो घृणित आचार और हास्यास्पद विचार समाविष्ट हो गये थे, वे प्रचलित नहीं थे, अथवा लोग उन्हें पसन्द नहीं करते थे। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे विचार करनेसे ज्ञात होता है कि मोटे हिसाबसे भारतमें वर्तमान हिन्दूधर्मका आरम्भ ईसाकी नवीं शताब्दी (विक्रम संवत् ८५८–९५७) में हुआ था।

गाय और बैलकी पवित्रताके सम्बन्धमें अत्यन्त तीव्र भावना इस हिन्दूधर्मका एक प्रधान अङ्ग है। लोगोंकी वह भावना अबतक ज्योंकी त्यों बनी हुई है। वास्तवमें गाय वैदिक समयसे ही पवित्र मानी गयी है; परन्तु वैदिक समयके धर्माचारोंमें गाय और बैलके यज्ञका समावेश होता था। अब अहिंसाकी भावना दृढ़मूल हो गयी थी और चाहे वेदोक्त यज्ञोंके लिए ही क्यों न हो, गाय तथा बैलका वध करना पञ्चमहापातकोंमें गिना जाने लगा था, यहाँ तक कि गायको साधारण कष्ट पहुँचाना भी अब पाप समझा जाता था। उस समय सर्वश्रेष्ठ समझे गये शिव और विष्णुकी उपासनासे भी गाय और बैलकी पवित्रताके विश्वासको प्रोत्साहन मिला। शिवके लिए बैल और विष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्णके लिए गाय पवित्र थी। हिन्दू-मुसलमानोंके तीव्र कलहका कारण हिन्दुओंकी यही गोभक्ति थी, जिसका प्रभाव आज भी ज्योंका त्यों बना हुआ है। सब हिन्दूराज्योंमें अब भी गाय और बैलका वध करना या उन्हें चोट पहुँचाना फौजदारी कानूनके अनुसार घोर अपराध माना जाता है।

सामाजिक उन्नतिकी दृष्टिसे भी अर्वाचीन हिन्दू-राजत्वकालका आरम्भ ईसाकी नवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। उस समय सब जातियाँ विश्रृङ्खल हो गयी थीं, किन्तु आजकलकी तरह एक दूसरीसे पृथक् नहीं हुई थीं, कोई किसीको नीचा-ऊँचा नहीं समझता था और न इतनी उपजातियाँ ही बन गयी थीं जो एक दूसरीमें मिला ली न जा सकें। संभव है बौद्धधर्मका पराभव होनेपर उस धर्मका पालन करनेवालोंको हिन्दू-समाजमें मिला लेनेसे आगे चलकर प्रमुख जातियोंमें कई उपजातियाँ उत्पन्न हो गयी हों। अर्वाचीन उपजातियोंकी

उत्पत्तिका काल नवीं शताब्दी अथवा मध्ययुगीन भारतका दूसरा काल-विभाग न भी सिद्ध किया जा सके, तो भी तीसरे काल-विभागको उनकी उत्पत्तिका काल माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मध्ययुगीन भारतके तीसरे काल-विभागसे ही उपजातियोंके निर्माण होनेका सम्भवनीय कारण यह है कि बौद्धधर्मको छोड़ जो लोग हिन्दूधर्ममें आ मिले, उनकी पौराणिक देवताओंकी उपासना-प्रणाली देश-भेदानुसार भिन्न भिन्न प्रकारकी थी। फिर इस समय लोग निरामिषाहारी हो गये थे, इससे भी उपजातियोंकी वृद्धिमें सहायता मिली।

इससे भी अधिक ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि इसी समयसे लोगोंकी भाषामें भी सहज दृष्टिगोचर होने योग्य बहुत अन्तर पड़ गया। भारतकी वर्तमान प्रचलित भाषाओंका आविर्भाव इसी समय हुआ। उनकी उत्पत्तिके कारणोंका विचार स्वतन्त्र प्रकरणमें किया जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि, वर्तमान प्रचलित भाषाओंका इसी समय तकका अखण्ड इतिहास पाया जाता है, इससे पहिलेके इतिहासका पता नहीं चलता। अतः ऐतिहासिक दृष्टिसे यही कहा जा सकता है कि भारतकी वर्तमान भाषाएँ इसी समयसे प्रचलित हो चली थीं। इसके पहिलेकी शताब्दियोंमें शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची और उनकी अपभ्रष्ट भाषाओं द्वारा ही लोगोंके सब व्यवहार होते थे; परन्तु ईसाकी नवीं शताब्दीके पश्चात् हिन्दी, बंगाली, मराठी और पंजाबी ये चार भाषाएँ उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिममें उत्पन्न हो गयीं और लोग इन्हीं भाषाओंका व्यवहारमें उपयोग करने लगे।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इसी समय राजनीतिक आकाशके क्षितिजपर अनेक नये राजवंश प्रकट हुए जिनके वंशज अब भी देशमें राज्य कर रहे हैं। यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि आजकल प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले अर्वाचीन "हिन्दू" (अर्थात् हिन्दुओंसे व्याप्त) हिन्दुस्थानके दर्शन इसी समयसे होने लगते हैं। यह महत्व-पूर्ण बात हिन्दुस्थानका इतिहास लिखनेवालोंके ध्यानमें आने लगी है। इन इतिहास-लेखकोंमेंसे सर विंसेंट स्मिथने बहुत ही ठीक कहा है कि इसी समयके लगभग राजपूत लोग हिन्दुस्थानके इतिहासके रङ्गमञ्चपर अवतीर्ण होते हैं। पहलेके राजवंश अब लुप्त हो चुके थे। आर्य-बौद्ध कालमें गुप्त और वर्धन (सम्भवतः ये वैश्य थे) ही भारतमें प्रमुख राज-वंश थे। इसी तरह यवन, शक, हूण आदि विदेशी राजवंश भी यहाँ राज्य करते थे। परन्तु मध्ययुगीन भारतके पहले काल-विभागमें ये सब क्रमशः विनष्ट होते गये। उस समयमें भी कुछ क्षत्रिय घराने थे, जिन्हें हुएनसंगने भी क्षत्रिय ही कहा है, परन्तु वे राजपूत नहीं कहलाते थे। उत्तर भारतमें वलभीके मैत्रक और कन्नौजके वर्म तथा दक्षिणमें बादामीके चालुक्य और कांचीके पल्लवोंको उसने क्षत्रिय कहा है, राज-पूत नहीं। ये राजवंश भी इसी समयके आसपास अस्तङ्गत हुए और समस्त हिन्दुस्थानमें नये क्षत्रिय घराने उदित हुए जो अपनेको राजपूत कहनेमें आनन्द मानते थे यद्यपि 'राजपूत' नाम नया नहीं है। आश्चर्य है कि ये ही राजपूत घराने, चाहे उनका महत्व कुछ घट ही क्यों न गया हो, आजतक राज-घरानोंके रूपमें वर्त्तमान हैं। सचमुच, समस्त भूमण्डलमें राजपूतोंके अतिरिक्त ऐसे कोई राजघराने ढूँढ़नेसे भी नहीं

मिलेंगे, जिनके वंशवृक्षकी जड़ें अखण्ड रूपसे नवम शताब्दी-तक पहुँच चुकी हैं। अन्य कारणोंको छोड़ दें, तो भी इस एक कारणसे भारतके राजपूतोंको अपना एक विशेष महत्त्व ही प्राप्त है।

राजपूत इससे भी अधिक प्रतिष्ठा पानेके अधिकारी हैं, परन्तु हमने अभीतक ठीक तरहसे जाना ही नहीं कि उनकी शूरता और दाक्षिण्य-प्रियताका महत्व कितना है। संसारके इतिहासमें अत्यन्त प्रतापी लोगोंकी जैसी कथाएँ लिखी गयी हैं, वैसे ही वीरताके विशद वर्णन लिखने योग्य प्रभा फैला कर इन्होंने अपने समयका इतिहास समुज्वल कर रखा है। दाक्षिण्यप्रियता, वीरता, धर्मकी शुद्ध परम्परा और विदेशी धर्म तथा सत्तासे झगड़नेमें दृढ़ता, इनमेंसे हर एक गुणमें मेवाड़के सिसोदिये और सांभरके चाहमान जगत्के इतिहासमें अग्रगण्य होनेके पात्र हैं। अरबोंकी दिग्विजयका प्रवाह उत्तर आफ्रिकाको प्लावित कर जिब्राल्टरके मुहानेसे होता हुआ स्पेनमें घुसा और पिरैनीज पार कर फ्रांसमें जा पहुँचा, किन्तु वहाँ लीयर नदीके तटपर फ्रांक लोगोंकी शूरताकी चट्टानसे टकराकर वह तितर बितर होगया। उसी धर्मके पागलपनसे भरा हुआ उन्हीं अरबोंके दिग्विजय-सिन्धुका दूसरा प्रवाह जब पूर्वकी ओर ईराक, ईरान और बलूचिस्थानको उदरस्थ करता हुआ सिन्धुनदको पार कर और सिन्ध प्रान्तको जल-मग्न करता हुआ आगे बढ़ा, तब गुहिलोत राजपूतोंने ही उसको रोक कर छिन्न विच्छिन्न कर दिया। राजपूत लोग जिसके नामका उच्चारण बड़े आदरके साथ करते हैं, और जिसे भारतका चार्लस मार्टेल कहना अनुचित न होगा, वह बाप्पा रावल यदि न होता तो एक न एक दिन अरबोंके आक्रमणोंके

सामने सारे भारतको अपना मस्तक झुकाना पड़ता, अथवा प्रसिद्ध इतिहासकार गिबनके प्रभावोत्पादक शब्दोंमें यों कहिये कि अरबी धर्म-शास्त्रका प्रतिपादन करनेवाले मुल्लाओंने आज दिन काशी-वाराणसीमें सुन्नत किये गये लोगोंके आगे इस्लामके तत्वों और आचारोंका निरूपण किया होता; परन्तु बाप्पा रावल और उसके सहायक राजपूतोंकी वीरतासे यह दुर्भाग्य टल गया। उसके वंशजोंने अपने विस्तृत और देदीप्यमान इतिहासमें आज दिनतक अपनी स्वतन्त्रता और हिन्दु-धर्मकी पताका, मुसलमान विजेताओंको भी नगण्य समझकर, फहरा रखी है, यह देख मन उल्लसित हुए बिना नहीं रहता। स्वराज्य और स्वधर्मके अन्तिम उपासक शिवाजी इसी वीरके वंशज थे। यह प्रसिद्ध ही है कि शिवाजीने दक्षिणमें मुसलमानोंसे संग्राम कर मराठोंके स्वातन्त्र्य और धर्मकी पुनः स्थापना की थी।

परन्तु अन्तमें पश्चिमी आर्यों और भारतके पूर्वीय आर्योंकी स्थितिमें बड़ा भारी अन्तर पड़ गया। स्पेनमें टेगस नदीके तटपर फ्रांक और स्पेनिश लोगोंने लगातार एक हज़ार वर्ष तक संग्राम कर मूर लोगोंकी शक्ति, रस्सी खींचनेके खेलमें जीतनेवाले दलकी तरह, ढीली कर एकाएक उन्हें परास्त कर दिया और उन्हें यूरोपसे निकाल बाहर किया। हिन्दुस्थानमें भी सिन्धु नदके आसपास अरबों और उन्हींके पीछे पीछे आये हुए तुर्कोंसे पाँच सौ वर्षतक राजपूत तथा अन्य आर्य झगड़ते रहे। परन्तु हम जिस कालका इतिहास लिख रहे हैं, उसके अन्तिम भागके लगभग एक संग्राममें राजपूत एकाएक पीछे हट गये और तुर्कों तथा अरबोंने उनका पराभव कर दिया। यद्यपि राजपूतोंने राजस्थानके

पर्वतों और मरुस्थलोंमें रहकर अपने धर्म, स्वातन्त्र्य, यश और शौर्यकी रक्षा की, फिर भी समस्त भारतवर्षमें मुसलमानोंका अधिकार हो गया। सारांश, भारतमें स्पेनकी तरह मुसलमान पीछे तो हटे ही नहीं, उलटे सारे देशको निगल गये। पश्चिमी आर्य बन्धुओंकी तरह भारतके राजपूत यशस्वी क्यों नहीं हो सके, इसका उत्तर मध्ययुगीन भारतके इतिहासकारको देना उचित है और हम इस पुस्तकमें इसीका उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे।

इस समयमें जिनका उदय हुआ और जिन्होंने कमसे कम चार सौ वर्षतक मुसलमानोंके आक्रमणोंका प्रतीकार किया, वे राजपूत कौन थे और कहाँसे आये? हम लिख चुके हैं कि, वे भारतवासी आर्य और वैदिक आर्योंके अत्यन्त प्रतापी वंशज थे। उन्होंने बड़ी वीरतासे अपने सनातनधर्मकी रक्षा की, इसलिये उन्हें 'हिन्दूधर्मरक्षक' कहना अनुचित न होगा। कितने ही यूरोपीय, और इस देशके भी, पुराणेतिहास-संशोधक कहते हैं कि राजपूत म्लेच्छ थे, जिन्होंने हिन्दूधर्मका स्वीकार किया अर्थात् वे हूण, शक, यूची अथवा जोटी जातियोंके बचे बचाये लोग थे। क्या यह सत्य है? मानव-शरीर-वर्णन-शास्त्रके अनुसार मुख, सिर आदिकी परीक्षासे राजपूत आर्य सिद्ध हो चुके हैं, तो भी सर विंसेण्ट स्मिथ जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार इसी अनुमानकी पुष्टि करते जाते हैं कि ईसवी सन्‌की छठी सदी (वि० ५५८–६५७) के लगभग जिन विदेशियोंने भारतपर आक्रमण किया उन्हींके ये वंशज हैं। अतः हमने इस पुस्तकमें इस विषयपर विस्तृत रूपसे विचार करनेका निश्चय किया है।

दूसरा प्रकरण ।

क्या राजपूत विदेशी हैं ?

इस समयमें जिनका उदय हुआ और मध्ययुगीन भारतीय इतिहासके इस काल-विभागपर जिनकी वीरताकी प्रभा छा रही है, वे राजपूत वैदिक आर्योंके ही वंशज थे। अपने पूर्वजोंके धर्मकी रक्षाके लिए वैदिक आर्योंके अतिरिक्त और कौन लोग प्राण हथेलीपर लेकर लड़ सकते हैं? कभी कभी ऐसा भी होता है कि परधर्मका स्वीकार किये हुए लोग उस धर्मकी रक्षाके लिए उसी धर्ममें उत्पन्न हुए लोगोंकी अपेक्षा अधिक तीव्रता और दृढ़तासे लड़ते हैं; परन्तु यह नियम नहीं, अपवाद है। अतः यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि, राजपूत वैदिक आर्योंके ही वंशज हैं। उनकी परम्परा भी यही बता रही है कि वे सुप्रसिद्ध सूर्य और चन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए थे। इसके पहले एक स्थानपर 'सूर्य-सोमवंशीय' शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हुए हम लिख चुके हैं कि वे पंजाब और गंगाकी घाटीके मार्ग द्वारा बाहरसे भारतमें आयी हुई आर्योंकी विभिन्न टोलियोंके वंशज थे। तीसरा प्रमाण यह है कि सन १९०१ (वि० १९५७) की मनुष्यगणनाके समय मानवजाति शास्त्रके अनुसार चेहरा और सिर नापनेपर राजपूत आर्योंके ही वंशज सिद्ध हुए। उनकी उठी हुई और सरल नासिकाएँ, लम्बे सिर और ऊँचे कद आर्यत्वके द्योतक हैं। समस्त पृथ्वीतलपर आर्योंकी यही पहिचान मानी जाती है। नेसफील्ड, इबेटसन आदि यूरोपीय विद्वानोंको इस सिद्धान्तकी सत्यतामें बिलकुल सन्देह नहीं

है कि राजपूत आर्य हैं और वैदिक कालमें हिन्दुस्थानमें बसे हुए प्राचीन क्षत्रियोंके वंशज हैं।

परन्तु मानवभेद-शास्त्र, परम्परा और संभव-असंभवकी उपेक्षा कर कुछ यूरोपीय इतिहासकार और पण्डित तथा इस देशके भी कुछ पुराणेतिहास-संशोधक यही समझ रहे हैं कि हिन्दुस्थानके इतिहासकी रङ्गभूमिपर अभी अवतीर्ण हुए ये क्षत्रिय विदेशी असंस्कृत वंशसे उत्पन्न हुए हैं। इसी मतको पुष्ट करनेका वे प्रयत्न भी करते रहते हैं। इसका प्रथम प्रसार राजपूतोंके प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाडने किया। उसके समयमें इतिहास-संशोधन और मानवजातिशास्त्र आरंभिक अवस्थामें थे। कदाचित् उस समय उनका जन्म भी नहीं हुआ था। परन्तु यह आश्चर्यजनक ही नहीं, शोकजनक बात है कि अब तक, ऐतिहासिक साधन-सामग्री भरपूर उपलब्ध होने और मानवजातिशास्त्रके पूर्णोन्नत होने पर भी, सर विंसेण्ट स्मिथ जैसे इतिहासकार इसी कल्पनापर डटे हुए हैं। मानववंशशास्त्रके सिद्धान्त 'इतिहासकारके लिए अनुपयुक्त' ठहरा कर और उनकी उपेक्षा कर राजपूतोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें सर वी० स्मिथ साहब लिखते हैं:—"राजपूताना और गंगाके उत्तर प्रान्तमें बसे हुए विदेशियोंको वहाँके राजा और शासक युद्धमें लड़कर समूल नष्ट न कर सके होंगे, यह बहुत दिनोंकी धुंधली कल्पना अब सुदृढ़ प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध हो गयी है; इस ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है। युद्धमें बहुतसे मरे अवश्य होंगे, किन्तु जो बच गये वे इस देशकी आबादीमें मिल गये। इन विदेशियोंके वंशजोंकी संख्या वर्तमान भारतवासियोंमें सम्भवतः बहुत बड़ी है। इनसे पहले आये हुए शकों और

यूचियोंकी तरह ये लोग भी हिन्दूधर्मकी सर्वग्राहिणी शक्तिके प्रभावमें आकर बहुत शीघ्र पूर्ण हिन्दू बन गये। जिन जातियों अथवा कुटुम्बोंको सरदार पदका मान मिला, उनका उस समयकी हिन्दू-वर्णव्यवस्थाके अनुसार क्षत्रियों अथवा राजपूतोंमें समावेश कर लिया गया। इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि पाँचवीं या छठी शताब्दी ई० में भारतमें आयी हुई जंगली टोलियोंमेंसे ही परिहार तथा अन्य प्रसिद्ध राजपूत वंशोंका निर्माण और उत्कर्ष हुआ। इन वंशोंके अतिरिक्त बचे हुए सर्वसाधारण लोगोंको गूजर कहने लगे और उनका आदर राजपूतोंसे कम होता था। दक्षिणमें भी इस देशकी कुछ जातियाँ और घराने हिन्दू-समाजमें समाविष्ट हुए और पहले जो गोंड़, भर, खारवा आदि कहलाते थे, वे ही चन्देल, राठोर, गहरवार आदि प्रसिद्ध राजपूतोंके नामोंसे विख्यात हुए। अब तो वे अपनी उत्पत्तिका सम्बन्ध सूर्य-चन्द्रसे जोड़ते हैं।" यह अवतरण लम्बा अवश्य है परन्तु भारतीय इतिहासके इस समय (मध्ययुग) में अति प्रसिद्ध राजपूतोंके वंशोंके सम्बन्धमें यूरोपीय पण्डितों और इतिहासकारोंके मतोंका दिग्दर्शन करानेके लिए इसे उद्धृत करना आवश्यक था। राठोर, चन्देल, गुहिलोत और प्रतिहार लोग आर्य राजवंशीय कहानेका अपना हक बताते हैं, तो भी ये इतिहासकार उनको जंगली, विदेशी (हूण) या एतद्देशीय अनार्य (गोंड आदि) के वंशज कहते जाते हैं!

मध्ययुगीन और अर्वाचीन कालके हिन्दुस्थानके इतिहासमें जिन्होंने उज्ज्वल कीर्ति सम्पादन की, वे राजपूत-वंश मूलमें आर्यवंशीय थे या सीथियन अथवा द्राविड़ी, वास्तवमें यह महत्वका प्रश्न नहीं है। उनकी शूरता और दाक्षिण्य-प्रियतामें

किसीका मतभेद हो नहीं सकता। उनकी पूर्व-परम्पराको हीन मान लेने पर भी उनका महत्त्व घट नहीं सकता। हम तो इस प्रश्नको केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे देखते हैं। देखना यही है कि राजपूतोंकी उक्त पूर्वपरम्परा ऐतिहासिक दृष्टिसे सही है या नहीं। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर जैसे कुछ स्वदेशी इतिहास-संशोधकोंने उक्त मतकी ही पुष्टि की, इस कारण टाडकृत 'राजस्थान वृत्तान्त' के नये विद्वान् सम्पादकने भी उसीका अनुवाद किया और यह स्वाभाविक ही था। अत्यन्त अर्वाचीन शोधोंके आधारपर लिखी हुई टिप्पणियों सहित प्रकाशित हुए इस प्रसिद्ध इतिहासके ताज़े संस्करणकी भूमिकामें सर विलियम क्रुक लिखते हैं:—"राजपूतोंकी उत्पत्तिके प्रश्नपर हालके अनुसन्धानोंसे बहुत प्रकाश पड़ा है। वैदिक कालके क्षत्रियों और मध्य युगके राजपूतोंमें इतनी भिन्नता देख पड़ती है कि, दोनोंका परस्पर सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं जा सकता। यह अब सप्रमाण सिद्ध हो गया है कि बहुतसे राजपूत वंशोंकी उत्पत्ति शक या कुशान लोगों अथवा ईसवी सन् ४८० (सं० ५३७) के लगभग गुप्त साम्राज्यका नाश करने वाले श्वेत हूणोंसे हुई है। हूणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले गुर्जरोंने हिन्दूधर्म स्वीकार किया और उन्हींके प्रमुख सरदारोंसे उच्च राजपूत वंशोंकी उत्पत्ति हुई। उन्हें जब राज्यवैभव प्राप्त हुआ और जब उन्होंने हिन्दूधर्म तथा हिन्दू समाज-व्यवस्थाको अपना लिया, तब स्वाभाविक रूपसे ही उनका सम्बन्ध महाभारत और रामायणके प्रधान वीरोंके साथ जोड़नेका प्रयत्न किया जाने लगा। इसीसे सूर्य और सोमसे राजपूतोंकी उत्पत्ति होनेकी अद्भुत कल्पनाकी आख्यायिकाओंका उनके वृत्तान्तमें समावेश हो गया।" (पृष्ठ ३१) क्रुक महाशय आगे लिखते हैं:—"राज-

पूत अथवा क्षत्रिय नाम सामाजिक अवस्थापर निर्भर था, कुलोत्पत्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। जाति-भेदकी कल्पना उस समय अपूर्ण अवस्थामें थी, इसीसे उसे आघात न पहुँच कर विदेशी लोगोंका इस जातिमें समावेश हो सका। परन्तु विदेशियोंको स्वधर्ममें मिला लेनेकी इस बातको प्रसंगानुकूल दन्तकथाओंके आवरणसे छिपा देना आवश्यक था। इसीसे यह कथा चल पड़ी कि बौद्धधर्म तथा अन्य पाखण्डी मतोंका उच्छेद करनेमें ब्राह्मणोंकी सहायता करनेके लिए प्राचीन आर्य ऋषियोंके नेतृत्वमें शुद्धिसमारोह कर अग्निसम्भूत कुलोंका निर्माण किया गया। परमार, परिहार, चालुक्य और चौहान, इन चार कुलोंका अग्नि कुलमें समावेश किया जाता है।" इस लम्बे अवतरणसे भी यही प्रकट हो रहा है कि भारतीयों द्वारा साधारणतया स्वीकृत इस मतसे कि राजपूत वैदिक क्षत्रियोंके ही वंशज हैं, आंग्ल संशोधक सहमत नहीं हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य पंडितों और पुराणेतिहास-संशोधकोंने यह जो मत प्रचलित किया है कि राजपूतोंकी उत्पत्ति विदेशियोंसे हुई, उसकी पुष्टिके लिए राजपूत घरानोंकी अग्नि-कुलोत्पत्तिकी सर्वसम्मत कथाका कैसा विपर्यास किया जाता है!

हम अपनी पुस्तकके पहिले भागमें इनमेंसे बहुतसे युक्तिवादोंका खण्डन कर चुके हैं। उस भागमें श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकरके इस मतको भी हमने निराधार सिद्ध कर दिया है कि गुर्जर विदेशी थे और पाँचवीं सदीके लगभग हूणोंके साथ इस देशमें आये थे। स्मिथने भी स्वीकार किया है कि गुर्जरोंके इस समय (पाँचवीं-छठी शताब्दीमें) बाहरसे भारतमें आनेका अनुमान भी करने योग्य प्रमाण, उसे

सिद्ध करना तो दूरकी बात है, स्थानिक दन्तकथाओं अथवा विदेशियोंके उल्लेखोंमें नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त गुर्जरोंके पूर्वज माने गये खिज़रोंके इतिहाससे भी यही सिद्ध होता है कि वे स्वदेश छोड़कर कभी कहीं नहीं गये। उनके वर्णनोंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंके स्वभाव परस्पर विरोधी थे। खिज़र अपने घरोंमें ही रह कर व्यापार द्वारा जीविका-निर्वाह करते और गुर्जर परिभ्रमणशील होते हुए पशुपालन और चरवाहेका कार्य करते थे। हिन्दुस्थानके गुर्जरोंके रूप-रंगसे भी उनके आर्य होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। उनकी नासिकाएँ पारसियोंसे भी अधिक तेजस्वितासूचक होती हैं। सारांश, गुर्जरोंके विदेशी होनेकी धारणाकी भित्तिपर जो मत निश्चित किये हैं, वे सब निराधार हैं। हम पहिले भी बतला चुके हैं कि गुर्जर विदेशी या सीथियन नहीं, किन्तु स्पष्टतया आर्य हैं। इस कारण उक्त कल्पनाके खण्डनमें दिये गये प्रमाणोंका पुनुरुद्घाटन करना व्यर्थ है। उस भागमें यह भी दिखाया जा चुका है कि हूण और शकों जैसे विदेशियोंके बहुतसे वंशजोंका उस समय बच रहना भी सम्भव नहीं था। जिन जातियोंके हाथमें राजसत्ता होती है, उन जातियोंके हाथसे उसके निकल जानेपर वे जातियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। अतः इस भागमें हम भाण्डारकरकी कल्पनाके दूसरे अंशपर विचार करेंगे। सर विन्सेण्ट स्मिथ और मि० विलियम-क्रुक भाण्डारकरकी कल्पनाको ही मानते हैं। भाण्डारकर कहते हैंः—"राजपूत गुर्जरोंके ही वंशज हैं, यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है।" हम यह कह सकते हैं कि प्रथम भागमें हमने भाण्डारकरके युक्तिवादके दूसरे प्रमाणका खण्डन कर दिया है। अब इस भागमें उनके पहले प्रमाणका खण्डन

करेंगे। भाण्डारकरका युक्तिवाद अनुमानपद्धतिके अनुसार इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—

(१) राजपूत गुर्जरोंके वंशज हैं।

(२) गुर्जर विदेशसे आये हैं।

(३) इस कारण राजपूत विदेशियोंके वंशज हैं।

हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि गुर्जर विदेशसे आये हुए नहीं, किन्तु सच्चे आर्य हैं; अतः पहले प्रमाणके अनुसार मान भी लिया जाय कि राजपूत गुर्जरोंके वंशज हैं, तो भी वे अनार्य नहीं कहे जा सकते। परन्तु इतनेसे ही सन्तोष न मान कर इस भागमें हम सिद्ध कर दिखायेंगे कि राजपूतोंकी उत्पत्ति गुर्जरोंसे नहीं, किन्तु वैदिक क्षत्रिय कुलोंमें उत्पन्न हुए क्षत्रियोंसे ही हुई है। भाण्डारकरने अपनी कल्पनाका उद्घाटन प्रधानतया 'गुर्जर' सम्बन्धी लेखों और 'भारतीय जनसंख्यामें विदेशियोंका भाग' शीर्षक लेखमें किया है। इन लेखोंमें उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं, वे सर वी० स्मिथ और क्रुक जैसे इतिहासकारोंको मान्य हैं और उनकी पुस्तकोंमेंसे दो एक अवतरण हम ऊपर दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त राजपूतोंमें प्रचलित अग्निकुलकी आख्यायिकासे भी प्रायः इन प्रमाणोंकी पुष्टि की गयी है। ऐसे ही स्थलोंपर खोज और अन्वेषणका महत्व प्रकट होता है। अग्निकुलकी आख्यायिका एक कल्पना मात्र है। प्रथम यह कह देना उचित होगा कि यह कल्पना आधुनिक किसी कविकी सृष्टि है। कवि-निर्मित रम्य परन्तु निराधार कथाएँ प्रचलित होकर उनपर जब विश्वास हो जाता है, तब सर्वसाधारणको ही नहीं, स्मिथ, क्रुक जैसे इतिहासकारों और जैक्सन, भाण्डारकर जैसे अन्वेषकोंको भी दिग्भ्रम हो जाता है। उक्त आख्यायिकासे यही

बात सिद्ध होती है। इस मतको पुष्ट करनेके लिए कि राजपूत विदेशियोंसे उत्पन्न हुए हैं, अग्निकुलकी कल्पित कथाका सहारा मिल गया। इस उदाहरणसे ऐतिहासिक-खोजका महत्व और उसकी उपयोगिता स्पष्टतया प्रमाणित होती है।

तृतीय प्रकरण।

अग्निकुलकी कल्पना झूठी है।

पुराणमताभिमानी ईसाई लोगोंकी कल्पना है कि ईसाका प्रसाद कहकर बाँटी हुई रोटी और शराबका रूपान्तर ईसाके मांस और रक्तमें हो जाता है। इस मतका विवेचन करते हुए गिबन कहता है:—"आरम्भमें जो बातें आलंकारिक भाषामें कही जाती हैं, उनपर लोगोंका विश्वास जम जानेपर कालान्तरमें उन्हें न्यायशास्त्रके सिद्धान्तका स्वरूप प्राप्त होता है।" बात ठीक है और वह सर्वत्र देख पड़ती है। कवि कल्पनासे उत्पन्न हुई बहुत सी बातें आगे चलकर सच्ची समझी जाने लगती हैं। कोई बुद्धिमान् मनुष्य इस बातपर विश्वास नहीं कर सकता कि मानव-वंशकी उत्पत्ति चन्द्र-सूर्यसे हुई है। परन्तु भारतीय आर्यवंशकी उत्पत्ति चन्द्र-सूर्यसे होनेकी आख्यायिका बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है। ऋग्वेदमें भी उसका उल्लेख है। इस पागलपनकी आख्यायिकासे भी इतिहास-कोविदोंने लाभ उठाया है। उन्होंने इससे यह अनुमान किया कि भारतमें भारतीय आर्योंके प्रथम दो पृथक् पृथक् दल आये। भाषा सम्बन्धी प्रमाणोंसे

यह अनुमान पहिले सर ग्रियर्सनने किया। अस्तु, इसी तरह राजपूतोंके विभिन्न वंशोंकी उत्पत्तिकी आख्यायिकाओंका भी, यदि वे बहुत प्राचीन हों और एकही रूपमें प्रचलित हों तो, कुछ महत्व अवश्य ही है। कविकल्पनासे उत्पन्न हुई अग्निकुलोंकी उत्पत्तिकी आख्यायिका आधुनिक है, यदि यह निःसन्देह सिद्ध हुआ न होता, तो वह ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयुक्त समझी जा सकती और विदेशी लोगोंका हिन्दू वर्ण-व्यवस्थामें समावेश कर लिया गया है, इस कल्पनाको उससे पुष्टि मिलती; परन्तु वह निरी कविकल्पना सिद्ध हो चुकी है। इतना ही नहीं, कविकी उक्तिके भ्रान्त अर्थके आधारपर यह आख्यायिका बनी है और वह बिलकुल आधुनिक है, यह सिद्ध किया जा सकता है। यद्यपि ऐतिहासिक खोजसे यह बात सिद्ध हो गयी है, तथापि दुर्भाग्यसे पाश्चात्य पण्डितोंकी समझमें न आनेके कारण इससे जो स्वाभाविक अनुमान किये जा सकते हैं, वे उन्होंने नहीं किये।

जैसा कि प्रायः सभी जानते हैं, पृथ्वीराजके भाटकवि चंदने इस अंतिम शूर और उदार राजपूत राजाके पराक्रम-वर्णनार्थ रचे गये 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्यमें वशिष्ठ द्वारा अग्निसे क्षत्रियोंके चार कुल उत्पन्न होनेकी कथा सबसे पहिले लिखी। संक्षेपमें वह कथा इस प्रकार है:—राक्षसों अथवा म्लेच्छोंने जब पृथ्वीको बहुत त्रस्त किया, तब वशिष्ठने अपनी अग्निसे एकके बाद एक चार वीर पुरुष उत्पन्न किये। पहिला परमार, दूसरा चालुक्य, तीसरा प्रतिहार और जब इन तीनोंसे राक्षसोंका नाश न हो सका, तब चौथा भीमकर्मा चाहमान उत्पन्न किया गया। काव्यका नायक पृथ्वीराज इसी चाहमानका वंशज था। रासोके साथ ही साथ यह कथा लोकप्रिय हुई

और समय पाकर राजपूतोंमें वह सच्ची समझी जाने लगी। विशेष आश्चर्यकी बात तो यह है कि उक्त चारों वंशोंके वंशजोंने भी उसे सत्य समझ कर स्वीकार कर लिया। अन्ततः राजपूतोंके इतिहास-लेखक कर्नल टाडको भी वह संग्रह करने योग्य जँची और उन्होंने अपने लिखे इतिहासमें उसका संग्रह भी किया। उक्त चार वंश अपनी परम्पराको चन्द्र-सूर्यतक नहीं पहुँचा सके, इस कारण लोगोंका भी दृढ़ विश्वास हो गया कि चारों वंश अग्निसे ही उत्पन्न हुए हैं। इससे पाश्चात्योंको यह अनुमान करनेका आधार मिल गया कि चारों वंश संभवतः विदेशसे भारतमें आये और उन्हें यहाँके ब्राह्मणोंने अग्नि-शुद्धि-संस्कारसे शुद्ध कर क्षत्रियोंमें मिला लिया।

यह जानकर कितने ही लोगोंको आश्चर्य होगा कि अग्निकुलोंकी आख्यायिका केवल कवि-कल्पनासे ही प्रसूत नहीं हुई, किन्तु कविके वाक्योंका भ्रान्त अर्थ कर लेनेसे इसका जन्म हुआ है। कदाचित् चन्दकी भी यह सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं थी कि ये चार क्षत्रियवंश नये निर्माण किये गये हैं। क्योंकि नवम शताब्दी ई० के शिलालेखोंसे भलीभाँति सिद्ध होता है कि उस समय चारों, कमसे कम तीन, वंशोंके लोग अपनेको चन्द्र-सूर्य-वंशीय समझते थे और अन्य लोगोंका भी ऐसा ही विश्वास था। कन्नौजमें साम्राज्य स्थापन करनेवाला घराना, जिसे गूजर कह कर विदेशीय सिद्ध करनेका भाण्डारकर आदि प्रयत्न करते हैं, सूर्यवंशीय था, ऐसा दशम शताब्दीके एक शिलालेखमें स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्वालियरवाला भोजका महत्वपूर्ण शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि कन्नौजके प्रतिहार सम्राट् सूर्यवंशके प्रख्यात वीर पुरुष रामचन्द्रके भाई लक्ष्मणके वंशज हैं। लक्ष्मण रामचन्द्रके प्रतिहार अर्थात्

द्वारपाल थे, इसीसे उनके वंशज प्रतिहार कहलाये। ❀ विशिष्ट समयमें लोगोंकी कैसी धारणाएँ थीं, यही दिखाने भरके लिए हमारी दृष्टिमें इन आख्यायिकाओंका महत्व है, यह हम पहिले कह चुके हैं। इस आख्यायिकासे यह निश्चित है कि नवम शताब्दीमें प्रतिहार वंश सूर्यवंशीय माना जाता था। उन्हीं प्रतिहारोंको बारहवीं शताब्दा ई० में चन्दकवि अग्निवंशीय कैसे कह सकता है? इसी तरह रासोसे पहिलेके लेखोंमें चाहमानोंको सूर्यवंशी कहा है। हर्षके शिलालेखमें (एपि० इण्डिका भा० २ पृ० ११६) चाहमानोंकी वंशावली किसी गूवकसे आरम्भ हुई है। इस लेखसे भी यही प्रतीत होता है कि चाहमान सूर्यवंशी हैं। (तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयम्।) पृथ्वीराजके एक दरबारी कवि-कृत 'पृथ्वीविजय' काव्यपर लिखे गये एक आलोचनात्मक लेखमें (ज० रा० ए० सो० १६०३) अजमेरके श्रीहरविलास सारडाने सिद्ध किया है कि इस काव्यमें पृथ्वीराजका सूर्यवंशीय कह कर ही वर्णन किया गया है। हम्मीर महा-काव्यमें लिखा है कि चाहमान सूर्यसे उत्पन्न हुए हैं। अजमेरके संग्रहालयके एक लेखमें भी ऐसा ही उल्लेख है। इन प्रमाणोंसे निश्चित होता है कि ईसाकी नवम शताब्दीसे तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीतक (वि० सं० ८५८ से १३५७ या १४५७ तक) चाहमान सूर्यवंशीय ही माने माते थे। तीसरा वंश अनहिल-पट्टणके सोलंकी अथवा चालुक्योंका है। शिलालेखोंमें उन्हें चन्द्रवंशीय कहा है। यह न भूलना चाहिये कि बादामीके और गुजरातके चालुक्य भिन्न भिन्न हैं। उक्त चालुक्य भारद्वाज गोत्रके हैं। रासोमें और चेदीके हैहयोंके एक शिलालेखमें चालु-

❀ तद्वंशे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे।

क्योंके इसी गोत्रका उल्लेख है। बिल्लारीके शिलालेखमें (एपि० इण्डिका भा० १ पृ० २५३-६) लिखा है कि केयूरवर्ष हैहयने भारद्वाज गोत्रीय चालुक्य अग्निवर्माकी कन्या नोहला देवीसे विवाह किया था। विशेषज्ञोंके मतसे यह शिलालेख ग्यारहवीं शताब्दी ई० का है। दक्षिणके चालुक्योंकी उत्पत्तिका जैसा वर्णन विल्हण तथा पूर्वके चालुक्योंने किया है, उससे इस शिलालेख-का वर्णन भिन्न है। इसमें लिखा है कि इन चालुक्योंके आदि पुरुषको भारद्वाज द्रोणने द्रुपदको मारनेके लिए अञ्जलिके जल-से उत्पन्न किया, इस कारण वह भी भारद्वाज गोत्रीय ही हुआ। भारद्वाज सोमवंशीय था, इस कारण चालुक्य भी सोमवंशीय ही हैं। इस शिलालेखसे उस समयके लोगोंकी यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि चालुक्य सोमवंशीय थे और उन्हें द्रोणने निर्माण किया था। अतः यह स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता कि वारहवीं सदीमें चन्दने उन्हें वशिष्ठ द्वारा अग्निसे उत्पन्न हुआ दिखलानेका प्रयत्न किया होगा।

इतिहास-संशोधकोंने अब यह स्वीकार कर लिया है कि उक्त तीन वंश अग्निसे उत्पन्न नहीं हुए हैं (टाड-राजस्थानकी क्रुक द्वारा लिखी भूमिका देखिये), परन्तु इससे जो स्पष्ट अनु-मान किये जा सकते हैं वे उन्होंने नहीं किये। चाहमान और प्रतिहार, इन दो महत्वशाली वंशोंके सम्बन्धमें यह जो धारणा है कि वे गूजर थे और शुद्धि-संस्कारसे क्षत्रिय बना लिये गये, क्या नवम और दशम शताब्दीके लोगोंके मतसे उसपर पानी नहीं फिर जाता जिसके अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि वे अग्निकुलोत्पन्न नहीं, सूर्यवंशीय थे? यही नहीं, चौथे अर्थात् परमार वंशको भी हम चन्दके कथनानुसार अग्निकुलो-त्पन्न नहीं कह सकते। वारहवीं सदीसे इधरके सभी परमारोंके

शिलालेखोंमें यद्यपि उनकी उत्पत्ति वशिष्ठकी अग्निसे हुई कही गयी है; तथापि उसकी कथा चन्दकी कथासे भिन्न है। उदयपुर-प्रशस्तिमें (एपि० इण्डिका भाग १) जो कथा लिखी है वह इस प्रकार है कि सुरधेनुको जब बलात् विश्वामित्र हरण कर ले जाने लगे, तब वशिष्ठने उनके दमनके लिए परमारोंके मूल पुरुषको उत्पन्न किया। कथामें परमारोंका गोत्र वशिष्ठ कहा है। सारे हिन्दुस्थानके परमार अपनेको वशिष्ठ-गोत्रीय कहते हैं और चन्दने भी उनका यही गोत्र बताया है।

अतः प्रतिहार, चाहमान, चालुक्य और परमारोंकी उत्पत्तिकी जो कथा चन्दने रासोमें लिखी है, वह तत्कालीन या उससे पहिलेके और बादके काव्योंके वर्णनोंसे ली गयी है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि रासो चन्दने नहीं लिखा। उसके पश्चात् सत्रहवीं सदीमें शिलालेखोंका विस्मरण होनेपर मुसलमानोंकी अमलदारीमें किसीने लिखकर उसके नामसे प्रचलित कर दिया है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि चन्दके काव्यमें लिखी कथाका भावार्थ समझनेमें लोगोंने भूल की है। रासो तत्कालीन कविका लिखा है या नहीं, इस संबन्धमें श्री श्यामलाल पण्ड्याने सन्देह प्रकट किया है। इस विषयपर यहाँ अधिक न लिखकर हम इसका विचार स्वतन्त्र टिप्पणीमें करेंगे। उक्त विवेचनसे यह बात लोगोंके ध्यानमें अवश्य आ जायगी कि यह कथा केवल कविकी कल्पनासे प्रसूत हुई और आगे चलकर लोगोंने उसे सत्य मान लिया। उक्त चारों वंश म्लेच्छोंसे युद्ध करनेके कारण प्रसिद्ध हुए और इसीसे उनका निकट सम्बन्ध जोड़ा गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि चन्दने जो कथा दी है लोगोंने उसका गलत अर्थ किया। सुप्र-

सिद्ध चन्द्र-सूर्य वंशोंके अतिरिक्त अग्निवंशकी कल्पना करनेकी चन्दको कोई आवश्यकता नहीं थी। उसने प्रसिद्ध छत्तीस राजकुलोंकी जो सूची दी है, उसमें सब राजकुल सूर्य, चन्द्र और यादववंशीय ही हैं। अग्निकुलका उसमें उल्लेख तक नहीं है। अग्निकुलसम्भूत माने जानेवाले प्रतिहार, चाहमान, चालुक्य और परमारोंकी गणना भी उसने प्राचीन सूर्य, चन्द्र और यादव वंशोंमें ही की है। रासोके छत्तीस राजपूत-कुलोंके उल्लेखकी प्रथम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

"रवि ससि जाधव वंस ककुत्स्थ परमार सदावर।
चाहुआन चालुक्क छन्द सिलार अभीयर॥"

इससे स्पष्ट है कि चन्दने परमार, चाहमान और चालुक्योंकी गणना प्राचीन सूर्य, सोम और यादवोंके वंशोंमें ही की है। परमार, प्रतिहार, चालुक्य और चाहमान ये चारों वीर, वशिष्ठके पुकारते ही, अग्निसे प्रकट हुए; इस वर्णनसे यह न समझ लेना चाहिए कि वशिष्ठने इन्हें निर्माण किया था। चन्दके कथनका आशय यही है कि प्राचीन सोम, सूर्य, यादव वंशोंके इन चारों वीरोंने वशिष्ठकी आज्ञासे अग्निसे प्रकट होकर राक्षसोंके साथ युद्ध किया।

चन्दके नामसे प्रचलित हुए महाकाव्य (रासो) की इस कथापर जिसका अर्थ समझनेमें सोलहवीं सदी (वि० १५५८-१६५७) से भूल होने लगी, लोगोंका इतना विश्वास जम गया कि उक्त चारों वंश इस बातको भूल गये कि हमारे पूर्वजोंने किसी शिलालेखमें अपना उल्लेख कभी अग्निकुलोत्पन्न कह कर नहीं, किन्तु सोम-सूर्यवंशीय क्षत्रिय कह कर ही किया है। उनके भाट भी अपने स्वामियोंकी परम्परा भूल गये, यहाँतक कि नये चन्द कवि बूँदी-कोटाके सूरजमल भाटने 'वंश भास्कर'

नामक जो ग्रन्थ लिखा, उसमें चन्दकी अर्थ-विपर्यास की हुई वशिष्ठके अग्निकुण्डसे उत्पन्न हुए वीरोंकी कथाका और भी बढ़ा कर वर्णन किया और उसने इस झूठी कल्पनाकी लपेटमें आकर क्षत्रियोंके पाँच वंश मान लिये। यही नहीं, पहिला चाहमान वीर अग्निसे कब उत्पन्न हुआ, वह संवत् भी उसने लिख दिया। (यह संवत् कलियुग पूर्व ३५३१ अर्थात् ईसवी सन् पूर्व ६६३२ है)। निम्नलिखित दोहे द्वारा आरम्भमें ही उसने उक्त पाँच वंशोंका उल्लेख किया है:—

"भुजभव, मनुभव, अर्कभव, शशिभव छत्रनवंस।
है चउतिम शुचिवंस हुव पञ्चम प्रथित प्रशंस॥"

बूंदी-कोटाके 'हाड़ा' राजपूतोंने भी अपने कवि द्वारा हठात् सिरपर लादी हुई नये वंशकी यह कथा आँख मूँदकर स्वीकार कर ली। इस प्रकार बारहवीं सदीके लगभग उत्पन्न हुई अग्नि-कुलकी कल्पित कथा चारों वंशोंको मान्य हो गयी। १७०० ई० (वि० १७५७) के लगभग वह बुद्धिसंगत एवं सच्ची समझी जाने लगी, अतः कर्नल टाडको भी उसके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहा। उसके इतिहासने उक्त कल्पनापर सत्यकी पक्की छाप लगा दी।

यही अग्नि-कुलकी कल्पित कथाका संक्षिप्त इतिहास है। एक कविकी कल्पनासे उसकी उत्पत्ति हुई, दूसरे कविने उसका अर्थ-विपर्यास किया और अन्तमें बुद्धि-भ्रंश हुए राजपूतोंने उसको स्वीकार कर लिया। उक्त कथाका भण्डाफोड़ करनेके लिए उक्त वंशोंके पूर्वजोंके शिलालेखोंसे बढ़ कर कौनसा स्पष्ट-तर प्रमाण हो सकता है? वास्तवमें यह कथा चन्दने प्रचलित नहीं की तथा नवींसे तेरहवीं सदीतक उक्त चारों वंश अपनेको सोम-सूर्य-वंशीय ही समझते रहे और लोग भी ऐसा ही मानते

थे, यह अब स्पष्ट हो गया। इस प्रकार उक्त चार राजपूत* घराने विदेशी हैं, इस कल्पनाकी प्रधान आधारभूत अग्नि-कुलकी कथा भी झूठी प्रमाणित हुई। फिर भी कई लेखोंमें इन वंशोंको गूजर कहा है, इससे कुछ लोगोंका मत है कि पीछेसे इनका समावेश सोम-सूर्यवंशीय क्षत्रियोंमें कर लिया गया है। परन्तु वास्तवमें ये वंश गूजर हैं या नहीं, और हैं तो उसके प्रमाण क्या हैं, इसका निरीक्षण करना अब आवश्यक है।

टिप्पणी—पृथ्वीराज रासोका ऐतिहासिक महत्व।

पानीपत हिन्दुओंके स्वातन्त्र्य-संग्रामकी रणस्थली है। सन् ११९१ (वि० १२४८) में वहीं पृथ्वीराजने अन्तिम युद्ध किया। 'पृथ्वीराज रासो' महाकाव्य उन्हींके समकालीन भाट मित्र चन्द बरदाईने लिखा है। बंगालकी रायल एशियाटिक सोसाइटीके जरनलके पाँचवें भागमें (१८८७ ई०) प्रकाशित एक विद्वत्तापूर्ण लेखमें कविराजा शामलदासने रासोमें लिखी मितियों और उल्लिखित राजपूत राजवंशोंके इतिहासकी अनेक भूलें बतायी हैं। विशेषतया रासोमें जो यह लिखा है कि मेवाड़का राजा समरसी पृथ्वीराजका समकालीन और बहनोई था, उसका खण्डन कर उन्होंने सिद्ध किया है कि समरसीका जन्म पृथ्वीराजके कितने ही वर्ष पश्चात् हुआ था। अतः पृथ्वीराजके युद्धमें समरसीका सम्मिलित होना सम्भव नहीं। इसीसे लेखमें रासोकी मौलिकता और प्राचीनताके सम्बन्धमें सन्देह प्रकट किया गया है। रासोका जो नया संस्करण सन् १९११ (वि० १९६८) में काशी नागरी-प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है, उसके सम्पादक श्री मोहनलाल पण्ड्या और बाबू श्यामसुन्दरदासने कविराजा शामलदासके आक्षेपोंका उत्तर देनेका प्रयत्न कर अपना यह मत प्रकट किया है कि रासो मौलिक

* परमारोंका घराना भी सूर्यवंशमें ही गिना जाता है, क्योंकि मराठोंके परमार घराने वशिष्ठ गोत्रके हैं और मराठोंकी वंशावलीमें उन्हें 'सूर्यवंशीय' कहा है।

है और वह पृथ्वीराजके समकालीन कवि चन्दने ही लिखा है। सर विन्सेण्ट स्मिथने बहुत वर्ष पहिले ही यह मत प्रकट किया था कि इतिहासकी दृष्टिसे इस काव्यका महत्व बहुत ही कम है (१८८१ का रा० ए० सो०)। हिन्दी भाषाके इस महत्वपूर्ण महाकाव्यकी सहायताके बिना राजपूतोंका, विशेषतया पृथ्वीराजका, इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता। अतः इस सम्बन्धमें हमें अपना मत प्रकट कर देना आवश्यक है।

हमारे मतसे कई महत्वपूर्ण बातोंमें, विशेषतया मौलिकता और प्राचीनताके सम्बन्धमें, रासोका महाभारतसे बहुत कुछ सादृश्य है। ऐसे विवादमें परस्पर-विरोधी दो मतोंके बीचमें सत्य निहित रहता है। हमारी समझमें इस महाकाव्यका मूल-भाग मौलिक (मूल लेखक कृत) और प्राचीन है, परन्तु कमसे कम दो बार इसमें पीछेसे कई बातें बढ़ायी गयी हैं। हिन्दी महाभारत-मीमांसामें जैसा हमने लिखा है कि वर्तमान उपलब्ध महाभारत व्यासके मूल महाभारतका दुबारा सौती द्वारा परिवर्धित रूप है, (पहिली बार वैशम्पायनने मूल महाभारतको बढ़ाया था) उसी तरह मूल रासो चन्दने रचा, फिर उसके पुत्रने उसे कुछ बढ़ा दिया और सोलहवीं या सत्रहवीं सदीके लगभग किसी अज्ञात कविने उसमें अपनी रचना भी मिला दी है। बहुतसी महत्वकी बातोंमें दोनों महाकाव्योंमें बहुत कुछ साम्य है। उदाहरणार्थ, भारतीय महायुद्धके कवि व्यास, जिस प्रकार अपनी कार्य-क्षमतासे उस युद्धमें चमक उठे हैं, उसी प्रकार चन्दकवि भी इस महाकाव्यकी कथामें स्वयं भाग ग्रहण करनेवाला एक व्यक्ति है। व्यासने जिस प्रकार दैवी शक्तियाँ अपने साथ नहीं जोड़ लीं, उसी प्रकार संभवतः चन्दने भी अपने साथ (वरदाई इस विशेषणसे व्यक्त होनेवाली) नहीं जोड़ी होंगी। दैवी शक्तियोंका आरोप उसपर उसके पुत्र अथवा दुबारा उस काव्यका संस्कार करनेवाले कविने किया है। व्यासके पहिले शिष्य वैशंपायनने जिस प्रकार महाभारत अपने यजमान राजा जनमेजयको सुनाया, उसी प्रकार चन्दने अपना काव्य (रासो) अपनी पत्नीको सुनाया था। इन बातोंसे ज्ञात होता है कि कमसे कम दो बार इस काव्यका परिवर्धन हुआ है।

परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मूल काव्यकी रचना चन्दने ही की है। यदि सोलहवीं सदीमें किसी अज्ञात कविने चन्दके नामसे इसे प्रकाशित किया होता, तो वर्तमान समयमें यह राजपूतानेमें जैसा मतभेदरहित प्रामाणिक माना जाता है वैसा माना न जाता। राजपूत लोग महाभारतके बाद रासोका ही आदर करते हैं। क्षत्रियोंके लिए अत्यन्त प्रिय भीषणयुद्धके आधारपर महाभारतकी रचना हुई है। अर्वाचीन क्षत्रियोंने स्वातन्त्र्यरक्षार्थ पृथ्वीराजके नेतृत्वमें मुसलमानोंके साथ जो तुमुल युद्ध किया, वही रासोका आधार है।

इन काव्योंमें कौनसे भाग प्रक्षिप्त हैं, इसके कुछ साधारण प्रमाण दिये जा सकते हैं; परन्तु महाभारतकी तरह रासोके प्रक्षिप्त भाग पृथक कर दिखाना सरल नहीं है। हमने अपनी 'महाभारतमीमांसा' नामक पुस्तकमें महाभारतके सम्बन्धमें ऐसे प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया है, परन्तु पुरानी हिन्दीमें लिखा हुआ होनेके कारण हमारे लिए रासो सुबोध नहीं है। इसीसे महाभारतकी तरह रासोकी छान-बीन हम नहीं कर सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्यका परिवर्धन करनेका प्रयत्न करते हुए जान बूझकर महाभारतका अनुकरण किया गया है। इसके कुछ उदाहरण मोटे तौरपर हम दिखा देना चाहते हैं।

(१)—महाभारत एक लाख श्लोकोंका ग्रन्थ है। रासोके लेखककी भी यही महत्वाकांक्षा देख पड़ती है कि यह काव्य एक लाख छन्दोंका हो। भारतवासियोंकी प्राचीन समयसे यही धारणा है कि जो ग्रन्थ एक लाख छन्दोंका हो, वही महाग्रन्थ कहाने योग्य है। (शत सहस्र संहिता* लिखनेकी महाकवि महत्वाकांक्षा करता है) रासोका प्रचण्ड विस्तार देखकर कहना पड़ता है कि कवि अपने प्रयत्नमें सफल हुआ है।

(२) काव्यका इतना दीर्घ विस्तार करनेके लिए अनेक स्वतन्त्र और विस्तृत उपकथाओंका इसमें समावेश करना अनिवार्य था।

---

* श्रीमोहनलालने 'सत (शत) सहस्र' का 'सात हजार' अर्थ किया है।

(३) अनेक युद्धोंका विस्तारपूर्वक और हृदयस्पर्शी वर्णन करनेका सुयश महाभारतकी तरह इस काव्यको भी प्राप्त है। पौराणिक समयके युद्धोंका वर्णन करना ही कठिन है, फिर हर एक प्रसङ्गकी हर एक बातका ऐसा सूक्ष्म वर्णन करना तो, जो अरोचक न हो, बहुत ही कठिन है।

(४) सृष्टि-रचना, सृष्टि-सौन्दर्य और विशेपतया विभिन्न ऋतुओं का वर्णन करना (एक ही समयमें सब ऋतुओंका एकत्र वर्णन करनेका रासोमें जो प्रयत्न किया गया है, वास्तवमें वह बेजोड़ है); सांख्यादि दर्शनों और विविध शास्त्रोंका परिचय करा देना; राजसत्ता और शासन-प्रणालीकी उलझनोंका और संसारका सूक्ष्म विवेचन करना, आदि बातें यद्यपि महाभारतके अनुकरणकी परिचायक हैं तथापि हर एक बातमें मौलिकता और रोचकता भरपूर है। इसीसे इस काव्यको 'महाकाव्य' कहानेका पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(५) सबसे विचित्र बात यह है कि महाभारतमें जिस प्रकार स्थान स्थानपर कूट श्लोक रचे गये हैं, उसी प्रकार इस काव्यमें भी कूट कविताएं रचनेका प्रयत्न किया गया है और महाभारतकी तरह कूट कविताएं संख्या-सूचक अंकोंपर ही रची गयी हैं। उदाहरणार्थ, इस काव्यमें समय-सूचक सब उल्लेख आनन्द विक्रम शकके हैं। इससे, कविराजा श्यामलदासने जैसा मान लिया है कि रासोके समय-सूचक सब उल्लेख भ्रमात्मक हैं, वैसा हम नहीं मानते। मोहनलाल पण्ड्याने सब शकोंका सूक्ष्म संशोधन किया है और वह ठीक जँचता है। रासोके प्रायः प्रत्येक सन्में ९१ का ही अन्तर पड़ता है, इससे प्रतीत होता है कि, मोहन लालके मतानुसार, कविने आनन्द विक्रम नामक एक स्वतन्त्र शकका प्रयोग किया है। यह शक, संभव है, उस समय प्रचारमें था अथवा कविने ही यह प्रचलित किया था। पहिले पहिल इस सन्का उल्लेख निम्नलिखित कूट दोहोंमें हुआ है:—

एकादससे पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रिपुजय पुरहरनको भय प्रिथिराज नरिन्द ॥
एकादससे पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
तृतिय साक पृथिराजको लिख्यो विप्रगुन गुप्त ॥

मोहनलाल पण्ड्याका यह मत ठीक है कि इस कविताका 'अनन्द' शब्द 'आनन्द' वाचक नहीं है। 'आनन्द' शब्दसे कविताका छन्द भ्रष्ट होता है। यदि यह कहा जाय कि काव्यरचनाकी सुविधाके कारण आनन्द-का 'आ' ह्रस्व कर दिया गया है, तो भी 'आनंद' शब्द यहाँ ठीक नहीं प्रतीत होता। पण्ड्याजीने 'अनन्द' का अर्थ किया है, ९१ रहित। परन्तु यह अर्थ हो नहीं सकता। कविने नये शकका ही उपयोग किया है, यह उनका मत ग्राह्य है। ९१ वर्ष विक्रम शकसे घटा देनेपर सब तिथियां ठीक ठीक आ जाती हैं, परन्तु 'अनन्द' शब्दका अर्थ ९१ किस प्रकार हो सकता है? दूसरा दोहा भी गूढ़ है। मोहनलालने खींच तान कर 'विप्रगुन गुप्त' का 'ब्रह्मगुप्त' अर्थ कर डालनेका यत्न किया है (भाग १); परन्तु 'विप्रगुन गुप्त' का 'ब्रह्मगुप्त' से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त उपलब्ध साधनोंसे ब्रह्मगुप्तका यह मत किसी लेखमें नहीं मिलता कि युधिष्ठिर विक्रमसे ११११५ वर्ष पूर्व हुए थे। सब हिन्दू ज्योतिर्वेत्ताओंके मतसे विक्रमीय संवत्के आरम्भमें युधिष्ठिर शक ३०४४ था। पुराणों और विशेषतया भागवतके उल्लेखसे यही ज्ञात होता है कि नन्दके राज्यारोहणसे १०१५ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर हुए थे। (यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दा-भिषेचनम्। एतद्वर्षसहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥

पहिले दोहेमें नन्द और दूसरेमें धर्मसुत अथवा युधिष्ठिरका उल्लेख करते समय चन्दके मनमें भागवतका यही श्लोक वार वार उठता होगा। परन्तु युधिष्ठिर और नन्दके बीच १११५ वर्षोंका अन्तर चन्दने कैसे ठहराया और अपना नया तीसरा शक कैसे निर्माण किया, इसका स्पष्टीकरण करना कठिन है। हमारे मतसे 'लिख्यो विप्रगुन गुप्त' का यह अर्थ है कि कालगणना कर उस ब्राह्मण कविने यह कूट रचा है। ज्योतिर्विद ब्रह्मगुप्त-का यहां कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ❀

❀ तर्क ही करना हो तो कहा जा सकता है कि नन्दका अर्थ ९१ है और यह संख्या (९१) नव नन्दोंके राजत्वकालकी परिचायक है। पुराणोक्त १०० वर्षोंका नव नन्दोंका काल ठीक नहीं है। अथवा १०१५+१००

पृथ्वीराज रासोका मूल भाग चन्दने लिखा है। सम्पूर्ण रासो सत्रहवीं सदीमें किसीने लिखकर चन्दके नामसे प्रसिद्ध नहीं किया। इस मतकी पुष्टि रासोमें उल्लिखित ३६ राजवंशोंकी सूचीसे भलीभाँति होती है; क्योंकि वह सूची आधुनिक नहीं है। "सोरेसे सत्तोत्तरे विक्रम साक बरीत। दिल्लीश्वर चित्तोडये लेवेंगे बलजीत॥" इस दोहेमें 'दिल्लीका बादशाह संवत् १६७७ में फिर चित्तोड़पर अधिकार कर लेगा' यह भविष्य-कथन किया गया है। सम्भव है, यह दोहा सत्रहवीं सदीमें किसीने रासोमें मिला दिया हो। (यहाँ भी महाभारत और रासोमें साम्य देख पड़ता है। महाभारतमीमांसामें हमने सिद्ध किया है कि महाभारतमें भी उदयनके सम्बन्धमें इसी प्रकार किसीने भविष्य-कथन जोड़ दिया है।) परन्तु सम्पूर्ण काव्य किसीने चन्दके इतने पश्चात् लिख कर उसके नामसे प्रसिद्ध किया, यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। आगे चलकर एक टिप्पणीमें पूर्वोक्त ३६ राजवंशोंकी सूचीकी विवेचना कर हम सिद्ध करेंगे कि यह सूची पृथ्वीराजके समयके बादकी हो ही नहीं सकती। समरसी पृथ्वीराजका समकालीन था या नहीं, इसका विचार तीसरे भागमें करेंगे। मोहनलालने इस सम्बन्धमें क्या लिखा है, दुर्भाग्यसे वह अबतक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। रासोकी इस सम्बन्धकी टिप्पणीमें उन्होंने अपना मत प्रकट करनेका आश्वासन भर दे रखा है (भाग १, पृ० १४५)।

(नन्दोंका राजत्वकाल) ११९५ वर्षोंका काल, युधिष्ठिरसे आरम्भ कर विक्रमसे कुछ वर्ष पूर्व हुए चन्द्रगुप्त तकका काल मान लिया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोहे कूट ही हैं। कुछ लेखकोंने इन दोहों-से दो नन्दोंके होनेकी जो कल्पना की है, वह नितान्त निराधार है।

चौथा प्रकरण।

क्या अग्निकुलवाले गूजर हैं ?

श्रीयुत डी. आर. भाण्डारकरने इण्डियन एण्टिक्वेरीके ग्यारहवें भागमें लिखे लेखमें यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चाहमान ये अग्निकुलोत्पन्न माने जानेवाले चारों वंश गूजर हैं। (उनका लिखा 'हिन्दूजनतामें विदेशी म्लेच्छोंका वंश' लेख देखिये।) उनका मत भ्रममूलक है, यह सिद्ध करना कठिन नहीं है। उक्त निबन्धमें उन्होंने अपने मतकी पुष्टिके जो प्रमाण दिये हैं, इस प्रकरणमें हम उनका खण्डन करेंगे।

जाति और विवाहके प्राचीन वैदिक इतिहासके सम्बन्धमें भी भाण्डारकरको बहुत कुछ भ्रम हुआ है। इस कारण लेखके आरम्भमें किये उनके अनुमानोंको बहुत सावधानीसे पढ़ना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिककालमें कुछ समयतक आर्य और द्राविड़ वंशोंकी बहुत कुछ खिचड़ी होती रही। आर्योंके विभिन्न वर्णोंका स्वरूप जातिविशिष्ट नहीं, वर्ग (दल)-विशिष्ट था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध होता था। तीनों वर्ण आर्य ही थे, इस कारण उस समय वंश (रेस)-संकरताका प्रश्न नहीं उठा। हिन्दुस्थानमें आ बसनेपर जब आर्यगण शूद्र स्त्रियोंसे विवाह करने लगे, तब वर्णसाङ्कर्यका आरम्भ हुआ। यह मिश्रण कुछ कालतक बराबर होता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण महाभारतमें आयी हुई नहुषकी कथासे मिलता है।* परन्तु जब लोगोंने यह

---

* जातिरत्र महाभाग मनुष्यत्वे महामते।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥

अनुभव किया कि उच्च वर्णोंके पुरुषोंके शूद्र स्त्रियोंके साथ होनेवाले विवाह-सम्बन्ध अत्यन्त अनिष्टकारी होते हैं, तब ऐसे विवाहोंके विरुद्ध लोकमत प्रबल होने लगा। विशेषतया शूद्रोंसे होनेवाले प्रतिलोम विवाह बहुत ही हानिकारक जँचने लगे। मनुने भी इस श्लोकमें यही मत प्रकट किया है:—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः।
जातस्त्वनार्यादार्यामनार्य इति निश्चयः॥

"आर्य पुरुषसे हुई अनार्य स्त्रीकी सन्तति आर्य गुणसम्पन्न और अनार्य पुरुषसे हुई आर्य स्त्रीकी सन्तान अनार्य गुणोंसे युक्त ही होगी।" इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनोंमें शूद्रोंके साथ होनेवाले प्रतिलोम विवाह निषिद्ध माने गये और इसीके अनुकरणसे आर्योंमें परस्पर होनेवाले प्रतिलोम विवाहोंमें भी रुकावट डाली गयी। बीच बीचमें शूद्राओंसे अनुलोम विवाह होते थे, परन्तु याज्ञवल्क्यके यह प्रतिपादन करने पर कि शूद्रा स्त्रीके साथ विवाह न किया जाय, अनुलोम विवाह भी रुक गये।

जब ईसवी सन्‌के कोई ३०० वर्ष पूर्व (वि० पू० ३५७) मेगस्थनीज़ भारतमें आया, तब यहाँकी जाति और विवाह-व्यवस्था इसी प्रकारकी थी। उसने स्पष्ट लिखा है—"भारतीयोंमें अपनी

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्वदर्शिनः॥

इस नहुष-युधिष्ठिर-संवादसे स्पष्ट हो रहा है कि युधिष्ठिरको ब्राह्मणोंकी तरह शूद्रोंमें भी शील देख पड़ा। युधिष्ठिरका इससे यह मत बना कि मनुष्यके आचरणसे उसके वर्णका अनुमान किया जा सकता है और सर्वत्र बे-रोक-टोक वर्णसंकरता फैल रही है, इसीसे ऐसा (गुणातिक्रमण) होता है।

जातिको छोड़ अन्य जातियोंमें विवाह करनेकी आज्ञा नहीं है और कोई अपने पूर्वजोंका पेशा छोड़कर दूसरा काम नहीं कर सकता। तत्वज्ञानी पुरुष इस नियमके अपवाद हैं। अपने गुणोंसे उन्होंने यह अधिकार प्राप्त किया है।" (मैक क्रिण्डल कृत एन्शेएट इण्डिया, मेगस्थनीज़ पृष्ठ ८५-८६) इससे ज्ञात होता है कि मेगस्थनीज़के समयमें जातियोंके चारों ओर अनुल्लङ्घनीय सुदृढ़ प्राचीर निर्माण की गयी थी। फिर यह कैसे सम्भव है कि मेगस्थनीज़के पश्चात् यवनों और शकोंका समावेश हिन्दू जातिमें कर लिया गया? बौद्ध अथवा हिन्दू होनेके बाद भी किसीकी मूल जाति नहीं बदलती थी। स्वयं भाण्डारकरके उद्धृत किये शिलालेखमें भी बौद्ध अथवा हिन्दू हुए शकों अथवा यवनोंको 'शक' अथवा 'यवन' ही कहा है। 'मग' ब्राह्मण भी मग ही रहे और उनकी एक स्वतन्त्र उपजाति मान ली गयी। यवन और शक मेगस्थनीज़के पश्चात् भारतमें आये, इसमें किसीका मतभेद नहीं है। 'मग' भी उन्हींकी तरह मेगस्थनीज़के पश्चात् आये या नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं है। परन्तु उन्हें मगब्राह्मण कहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि अन्य ब्राह्मणोंसे वे पृथक् ही रहे और अन्य ब्राह्मणोंके साथ उनके विवाह-सम्बन्ध नहीं हुए।

जैसे ईसवी सन्के लगभग ३०० वर्ष पूर्व जाति-व्यवस्था किस रूपमें थी, इसका प्रमाण मेगस्थनीज़के इतिहासमें मिलता है, वैसेही ईसवी सन्के लगभग ६०० वर्षके बाद वह किस रूपमें थी, इसका प्रमाण हुएनसंगके प्रवास-वर्णनमें मिलता है। वह प्रमाण हमने पहिले भागमें दिया भी है। हुएनसंग लिखता है—"किसी एक जातिके स्त्री-पुरुषोंके विवाह-सम्बन्ध उसी जातिके स्त्री-पुरुषोंके साथ होते हैं।" (भाग १) मेगस्थ-

नोज़को ज्ञात हुए अपवादका यहां उल्लेख नहीं है; इससे जान पड़ता है कि उस समय जातियाँ परस्पर भिन्न और सम्बन्ध-रहित हो गयी थीं, फिर भी शिलालेखोंसे स्पष्ट होता है कि कोई कोई ब्राह्मण क्षत्रिय-कन्याओं, विशेषतया क्षत्रिय राजकन्याओं, से विवाह कर लेते थे (भाग ६ पृष्ठ ६१) और क्षत्रिय राजाओंसे वैश्य राजकन्याओंका विवाह-सम्बन्ध होता था। परन्तु पुरातन काल और इस कालके अनुलोम विवाहके परिणाममें जो अन्तर पड़ गया, वह ध्यानमें रखने योग्य है। प्राचीन समयमें इस प्रकारके विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तति व्यास आदिकी तरह पिताकी जातिकी मानी जाती थी, परन्तु बादमें वह माता-पिताकी जातियोंके बीचकी एक नयी जातिकी मानी जाने लगी। इसी तरह दो जातियोंके बीचकी कई मिश्र जातियाँ बन गयीं*। शिलालेखोंसे यह भी जाना जाता है कि कुछ समय और बीतने पर, अर्थात् हर्षके समयमें और उसके बादकी शताब्दियोंमें अनुलोम विवाहकी सन्तान माताकी जातिकी मानी जाने लगी†। ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें तो यह नियम अवश्य

* स्मृतियोंमें साधारणतया विवाह-विधानकी इस व्यवस्थाका कथन किया गया है। इन दोनोंके बीचकी कोई सीढ़ी अवश्य रही होगी, जिसका उल्लेख मनुस्मृतिमें है। मांकी जाति यदि पिताके अत्यन्त निकटकी हो, तो उस जोड़ेकी संतान पिताकी जातिकी मानी जाती थी। परन्तु यह सीढ़ी थोड़े ही समयमें लुप्त हो गयी। अन्य स्मृतियोंमें इसका उल्लेख नहीं है। अन्य स्मृतिकारोंने ऐसे विवाहित स्त्री-पुरुषोंकी सन्तानकी गणना माता-पिताकी जातियोंके बीचकी मिश्र जातिमें अनुक्रमसे की है।

† व्यासस्मृति जैसी अर्वाचीन स्मृतियोंमें इस प्रकारकी व्यवस्था कही गयी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धीरे धीरे जाति-बन्धन किस प्रकार दृढ़तर होते गये।

ही था। इसका प्रमाण प्रतिहारोंके शिलालेखमें इस प्रकार मिलता है कि एक ब्राह्मणने एक ब्राह्मण-कन्या और दूसरी क्षत्रिय-कन्यासे विवाह किया था। उसे ब्राह्मणसे जो सन्तान हुई वह प्रतिहार ब्राह्मण और जो क्षत्राणीसे हुई वह प्रतिहार क्षत्रिय कहलायी। साधारणतया ग्यारहवीं सदी और उसके पश्चात् मिश्र विवाह कलिवर्ज्य अर्थात् अवैध माने जाने लगे। इसका विवरण हम तीसरे भागमें देंगे। जाति-व्यवस्थाकी उत्क्रान्तिका यह इतिहास ध्यानमें रखने पर भाण्डारकरकी उद्धृत की हुई पौराणिक कथाओंसे जो शंकाएँ उत्पन्न होती हैं, वे आपही आप दूर हो जायंगी। अतः उन कथाओंके सम्बन्धमें हम यहां अधिक विस्तारसे विचार नहीं करेंगे।

इन प्रास्ताविक बातोंका उल्लेख श्रीभाण्डारकरके उन प्रमाणोंके तथ्य-निर्णयमें सहायक होगा, जो उन्होंने यह सिद्ध करनेके लिए दिये हैं कि अग्निकुलके माने हुए घराने गूजर थे, उनका हूणोंसे सम्बन्ध था, अतः वे विदेशी थे। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि किसी जातिका दूसरी किसी विदेशी जातिके साथ, किसी कारणसे क्यों न हो, उल्लेख होनेसे ही वह जाति विदेशी नहीं ठहरायी जा सकती। बाणने हर्षचरितमें लिखा है कि थानेश्वरके राजा प्रतापवर्धनने हूण और गूजरोंका पराभव किया। इससे कोई यह प्रतिपादन करे कि गूजर विदेशी थे, हूणोंका उनसे रक्त-सम्बन्ध था और हूणोंके साथ ही वे भारतमें आये थे, तो यह पागलपन ही कहा जायगा। ऐसे ही जो प्रमाण स्पष्टतया भ्रमात्मक हैं उन्हींके आधारपर श्रीभाण्डारकर हैहयोंको भी विदेशी सिद्ध करना चाहते हैं। पुराणोंका प्रमाण देते हैं कि पुराणोंमें

उनका उल्लेख विदेशियोंके साथ हुआ है ! "शक, यवन, पारद, और काम्बोज लोगोंके साथ हैहयोंका भी उल्लेख हुआ है।।इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि हरिवंशकी रचनाके समय अर्थात् ईसाकी चौथी शताब्दी (वि० ३५८-४५७) में हैहयोंकी गणना म्लेच्छोंमें ही होती थी।" (पृष्ठ १६) परन्तु यह मत युक्तिसङ्गत नहीं है। हैहय म्लेच्छ ही हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख होना आवश्यक था। उन्होंने म्लेच्छोंसे सहायता ली, इससे वे म्लेच्छ नहीं माने जा सकते। हैहयों और उनके मूल पुरुष सहस्रार्जुनके चन्द्रवंशी आर्य होनेका उल्लेख हरिवंश और अन्य पुराणोंमें एक मतसे किया गया है। यही नहीं, भारतके सब इतिहासोंमें (और व्यवहारमें भी) आजतक हैहयोंकी गणना उत्कृष्ट क्षत्रियोंमें होती आयी है। पहिले भागमें लिखे अनुसार उनके मानववंशसूचक लक्षण निःसन्देह आर्योंके ही हैं*।

जो हो, हैहय तो स्पष्टतया आर्य हैं। वे आर्य और उत्तम क्षत्रिय माने भी गये हैं। परन्तु हूणोंके विदेशी होनेका स्पष्ट उल्लेख है और पुराणमताभिमानी हिन्दू उनसे विदेशीकी तरह ही बर्ताव करते आये हैं। कोई हिन्दूराजा यदि स्पेन

---

* कायस्थ प्रभु (महाराष्ट्रकी एक उच्च जाति) कहते हैं कि हम सहस्रार्जुनसे उत्पन्न हुए हैं। यहाँ श्रीभाण्डारकरने इस अनावश्यक बातका व्यर्थ उल्लेख किया है। कदाचित् उनका यह सूचित करनेका उद्देश्य हो कि ये कायस्थ प्रभु भी विदेशी-वंश-सम्भूत हैं। परन्तु उनकी आकृति और परम्परासे भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि वे आर्य हैं। श्रीभाण्डारकरने यह जो कल्पना कर ली है कि भारतकी कितनी ही जातियाँ विदेशियोंसे उत्पन्न हुई हैं, सम्भव है उसका कारण यह हो कि वे किसी भी उच्च जातिकी उसकी लपेटसे बचने न देना चाहते हों।

देशकी किसी कन्यासे विवाह कर ले, तो स्पेनके लोग जिस प्रकार हिन्दुस्थानी या क्षत्रिय नहीं हो सकते, उसी प्रकार यदि कहीं यह उल्लेख मिल जाय कि किसी क्षत्रियने हूण राज-कन्यासे विवाह किया था, तो इससे हूण भी हिन्दू या क्षत्रिय नहीं सिद्ध किये जा सकते। हम आगे एक टिप्पणीमें दिख-लावेंगे कि हूणोंका ३६ राजवंशोंमें कभी समावेश नहीं किया गया। उन्हें क्षत्रिय कहकर औरोंकी तरह श्रीभाण्डारकरने भी भूल की है। इन अत्यन्त आवश्यक बातोंका दिग्दर्शन करा देने पर ही श्रीभाण्डारकर जिन्हें गूजर कहते हैं, उन अग्निकुलवाले वंशोंका क्रमशः परीक्षण करना उचित होगा। कई वार कहा जा चुका है कि गूजर विदेशी नहीं, मानववंश-शास्त्रके अनुसार सुन्दर नासिकावाले आर्य हैं और ऐतिहा-सिक प्रमाणोंके अनुसार वेद और स्मृतियोंमें कहे हुए वैश्य हैं। अग्निकुलके घरानोंमें सबसे प्रमुख घराना प्रतिहारोंका है। कन्नौजके सम्राट् प्रतिहार घरानेके थे। श्रीभाण्डारकर इस वातको मानते हैं कि उन्होंने अपने लेखोंमें कहीं भी अपनेको गूजर नहीं कहा है। उनके वत्सराज, नागभट्ट आदि नाम आर्योंके हैं। लेखोंमें उन्होंने अपनेको सूर्यवंशी और उनके आश्रित प्रसिद्ध कवि राजशेखरने उन्हें 'रघुकुल-तिलक' कहा है। इन बातोंसे प्रतिहारोंको गूजर सिद्ध करनेके कारणोंका श्रीभाण्डारकरको सूक्ष्म परीक्षण कर लेना चाहिये था। यह तो उन्होंने किया ही नहीं, उलटे उन्होंने "विदेशोंसे आये हुए म्लेच्छ शीघ्र ही हिन्दुओंमें विलकुल मिल गये और वे क्षत्रिय ही नहीं, सूर्यवंशीय क्षत्रिय मान लिये गये" यह प्रतिपादन करनेके लिए उक्त वातोंका विपर्यस्त उपयोग किया है। सच वात तो यह है कि पुराणकाल और

आठवीं शताब्दी ई० के हिन्दू भी आजकी तरह वर्णसंकरताके विरोधी थे। अतः जिन थोड़ेसे अन्य प्रमाणोंसे क्षत्रिय गूजर जान पड़ते हैं, उनका निर्णय अन्य प्रकारसे ही करना चाहिये। श्रीभाण्डारकरको इस बातपर विशेष ध्यान देना आवश्यक था।

अब यह देखना चाहिये कि भाण्डारकरके पक्षके प्रमाण क्या हैं और उनका उत्तर क्या दिया जा सकता है। पहिला प्रमाण यह बताया जाता है कि राजोरमें मिले एक लेखमें वर्तमान जयपुर राज्यके आग्नेय कोणमें राज्य करनेवाले एक गौण प्रतिहार घरानेने अपनेको गुर्जर प्रतिहार कहा है। कन्नौजके प्रतिहारोंने अपनेको कभी गुर्जर नहीं कहा। उक्त गौण (छोटे) प्रतिहारोंने कन्नौजके बड़े घरानेसे अपना पार्थक्य दिखानेके लिए ही अपनेको गुर्जर कहा है। इस प्रकार अपने निवास-स्थानका उल्लेख कर अपना पार्थक्य दिखाना स्वाभाविक भी है। नगर और कन्नौजके निवासी जैसे नागर और कनौजिये ब्राह्मण हैं, वैसे ही गुर्जर देशमें बसे हुए प्रतिहार अपनेको गुर्जर प्रतिहार कहते हैं। भाण्डारकरने स्वयं ही बताया है कि उक्त प्रान्तमें गूजरोंकी बस्ती अधिक है और उस समय उस प्रान्तको गुजरत्रा अथवा गुजरात कहते थे। भाण्डारकरका यह कहना सत्य है कि आठवीं-नवीं शताब्दीका गुजरत्रा वर्तमान गुजरात नहीं, किन्तु जयपुर राज्यके आग्नेय भागतक फैला हुआ दक्षिण राजपूताना था। अन्ततः उक्त प्रतिहारोंने अपना पार्थक्य दिखानेके लिए, जिस देशमें वे बसे थे और राज्य करते थे, उसके सूचक गुर्जर प्रतिहारके नामसे अपना उल्लेख किया, तो इसमें अस्वाभाविक क्या है? वे गुर्जर जातिके थे, इसलिये उन्होंने अपनेको गुर्जर नहीं कहा है।

इसके अतिरिक्त इस एक ही लेखके आधारपर सम्राट् प्रतिहारोंको गुर्जर सिद्ध करना असम्भव है । *

श्रीभाण्डारकरका दूसरा प्रमाण यह है कि राष्ट्रकूटोंने अपने लेखों और अरबोंने अपने प्रवासवर्णनोंमें कन्नौजके प्रतिहारोंको गूजर कहा है। इस मतके सम्बन्धमें विवाद करना सम्भव नहीं । कन्नौजके प्रतिहारोंके साथ जो युद्ध हुआ, उसमें राष्ट्रकूट और अरब एक दूसरेके सहायक थे। राष्ट्रकूट-ताम्रपटमें गूजरोंके साथ हुए युद्धोंका जो उल्लेख है, वह कन्नौजके प्रतिहारोंसे ही सम्बन्ध रखता है; क्योंकि राष्ट्रकूटोंसे लड़ सकनेकी शक्ति उस समय उनमें ही थी और उत्तर भारतके विशाल भूभागमें उनका साम्राज्य फैला हुआ था। इसी तरह अरबोंने जिस 'जुज़र' राज्यका उल्लेख किया है, वह भी कन्नौजका ही राज्य था। परन्तु इससे कन्नौजके राजा गूजर नहीं सिद्ध किये जा सकते। हिन्दू लोग मुसलमानोंको यवन कहते हैं, इससे क्या मुसलमान लोग जाति या जन्मसे ग्रीक ठहराये जा सकते हैं? राजपूतोंका पहिला सामना महम्मद गज़नवीके तुर्कोंसे हुआ। तबसे राजपूत सभी मुसलमानोंको 'तुरकड़ा' कहने लगे। इससे क्या हिन्दुस्थानमें आया हुआ प्रत्येक मुसलमान, चाहे वह अफगान हो या ईरानी, वंश अथवा जातिसे तुर्क हो जाता है? दक्षिण राजपूतानेको पहिले गुजरत्रा कहते थे। सिन्धके अरबोंके पूर्वकी ओर यह देश सटा हुआ होने और वहाँ प्रतिहारोंका राज्य होनेसे उस देश और वहाँके राजाओंका नामोल्लेख अरबोंने 'ज़ुज़र' इस एक ही

* गुर्जर-प्रतिहार इस शब्द समुच्चयका अर्थ गूजर जातिके प्रतिहार ऐसा करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसका अर्थ 'गुजरात देशके प्रतिहार' ऐसा किया जा सकता है।

शब्दसे किया है। राष्ट्रकूटोंने इसी कारण उन्हें गुर्जर कहा है। सारांश, यह प्रमाण भी सारहीन है और प्रतिहार सूर्य-वंशी क्षत्रिय अथवा राजपूत जातिके हैं, यह जिन प्रमाणोंसे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, उनके आगे इसका निवाह नहीं हो सकता।

एक ब्राह्मणके दो स्त्रियाँ थीं, एक ब्राह्मणी, दूसरी क्षत्राणी। ब्राह्मणी स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तान परिहार ब्राह्मण और क्षत्राणी स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तान परिहार क्षत्रिय कही जाने लगी। एक शिलालेखमें लिखी हुई प्रतिहारोंकी उत्पत्तिकी इस आख्यायिकाके आधारपर रचा हुआ प्रमाण तो उपर्युक्त प्रमाणसे भी निःसार है। (इण्डियन एण्टिक्वेरी, पुस्तक ११, पृष्ठ २४) "ब्राह्मणका क्षत्रिय-कन्यासे विवाह-सम्बन्ध और उसका शिलालेखमें कहा हुआ परिणाम विचित्र है। परिहार विदेशसे इस देशमें आये, इस कल्पनासे उक्त आख्यायिकाका रहस्य समझमें आजाता है।" इस प्रकरणके आरम्भमें कहे अनुसार इस प्रकारके विवाह-सम्बन्ध और उसके परिणाम विचित्र नहीं, उस समय वे सर्व-परिचित थे। मान लिया जाय कि वे विचित्र हैं, तो भी उनका उपयोग यह सिद्ध करनेके लिए प्रमाणके रूपमें करना कि प्रतिहार विदेशियोंके वंशज हैं, और भी विचित्र है। इस विचार-परम्परासे चाहे जो अनुमान किया जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि ये लोग नरमांस-भक्षक थे! यों प्रतिहारोंके सम्बन्धमें श्रीभाण्डारकरने विरुद्ध पक्षकी ओरसे जो तीन प्रमाण दिये हैं, वे छूछे साबित होते हैं और प्रतिहार सम्राट् सच्चे राजपूत थे, यह सिद्ध करनेके जो प्रमाण हैं, उनके साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती। भाण्डारकरके प्रतिहारोंके सम्बन्धके जो प्रबल

प्रमाण थे, उनका इस प्रकार खण्डन हो जानेपर अब अग्नि-कुलके नामसे प्रसिद्ध हुए चालुक्य अथवा सोलंकी घरानेके सम्बन्धमें विचार करना उचित होगा।

श्रीभाण्डारकर स्वीकार करते हैं कि चालुक्योंके सम्बन्धमें शिलालेखोंमें कोई प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु उनका मत है कि "यह देखते हुए कि वर्तमान गुजरातका गुजरात नाम तभीसे हुआ जबसे चालुक्योंने उसे अपने अधिकारमें कर वहाँ राज्य करना आरम्भ किया, तब हमें मानना पड़ता है कि चालुक्य अवश्य ही गूजर थे। यदि चालुक्य गूजर न होते, तो उनके राजत्वकालसे पहिले उस प्रान्तका नाम गुजरत्रा होता, परन्तु तब उसका नाम 'लाट' था।" (इं० ए० भा० ११ पृ० २४) उस समयके लेखोंसे ही स्पष्ट है कि आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी ई० में भी दक्षिण राजपूतानेका नाम गुजरत्रा था। तब वर्तमान समस्त गुजरात 'लाट' नहीं कहा जाता था। दक्षिण गुजरात अर्थात् सूरत और उसके आसपासके प्रान्तको ही 'लाट' कहते थे। मध्य गुजरात आनर्तके नामसे और उत्तर गुजरात कभी कभी सारस्वत-मण्डलके नामसे उल्लिखित होता था। कहीं कहीं तीनोंका उल्लेख 'लाट' नामसे हुआ है। आगे चलकर तीनों प्रान्तोंका नाम गुजरात पड़ा, इसका कारण यह नहीं कि चालुक्योंका राज्य वहाँ प्रस्थापित हुआ किन्तु यह है कि गुजराती भाषा वहाँ बोली जाती थी। पहिले एक स्थानपर हम बता चुके हैं कि भारतकी अर्वाचीन भाषाओंका उदय नवीं शताब्दी ई० (वि० ८५८-९५७) के आस पास हुआ और तभीसे इस प्रान्तकी भाषा वर्तमान गुजराती भाषामें परिणत होने लगी। गुजराती भाषा और 'गुजराती' शब्द कितना पुराना है, इसका

निश्चय करना कठिन है। भाषाके अर्थमें वरता जानेवाला 'महाराष्ट्री' शब्द ईसवी सन् पूर्व पहिले शतकके वररुचिका समकालीन होनेपर भी देशनाम-सूचक 'महाराष्ट्र' शब्द कई शताब्दियोंके पश्चात् अर्थात् ईसाकी पाँचवीं सदी (वि० ४५८-५५७) में वराहमिहिरके पश्चात् उपयोगमें आने लगा। इससे यह अनुमान करना युक्तिसङ्गत ही है कि अर्वाचीन लोकभाषा—महाराष्ट्री—से ही वह देश महाराष्ट्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह गुजराती भाषाके प्रभावसे वह सब भाग 'गुजरात' के नामसे विख्यात हुआ, ऐसा मान लेना अनुचित न होगा।

परन्तु इस प्रश्नसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। चाहे किसी कारणसे उस देशका नाम गुजरात पड़ा हो; किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि चालुक्योंके उत्कर्षके समयमें उस प्रान्तका नाम गुजरात पड़ा, अतः चालुक्य गूजर थे। देशोंके नाम भिन्न भिन्न कारणोंसे चल पड़ते हैं और भिन्न भिन्न कारणोंसे वे स्थिर हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, नार्मन लोगोंकी विजयके पश्चात् इंग्लैण्डका नाम इंग्लैण्ड रखा गया। परन्तु नार्मन अंग्रेज (आंग्ल) नहीं हैं। सैक्सन लोगोंसे यदि तुलना की जाय तो अंग्रेज तुच्छ जान पड़ेंगे; परन्तु सैक्सनोंका विचार नहीं किया गया। उस देशका नाम अबतक इंग्लैण्ड बना हुआ है। फ्रैंक लोगोंकी सत्ता नष्ट हो गयी थी और वे गेलिश जनताके साथ एकरूप हो गये थे। उनका जर्मन रीति-नीति और जर्मन सम्बन्धसे कबका विच्छेद हो चुका था। उस समय फ्रांस फ्रांसके नामसे पहिचाना जाने लगा। दूर जानेका प्रयोजन नहीं, भारतमें ही अंग्रेजोंने मद्रास प्रान्तके पूर्वकी ओरके जिलोंका नाम 'कर्नाटक' ऐसे

समयमें रखा, जब कर्नाटक राजा अथवा कर्नाटक भाषा दोनोंमेंसे किसीका प्रभुत्व वहाँ नहीं रहा था। मराठे समस्त दक्षिण भारतको ही कर्नाटक समझते थे। उन्होंने वहाँका जो कर्नाटक नाम रखा, वह अंग्रेजोंने ज्योंका त्यों रहने दिया। सारांश, चालुक्योंके समयके आसपास उस प्रान्तका गुजरात नाम रखा गया, इससे चालुक्य गूजर थे, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अब हम अग्निकुलका माना जानेवाला परमारोंका जो तीसरा घराना है, उसकी ओर झुकते हैं। इन्हें भी श्रीभाण्डारकर किसी प्रकार गूजर सिद्ध न कर सके। प्रमाणाभावके कारण इनके सम्बन्धमें यह कहनेकी बारी आयी कि "हम नहीं जानते, परमार किस वंशके हैं, परन्तु हमारी बुद्धि (मारल) यही विश्वास दिला रही है कि वे विदेशसे आये हुए लोगोंके ही वंशज हैं।" किसी वंशकी उत्पत्तिका विचार करते हुए सद्-सद्-विवेक-बुद्धिके विश्वासपर निर्भर हो जानेका यह पहिला ही उदाहरण हमने देखा है। हमें विश्वास है कि पाठकगण भी हमारी ही तरह श्रीभाण्डारकरको अपनी सदसद्विवेक-बुद्धिके अनुसार विचार करनेके लिए स्वतन्त्रता देकर यही कहेंगे कि परमारोंका गूजर अथवा विदेशी होना सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण या तर्क उपस्थित नहीं किया गया।

अन्तमें हमें चाहमान अथवा चौहानोंका विचार करना है। उनकी उत्पत्ति भी गूजरोंसे हुई, यह सिद्ध करते हुए भाण्डारकर ऐसे चकरा गये हैं कि जिसका वर्णन करते नहीं बनता। भारतके वायव्य प्रान्तमें मिले किसी पुराने और अप्रसिद्ध सिक्केका आधार लेकर उनकी बुद्धिने ऐसी दौड़ मारी कि उसे हिमालयके शिवालिक पर्वततक बीचमें कहीं विश्राम ही

नहीं मिला। उनकी यह तर्कशैली 'पिक्किकी संशोधन-पद्धति' का नमूना है। भाण्डारकर जैसे बुद्धिमान् पुरुष इसके जालमें कैसे फँस गये, यही आश्चर्य है! हमें विश्वास है कि राजपूत गूजर अथवा विदेशियोंके वंशज हैं, इस कल्पनापर यदि वे लट्टू न हो जाते, तो उन्हें अपनी तर्कणाका असामञ्जस्य आप ही देख पड़ता। उनकी दलील केवल कल्पनाके भरोसे स्थित है।

उत्तर भारतमें कुछ सिक्के मिले हैं, जिनपर नागरीमें 'श्री वासुदेव वहमन' और पेहलवी लिपिमें 'तक्कान् जाबुलिस्तान् सपर्दलक्षान्' लिखा है। श्री भाण्डारकरने अन्य संशोधकोंके मतोंका विचार न कर अपने सुभीतेके लिए 'वहमन' के बदले 'चहमन' पढ़ा। कारण यह बताया कि "प्राचीन समयमें 'व' और 'च' में इतना साम्य था कि एकके बदले दूसरे अक्षरका लिखा जाना सम्भव है।"

"यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ('म' को दीर्घ कर 'मा' पढ़ा जाय तो) चहमन ही चाहमान है और सिक्केमें उल्लिखित वासुदेव चाहमान वंशका ही है। पृथ्वीराज-विजयमें लिखा है कि शाकम्बरी वंशका जनक वासुदेव था। अतः वह वासुदेव और सिक्केका चाहमान वासुदेव एक ही हैं।" "राजशेखरके प्रबन्धकोशमें वासुदेवको चाहमान वंशका जनक कहा है, और उसका समय विक्रम संवत् ६०८ बताया है।" दोनों सनोंके अन्तरके कारण दोनों वासुदेव एक ही थे, यह सिद्ध करनेमें बड़ी अड़चन पड़ गयी। परन्तु भाण्डारकरने उस अड़चनकी उपेक्षा कर शान्त चित्तसे कह डाला कि— "कोशमें कुछ पहिलेका सन् दिया गया है। परन्तु इस सिक्केसे, जिसपर ईसवी सन् ६२७ के आसपासके दूसरे 'परवेज़ खुशरू' के सिक्केकी हूबहू प्रतिमा है, यह (चाहमान वासु-

देवका) सन् ६२७ ही मानना ठीक है।" अपनी कल्पनाको पुष्ट करनेके लिए श्रीभाण्डारकर अक्षर ही नहीं बदलते, किन्तु सन् भी बदल देते हैं। इससे भी विचित्र बात यह है कि वे अपने इच्छानुसार चाहे जिसका वंश भी बदल डालते हैं! कनिङ्हम कहते हैं कि उक्त सिक्केमें उल्लिखित वासुदेव हूण था और प्रोफेसर रैपसन्के मतसे (सिक्केकी छाप और उसकी आकृतिके कारण) वह 'ससानी' था। परन्तु भाण्डारकर उसे 'खज़र' मानते हैं और इसका कारण वे ही जानते हैं। श्री भाण्डारकर चाहमानोंको गूजर सिद्ध करते हुए कैसे मुँहके बल गिरे हैं, यह बतानेके लिए उनका युक्तिवाद विस्तारपूर्वक पाठकोंके सामने रख देना पर्याप्त होगा।

इस सम्बन्धमें श्रीभाण्डारकरने सबसे भारी भूल यह की है कि हिमालयके शिवालिक शिखरोंसे घिरी पहाड़ी भूमिमें अहिच्छत्र नगर और सपादलक्ष देशका होना बताया है। यह भी उन्होंने कहा है कि इसी भूभागसे ब्राह्मण और क्षत्रिय दक्षिणकी ओर बढ़कर सर्वत्र फैल गये। वास्तवमें इस कथनसे उन्होंने भारतीय इतिहासके स्वाभाविक क्रमका उच्छेद किया है। राजपूतोंको गूजर मान भी लें, तो भी उनका शिवालिक पहाड़ी प्रान्तमें जा बसना बुद्धिग्राह्य नहीं है। गूजर हूणोंके साथ जेता बनकर विदेशसे यदि यहाँ आये हों, तो पञ्जाबकी मनोहर समतल भूमिमें बसना छोड़कर उन्होंने हिमालयके दुर्गम प्रदेशका आश्रय क्यों लिया? इतिहास और आख्यायिकाओंसे तो यही ज्ञात होता है कि तुर्कोंके आगमनतक जो विदेशी यहाँ चढ़ आये, उनके उपद्रवोंसे बचनेके लिए ब्राह्मणों और राजपूतोंने ऐतिहासिक समयमें उक्त पहाड़ी और सब प्रकारसे असुविधाजनक सीमाप्रान्तमें जाकर निवास

किया और बहुतसे लोग राजस्थानकी पहाड़ी और मरुभूमिमें जा बसे। अतः राजपूतों अथवा गूजरोंका आदि निवासस्थान शिवालिक पर्वतको मानना सयुक्तिक नहीं है। सपादलक्ष देश और शिवालिक पार्वत्य प्रदेशको एक मान लेना भी ठीक नहीं और इस शब्दके स्पष्टीकरणार्थ बाबरके पास जानेकी भी आवश्यकता नहीं है। बाबरने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह सम्भवतः मूल और सच्चा अर्थ भूल जानेके बादका है। हमने एक टिप्पणीमें ईसवी सन्‌की नवीं शताब्दीके लगभग हिन्दुस्थानमें जो देश थे, उनकी सूची और प्रत्येकके अन्तर्गत गिने जानेवाले गाँवोंकी परम्परागत संख्या बतानेवाला अवतरण स्कन्दपुराणसे लेकर उद्धृत किया है। उस सूचीमें सपादलक्ष चार देशोंको कहा है,उनमेंसे शाकम्बर अथवा चौहानोंका देश पहिला है। कर्नाटक, मेवाड़ और वरेन्दुको भी सपादलक्ष ही कहा है। वरेन्दु देश कहाँ है, इसका पता नहीं चलता; परन्तु सम्भवतः वह दिल्ली प्रान्त है*। भाण्डारकरके बताये सिक्केमें 'तक्कान् जाबुलिस्तान और सपर्दलक्षान्' का जो उल्लेख है, वह प्रान्त सम्भवतः पश्चिममें ग़ज़नीसे लेकर आग्नेयमें दिल्ली तक फैला हुआ पंजाब था और ससानी राजा वासुदेव बहमनके राज्यका अन्तर्भाव उसमें होता था। जो हो, सपादलक्ष शब्द सवालाख पर्वतश्रृंगोंका नहीं, सवालाख गाँवोंका सूचक है और इसी अर्थसे शाकम्बर, मेवाड़, दिल्ली और कर्नाटकके लिए इस शब्दका उपयोग किया जाता था। स्कन्दपुराणसे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

* अथवा मुलतानके आसपासका प्रान्त भी हो सकता है। क्योंकि मुलतानके आसपास १ लाख २० हजार गाँव थे, ऐसा अलमसूदीने भी कहा है (इलियट भाग १, पृष्ठ २३)।

श्री भाण्डारकरने ऐसी ही भूल कर अहिच्छत्रको भी हिमालयमें ला बैठाया है। महाभारतमें उत्तर पाञ्चालोंकी जो राजधानी कही गयी है, निःसन्देह वह यही है। हुएनसंगके वर्णनके आधारपर कनिंगहमने अहिच्छत्रको रामपुर सिद्ध किया है और वह ठीक भी है। 'पर्वत शृंगोंसे घिरी हुई' इन शब्दोंसे हिमालयतककी दौड़ लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। दक्षिणके ब्राह्मण और क्षत्रिय अहिच्छत्रको अपना आदि निवासस्थान समझते थे, यह भी ठीक ही था। वैदिक साहित्यमें पाञ्चाल देशको विद्वान् ब्राह्मणोंका निवासस्थान कहा है। शौर्यशाली पाञ्चाल क्षत्रियोंकी भी वह मातृभूमि थी। अतः चाहमान वंशके आदि पुरुषके अहिच्छत्रसे आनेकी बातपर श्रीभाण्डारकरको आश्चर्य नहीं करना चाहिये। 'सपादलक्ष' यह शब्द चाहमान अपने साथ किसी अन्य देशमें नहीं ले गये थे; क्योंकि हालैण्डकी तरह यह नाम दूसरे देशमें ले जाने योग्य नहीं है। देशके गाँवोंकी संख्या बतानेवाला यह शब्द है। कर्नाटक अथवा धारवाड़को भी 'सवालक्ष' इसी कारण कहते थे कि उस प्रान्तमें सवालाख गाँव थे। यह नाम उत्तरकी ओरसे धारवाड़में नहीं लेजाया गया और न लेजाया जाना सम्भव ही था। कर्नाटकके लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ, इससे भाण्डारकरने अनुमान भिड़ाया कि चाहमानकी तरह चालुक्योंका भी आदि निवासस्थान सपादलक्ष नामक पार्वत्य प्रदेशमें था और इसी कारण वे विदेशी हैं। यह मत भी निराधार है। अहिच्छत्र और सपादलक्षका भ्रमात्मक अर्थ कर उन्होंने जो कल्पना की है, यदि स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो यही कहना होगा कि, वह एकदम ग़लत है। हमारी समझमें अग्निकुलके माने गये चारों घराने विदेशी हैं, यह

सिद्ध करनेका भाण्डारकरका प्रयत्न विफल हुआ है और अब उन्हें वह प्रयत्न त्याग देना चाहिये । भाण्डारकर अहिच्छत्र और मारवाड़के नागोरको एक मानते हैं, परन्तु हरविलास सारडाने सिद्ध किया है कि सपादलक्ष सांभर देश था । चाहमान चाहे रामपुरसे आये हों या आरम्भमें नागोरमें ही क्यों न बसते हों, वे गुर्जर थे, यह सिद्ध करनेका कहीं कोई भी प्रमाण नहीं है । अतः भाण्डारकर द्वारा आविष्कृत और जैक्सन तथा स्मिथ द्वारा अनुमोदित इस असमर्थनीय कल्पनाका कि राजपूतोंकी उत्पत्ति विदेशियोंसे हुई है, इससे अधिक विस्तृत विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है । राजपूत हिन्दुस्थानके प्राचीन वैदिक आर्योंके ही वंशज हैं, यह सिद्ध करने योग्य हमारे मतसे जो विधायक प्रमाण हैं, उनपर अगले प्रकरणमें विचार किया जायगा ।

टिप्पणी—स्कन्दपुराणमें लिखे हुए देशोंकी सूची ।

स्कन्दपुराणमें भारतीय देशोंकी सूची तदन्तर्गत गाँवोंकी संख्यासहित दी हुई है । भारतके देशों अथवा लोगोंकी महाभारत वाली सूची ईसवी सन्से पहिलेके भारतीय इतिहासके लिए महत्वकी है । इसी तरह वराहमिहिरकी सूची ईसवी सन्की पांचवीं सदीके लिए उपयुक्त है । हुएनसंगके प्रवासवर्णनसे हमें सातवीं शताब्दीके आसपासके भारतके विभिन्न देशों और जातियोंका सविस्तर तथा यथार्थ परिचय मिल जाता है । स्कन्दपुराणमें कुमारखण्डके ३९ वें अध्यायमें भारतीय देशोंकी (लोगोंकी नहीं) जो सूची लिखी है, वह भी भारतीय इतिहासके लिए बहुत ही उपयुक्त है । उससे ईसाकी नवीं शताब्दीके आसपासका साधारणतया यथार्थ परिचय हो जाता है । इस सूचीसे ज्ञात होता है कि यह पुराण दसवीं शताब्दीमें लिखा गया है, क्योंकि उसमें पुराने देशों अथवा लोगोंके नाम नहीं देख पड़ते । अधिकांश नाम अपरिचित हैं । फिर भी उसमें ऐसे

बहुतसे विभिन्न देशों और प्रान्तोंके नाम हैं, जिनका नवीं शताब्दीसे सम्बन्ध है और जो अबतक प्रचलित हैं। इस टिप्पणीमें वर्तमान समयमें पहिचाने जानेवाले देशोंके नाम जान बूझकर दिये गये हैं और उनका विस्तार तथा महत्व भी बताया गया है। प्रत्येक देशके साथ जो संख्या दी गयी है, वह गाँवोंकी है। इनमेंसे अधिक संख्याएँ विश्वास-योग्य न होने पर भी उनमें कहीं अनिश्चितता नहीं है। इनमेंसे कुछ देशोंके गाँवोंकी संख्याएँ उस समयके लेखोंमें भी पायी जाती हैं, इससे उनकी सत्यतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि उस समयमें प्रचलित लोगोंकी धारणाके अनुसार देशों अथवा प्रान्तोंके गाँवोंकी संख्या निश्चित हो चुकी थी।

यह सूची उत्तरके देशोंसे आरम्भ होती है। नवीं शताब्दीकी राजनीतिक परिस्थिति इसमें भलीभांति प्रतिबिंबित हुई है। आरम्भमें एक लाख गाँवोंका नेपाल और फिर ३६ लाखका कान्यकुब्ज लिखा है, जो स्वाभाविक ही है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय कान्यकुब्ज साम्राज्य वैभवके शिखरपर पहुँच गया था और उसीमें अवध, गंगाके आसपासका प्रदेश, पंजाबका कुछ भाग, ग्वालियर प्रान्त और यमुनाके आसपासके प्रदेशका अन्तर्भाव होता था। प्रबन्धचिन्तामणिमें भी कान्यकुब्जके गाँवोंकी यही संख्या लिखी है। तत्पश्चात् ७२ लाखके गाजणक प्रान्तका उल्लेख है, पर इसका अब पता नहीं लगता। समस्त भारतके गांवोंकी संख्या पुराणोंमें ९६ करोड़ ७२ लाख लिखी है (यह पौराणिक अतिशयोक्ति है)। इसे पूरा करनेके लिए पुराणोंकी प्रणालीके अनुसार यहां भी वास्तविकता और दन्तकथाओंकी खिचड़ी की गयी है। फिर कान्यकुब्जसे आधे याने १८ लाखके गौड़ अथवा बंगालका उल्लेख हुआ है, और वह असम्भव नहीं जान पड़ता। तदनन्तर बंगालसे आधे लाखके कामरूप अथवा आसाम और औड्डियान अथवा उड़ीसाका उल्लेख है। 'वेदसंज्ञ' कहकर जिसका वर्णन किया गया है, (वेदसंज्ञका अर्थ सम्भवतः यह है कि जिसके चार भाग हों) उस बुंदेलखण्डका विस्तार भी ९ लाख ही बताया गया है। इसी विस्तारके जालन्धर और लोहपुर अथवा

लाहोर है। फिर अपने परिचित ७ लाखके रटराज्य अथवा राष्ट्रकूट राज्यका उल्लेख है। यहां तत्कालीन और तत्पूर्वकालीन लेखोंमें उल्लिखित साढ़े सात लाख रट्टपाडीका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। आगे चलकर कुछ ऐसे देशोंके नाम हैं जिनसे हम अपरिचित हैं और फिर सवालाख अथवा सपादलक्ष देशोंके नाम देख पड़ते हैं। हम बता चुके हैं कि सपादलक्ष देशका अर्थ करने और उसे हिमालयकी तरहटीका शिवालिक पार्वत्य प्रदेश सिद्ध करनेमें श्रीभाण्डारकरने भारी भूल की है। स्कन्दपुराणके लेखसे सिद्ध होता है कि सपादलक्ष नामसे वरेन्दु, अतिलांगल, सयंभर, भेदपाट (ये ही सांभर और मेवाड़ हैं), तोमर, कर्नाट और पुंगल ये सात देश समझे जाते थे। इनमेंसे, हो सकता है कि, कोई शिवालिक प्रान्त भी हो, परन्तु उसका विश्वासयोग्य प्रमाण नहीं मिलता। यह निश्चित है कि सपादलक्ष शब्द शिवालिक भागकी सवा लाख टेकडियोंसे प्रचलित नहीं हुआ। अतिलांगलके बाद ही ७ लाख १५ हज़ार १८० गाँवोंके मालव देशका उल्लेख है।

इसके अनन्तर हमलोगोंके परिचित महत्वके देश ये हैं—गुर्जरत्रा (७०,०००), सिन्ध (२०,०००), कच्छमण्डल (१६,०२०), सौराष्ट्र (५५,०००), लाट (२१,०००), कोंकण (३६,०००) और लघु कोंकण (१६,०००)। यहां गुर्जरत्रा शब्द प्रयुक्त हुआ है और गुर्जरत्रा तथा लाट भिन्न भिन्न देश हैं। सूचीके समयमें गुर्जरत्रा शब्द दक्षिण मारवाड़के लिए प्रयुक्त हुआ है, इससे जान पड़ता है कि स्कन्दपुराण दसवीं शताब्दी (वि० ९५८-१०५७) के इधरका नहीं है।

इस सूचीमें काश्मीरका विस्तार ६८,००० गांवोंका लिखा है। पहिले भागमें कहे अनुसार काश्मीरके पुराने कागज़पत्रोंसे भी वह ठीक जँचता है। इसके अनन्तर परम्पराप्राप्त, परन्तु काल्पनिक और हिन्दुस्थानके देशोंकी सूचीके लिए आवश्यक माने गये, एकपादादि देशोंके नाम हैं। उनमेंसे हम काम्बोज (काबुल), कोसल (मध्यप्रान्त), पांच लाखके अर्थात् महाराष्ट्रके ⅓ विदर्भ (वरार), वर्धमान (वढवान), मगध (६८०००) और मूलस्थानपुरसे परिचित हैं। समस्त भारत ७२ देशोंमें विभाजित हुआ

है (इस सूचीमें देशोंकी संख्या ७५ है) और सब देशोंके गाँवोंकी संख्या ९६ करोड़ ७२ लाख बतायी गयी है । ३६००० 'वेलाकूलों' का भी उल्लेख है । इसका अर्थ हमारे मतसे समुद्रतटके कोस हैं । सिकन्दरको जिन्होंने हिन्दुस्थानका परिचय कराया, उन्होंने भी समुद्रतटकी यही लम्बाई कही है।

महाभारतकी बराबरी करनेके विचारसे स्कन्दपुराण रचा गया है। तदनुसार महाभारतका अनुकरण कर इसमें भी भारतके पर्वतों और नदियोंके नाम दिये गये हैं । टिप्पणी समाप्त करनेसे पहिले उनका उल्लेख कर देना उचित ही होगा। ये नाम भी कुमारखण्डके ३९ वें अध्यायमें ही हैं। महाभारतकी तरह यहां भी ७ कुलपर्वत कहे गये हैं, यथा—१ महेन्द्र, २ मलय, ३ सह्य, ४ शक्तिमान, ५ ऋक्ष, ६ विन्ध्य और ७ पारियात्र। इनमेंसे पहिले चार सुप्रसिद्ध पूर्वघाट, मलय, पश्चिमघाट और गिरनार हैं। ऋक्ष अरवली पर्वत है और विन्ध्य हिन्दुस्थानके बीचों बीच लम्बायमान हो रहा है। पारियात्रका पता नहीं चलता । उसके पश्चिममें कौमारखण्ड है और वहांसे वेद, स्मृति तथा अन्य नदियोंके निकलनेका वर्णन हैं। कोई कोई अनुमान करते हैं कि पश्चिम विन्ध्यका कुछ भाग ही पारियात्र है। नर्मदा और सरसा तो सचमुच विन्ध्यसे ही निकली हैं, परन्तु शतद्रु और चन्द्रभागा ऋक्षसे कैसे निकल सकती हैं ? ऋषिकुल्या और कुमारी, ये काठियावाडके शक्तिमानसे निकली हैं। तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, कावेरी, कृष्णा, वेणी, भीमरथी, इनका उद्गम सह्यसे हुआ है। गोदावरीका उल्लेख न होनेसे उसका स्मरण विशेष रूपसे हो आता है। कृतमाला और ताम्रपर्णी मलयसे तथा तृशानु और ऋष्यकुल्या महेन्द्रसे निकली हैं। स्तम्भ (खंबायत), प्रभास, अवन्ति और नागर तीर्थोंके विस्तृत वर्णन देखकर इस पुराणके लेखक अथवा उसको वर्त्तमान रूप देनेवाले लेखकका उक्त तीर्थोंके सम्बन्धमें पक्षपात प्रकट होता है और यह भी मालूम होता है कि उनसे उसका विशेष परिचय था। संभवतः दक्षिण अथवा उत्तर भारतसे उसका विशेष सम्बन्ध नहीं था। उसका जन्म गुजरात अथवा मालवामें हुआ था।

स्कन्दपुराणमें उल्लिखित देशों और तदन्तर्गत गाँवोंकी संख्याकी सूची।

१	नीवृत	४	करोड़	२६	सयंभर		सपादलक्ष
२	बालक	२½	"	२७	मेवाड़		"
३	साहाणपुर	१¼	"	२८	वागुरि	८८	हजार
४	आंधल	४	लाख	२९	गुर्जरत्रा	७७	"
५	नेपाल	१	"	३०	पाण्डोविषय	७०	"
६	कान्यकुब्ज	३६	"	३१	जहाहूति	४२	"
७	गाजणक	७२	"	३२	काश्मीर	६८	"
८	गौड	१८	"	३३	कोंकण	६३	"
९	कामरूप	९	"	३४	लघु कोंकण	३६००	
१०	डाहल	९	"	३५	सिन्धु	२२	हजार
११	कान्तिपुर	९	"	३६	कच्छ	३६००	
१२	लोहपुर	९	"	३७	सौराष्ट्र	५५	हजार
१३	पांविपुर	७	"	३८	लाडदेश	२१	"
१४	रटराज	७	"	३९	अतिसिन्धु	१०	"
१५	हरियल	५	"	४०	अश्वमुख	१०	"
१६	द्रढ़	२½	"	४१	एकपाद	१०	"
१७	माचिपुर	९	"	४२	सूर्यमुख	१०	"
१८	ओडियान	९	"	४३	एकबाहु	१०	"
१९	जालन्धर	९	"	४४	संजायु	१०	"
२०	बंभणवाहक	३½	"	४५	शिव देश	१०	"
२१	नीलपुर	२१	हजार	४६	कालहयंजय	१०	"
२२	अमल	१	लाख	४७	लिङ्गोद्भव	१०	"
२३	वरेन्दु		सपादलक्ष	४८	भद्र	१०	"
२४	अतिलांगल	११	हजार	४९	देवभद्र	१०	"
२५	मालव		१,१८,९२	५०	चट	३६	"

५१ विराट	३६	हजार	६३ कुरु	६४	हजार
५२ यमकोटि	३६	,,	६४ किरात	१½	लाख
५३ रामक	१८	,,	६५ विदर्भ	५	,,
५४ तोमर		सपादलक्ष	६६ वर्धमान	१४	हजार
५५ कर्नाट		,,	६७ सिंहल	१०	,,
५६ पिंगल		,,	६८ पाण्डु	३६	,,
५७ स्त्रीराज्य	५	लाख	६९ भयाणक	१	लाख
५८ पुलस्त्य	१०	,,	७० मागध	६६	हजार
५९ काम्बोज	१०	,,	७१ मूलस्थान	२५	,,
६० कोसल	१०	,,	७२ यावन	४०	,,
६१ वाल्हिक	४	हजार	७३ पक्षवाहु	४	,,
६२ लंका	३६	,,	७४ पाङ्गु	६०	,,

७५ वरेन्दुक ३० हजार

पाँचवाँ प्रकरण ।

राजपूतोंके गोत्र ।

हम बता चुके हैं कि जिन प्रमाणोंके आधारपर अनुमान किया जाता था कि प्रतिहार तथा अन्य राजपूतोंके मूल पुरुष गूजर अर्थात् विदेशी थे, छानबीन करनेपर उन प्रमाणोंकी निःसारता स्पष्ट हो जाती है और राजपूतोंको विदेशी सिद्ध करनेके लिए वे प्रमाण अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। अब हम वे प्रमाण पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि राजपूत वैदिक आर्य हैं। पहिला प्रमाण यह है कि वैदिक सूत्रोंमें जो गोत्र और प्रवर कहे गये हैं, राजपूतोंमें वे अबतक अखण्डरूपसे

प्रचलित हैं। उनको स्मृति उन्हें बनी हुई है। अनेक वैदिक सूत्रोंमें कथित इस गोत्र-प्रवर-प्रणालीके कारण हिन्दू-आर्योंमें अपनी वंशोत्पत्तिका स्मरण जिस प्रकार बना हुआ है वैसा संसारकी अन्य किसी जातिके लोगोंमें नहीं देख पड़ता। वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू-आर्योंको प्रत्येक धर्मकृत्यका आरम्भ करनेके पूर्व अपने गोत्र और प्रवरोंका उच्चारण करना पड़ता है। इससे गोत्र-प्रवरोंका उच्चारण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको सदा अपने वंश और वैदिक पूर्वजोंका स्मरण बना रहता है। वैदिक काल अर्थात् पांच हजार वर्षोंसे भी अधिक समयसे अथवा कमसे कम सूत्ररचना-काल अर्थात् तीन हज़ार वर्षोंसे ब्राह्मणोंने अपनी वंशोत्पत्तिकी स्मृति कायम रखी है। धार्मिक भावनाके कारण राजपूतोंने भी उसे शिथिल नहीं होने दिया। गत दो हज़ार वर्षोंमें जो प्राचीन लेख उपलब्ध हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि क्षत्रियों और राजपूतोंने अपने लेखोंमें अपने गोत्रोंका सावधानीसे और अभिमानपूर्वक उल्लेख किया है। पूर्वकालीन शिलालेखों और ताम्रपत्रोंमें जो गोत्र देख पड़ते हैं, वे अब भी प्रसिद्ध राजपूत घरानोंमें प्रचलित हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि राजपूत वैदिक क्षत्रियोंसे ही उत्पन्न हुए हैं। कर्नल टाडने अग्निकुलके अन्तर्गत माने गये क्षत्रियोंके गोत्र उनके गोत्रोच्चारके अनुसार लिख रखे हैं। (टाडने 'गोत्राचार' शब्द लिखा है। यह उनकी भूल है। हमारी समझमें यहाँ गोत्रोच्चार—गोत्रका उच्चार—शब्द होना चाहिये।) वे गोत्र इस प्रकार हैं—चाहमान वत्स गोत्रके हैं और इनके पाँच प्रवर हैं। चालुक्य भारद्वाज गोत्रके हैं और इनके तीन प्रवर हैं। परमार वसिष्ठ गोत्रके हैं और इनके तीन प्रवर हैं। (प्रतिहारोंका गोत्र लेखों या खोजसे अभीतक

निश्चित नहीं हुआ है।) हम पहले लिख चुके हैं कि उक्त घरानोंके पूर्वकालीन लेखोंमें भी इन्हीं गोत्रोंका उल्लेख आया है। परमारोंके गोत्रका उल्लेख उदयपुर-प्रशस्ति तथा अन्य कई लेखोंमें हुआ है। उदाहरणार्थ, पाटनारायण लेखका यह चरण ध्यानमें रखने योग्य है—"वसिष्ठ गोत्रोद्भव एष लोके ख्यातस्तदाद्यौ परमारवंशः।" (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग ४५) अखिल भारतके परमार, चाहे वे दक्षिण भारतके हों या राजपूतानेके, इसी गोत्रके हैं। पहिले कहे अनुसार हैहयोंके लेखमें चालुक्योंके गोत्रका और बिजोलिया लेखके इस चरणमें—"विप्रश्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा"—चाहमानोंके गोत्रका उल्लेख है। (ज० बंगाल रा० ए० सो० जिल्द ५५ पृष्ठ ४१) राठौरोंका गोत्र गौतम और गुहिलोतोंका वैजवापायन है, जैसा कि उनके लेखोंसे प्रकट होता है। पूर्वकालीन लेखोंमें लिखित गोत्र ही आजतक उक्त राजपूत वंशोंमें प्रचलित हैं, इससे स्वभावतः यह अनुमान किया जा सकता है कि जब कि राजपूतोंमें गोत्रोंका अस्तित्व, उनकी अखण्ड स्मृति, और उच्चारण अबतक प्रचलित है, तब उनकी उत्पत्ति अवश्य ही वैदिक मूलपुरुषोंसे ही हुई होगी। यद्यपि निश्चित रूपसे हम ऐसा नहीं कह सकते तथापि ऐसा अनुमान करनेके लिए यह एक प्रबल कारण अवश्य है।

राजपूत पहिले अनार्य थे। ईसाकी छठवीं या सातवीं सदीमें जब वे आर्यधर्मानुयायी क्षत्रिय बने, तब उन्होंने अपने ब्राह्मण पुरोहितोंके गोत्र स्वीकार कर लिये। यह कहकर दीर्घकालसे प्रचलित गोत्र-प्रवरोंकी परम्पराको झूठा ठहरानेका प्रयत्न किया जाता है और अपने मतकी पुष्टिके लिए वैदिक सूत्रके 'पुरोहितप्रवरो राज्ञाम्' इस नियमका उपयोग किया

जाता है। इस नियमका अर्थ है—क्षत्रिय अपने पुरोहितके गोत्रका उपयोग कर सकते हैं। वास्तविक अर्थ न समझनेके कारण हम कैसी भूलें कर बैठते हैं और इससे विदेशी पण्डितों तथा पुरातत्त्वानुसन्धान करनेवालोंको कैसा भ्रम हो जाता है, इसका यह एक और उदाहरण है। याज्ञवल्क्य स्मृतिकी सुप्रसिद्ध मिताक्षरा टीकाके कर्त्ताने यह बड़ा ही भ्रमात्मक नियम लिखा है कि क्षत्रियोंके गोत्र नहीं होते, वे अपने पुरोहितोंके गोत्रोंका स्वीकार कर विवाहादि सम्बन्ध किया करें। द्विजों अर्थात् आर्योंके लिए ही असगोत्र विवाहसम्बन्ध शास्त्रसम्मत है, इस आशयका जो याज्ञवल्क्य स्मृतिका वचन है, उसपर विज्ञानेश्वरने टीका की है और वह आजकल सर्वसम्मत मानी जाती है। अतः क्षत्रिय राजाओंके लेखोंमें उनके गोत्रोंका जो उल्लेख हुआ है, उनका विवेचन करते हुए यूरोपीय पण्डित स्वभावतः इसी टीकाको प्रमाण मानते हैं। यदि राजाओंके गोत्र केवल औपचारिक होते, उन्होंने उन्हें अपने पुरोहितोंसे ही ग्रहण किया होता और पुरोहितके बदलने पर वे बदले भी जा सकते, तो प्राचीन लेखोंमें गोत्रोंके उल्लेखका कोई महत्व ही नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, बादामीके चालुक्यों अथवा काञ्चीके पल्लवोंके गोत्र उनके अपने न होते, तो प्रत्येक दानपत्रमें उन्हें अपने गोत्रोंका "मानव्यसगोत्राणां चालुक्यानाम्" और "भारद्वाज सगोत्राणां पल्लवानाम्" इस प्रकारसे उल्लेख करनेकी आवश्यकता ही प्रतीत न होती। 'पुरोहितप्रवरो राज्ञाम्' इस सूत्रका विज्ञानेश्वरने स्पष्ट ही भ्रमात्मक अर्थ किया है। हमें इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है कि पूर्वकालीन क्षत्रियों और अर्वाचीन राजपूतोंके अपने गोत्र थे और हैं। पूर्वकालीन लेखोंमें जो गोत्र मिलते हैं उनका उल्लेख क्षत्रिय-

गए इसीलिए करते थे कि उन्हें आर्यवंशमें उत्पन्न होनेका अभिमान था। प्राचीन समयमें विभिन्न वंशोंका परिचय करानेवाला एकमात्र साधन गोत्र ही था। आजकल जैसे कई जातियोंमें वंशसूचक 'अल्ल' नामके साथ लगाये जाते हैं, वैसे ही उस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने नामके साथ भिन्नवंश-सूचक गोत्रोंका अभिमानपूर्वक उल्लेख करते थे। वर्तमान जातियोंके अल्ल भी गोत्रोंसे ही बने हैं। बारहूतके तोरणपर लिखे लेखमें यह वाक्य है—"गागी पुत्तस बिसदेव पुत्तेन गोतीपुत्तस अगराजस पुत्तेन वछो पुत्तेन धनभूतिना कारितं तोरणम् ।" कनिंगहमने इसका यह अर्थ किया है—"राजा धनभूतिने यह तोरण खड़ा किया, जो (धनभूति) वत्सगोत्रकी रानीसे जन्मा, जिसके पिता अगराज गोत (कौत्स) गोत्रकी रानीके और पितामह विसदेव गर्गगोत्रकी रानीके पुत्र थे।" यहाँ राजाकी माता, दादी और परदादीके कुलोंके गोत्रोंका सम्मानपूर्वक इसीलिए उल्लेख किया गया है कि जिससे ज्ञात हो जाय कि सब रानियाँ आर्यकुलमें उत्पन्न हुई थीं। इस सम्बन्धमें कनिंगहमने लिखा है—'राजपूत रानियाँ अबतक मायकेके वंशके नामसे पहिचानी जाती हैं। ये नाम गोत्रोंके नाम होते हैं। इसका कारण यह है कि स्मृतिवचनके अनुसार राजा अपने पुरोहितोंके गोत्रोंका उपयोग करते हैं।" (कनिंगहमकृत बारहूत, पृष्ठ १२७-१३०) कनिंगहम जैसे सुप्रसिद्ध पण्डित और इतिहास-संशोधक भी विज्ञानेश्वरके किये स्मृतिवचनके भ्रान्त अर्थसे इस प्रकार चक्करमें आगये हैं। यह गोत्र यदि राजाका न होकर पुरोहितका होता, तो रानियोंके गोत्रोंका उल्लेख करनेका महत्व ही क्या रह जाता? बात यह है कि आजकलकी तरह उस समय

भी स्मृति वचनोंका यथोर्थ अर्थ लोग नहीं समझ सकते थे। इस विषयकी विस्तृत टिप्पणीमें हम दिखावेंगे कि इस श्रौत सूत्रका वास्तविक अर्थ यह है कि राजा जब यज्ञ करे तो वह जो अध्वर्यु आदि याज्ञिक चुने वे पुरोहितके ही प्रवरके हों। क्योंकि यज्ञमें यजमानके नाते राजाका बराबर बैठे रहना असम्भव होनेके कारण उसे अपने अधिकार, अपना प्रतिनिधि मानकर, पुरोहितको देने पड़ते हैं। यज्ञके तन्त्र (प्रयोग) विभिन्न प्रवरोंमें भिन्न भिन्न होते हैं। अतः याज्ञिक पुरोहितके प्रवरोंके (गोत्रके नहीं) होने चाहिये। टिप्पणीमें कहे अनुसार क्षत्रियोंके अपने गोत्र थे, यह विभिन्न श्रौत सूत्रोंके संकेतोंसे ही सिद्ध किया जा सकता है। विज्ञानेश्वरकी मिताक्षराका नियम भ्रान्त है, इसमें हमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

यदि किसीको इस सम्बन्धमें कुछ सन्देह हो, तो वह निम्नलिखित लेखोंके प्रमाणोंसे दूर हो सकता है। विज्ञानेश्वर ईसाकी बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी (वि० ११५८–१२५७) में दक्षिणमें कर्नाटकके कल्याण नामक नगरमें रहते थे। वहाँ राजपूतोंके घर बिलकुल ही नहीं या बहुत थोड़े थे। क्षत्रियोंके अपने गोत्र नहीं हैं, वे अपने पुरोहितों अथवा आचार्योंके गोत्रोंका उपयोग करें, इस वचनार्थका उत्तरभारतके राजपूत वंशोंके दसवीं और ग्यारहवीं सदी ई० के लेखोंमें पतातक नहीं है। उन लेखोंसे स्पष्ट होता है कि राजपूतोंके विभिन्न गोत्र इस बातके परिचायक थे कि वे उक्त गोत्रवाले पूर्वजोंकी सन्तान थे। वसिष्ठने परमारोंके आदिपुरुषको उत्पन्न किया और उसे अपना गोत्र दिया। इसका यही आशय है कि वसिष्ठ परमारोंके पुरोहित नहीं, जनक थे। इसी तरह द्रोणकी अञ्जलिके पानीसे उत्पन्न हुए चालुक्योंको, कलचुरी

हैहयोंके लेखमें कहे अनुसार, द्रोणका भारद्वाज गोत्र प्राप्त हुआ। इसका कारण यह नहीं कि द्रोण उनके आचार्य थे, बल्कि यह है कि वे उनके जनक थे। इसीसे उनका गोत्र चालुक्योंको मिला। लेखमें कहा है—'क्षितिधरपरिपाटी सूत्रिते तत्र गोत्रे अभवदवनिवर्मा विश्वविख्यातकर्मा।'

चाहमानोंका गोत्र वत्स है। उनके एक लेखमें एक आख्यायिका लिखी है कि वे वत्स गोत्रके ब्राह्मणसे उत्पन्न हुए थे। (विप्रश्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा। सामन्तोनन्त सामन्त......।) दूसरे एक लेखमें लिखा है कि चाहमानोंका मूलपुरुष वत्स ऋषिके नेत्रसे उत्पन्न हुआ था। विज्ञानेश्वरके मनकी कल्पनाका आधार ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें नहीं था, यह सिद्ध करनेके लिए उक्त उदाहरण पर्याप्त होंगे। वसिष्ठके यज्ञकी अग्निसे अथवा भारद्वाजकी अञ्जलिसे क्षत्रिय वीर उत्पन्न हुए, ये निरी कल्पित कथाएँ हैं; परन्तु इनसे स्पष्ट होता है कि ईसाकी दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दीमें सबका विश्वास था कि परमार और चालुक्य वसिष्ठ और भारद्वाज गोत्रके हैं। उसी विश्वासके आधारपर उक्त कथाएँ गढ़ी गयीं। ये गोत्र उन्हें पुरोहितोंसे नहीं मिले थे। ये उनकी वंशोत्पत्तिके सूचक हैं। उस समयके क्षत्रिय गोत्रसे 'गोत्र पुरुषसे उत्पन्न' यही तात्पर्य समझते थे और इसी विश्वासके आधारपर वन्दी-जनोंने उक्त प्रकारकी कल्पित कथाएँ रच डालीं। इन लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है कि मिताक्षराके रचनाकालके पूर्वकी शताब्दियोंमें लोगोंका दृढ़ विश्वास था कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र हैं और उन गोत्रोंसे ही उनकी वंशोत्पत्ति निश्चित होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिताक्षराके समयमें दक्षिणके क्षत्रिय अपने गोत्र भूलते जाते थे अथवा, संभव है, बौद्धोंके

समयमें आर्यसंस्कारोंका लोप हो जानेके कारण, हिन्दू धर्ममें पुनः सन्निविष्ट करते समय पुराणमताभिमानी ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय माननेको भी तैयार न हुए हों। बौद्धोंके समयमें अपने गोत्र भूल जानेके कारण वे पुरोहितोंके ही गोत्रके माने जाने लगे। विज्ञानेश्वरने इसीसे 'पुरोहितप्रवरो राज्ञाम्' सूत्रका अपनी सुविधाके अनुसार अर्थ कर प्रतिपादन किया कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र नहीं हैं, उन्हें अपने पुरोहितों अथवा आचार्योंके गोत्रोंका ग्रहण करना चाहिये।

मिताक्षराके इस भ्रमात्मक कथनकी कैसी ही मीमांसा क्यों न की जाय, इसमें सन्देह नहीं कि वह भ्रान्त कल्पना है। मिताक्षरासे सैकड़ों वर्ष पूर्व राजपूतोंके अपने गोत्र थे और उन गोत्रोंसे ही उनकी वंशोत्पत्तिका निर्देश किया जाता था। वर्तमान समयमें भी राजपूतानेमें तथा अन्यत्र जो राजपूत हैं, उनके गोत्र पुरोहितोंके गोत्रोंसे भिन्न देखे जाते हैं। हमने इसकी भलीभाँति जाँच की है और उसका निचोड़ इस प्रकरणके साथ जोड़ी हुई टिप्पणीमें दे दिया है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके समानगोत्र होनेका क्या कारण है? सूर्य और सोमवंशीय क्षत्रियोंके मूलपुरुष ब्राह्मण ऋषि कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्नपर यद्यपि टिप्पणीमें विचार किया ही गया है, तो भी यहाँ उसका दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। कितने ही लोगोंको यह बात अश्रुतपूर्व प्रतीत होगी कि प्राचीन कालसे लेकर उस काल-विभागतक, जिसका हम विचार कर रहे हैं, भारतकी उच्च आर्य जातियाँ सदाके लिए परस्पर विभक्त नहीं हुई थीं। उस समय ब्राह्मण-क्षत्रियोंमें परस्पर शरीरसम्बन्ध तो होते ही थे, किन्तु ब्राह्मण वर्णवाले क्षत्रिय और

क्षत्रिय वर्णवाले ब्राह्मण भी बन जाते थे। इसकी प्रमाणभूत वैदिक और पौराणिक अनेक आख्यायिकाएँ हैं। प्रवरों और गोत्रोंके ऋषि भी ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों हैं। कितने ही ब्राह्मणोंके प्रवर ऋषि अर्थात् मूल पुरुष क्षत्रिय राजा और क्षत्रियोंके प्रवर ऋषि ब्राह्मण हैं। वैदिक समयमें प्रचलित प्रवर-पद्धति एकदेशीय और वर्ण-भिन्नत्वपर अवलम्बित नहीं थी। ब्राह्मण क्षत्रियोंमें भेद करनेका प्रयत्न श्रौत सूत्रोंमें किया गया है, पर वह आरम्भ मात्र है। तबसे आजतक आर्यवंशके ब्राह्मणों, राजपूतों और वैश्योंके गोत्र समान ही हैं। अतः राजपूतोंका यह कहना कि हम आर्यवंशमें, वेद कालीन क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए हैं, किसी प्रकार निराधार नहीं है। ईसवी सन्से हजारों वर्ष पूर्वकी आख्यायिकाओंसे उनके कथनको पुष्टि होती है। अब वैदिक-आर्य क्षत्रिय राजपूताने में कब और कैसे जा बसे, इसका विवेचन इतिहास और आख्यायिकाओंके आधारपर अगले प्रकरणमें किया जायगा।

टिप्पणी—अर्वाचीन राजपूत घरानों और उनके पुरोहितोंके गोत्र।

राज्योंके नाम	घरानेका नाम	गोत्र	पुरोहितोंके गोत्र
१ उदयपुर (डूँगरपुर आदि)	गुहलोत-सूर्य-वंशी	वैजवाप त्रिप्रवर	सास्तायन
२ जोधपुर (रतलाम आदि)	राठौर-सूर्यवंशी	गौतम त्रिप्रवर	भारद्वाज
३ जयपुर (अलवर आदि)	कच्छवाह-सूर्यवंशी	मानव त्रिप्रवर	वत्स
४ बूँदी-कोटा	चौहान	वत्स पञ्चप्रवर	—

५ बिजोलिया (उदय-पुरके अन्तर्गत)	परमार	वसिष्ठ त्रिप्रवर	—
६ धार (मराठा)	परमार-सूर्यवंशी	वसिष्ठ त्रिप्रवर	कारिप
७ भाव नगर	गुहिल-चन्द्रवंशी	गौतम त्रिप्रवर	काश्यप
८ धोलेरा (धुन्धुका ताल्लुका)	चूडासम-चंद्रवंशी	अत्रि	—
९ कच्छ (नवानगर, गोंडाल, मोरवी, राजकोट आदि)	जाडेजा	अत्रि	—
१० ध्रांगध्रा (लिमडी, वाँकानेर, पाटन आदि)	झाला	मार्कण्डेय पञ्चप्रवर	—
११ लुनावाडा (रेवा-काँठा)	चालुक्य (सोलंकी)	भारद्वाज त्रिप्रवर	—
१२ रीवाँ (बघेलखण्ड)	चावडा (सोलंकी)	भारद्वाज त्रिप्रवर	—
१३ काश्मीर	जम्मुवाल-सूर्यवंशी	" "	वसिष्ठ
१४ गिद्धौर (बंगाल)	चन्देल-चन्द्रवंशी	चन्द्रात्रेय त्रिप्रवर	काश्यप
१५ दिल्ली पाटन (जय-पुरान्तर्गत)	तुवर	वैयाघ्रपद भारद्वाज-त्रिप्रवर	—

टिप्पणी—गोत्र और प्रवर।

हम अपना यह मत लिख ही चुके हैं कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र थे और मिताक्षरामें लिखित विज्ञानेश्वरका यह मत भ्रान्त है कि अपने गोत्र न होनेके कारण उन्हें अपने पुरोहितोंके गोत्रोंका स्वीकार करना चाहिये।

अब शंका यह रह जाती है कि गोत्र यदि शिष्यत्व-सूचक नहीं है, वंशोत्पत्ति-सूचक है, तो ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके समान गोत्र कैसे हो सकते हैं? क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे तो उत्पन्न हुए नहीं, उनकी उत्पत्ति सूर्य-चन्द्रसे हुई है, यही लोगोंकी धारणा है। शिलालेखोंसे अनभिज्ञ कवियों और भाटोंको जब इस शंकाने परेशान किया, तब उन्होंने क्षत्रियोंकी उत्पत्तिको अनेक कल्पित कथाएँ रच डालीं। हमें विश्वास है कि गोत्रों और प्रवरोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे यह उलझन सुलझ सकती है। अतः इस टिप्पणीमें हम इस विषयपर आरम्भसे ही विचार करेंगे।

सबसे हालके मतानुसार गोत्र ऋषि, सप्तर्षि और आठवें अगस्त्य ऋषि, इनमेंसे किसी न किसीके पुत्र, अथवा वंशज हैं। अगस्त्य सप्तर्षियोंमें शामिल नहीं हैं। (सप्तानां सप्तर्षीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्र-मित्याचक्षते–बौद्धायनः।) इससे ज्ञात होता है कि मूल भारतीय आर्योंके आठ घराने माने जाते थे। यथा—१ विश्वामित्र, २ जमदग्नि, ३ भरद्वाज, ४ गौतम, ५ अत्रि, ६ वसिष्ठ, ७ कश्यप और ८ अगस्त्य।

परन्तु महाभारतके एक महत्वपूर्ण श्लोकमें, इससे भी पहिले, आरम्भमें चार ही गोत्रोंका होना बताया गया है।

मूल गोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि भारत।
अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥ –शान्तिपर्व, अ० २९६

भृगु प्रवरसे आरम्भ होनेवाले कई सूत्रोंके प्रवराध्यायोंमें भी लिखा है कि प्राचीन कालमें अङ्गिरस, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु ये चार ही गोत्र थे। इससे महाभारतके मतकी पुष्टि होती है। (इसीसे भगवद्गीतामें कहा है,—'महर्षीणां भृगुरहम्'। इसका तात्पर्य यह है कि भृगु महर्षि अथवा 'प्रवर' ऋषियोंमें प्रमुख हैं।) इससे जान पड़ता है कि जब भारतीय आर्योंका पहिला दल अथवा सूर्यवंशी दल हिन्दुस्थानमें आया, तब उस दलमें केवल चार ही घराने—भृगु, अङ्गिरस, वसिष्ठ और कश्यप—थे। कहा गया है कि चारों ब्रह्माके मानसपुत्र थे अर्थात् ये ही आदिपुरुष थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंके (उस समय वर्णोंको जातिका स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था) वे आद्य जनक थे।

भृगुका नाम सप्तर्षियोंमें नहीं है, किन्तु उनके वंशज जमदग्निका है। इसी तरह अङ्गिरसके बदले उनके दो पौत्र—भरद्वाज और गौतम—सप्तर्षियोंमें गिने गये हैं। आगे चलकर जो आठ मूल घराने प्रसिद्ध हुए, उनका जोड़ मिलानेके लिए इन पांचोंमें अत्रि, विश्वामित्र और अगस्त्यका समावेश किया गया। अत्रिका पुत्र चन्द्र माना गया है। अधिकांश चन्द्रवंशी अत्रि गोत्रके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आर्योंका दूसरा दल अर्थात् चन्द्रवंशी दल अत्रिके घरानेका था। अगस्त्यका समावेश पीछेसे हुआ, परन्तु हुआ वह वैदिक समयमें ही, क्योंकि अगस्त्यका उल्लेख वेदोंमें भी है। विश्वामित्र भारतीय आर्य क्षत्रिय थे। वेदकालमें जब वर्णोंको जातिका रूप नहीं प्राप्त हुआ था और विभिन्न कुलोंके लोग अपना परम्परागत धन्धा छोड़कर कोई दूसरा, विशेष कर याज्ञिकका बौद्धिक धन्धा भी कर सकते थे, उस समय विश्वामित्र तपोबलसे ब्राह्मण बन कर प्रवरऋषि भी हो गये। इसका अर्थ यह है कि विश्वामित्रके समयमें उनका घराना सूर्यवंशी क्षत्रिय था, किन्तु अपनी बुद्धि-सामर्थ्य और धार्मिक गुणों द्वारा उन्होंने ब्राह्मणत्व सम्पादन किया। महाभारतमें यत्नपूर्वक सन्निविष्ट इन चार गोत्रोंके प्राचीन इतिहाससे ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषियोंसे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनोंकी उत्पत्ति हुई।

प्रवरोंकी उत्पत्तिपर विचार करनेसे इस अनुमानकी अधिक पुष्टि होती है। बड़े बड़े पण्डित भी नहीं जानते कि प्रवर क्या वस्तु है? क्योंकि वे प्रायः इस प्रश्नपर मनन ही नहीं करते। विभिन्न सूत्रोंके प्रवराध्यायोंका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि किसी कुलके प्रवरऋषि वे पूर्वज हैं जिन्होंने ऋग्वेदके सूक्त रचे और उनके द्वारा अग्निकी स्तुति की। यज्ञ करनेवाला यजमान अग्निसे प्रार्थना करता है कि—"हे अग्ने! ऋग्वेदके सूक्तोंसे जिन्होंने आपकी स्तुति की, उनका मैं वंशज हूँ।" वस्तुतः यजमान अग्निकी स्तुति अपने ऋषिके ही नामसे करता है, क्योंकि वह (अग्नि) इस ऋषिके द्वारा ही उत्पन्न होनेके कारण उसके पुत्र समान है। "आर्षेयं वृणीते" इस आपस्तम्ब सूत्रकी टीकामें कहा गया है—"आर्षेयमृष्यपत्यसम्बन्ध प्रार्थयते सङ्कीर्तयति। अथवा आर्षेयमृषेरपत्यमग्निं यजमानस्य

ऋषिसन्तानत्वात् तं वृणीते प्रार्थयते होत्रादिभिः।" इससे स्पष्ट है कि यजमान प्रवरऋषिका वंशज है, शिष्यपरम्पराभुक्त नहीं। दूसरे एक सूत्रमें ऋषि शब्दका अर्थ 'मन्त्रोंका कर्ता' (मन्त्रकृतो वृणीते) किया गया है। यह आवश्यक नहीं कि गोत्रका ऋषि मन्त्रकृत् अथवा मन्त्रोंका रचनेवाला ही हो। वह प्रवरऋषिका विख्यात वंशज होता है और उससे उत्पन्न हुई शाखा अथवा वंश उसीके नामसे सम्बोधित होता है। गोत्र अनेक हैं, परन्तु प्रवर थोड़े और निश्चित हैं। (क्योंकि वैदिक सूक्तोंके कर्ता निश्चित हो चुके हैं, वे बढ़ नहीं सकते।) सूत्रमें यह भी कहा है—"एकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चाति वृणीते।" एक, दो या तीन ऋषियोंका उच्चारण करे, चार या पाँचसे अधिक ऋषियोंका न करे। इसका अर्थ यह है कि किसीके पूर्वजोंमें पाँचसे अधिक ऋषियोंने सूक्त रचे हों, तो वह पाँचसे अधिक ऋषियोंके नामोंका उच्चारण न करे। प्रवरऋषि प्रायः तीन या पाँच होते हैं, चार या पाँचसे अधिक नहीं होते, इसका रहस्य इस सूत्रसे समझमें आ जाता है। गोत्रऋषि प्रवरऋषियों-में से कोई एक या उसका वंशज होता है।

उदाहरणार्थ, भारद्वाज गोत्रके तीन प्रवर हैं; आङ्गिरस, बार्हस्पत्य और भारद्वाज। गोत्रऋषि भारद्वाज इन तीनोंमेंसे एक है। वत्स गोत्रके भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य, ये पाँच प्रवर हैं; परन्तु इनमें वत्स नहीं है। वह जमदग्निका एक सुप्रसिद्ध वंशज था और उससे जो एक स्वतन्त्र शाखा उत्पन्न हुई वह उसीके नामसे प्रसिद्ध हुई। सूत्रके एक और नियमका उल्लेख करना आवश्यक है। सूत्रमें कहा गया है कि अध्वर्यु प्रवरऋषियोंका उच्चारण अन्तिम ऋषिसे आरम्भ कर पहिले ऋषि-तक और होता पहिले ऋषिसे आरम्भ कर अन्तिम ऋषितक करे। इस नियमसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रवर और गोत्र वंशोत्पत्ति-सूचक हैं, अनुयायित्व-सूचक नहीं। अंगिरस, बृहस्पति और भरद्वाज तथा भृगु, च्यावन, आप्नवान्, ऊर्व और जमदग्नि* एकके पश्चात् एक उत्पन्न हुए हैं।

* भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति होता। जमदग्निवदूर्ववदाप्न-वानवच्च्यावन वद्भृगुवदित्यध्वर्युः।

अब प्रश्न यह उठता है कि सूर्य और चन्द्रसे उत्पन्न हुए वंशोंके क्षत्रियोंके पूर्वजोंमें इन्हीं प्रवरऋषियों अथवा वैदिक सूक्त रचनेवाले ऋषियोंके नाम क्यों हैं? यदि प्रवरऋषियोंकी सूचीका निरीक्षण किया जाय, तो उसमें सूर्य और चन्द्रवंशके अनेक राजाओंके नाम देख पड़ेंगे। कितनोंको ही यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ऋग्वेदके सूक्तकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णोंके थे। उदाहरणार्थ, प्रवरऋषियोंकी सूचीमें आये हुए, मान्धाता, अम्बरीष, युवनाश्व, त्रसदस्यु, पुरुकुत्स, ये नाम सूर्यवंशके प्रसिद्ध राजाओंके और शुनहोत्र, अजमीढ आदि नाम चन्द्रवंशके हैं। भृगु और अंगिरस गण-प्रवरोंके ऋषियोंमें ही प्रायः क्षत्रिय राजा हैं। इसी प्रकरणमें हम यह बात दिखायँगे, परन्तु इसके पहले यह बतला देना उचित है कि प्रवराध्यायमें उल्लिखित प्रवरोंका परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक कालमें भी बहुतसे क्षत्रिय ब्राह्मण हुए हैं। प्रथम गर्गको लीजिये। यह चन्द्रवंशके विख्यात राजा दुष्यन्तके पुत्र भरत, उसके पुत्र वितथ, उसके पुत्र भूमन्युका पुत्र था और क्षत्रिय था। वायुपुराणमें भी कहा है कि यह गर्ग और उसके वंशज ब्राह्मण हुए। दायादाश्चापि गर्गस्य शिनिबद्धाद्बभूव ह। स्मृताश्च ते ततो गार्ग्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः॥ १९१ अ. ९९। प्रवराध्यायमें गर्गका अंगिरस गणमें उल्लेख किया गया है। आश्वलायन सूत्रमें लिखा है "गर्गाणामांगिरस बार्हस्पत्य भारद्वाज गार्ग्य शैन्येति। आङ्गिरस शैन्य गर्गेति वा।" अब चन्द्रवंशीय क्षत्रिय होनेपर भी गर्गका अंगिरस वंशमें कैसे समावेश हुआ, इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। गार्ग्य ब्राह्मण हुए, तब उनके वंशके प्रसिद्ध पुरुष शिनिको आंगिरस ब्राह्मणोंने अपनेमेंसे ही एक मानकर गोद ले लिया। तबसे सभी गार्ग्योंका प्रवेश आंगिरसोंमें हो गया। यहाँ अनुयायित्वकी मोहक कल्पना मान्य नहीं हो सकती। (दत्तक अथवा अनुयायित्वकी सम्भावना प्रथम पार्गिटरको प्रतीत हुई। पुराणोंकी तथा सूर्यचन्द्रवंशोंकी मीमांसा करते हुए उसने अपने लेखमें इस प्रकार अनुमान किया है—"जो क्षत्रिय ब्राह्मण बन गये, उनका आचार्यके गोत्रमें अथवा किसी प्राचीन ब्राह्मण घरानेमें अन्तर्भाव कर ब्राह्मणोंमें समावेश कर

लिया गया। उन्हें विश्वामित्रकी तरह अपनी नयी शाखा अथवा गोत्र स्थापित नहीं करने दिया गया।"—(रा० ए० सो० का १९१९ का जर्नल—पाँचाल वंश।) कारण यह है कि प्रवरोंकी जो मूल कल्पना है कि यजमान अग्निकी प्रार्थना करे कि वह उसे उसके वैदिक ऋषि पूर्वजोंकी दृष्टिसे देखे, उससे आचार्य-गोत्रकी कल्पना मेल नहीं खाती। गर्गका समावेश आंगिरस कुलमें हो जाने पर वह यह कार्य कर सकता था; क्योंकि तब वह अग्निसे प्रार्थना कर सकता था कि 'जिन आंगिरस नामक मेरे पूर्वजने तेरी अमुक अमुक सूक्तोंमें प्रार्थना की है, उनके स्थानमें कृपाकर मुझे समझ।' इस कथासे एक बात और ध्यानमें आ जाती है। ऐसे ब्राह्मणोंको वायु-पुराणमें 'क्षत्रोपेता द्विजातयः' अर्थात् जिनमें क्षत्रिय आचार शेष हैं, ऐसे ब्राह्मण कहा है। क्षत्रियोंके कितने ही शिलालेखोंमें 'ब्रह्म-क्षत्र-कुलीन' लिखा है, इसका भी रहस्य यही है। इसका अधिक विचार हम आगे चलकर करेंगे।

कण्वकी बात भी ऐसी ही है। कण्व चन्द्रवंशीय दुष्यन्तका पूर्वज था। उसके आंगिरस, अजमीढ़, काण्व ये प्रवर हैं। आंगिरस पौरुकुत्सत्रासदस्यव प्रवरोंके विष्णुवृद्धकी कथा भी ऐसी ही है। वायुपुराणमें स्पष्ट कहा है कि विष्णुवृद्ध सूर्यवंशी राजा पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्युके पुत्रका पुत्र था। वह अपना समावेश आंगिरस वंशमें कर, ब्राह्मण हो गया। मुद्गलका उदाहरण भी इसी प्रकारका है। वह चन्द्रवंशीय भर्म्यश्वका पुत्र था। उसके वंशज ब्राह्मण हुए और उन्होंने आंगिरसोंके पक्षका आश्रय लिया (मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः। एते ह्याङ्गिरसः पक्षे संश्रिता कण्व-मुद्गलाः॥ वा० पु०) इसीसे आंगिरस भार्म्यश्व मौद्गल्य ये उनके प्रवर हुए। आश्वलायनने इन प्रवरोंके बदले विकल्पसे 'तृक्षमुहैकेऽङ्गिरसः स्थाने तार्क्ष्य भार्म्यश्व मौद्गल्येति' ये प्रवर बताये हैं। आंगिरसके बदले जिस तृक्षका उल्लेख किया गया है, वह क्षत्रिय राजा भर्म्यश्वका पूर्वज था और तृक्ष, भर्म्यश्व तथा मुद्गल तीनों चन्द्रवंशी पांचाल क्षत्रिय थे। इस प्रकार इस प्रवरमें कोई ब्राह्मण ऋषि नहीं, सभी क्षत्रिय हैं। हारीतोंका भी यही हाल है। आश्वलायनने उनका प्रवर 'आङ्गिरसांवरीपयौवनाश्व' और आंगिरसके

बदले मान्धाता ऋषि बताया है। अर्थात् उनका प्रवर मान्धाता-आम्बरीष-यौवनाश्व हुआ। प्रवरोक्त ये तीनों नाम सूर्यवंशके प्रमुख राजाओंके हैं, इनमें एक भी ब्राह्मण नहीं है। वायुपुराणमें लिखा है "तस्यामुत्पादयामास मान्धाता त्रीन्सुतान्प्रभुः। पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दंच विश्रुतम्॥ अम्बरीषस्य दायादः युवनाश्वः परः स्मृतः। हरितो युवनाश्वस्य हरिताः शूरयः स्मृताः॥ एते ह्याङ्गिरसः पुत्राः क्षत्रोपेता द्विजातयः। इन श्लोकोंसे जाना जाता है कि हारीत गोत्रके ब्राह्मणोंके प्रवरोंमें सभी क्षत्रिय राजा हैं। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि क्षत्रियोंके ब्राह्मणोंमें जो रूपान्तर हुए, वे वैदिक कालमें हुए हैं। हरीत युवनाश्व (पिता) अम्बरीष (पितामह) और मान्धाता (प्रपितामह) की तरह सूर्यवंशमें उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसके वंशज ब्राह्मण हुए। ऋग्वेदकी ऋष्यनुक्रमणिकाके अनुसार युवनाश्व, अम्बरीष और मान्धाता ये तीनों प्रवरऋषि अर्थात् वैदिक सूत्रकार थे। क्षत्रिय राजा यदि ब्राह्मणोंके प्रवरऋषि हो सकते हैं, तो क्षत्रियोंके प्रवरऋषि ब्राह्मणोंके होनेमें आश्चर्य करना व्यर्थ है। वैदिक कालमें यदि क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकते थे (यह प्रतिलोम क्रम है), तो ब्राह्मणोंके क्षत्रिय होनेमें कौनसी बाधा थी (यह अनुलोम क्रम है), उच्च वर्णसे निम्न वर्णमें सम्मिलित होनेका क्रम मध्ययुगतक प्रचलित था। सिन्ध और काबुलके चच तथा लल्लियवंशके ब्राह्मण क्षत्रिय हो गये और इसके अनन्तर भट्टी क्षत्रिय भी वैश्य बने थे, यह प्रसिद्ध ही है।

अब प्रतिपाद्य विषयकी ओर पुनः झुकते हुए हम अपने पूर्वकथनको दोहराते हैं कि क्षत्रिय प्रवरऋषि थे, इसके उदाहरण आंगिरस और भृगुवंशमें मिलते हैं। भृगुका ही उदाहरण लीजिये। आश्वलायन सूत्रके निम्नलिखित सब प्रवर-ऋषि क्षत्रिय हैं। (१) 'श्येतानां भार्गव-वैन्य-पार्थेति।' इनमें पृथु और वेन क्षत्रिय राजा हैं और श्येत गोत्रवालोंने अपना अन्तर्भाव भृगुके पक्षमें कर लिया (२) 'मित्रयुवां वाध्र्यश्वेति त्रिप्रवरं वा भार्गव देवोदास वाध्र्यश्वेति।' इसमें भी दिवोदास और वध्र्यश्व, इसी तरह मित्रयु भी, क्षत्रिय राजा थे और यह प्रवर भृगु पक्षके साथ सम्बद्ध है। (३) 'शुनकानां गृत्समदेति त्रिप्रवरं वा भार्गवशौनहोत्र

गार्त्समदेति ।' इसमें जिस 'गृत्समद' का उल्लेख है वह क्षत्रिय राजा है, वह ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके सूक्तोंका कर्त्ता है। उसकी कथा महाभारतके अनुशासन पर्वके ३०वें अध्यायमें लिखी है। वह वीतहव्य राजाका पुत्र था। वीतहव्य भृगुके कह देनेसे ही ब्राह्मण बन गया। गृत्समदको शुनहोत्रने गोद लिया। गृत्समदका पुत्र सुहोत्र और सुहोत्रका पुत्र वर्चस था। वर्चसके वंशमें ही शुनकने जन्म ग्रहण किया। शुनकके नामसे गोत्र चल पड़ा। इस कारण शुनक गोत्रवालोंका गृत्समद यह एक ही प्रवर अथवा भार्गव, शौनहोत्र, गार्त्समद ये तीन प्रवर हैं। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि भृगुवंशमें भी क्षत्रिय हैं। विश्वामित्र और अत्रिके प्रवरगणमें भी क्षत्रियोंके कुछ उदाहरण हैं, परन्तु हमारा खयाल है कि केवल वसिष्ठ और अगस्त्यके प्रवरगणमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं है।

इस विस्तृत विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि वैदिक कालमें कितने ही क्षत्रिय ब्राह्मण बने और उन्होंने ब्राह्मणोंके प्रवरोंमें अथवा ब्राह्मणोंके मूल वंशमें अपना समावेश करा लिया। ब्राह्मणोंके क्षत्रिय बनने-के उदाहरण बहुत ही थोड़े हैं। हमें एक ही उदाहरण मिला है। भारद्वाजने कहा है कि पुत्रहीन मृत भरतका मैं पुत्र हूं। इसी तरहसे और भी कुछ ब्राह्मण क्षत्रिय बने होंगे और मध्ययुगतक बनते रहे होगें। तात्पर्य यह कि आर्योंके मूल चार वंशोंमें जन्मग्रहण करनेके कारण क्षत्रियोमें गोत्र और प्रवरोंका होना स्वाभाविक है। फिर क्षत्रिय मंत्र-कर्ताओंके वंशज होनेके कारण भी उनके गोत्रोंका होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विभिन्न गोत्रों और गोत्रोंके प्रवरोंके संस्कारोंमें कुछ कुछ भेद होनेके कारण यज्ञ-संस्कारके लिए किसी न किसी प्रवर अथवा गोत्रमें क्षत्रियोंको अपना समावेश कर लेना आवश्यक था। इससे भी सिद्ध होता है कि उनके अपने गोत्र और प्रवर हैं।

क्षत्रियोंके ऋषिगोत्र क्योंकर हुए, इस प्रश्नका उत्तर कुछ भी हो; किन्तु एक बात तो निर्विवाद है, और वह अनेक श्रौत सूत्रोंसे भी प्रकट होती है, कि प्राचीन कालसे क्षत्रियोंके गोत्र और प्रवर थे तथा उनके और ब्राह्मणोंके गोत्र और प्रवर समान ही थे। प्रवराध्यायमें कहीं नहीं लिखा है कि वर

केवल ब्राह्मणोंके ही हैं। उदाहरणार्थ, आपस्तम्ब—प्रथम सूत्रमें प्रवर तथा उनके उच्चारणके नियम लिखे हैं। दूसरे सूत्रमें लिखा है,—"पुरोहितस्य प्रवरेण राजा वृणीते इति विज्ञायते।" यहां राजा शब्द प्रयुक्त हुआ है। टीकाकारने लिखा है—"अत्र च वचनात् ब्राह्मणोऽपि राज्यं प्राप्तः पुरोहितस्य प्रवरेण प्रवृणीते।" अर्थात् यदि ब्राह्मण राजा हो, तो वह भी पुरोहितका प्रवर ग्रहण करे। राजाको कितने ही महत्वके राजकार्य करने पड़ते हैं। अतः यज्ञ-प्रसङ्गमें वह निरन्तर उपस्थित रह नहीं सकता। वह अपना प्रतिनिधि पुरोहितको बनाता है और यज्ञकार्यमें बाधा न पड़े, इसलिए उसे होता, अध्वर्यु तथा अन्य याज्ञिक अपने पुरोहितके गोत्रके चुनने पड़ते हैं।

इस सूत्रका, कालान्तरमें, लोग विपरीत अर्थ करने लगे। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह सूत्र राजाओंके लिए ही है, अन्य क्षत्रियोंसे इसका सम्बन्ध नहीं है। आपस्तम्ब सूत्रमें भृगुसे लेकर सब प्रवर कहे हैं, परन्तु उसमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें भेद नहीं किया गया है। अन्तमें क्षत्रियोंके लिए कुछ स्वतन्त्र नियम लिखे हैं और वे महत्वके हैं। "अथ क्षत्रियाणां यद्याह सार्षं प्रवृणीरन् एक एवैषां प्रवरः। मानवैल पौरूरवसेति होता।" सार्षं शब्दका ठीक अर्थ समझमें नहीं आता। आश्वलायन सूत्रमें साष्ट्रं पाठ है। यहाँ क्षत्रियोंकी पौराणिक वंशावली जोड़ देनेका यत्न किया गया है। ई० स० पूर्व पाँचवीं सदीसे लेकर पहिली सदी (वि० पू० ४४३ से वि० १५७) तक लिखे सूत्रोंमें पुराणोंके जो उल्लेख हैं, वे उन पुराणोंके होने चाहिये जो उस समय मौजूद थे। वे इस समयके पुराणोंके नहीं हो सकते। प्रवर एक गोरखधन्धा है। बहुतेरे वैदिक ब्राह्मणोंसे पूछने पर भी उसे हम सुलझा न सके। इड अथवा इल मनुका पुत्र था। परन्तु पुरूरवा इडाका पुत्र नहीं। अर्वाचीन पुराणोंमें इलका स्त्रीलिंग रूपान्तर इला हुआ, पुरूरवा उसीका पुत्र माना गया है। इसके अतिरिक्त पुरूरवा सूर्यवंशी क्षत्रियोंका पुत्र नहीं है। अतः यह प्रवर सूर्यवंशियोंको लागू नहीं हो सकता। मनु मंत्रकृत् हो सकता है, पुरूरवा तो था ही; किन्तु इलाने कोई ऋग्वेदका मंत्र नहीं बनाया। अतः वह प्रवर ऋषि भी नहीं है।

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि इस सूत्रमें क्षत्रियोंके लिए जो प्रवर कहा गया है, वह वैकल्पिक है। इसकी उत्पत्ति सम्भवतः पुराणोंसे हुई है। क्षत्रिय यदि चाहें, तो इसे वरत सकते हैं।

अन्य साधारण प्रवरोंके सम्बन्धमें आगेके सूत्रमें यह अर्थ स्पष्ट किया गया है—"अथ येषां मन्त्रकृतो न स्युः सपुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन् ।" ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाके पूर्वकालमें ही क्षत्रिय अपने गोत्र और प्रवरोंको भूलने लगे थे। इसके तीन कारण हो सकते हैं। १–उनपर बौद्ध धर्मका प्रभाव पड़ा हो, २–वे विदेशियोंके आक्रमणोंसे त्रस्त हुए हों, अथवा ३–दिनरात लड़ते झगड़ते रहनेसे त्रासदायक वैदिक संस्कारोंके सम्बन्धमें उनमें उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो गयी हो। ऐसे क्षत्रियोंके लिए इस सूत्रने यह सुभीता कर दिया है कि जिनका पूर्वज मन्त्रकृत् न हो वे अपने पुरोहितोंके प्रवरोंका स्वीकार करें। परन्तु आगेके ही सूत्रमें कहा है—"अथ येषां स्युरपुरोहितप्रवरास्ते ।" जिनके पूर्वजोंमें मन्त्रकृत् हो, वे पुरोहितके प्रवरको ग्रहण न करें, अपने ही प्रवरका उपयोग करें। टीकाकारने लिखा है—"आत्मीयानेव प्रवरान् प्रवृणीरन्नित्यर्थः ।" चौथे सूत्रमें यह भी कह दिया है कि वे भी यदि सुभीतेके लिए (न्यायेन) चाहें, तो पुरोहितोंके प्रवर ग्रहण कर सकते हैं। (यहाँ ध्यानमें रखना चाहिये कि यह नियम गोत्रके लिए नहीं, प्रवरके लिए है।) इन सूत्रोंसे यह निश्चित हो जाता है कि अति प्राचीन कालसे क्षत्रियोंके अपने गोत्र-प्रवर थे और ईसवी सन्‌से पहिलेके शिलालेखोंसे स्पष्ट होता है कि क्षत्रियोंने अपने लेखोंमें अपने उन्हीं गोत्रोंका प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। श्रौतसूत्र ही नहीं, स्मृतियाँ भी स्वीकार करती हैं कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र प्रवर हैं। 'असमानार्षगोत्रजाम्' यह नियम क्षत्रियोंको भी लागू है। वर अपने गोत्र अथवा ऋषि (प्रवर) की वधूसे विवाह न करे, यह नियम ब्राह्मण क्षत्रिय दोनोंके लिए होनेके कारण क्षत्रियोंके भी गोत्र-प्रवर होने ही चाहिये। विज्ञानेश्वर द्वारा मिताक्षरामें सुझाया गया मार्ग ठीक नहीं है, क्योंकि उससे वार वार प्रवर वदलेगा और अड़चन आ पड़ने पर जान बूझ कर वदल भी दिया जायगा। परिणाम यह होगा कि जिन दो वंशोंमें पर-

स्पर विवाह-सम्बन्ध करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है, उन वंशोंमें पुरोहित बदल कर विवाह-सम्बन्ध होने लगेंगे। अर्वाचीन क्षत्रिय और वैश्य भी जाति और कुल अथवा मुख पद्धतिका अवलम्बन कर व्यवहारमें इस नियमका पालन करते हैं, यह भूल न जाना चाहिये।

अन्तमें कात्यायन लौगाक्षि सूत्रोंमेंसे एक महत्वके सूत्रकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। "अथ हैके मानवेत्येक मार्षेयं सार्ववर्णिकं प्रवृणीते। कस्य हेतोरिति। मानव्यो हि प्रजा इति। तदेतन्नोपपद्यते न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं प्रवृणीते। तदेतदन्यत्र ब्राह्मण क्षत्रियाभ्यामितरासां प्रजानामुक्तं भवतीति।" इसका यह अर्थ है कि "कुछ लोग कहते हैं कि सब वर्णों अथवा जातियोंके लोग एक मात्र 'मानव' प्रवरका ही स्वीकार कर लें, क्योंकि सभी वर्ण मनुसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। कारण यह है कि हर एकको अपने प्रवरका उच्चारण देवों अथवा मानवोंके नामसे नहीं, (आपस्तम्ब सूत्र) किन्तु वैदिक ऋषि अथवा मन्त्रकारके नामसे करना चाहिये। मनु मनुष्य था, इस कारण वह प्रवर नहीं हो सकता। यह वचन ब्राह्मण-क्षत्रियोंको छोड़, उनसे भिन्न लोगोंके लिए कहा गया है।" इस सूत्रमें ब्राह्मण-क्षत्रियोंके लिए एक ही नियम बताते हुए कहा गया है कि अन्य वर्ण चाहें तो मानव प्रवरका ग्रहण कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सूत्र-निर्माण-काल तक क्षत्रियोंको भी ब्राह्मणोंकी तरह अपने गोत्र और प्रवरोंका साधारणतया स्मरण था और ब्राह्मणोंका ही नियम उन्हें भी लागू था। पुराणोंके मतानुसार भी देव, ऋषि और मानवोंके भिन्न भिन्न वर्ग हैं। जिन क्षत्रियोंको अपने प्रवर-ऋषियोंका स्मरण था, उन्हींको आगे चलकर ब्रह्मक्षत्रिय कहने लगे। ब्रह्मक्षत्रियका अर्थ ऐसे क्षत्रिय 'जिन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ हो,' अथवा 'जिनका वैदिक ऋषियोंके साथ सम्बन्ध बना हो,' दोनों तरहसे हो सकता है।

एक शिलालेखमें परमारोंको 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन' कहा है। हमारी समझमें इसका यही अर्थ है कि जिन क्षत्रिय वंशोंके पूर्वज मन्त्रकृत् थे, उन वंशोंमेंसे यह एक वंश है। लोगोंकी धारणा है कि परमार वासिष्ठ हैं और उनका जन्म वसिष्ठसे ही हुआ है। इसीसे वे 'ब्रह्मोपेतक्षत्रेण कुलीनाः' हैं। कुछ

लोग ब्रह्मक्षत्रका अर्थ करते हैं, 'आदौ ब्राह्मणाः पश्चात् क्षत्रियाः'; इस अर्थको मान लेनेमें भी कोई हानि नहीं । क्योंकि गोत्रप्रवरोंवाले क्षत्रिय वंश, प्रत्यक्षतः अथवा समावेश कर लेनेके कारण, ब्राह्मणोंसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसी लोगोंकी धारणा थी । सम्भव है कि वैदिक कालमें ही क्षत्रियोंका ब्राह्मणोंमें समावेश कर लिया गया हो । गोत्र और प्रवरोंके सम्बन्धके सूत्रोंपर सूक्ष्म विचार करनेसे यही सिद्धान्त निकलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंके गोत्र-प्रवर एक ही हैं और प्रवर-ऋषियोंमें बहुतेरे क्षत्रिय राजाओंके नाम हैं। तात्पर्य यह कि महाभारतमें स्पष्टतः कहे गये अनुसार एक समय ऐसा था, जब वर्णभेद आजकी तरह अनुल्लंघनीय नहीं थे और वास्तविक रूपसे 'भारतीय आर्य' एक यही वर्ण था ।

टिप्पणी—छत्तीस राजकुल अथवा राजपूतोंके वंश ।

यह तो निर्विवाद ही है कि परस्पर शरीर-सम्बन्ध करने योग्य ३६ कुल अथवा घराने ही राजपूत लोग बहुत वर्षोंसे मानते आये हैं। ३६ कुलोंकी सूची हिन्दू मध्ययुगके दूसरे उपविभागके अन्त अथवा तीसरे उपविभागके आरम्भमें बनी है । क्योंकि पहिले उपविभागमें उच्च वर्णोंके आर्योंमें परस्पर शरीर-सम्बन्ध होते ही थे । ३६ कुलोंकी सूची भी चन्दके पूर्वके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती । केवल सन् ११४८ (सं० १२०५) में लिखे कल्हणके 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थमें ३६ कुलोंका उल्लेख है । (भाग ७ श्लोक १६०७ में लिखा है—३६ कुलोंमें उत्पन्न हुए राजपूतोंको इतना आत्माभिमान था कि साक्षात् सूर्यको भी वे अपनेसे अधिक श्रेष्ठ माननेको तैयार न थे । प्रख्यापयन्तः संभूतिं षट्त्रिंशत्सु कुलेषु ये । तेजस्विनो भास्वतोऽपि सहन्ते नोच्चकैः स्थितिम् ॥ तेष्यन्तेऽनङ्गपालाद्या राजपुत्रास्तमत्यजन्ऽ॥ चन्दकी सूची पृथ्वीराजके समयकी है, वह पीछेसे नहीं जोड़ी गयी है, यह हम इस प्रकरणमें सिद्ध करेंगे टाडने पांच सूचियां प्रकाशित की हैं। उनका मत है कि इनमेंसे एक रासोसे पहिलेकी है । परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि वह सूची कितनी प्राचीन है। वह मारवाड़के नाडोल नामक प्राचीन

नगरमें एक जतीके पास मिली, परन्तु उसमें 'झाला' जैसे अर्वाचीन नामोंका उल्लेख होनेके कारण उपलब्ध सूचियोंमेंसे रासोकी ही सूची सबसे प्राचीन मानी जानी चाहिये। तीसरी सूची चन्दके समकालीन ग्रन्थ कुमारपालचरित्रमें है, परन्तु उसमें ३६ संख्या नहीं है। सारांश, ३६ की संख्या प्रथम चन्दने ही बतायी और ग्रीक लोगोंको जिस प्रकार इलियड काव्य प्रिय था, उसी प्रकार राजपूतोंको रासो प्रिय होनेके कारण परम्परासे ३६ की संख्याका राजपूत घरानोंकी हर एक बातमें उल्लेख होने लगा।

आश्चर्य तो यह है कि रासोकी कविताका यथार्थ अर्थ किसीकी समझमें नहीं आता। अन्तिम संस्करणके सम्पादक भी अर्थके सम्बन्धमें—हमारी समझमें—गड़बड़ा गये हैं। विचक्षण पाठकोंके विचारार्थ उसके कुछ पद हम यहां उद्धृत करते हैं। हमारी समझमें उनका जो अर्थ होता है, वह भी हम नीचे देते हैं। रासोंकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

रवि ससि जादव बंस ककुत्स्थ परमार सदावर।
चाहुवान चालुक छंद सिलार अभीयर ॥
दोयमत्त (दोयमत) मकवान गरुअ गोहिल गोहिलपुत।
चापोत्कट परिहार राव राठोर रोसजुत ॥
देवरा टांक सैंधव अनिग (अनंग) यौतिक प्रतिहार दधिपट्।
कारट्टपाल कोटपाल हुल हरितट गोर कला (मा) प मट ॥
धन्य (धान्य) पालक निकुंभवर राजपाल कविनीस।
कालच्छुरकै आदि दे वर्ने बंस छतीस ॥

—(भाग १, पृष्ठ ५४)

कवितामें कोष्ठकके भीतर जो पाठभेद दिये हैं, वे हमने उदयपुर संग्रहालयके पुस्तकालयकी रासोकी प्रतिसे लिये हैं। प्रायः सभी लोग रवि, शशि और यादवकी गणना ३६ कुलोंमें करते हैं। टाड और नये संस्करणके सम्पादक श्रीमोहनलाल पंड्याने भी यही भूल की है। तीनोंकी गणना ३६ में करनेसे संख्या ३६ से अधिक हो जाती है। इस सूचीके नामोंको नीचेकी ओरसे गिने तो यह सहज ही ध्यानमें आ जायगा कि रवि,

शशि, और यादव, इन तीनोंका ३६ नामोंमें समावेश नहीं हो सकता। सूचीके नाम ये हैं—

१ कालच्छुरक (कलचूरी हैहय)
२ कविनीस
३ राजपाल
४ निकुम्भवर
५ धान्यपालक (टाडने छोड़ा, मोहनलालने गिना)
६ भट (टाडने छोड़ा)
७ कमाप (कलाप)
८ गौर
९ हरितट (टाडने छोडा)
१० हुल (मोहनलालने अलगसे हूण माना है)
११ कोटपाल
१२ कारट्टपाल
१३ दधिपट् (टाडने 'दिदिओट' लिखा है)
१४ प्रतिहार
१५ यौतिक (टाडने 'पाट' लिखा है)
१६ अनिग (टाडने 'अनंग' लिखा है)
१७ सैन्धव
१८ टांक
१९ देवरा
२० रोसजुत (टाड और मोहनलालने छोडा)
२१ राठोर
··· ···राव (?)
२२ परिहार
२३ चापोत्कट
२४ गुहिलोत [गोहिलपुत्र] (टाडने गोहिल लिखा है)
२५ गोहिल
२६ गरुअ (टाड और मोहनलाल, दोनोने छोडा)
२७ मकवान
२८ दोयमत
२९ अभीयर
३० सिलार
३१ छन्द
३२ चालुक्क
३३ चाहुवान
३४ सदावर
३५ परमार
३६ काकुत्स्थ

बहुतसे नाम छोड़कर और रवि, शशि, यादवका अलगसे समावेश कर टाड साहब ३० नामोंकी ही सूची बना सके। अतः उनकी भूलके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मोहनलालने उक्त तीन नामोंका सूचीमें समावेश कर ३६ की संख्या पूरी करनेमें कैसी भूल की है, इसका

विचार होना आवश्यक है। प्रथम तो टाडके छोड़े हुए (२) कविनीस, (२०) रोसजुत और (२६) गरुअ, ये नाम मोहनलालने भी छोड़ दिये हैं। 'रोसजुत' राठौरोंका उपपद हो नहीं सकता। 'राठौर' का 'राव' उपपद है और उसे स्वतन्त्र नाम मान लेनेमें कोई हानि नहीं है। 'गरुअ' गोहिलों-का विशेषण हो नहीं सकता, क्योंकि यद्यपि गुहिलोत प्रसिद्ध थे, तो भी गोहिल प्रसिद्ध नहीं थे। (भावनगरके गोहिल भिन्न हैं) इसीसे मोहन-लालको सूचीमें रवि, शशि और यादवका समावेश करनेकी बुद्धि सूझी।

परन्तु उक्त तीन नाम ३६ कुलोंमें गिने न जाने चाहिये, इसका दृढ़तर प्रमाण यह है कि जैसे अन्य नाम घरानोंके सूचक हैं, वैसे ये नहीं हैं। घरानोंके नामोंका विशेष महत्व यह है कि विवाह संबन्धमें ब्राह्मणोंमें जिस प्रकार गोत्रोंका, उसी प्रकार राजपूतोंमें कुलनामों (घरानेके नामों) का उपयोग होता है। ३६ कुलोंमेंसे कोई कुल आपसमें विवाह-सम्बन्ध नहीं कर सकता। चालुक्योंका चालुक्योंके साथ अथवा चौहानोंका चौहानोंके साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं होगा। रवि, शशि और यादव, विशेषतया इनमेंसे पहिले दो, घरानोंके नाम नहीं हैं। वे मानव-वंश-सूचक नाम हैं और उनके अन्तर्गत ३६ घरानोंका अन्तर्भाव होता है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश और यादववंश, ये पुराणोक्त प्राचीन प्रसिद्ध वंश हैं, विवाहके सम्ब-न्धका विचार करने योग्य घराने नहीं हैं। एक सूर्यवंशी घराना दूसरे सूर्यवंशी घरानेसे विवाह-सम्बन्ध कर सकता है। उदयपुरके गुहिलोत और जयपुरके कच्छवाह दोनों सूर्यवंशी हैं, परन्तु उनमें विवाह-सम्बन्ध होता है। पुराणोंके देखनेसे भी यही ज्ञात होता है कि सूर्यवंशियोंका सूर्यवंशियोंके साथ और चन्द्रवंशियोंका चन्द्रवंशियोंके साथ विवाह-सम्बन्ध होनेमें पौराणिक समयमें कोई आपत्ति नहीं थी। श्रीरामचन्द्र और सीताजी दोनों सूर्यवंशी और अर्जुन तथा द्रौपदी दोनों चन्द्रवंशी थे। पौराणिक कालमें क्षत्रियोंके कुल-नाम (अल्ल) प्रचलित नहीं थे। गोत्र ही देखे जाते थे। इसीसे वसिष्ठ गोत्रके श्री रामचन्द्रका गौतम गोत्र-की सीताजीसे विवाह हो सका। किसका किसके साथ विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसका निश्चय करनेके विचारसे आधुनिक क्षत्रियोंने

कुलपद्धतिका अवलम्बन किया है। हम पहिले कह भी चुके हैं कि स्मृतियोंके गोत्रशास्त्रका स्थान व्यवहारमें कुल-पद्धतिने ले लिया। इससे स्पष्ट होता है कि रवि, शशि और यादव ये नाम अन्य नामोंकी तरह कुलदर्शक नहीं हैं। चन्दने इन नामोंका उल्लेख किया है, इसलिये कि इन्हीं तीन वंशोंमें ३६ घरानोंका समावेश होता है। इन्हीं तीन नामों-के आगे प्रयुक्त 'वंश' शब्द महत्वका है और अन्तके 'बरने वंस छतीस' शब्दसे इसका अर्थ भिन्न है।

यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित हो सकता है कि चन्द्रवंशके अन्तर्गत होते हुए यदुवंशका स्वतन्त्र उल्लेख क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि यादव पहिलेसे चन्द्रवंशियोंसे पृथक् उल्लिखित होते आये हैं। ऋग्वेदमें भी यदु-तुर्वशोंका स्वतन्त्र उल्लेख है। कालान्तरसे तुर्वश लुप्त होगये। पुराणोंमें यादवोंका स्वतन्त्र उल्लेख इस कारण किया गया है कि यदुके शापसे यादवोंका राज्यपदाधिकार नष्ट हो गया था। इसके अति-रिक्त उनकी गोपालन-वृत्ति बनी हुई थी। यदुवंशियोंका चन्द्रवंशियोंसे पृथक् उल्लेख किया गया, इसमें अनुचित क्या है? हम यह बता चुके हैं कि यदुवंशके भाटी, जाडेजा आदि घरानोंमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि ३६ घरानोंकी तरह 'यादव' किसी घरानेका नाम नहीं है।

इस प्रकार रवि, शशि और यादवका समावेश ३६ घरानोंमें न करने पर ३६ घरानोंकी संख्या-पूर्तिके लिए गरुअ, रोसजुत और कवि-नीसके तीन स्वतन्त्र घराने मानने होंगे। 'वंश भास्कर' के कर्ता सूरजमल-ने भी रवि और शशि वंश माने हैं, घराने नहीं। उसने तीनके बदले पाँच वंश माने हैं। यथा भुजभव, मनुभव, अर्कभव, शशिभव और शुचि (अग्नि) भव। भुजभव=ब्रह्माकी भुजाओंसे उत्पन्न, मनुभव=मनु भग-वान्‌से उत्पन्न, अर्कभव=सूर्यसे उत्पन्न, शशिभव=चन्द्रसे उत्पन्न और शुचि भव=अग्निसे उत्पन्न उक्त पाँच वंश हैं। सूरजमलकी कविता हम पहिले उद्धृत कर चुके हैं। हमारी समझमें चन्दने रवि, शशि और यादव, इन तीनोंको वंश माना है, ३६ घरानोंकी तरह घराने नहीं।

पृथ्वीराजरासोमें सोलहवीं शताब्दी (वि० सं० १५५८–१६५७) में नयी सामग्रीका मिलाया जाना संभव है; परन्तु ३६ घरानोंकी सूची सोलहवीं सदीकी नहीं हो सकती। वह पृथ्वीराजके दरबारी कवि चन्दके समयकी ही है। १६वीं सदीमें जिनका अस्तित्व ही नहीं रह गया था, ऐसे बहुतसे घरानोंके नाम उस सूचीमें हैं। टाडको भी उन नामोंके घरानोंकी खोज करनेमें कठिनाईका सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त सोलहवीं सदीमें प्रसिद्ध हुए अनेक घरानोंका उसमें उल्लेख नहीं है। रोसजुत, अनिग, यौतिक, दधिषट्, कारट्टपाल, कोटपाल, हरितट, कमाप, मट, धान्यपाल, राजपाल और कविनीस घरानोंका पता लगाना कठिन है। भट्टी, झाला, वैश्य आदि आधुनिक घरानोंका भी सूचीमें समावेश नहीं हुआ है। कुछ नाम ऐसे हैं जो निश्चित अवश्य हैं, किन्तु दुर्बोध हो गये हैं। मोहनलाल पण्ड्याने ककुत्स्थको कच्छवाह और सदावरको तुअर सिद्ध किया है और यह ठीक भी है। परन्तु इन नामोंका व्यवहारमें कभी उपयोग होता था या नहीं, इसमें सन्देह है। इससे ज्ञात होता है कि रासोकी सूची बहुत प्राचीन अर्थात् ईसाकी बारहवीं सदीकी है।

मोहनलालने अपने रासोके संस्करणमें हर एक घरानेका जिस युक्तिसे निश्चय किया है, वह कहाँतक ठीक है, इसका यहाँ विचार करना असंगत न होगा। उनके मतसे 'छन्द' 'रांदेल' हैं, परन्तु हमारी समझमें 'छन्द' से 'चन्देल' घरानेका अभिप्राय है। रासोमें कहीं कहीं 'चन्द' शब्द ऊपरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'दोयमत' और 'दाहिम' के एक होनेमें भी सन्देह है। 'अनिग' को 'अनङ्ग' कहा है, पर इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। सूचीमें 'परिहार' और 'प्रतिहार' दोनों नाम होनेसे दोनों कुल स्वतन्त्र हैं। दोनोंमें माण्डोरके लेखके परिहार कौन हैं, इसका निर्णय नहीं हुआ है; परन्तु सम्भवतः वे प्रतिहार हैं। कारट्टपाल काठी (काठियावाडी) नहीं हैं, क्योंकि काठीका छत्तीस घरानोंमें समावेश नहीं हुआ है। कोटपाल कौन हैं, यह नहीं बताया गया है। 'मट' जाट नहीं हैं; क्योंकि जाटोंका राजपूत होना अन्य राजपूत घरानोंको मान्य नहीं है। अन्तमें धान्यपाल और राजपालका भी निर्णय नहीं किया गया है। मोहन-

लालने 'गरुअ' को छोड़ दिया है, किंतु हमारे मतसे वे गूजर हैं। गूजरका प्राकृत रूप गूअर होगा और अक्षरोंके व्यतिक्रमसे गरुअ शब्द बन सकता है। वीर गूजरोंका एक प्रसिद्ध राजपूत घराना है। गूजर और आभोर (अहीर) ये शूद्र और वैश्योंके नाम हैं। गूजरों और आभीरोंपर शासन करनेके कारण शासकोंके घराने भी उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुए परन्तु वास्तवमें वे वैश्य अथवा शूद्र नहीं, क्षत्रिय घराने ही थे।

कुछ लोगोंने प्रतिपादन किया है कि हूणोंका ३६ राजकुलोंमें समावेश किया गया था और इसी तरह विदेशी वंशोंका क्षत्रियोंमें समावेश किया जाता था, यह उस नाम (हूण) से ही सिद्ध होता है। यह टिप्पणी समाप्त करनेसे पहिले इस मतपर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस सम्बन्धमें हमें यही बताना है कि रासोकी सूचीके ३६ घरानोंमें हूणोंका नाम नहीं आया है। 'हुल' नाम है, परन्तु हुल हूण नहीं हो सकते। प्राकृत या अन्य किसी भाषाके अपभ्रंशोंके नियमानुसार 'हूण' से 'हुल' बनाया नहीं जा सकता। क्षत्रिय राजाओंने हूणोंकी कन्याओंसे विवाह किये थे और हूणोंके राज्य भी थे, ऐसे उल्लेख प्राचीन शिलालेखोंमें मिलते हैं, परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हूण क्षत्रिय थे। उस समय और वर्तमान समयके भी राजन्यगण वैश्यों, शूद्रों और म्लेच्छोंतककी कन्याएँ ब्याह लेते हैं। इससे उन कन्याओंके कुल क्षत्रिय नहीं हो जाते। उदाहरणार्थ, वर्तमान समयके कुछ क्षत्रिय राजाओंने हूण अथवा अंग्रेज, फ्रेञ्च या स्पेनिश स्त्रियोंसे विवाह किये हैं। परन्तु वे कन्याएँ, उनकी सन्तान या जिनकी वे कन्याएँ हैं, वे लोग क्षत्रिय नहीं माने जाते। मुसलमानोंके राजत्वकालमें राजपूत राजकन्याएँ मोगल अथवा अन्य मुसलमान बादशाहों या राजाओंसे ब्याह दी जाती थीं। परन्तु इससे मोगल अथवा अन्य मुसलमान क्षत्रिय नहीं मान लिये जाते थे। अतः इस प्रकारके विवाहोंके आधारपर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि हूण क्षत्रिय थे।

छत्तीस घरानोंमें उल्लिखित 'हुल' कौन हैं, यह बतानेका दायित्व हमपर नहीं है; क्योंकि चन्दकी सूचीमें ऐसे बहुतसे घरानोंके नाम हैं जिनका पता नहीं चलता। मारवाड़की मनुष्य-गणनाकी हिन्दी रिपोर्टमें

सीसोदिया राजपूतोंकी एक शाखाका नाम 'हुल' लिखा गया है। इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि यह नाम पहिले प्रचलित था और इस समय भी प्रचलित है (१८९१ और १८९५ का हिन्दी विवरण, भाग ३ पृष्ठ ६ देखिये)। यद्यपि यह गुहिलोतोंकी एक शाखाका नाम कहा गया है, किन्तु यह एक स्वतन्त्र घराना भी हो सकता है। कुछ भी हो, चन्दकी सूचीमें 'हुल' है, 'हूण' नहीं और उदयपुरके पुस्तकालयकी रासोकी प्रतिमें यह पाठ हमने स्वयं देखा है। मुसलमानोंसे युद्ध करते समय बाप्पारावल अथवा खोम्माणको जिन घरानोंके लोगोंने सहायता दी थी, उनमें हुल और हूण दोनोंका उल्लेख है। इससे अधिक स्पष्ट रूपसे सिद्ध होता है कि हुल हूण नहीं हैं (टाड-राजस्थान, क्रुक-संस्करण भाग १ पृष्ठ ९०)। मेवाड़के गुहिलोतोंको सहायता पहुंचानेवाले दलोंकी सूचियां, यद्यपि बहुत वर्षोंके पश्चात् तैयार की गयी हैं, फिर भी उनसे यह निश्चित हो जाता है कि हुल और हूण दोनों भिन्न हैं।

टिप्पणी—राजपूत शब्दका अर्थ ।

वैदिक आर्यवंशोद्भव कुलीन क्षत्रिय होनेका राजपूतोंको अभिमान है। आर्य-बौद्ध समयमें बहुतसे क्षत्रियोंने आर्यधर्म और आचारोंको छोड़कर बौद्ध धर्मका स्वीकार कर लिया था। इस कारण दुर्भाग्यसे हिन्दू लेखकोंने भी कुछ तो दुराग्रह और कुछ अज्ञानसे अपना यह मत प्रकट करनेमें कसर नहीं रखी कि राजपूत शुद्ध क्षत्रिय नहीं हैं। यही नहीं, कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्रोंका ही अस्तित्व रहेगा तथा क्षत्रिय और वैश्योंका लोप हो जायगा, इस आशयके वचन पुराणोंमें मिला देनेसे भी वे नहीं हिचके। (क्षत्रियोंकी अपेक्षा वैश्य अधिक बौद्धधर्मावलम्बी हुए थे।) इस सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वानोंके जो विरुद्ध मत हैं, उनका खण्डन कर देनेके अनन्तर हिन्दुओंके धार्मिक ग्रन्थोंमें बादमें जोड़े गये वचनोंका महत्व कितना है और राजपूत शब्दका सच्चा अर्थ क्या है, इसका विचार करना भी आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं कि पुराणोंके उक्त वचनोंका महत्त्व कौड़ी बराबर भी

नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखने पर तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि वे ऊपरसे किसीने मिला दिये हैं। यह प्रक्षिप्त भाग क्षत्रियोंसे मत्सर होनेके कारण नहीं, किन्तु दुराग्रह अर्थात् बौद्धधर्मसे वैर होनेके कारण लिखा गया है। पुराने अनेक उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि 'राजपूत' शब्द नया नहीं है। वह नवीं शताब्दी (वि० ८५८-९५७) में ही पहिले पहिल प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है और अच्छे अर्थमें ही प्रयुक्त होता आया है। शब्दोंके कभी कभी दो अर्थ होते हैं, एक भला और दूसरा बुरा। स्मरण रहे कि बुरा अर्थ पीछेसे किया जाता है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ब्राह्मण शब्दको ही लीजिये। प्रथम यह उस उच्चवर्णका निदर्शक था, जो ब्रह्म अथवा वेदोंका परिपालन करता था, किन्तु आजकल पानीपांड़े या रसोइयेका निदर्शक हो रहा है। एक हिन्दी कहावत (?) में ब्राह्मणके पर्याय शब्द बावरची, भिश्ती, भिखारी और भांड़, इस प्रकार कहे गये हैं। इसी तरह 'राजपूत' शब्द क्षत्रियोंकी अनौरस सन्तान अथवा निम्न वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तानके लिए कहीं कहीं प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसका मूल अथवा सामान्य अर्थ यह नहीं है।

अलवरमें हमसे कहा गया कि पराशरस्मृतिमें कहे अनुसार (वैश्यादम्बष्ठ कन्यायां राजपुत्रः प्रजायते) असवर्ण विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान 'राजपूत' कहाती है। आरम्भमें ही यह कह देना आवश्यक है कि उक्त पंक्ति पराशरस्मृतिमें कहीं नहीं है। यदि किसी प्रतिमें वह पायी गयी हो, तो उसे प्रक्षिप्त जानना चाहिये। पराशरस्मृतिका यह वचन नहीं है, इसके अनेक प्रमाण हैं। शूद्रकमलाकरके रचयिताके मतसे शूद्रासे उत्पन्न हुई क्षत्रिय सन्तान 'उग्र' कहाती है और उसीको भाषामें राजपूत कहते हैं (अयंच राजपूत इति भाषायां प्रसिद्धः)। यह मत भ्रमात्मक है, परन्तु इससे सिद्ध होता है कि पराशरस्मृतिका उक्त वचन प्रक्षिप्त है। *

---

* पराशरस्मृति कलियुगके लिए लिखी गयी है। यदि कलियुगमें क्षत्रियोंका अस्तित्व नहीं है, यह प्रतिपादन करनेका उसका उद्देश्य होता, तो उसमें क्षत्रियोंके लिए स्वतन्त्र नियम न लिखे जाते।

हिन्दी भाषा जहाँ प्रचलित है, वहाँके लोग जानते हैं कि राजपूत शब्द कभी कभी राजाओं अथवा सरदारोंके अनौरस पुत्रोंके लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु यह उसका सामान्य अर्थ नहीं है। महाभारतके समयमें वह अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होता था। महाभारतमें वह साधारणतया क्षत्रिय वाचक है † और कहीं कहीं साधारण क्षत्रियोंके लिए नहीं, किन्तु राज-कुलके क्षत्रियोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। कभी कभी इस बातपर ज़ोर दिया जाता है कि अमरकोशमें क्षत्रियवाचक राजपुत्र शब्द ही नहीं है, परन्तु अमरकोशमें समस्त शब्दोंका संग्रह ही कहाँ हुआ है? इसके अतिरिक्त किसी कोशमें कोई शब्द न लिखा हो तो क्या यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस शब्दका अस्तित्व ही नहीं है अथवा वह विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त ही नहीं होता है? मृत भाषाओंके शब्दोंके अर्थ साहित्यके प्रयोगोंसे ही निश्चित किये जाते हैं। महाभारतमें सैकड़ों जगह राजपूत शब्द क्षत्रि-योंके लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ ऐसे भी श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें राजपूत शब्दका प्रयोग सच्चे क्षत्रियोंके लिए ही नहीं, बहुत ऊँचे अर्थमें किया गया है। उदाहरणार्थ, शान्तिपर्वके ६४ वें अध्यायका यह श्लोक देखिये—

भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य (शूद्रस्य) सद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि॥

विराट् पर्वमें द्रौपदीको कई स्थानोंमें 'राजपुत्री' कह कर सम्बोधन किया है। यहाँ यह शब्द राजकन्यावाचक नहीं, किन्तु अभिजात क्षत्रिया-सूचक है। सातवीं शताब्दीके भवभूति कविने कौशल्याके लिए इसी शब्दका प्रयोग, केवल राजकन्याके अर्थमें नहीं, किन्तु कुलीन क्षत्रियाके अर्थमें किया है। बाण कविने हर्षचरितमें राजपूत शब्दका प्रयोग क्षत्रिय जातिके सैनिकके लिए किया है।

यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि पाणिनिने 'राजपुत्र' शब्दका

---

† एते रुक्मरथा नाम राजपुत्रा महारथाः। रथेष्वस्त्रेषु निपुणा नागेषु च विशांपते॥ २०॥ द्रोणप°, अ० ११२.

प्रयोग किया है, परन्तु उसका अर्थ 'राजन्य' शब्दसे भिन्न है। पाणिनिका वह सूत्र महत्त्वका है और उससे सिद्ध होता है कि उनके समयमें 'राजपुत्र' शब्द प्रचलित था। सूत्रमें वह मूल अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है। विशेष अर्थमें वह रूढ़ था, ऐसा जान पड़ता है। सूत्र इस प्रकार है—"गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्र—वत्समनुष्याजाद्वुञ्।" (४-२-४१) यह सूत्र "तस्य समूहः" (४-२-३७) इस सूत्रके बादका है। इसका अर्थ है—जब समूह व्यक्त करना हो, तब सूत्रके शब्दोंके साथ वुञ् अथवा क प्रत्यय जोड़ा जाय। यथा—राजक अर्थात् राजमण्डल अथवा राजाओंका समूह, राजन्यक अर्थात् राजन्य अथवा क्षत्रियोंका समूह और राजपुत्रक अर्थात् राजपूतोंका समूह। यहाँ 'राजन्य' और 'राजपुत्र' के भिन्न अर्थोंमें ही प्रयुक्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि पाणिनिको शब्दोंसे प्रयोजन है, उनके अर्थोंसे नहीं। यहाँपर 'राजपुत्र' शब्द राजाका पुत्र इस अर्थमें नहीं बरता गया है, क्योंकि 'राजाके पुत्रोंका समूह' इसका कोई अर्थ नहीं होता है। 'राजाओं मात्रके पुत्र' यह अर्थ हो सकता है और फिर 'अनेक राजपुत्रों अथवा विभिन्न राजपुत्रोंका समूह' इस प्रकार शब्द-प्रयोग किया जा सकता है। सारांश, राजपुत्र शब्द मूलार्थ अथवा बुरे अर्थमें ही प्रयुक्त होता है, यह इस सूत्रसे सिद्ध नहीं होता। किंबहुना, यह शब्द राजन्य अथवा क्षत्रियके ही नहीं, किन्तु इससे भी उच्च, अभिजात क्षत्रिय,—केवल राजाके वर्ण या जातिके ही नहीं, साक्षात् राजकुलोत्पन्न पुरुष,—के अर्थका निदर्शक है। महाभारतमें राजन्य अथवा सामान्य क्षत्रियके अर्थमें, और कई स्थानोंमें ऊपर बताये हुए अर्थमें भी, यह प्रयुक्त हुआ है।

पाणिनिके व्याकरण और महाभारतसे यह तो अवश्य ही प्रमाणित हो जाता है कि यह शब्द पुरातन है और हज़ारों वर्षोंसे प्रचलित है। (अतः यह कहना ठीक नहीं, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, कि पहिले पहिल यह नवीं शताब्दीमें प्रचलित हुआ।) इसका अर्थ भी अनौरस अथवा सङ्करसे उत्पन्न हुआ पुत्र हो नहीं सकता। बाणके हर्षचरितमें यह क्षत्रिय (कुलीन) अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। बाणके बरतनेसे ही इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। इस शब्दका महत्त्व ईसाकी नवीं, दसवीं अथवा ग्यारहवीं

सदीमें इतना क्यों बढ़ा, यह बात निम्नलिखित विवेचनसे ध्यानमें आ जायगी । भारतसे बौद्धधर्मके उठ जानेपर क्रमशः जाति-बन्धन दृढ़ होते गये । इस पुस्तकके तीसरे भागमें दिखाया जायगा कि मध्ययुगीन भारतीय इतिहासके तीसरे काल-विभागमें विभिन्न जातियोंके परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न हो गये थे । यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उस समय हर एक जातिके लोगोंने अपना क्षेत्र इतना मर्यादित कर लिया था कि वे विशुद्ध और सांकर्यहीन घरानोंसे ही विवाह-सम्बन्ध करते थे । इस पुस्तकके पहिले भागमें हुएनसंगके ग्रन्थके जो अवतरण दिये हैं, उनसे यह निश्चित हो जाता है कि सातवीं सदीमें क्षत्रिय वर्णके अनेक राजघराने विद्यमान थे, परन्तु सैंकड़ों क्षत्रियोंने बौद्धधर्मका स्वीकार कर लिया था और वे क्षत्रियोंके आर्यसंस्कारोंको भूल गये थे । ऐसे लोगोंका उस समय कड़ा बहिष्कार किया या । सुदूर प्रान्तोंके विभिन्न घरानोंके विशुद्ध होनेमें सन्‍ह होने लगा; इस कारण क्षत्रियोंमें ही नहीं, ब्राह्मणों और वैश्योंमें भी प्रान्त-भेदसे उपजातियाँ निर्माण करनेकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी । ग्यारहवीं सदीमें जितने भूभाग प्रधानतया क्षत्रिय बसे थे, उसीमें 'राजपूत' शब्द बरता जाने लगा । उस समयके लोगोंकी स्मृति द्वारा जो लोग किसी क्षत्रिय राजासे हुआ अपना सम्बन्ध सिद्ध कर सके और बौद्ध अथवा अन्य विदेशी सत्ताके पाले पड़नेसे पूर्व परंपरा नष्ट हो जानेके कारण भाटोंकी आख्यायिकाओंपर ही जो निर्भर नहीं थे, उन्हींको क्षत्रियत्वका मान मिला । इसीसे राजपुत्र शब्दका भी महत्व बढ़ा । फिर छत्तीस क्षत्रिय राजघरानोंकी सूची प्रचलित हुई और उन्हीं घरानोंमें परस्पर-विवाह सम्बन्ध करना प्रशस्त समझा जाने लगा । वे घराने प्रधानतया वर्तमान राजपूताना और मध्यभारतमें जुट गये थे, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, क्योंकि हुएनसंगके समयमें भी उक्त प्रान्तमें हिन्दूधर्मका प्रावल्य था और बौद्ध धर्मका विशेष प्रचार नहीं हो सका था । धर्मस्थिति बताने वाले उस मानचित्रको देखनेसे, जो इस पुस्तकके पहिले भागके साथ जोड़ा गया है, यह बात अधिक अच्छी तरह समझमें आ जायगी । उक्त प्रान्तके बाहर जो क्षत्रिय अथवा मराठे थे, उनके क्षत्रि-

यत्नमें लोगोंको सन्देह था, इस कारण बंगाल और दक्षिणके क्षत्रियोंसे मध्यभारतके क्षत्रियोंका सम्बन्ध टूटता ही गया। जिन राजपूतोंके कारण मध्यभारत राजपूताना कहा जाने लगा, उनकी परम्परा ईसाकी सातवीं या आठवीं सदीसे लेकर आजतक सुश्रृंखल है। यद्यपि यह बात कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है पर है यह सत्य कि नवीं सदीके अथवा बारहवीं सदीके एक ही मूल पुरुषके ऐसे हज़ारों वंशज आज विद्यमान हैं। राजपूतोंने अपने वंशोंकी विशुद्धताकी रक्षाके लिए जितना प्रयत्न किया, उतना भारतकी किसी भी जाति, यहाँतक कि ब्राह्मणोंतकने या संसारके किसी भी देशके लोगोंने नहीं किया है।

यद्यपि राजपूतोंने लगभग एक सहस्र वर्षतक अपने वंशोंकी पूर्ण विशुद्धताकी रक्षा बड़ी सावधानीसे की थी, फिर भी पुराणोंमें जो यह लिखा गया कि कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र इन दोही वर्णोंका अस्तित्व है, इसका रहस्य समझमें नहीं आता। इसका बुरा प्रभाव स्मृतिवचनोंके टीकाकारोंपर भी पड़ा। इस पुस्तकके पहिले भागमें धर्म-स्थितिदर्शक जो मानचित्र दिया गया है, उससे यह उलझन सुलझ जाती है। धर्मशास्त्रके टीकाकार और निबन्ध-लेखक दक्षिण और पूर्वके थे और दक्षिण, पूर्व तथा उत्तर भारतमें बौद्धधर्मकी प्रबलता थी। इस कारण जातियोंको जब निश्चित और कठोर स्वरूप प्राप्त हुआ, तब दक्षिणके क्षत्रियों (मराठों) और पूर्व तथा उत्तरके क्षत्रियोंका मध्यभारतके क्षत्रियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। बंगाल और अवधके 'खस' क्षत्रियोंके साथ उत्तरकी 'मंगोलियन' जातिके और महाराष्ट्र तथा मद्रासके क्षत्रियोंके साथ द्राविडी राजकुलोंके विवाह-सम्बन्ध हुए थे, इस कारण राजपूताना और मध्यभारतके क्षत्रियोंने इन्हें अपनेसे पृथक् कर दिया। वर्तमान समयमें भी दक्षिण और पूर्वके क्षत्रियोंके साथ विवाह-सम्बन्ध करनेमें वे सहमत नहीं हैं।

अधिकांश ब्राह्मण बौद्धधर्मावलम्बी नहीं हुए थे। वेद, वैदिक संस्कारों और आचारोंको वे भूले नहीं थे। किन्तु क्षत्रियों और वैश्योंने हजारोंकी संख्यामें बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था और वैदिकधर्मसे उनका सम्बन्ध टूट गया था। बौद्धधर्मका ह्रास होनेपर जब वे हिन्दूधर्ममें

लौट आये, तब वे अपने गोत्र तक भूल गये थे। गायत्री तकका ज्ञान उन्हें नहीं रह गया था। इसीसे वे शूद्रोंके समान माने जाने लगे। परन्तु क्षत्रियोंके कुछ आचार उनमें बच रहे थे और क्षत्रियों तथा वैश्योंकी विशिष्टता भी उनमें विद्यमान थी। बौद्धधर्मका उच्छेद होनेपर दुराग्रही ब्राह्मणोंने प्राचीन समयमें वैदिक यज्ञ करनेवाले पुलकेशी आदिके वंशजोंको भी क्षत्रिय नहीं माना। समय पाकर यह धारणा दृढ़ हो गयी कि कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र ही बच रहे हैं। वह पुराणोंके 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' इस वचनके रूपमें प्रकट हुई। यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यह कबसे चल पड़ी, किन्तु अनुमानतः इसका आरम्भकाल दसवीं शताब्दी (वि० ९५८–१०५७) और उत्पत्ति-स्थान पूर्व अथवा दक्षिण देश है। गौतमीपुत्रके ईसाकी पहली शताब्दी (वि० ५८–१५७) के नासिकवाले एक शिलालेखमें लिखा है—"खतिय दपमान दमनस्स" अर्थात् जिसने क्षत्रियोंका गर्व खर्व किया था।' इससे स्पष्ट है कि ईसाकी पहिली शताब्दीतक क्षत्रियोंके अस्तित्वमें किसीको सन्देह नहीं था (इ० ए० पृष्ठ २७)। कनिंगहमने कहा है कि इस लेखमें उल्लिखित क्षत्रिय राजपूताना, गुजरात और मध्यभारतके राजा थे। परन्तु यह भ्रम है, क्योंकि उक्त प्रान्तोंपर गौतमीपुत्रने कभी चढ़ाई नहीं की। इस विशेषणका अर्थ यह है कि गौतमीपुत्र शातकर्णीने, जो शूद्र था और धनकटकमें रहता था, दक्षिणके ही क्षत्रियोंका मदमर्दन किया। उस समय दक्षिणमें राष्ट्रकूट आदि क्षत्रिय थे। ईसाकी पहिली शताब्दी (वि० ५८–१५७) में क्षत्रियोंको खोजनेके लिए वर्तमान राजपूतानेमें दौड़ जानेकी आवश्यकता नहीं थी। केवल हुएनसंगने ही नहीं लिखा है कि उस समय काँचीके पल्लव और बादामीके चालुक्य विद्यमान थे जो क्षत्रिय थे, वरन् उन क्षत्रियोंके शिलालेखों और ताम्रपत्रोंमें भी उनके अश्वमेधादि वैदिक यज्ञोंके करनेका उल्लेख है और उनमें उन्होंने अपने आपको क्षत्रिय कहा है। उदाहरणार्थ, मदुराके देवालयकी दीवारपर जो लेख खुदा है उसमें 'श्री क्षत्रचूडामणिः' यह विशेषण आया है। अतः क्षत्रियोंका अस्तित्व कलियुगमें नहीं है, यह कल्पना सातवीं सदीतक उदित नहीं हुई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिल भट्टके समय (ई० स० ६००-७००; वि० ६५७-७५७) में 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' इस वाक्य या कल्पनाका अस्तित्व नहीं था। 'राजा' शब्दका अर्थ क्षत्रिय ही लिया जाय या और कुछ, इस विवादमें 'जो राज्य करे, वही राजा' ऐसा 'राजा' शब्दका अर्थ कर कुमारिलने अपने वार्तिकमें लिखा है—"तच्च राज्यमविशेषेण चत्वारोऽपि वर्णाः कुर्वाणा दृश्यन्ते"। इससे स्पष्ट है कि कुमारिलके समयमें चारों वर्णोंके राजा राज्य करते थे और कलियुगमें क्षत्रिय-वैश्योंका अस्तित्व नहीं है, यह मत प्रचलित नहीं था। विवादके निर्णयमें भी 'राजा' शब्दसे क्षत्रिय राजा ही स्वीकार किया गया है। अतः कुमारिलके समयमें क्षत्रिय राजाओंका अस्तित्व मान्य था। निम्नलिखित भाष्यकार शबरके लेखसे ज्ञात होता है कि तब महाराष्ट्रमें भी मराठा क्षत्रिय थे। वह लेख इस प्रकार है—"ननु जनपद-पुररक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि क्षत्रिये राज शब्दमान्ध्राः प्रयुञ्जन्ते।" अर्थात् यदि यह कहा जाय कि जो राज्य करे, वही राजा है, तो प्रान्त और नगरका रक्षण करना जिनका व्यवसाय नहीं है, उन क्षत्रियोंके लिए भी आन्ध्र लोग राजा शब्दका व्यवहार करते हैं। सामान्य क्षत्रिय भी राजा कहे जाते हैं, शबरके इस वचनपर कुमारिलने लिखा है—"दाक्षिणात्यसामान्येनान्ध्राणामिति भाष्यकारेणोक्तम्," सर्वसाधारण दाक्षिणात्योंको भाष्यकारने आन्ध्र कहा है। शबरका समय लगभग ई० स० ४०० (वि० ४५७) और कुमारिलका ७०० (वि० ७५७) है। कुमारिलके समयमें आन्ध्रोंकी रीति-नीति दाक्षिणात्योंमें प्रचलित थी। कुमारिलने जहाँ तहाँ 'दाक्षिणात्य' शब्दका उपयोग महाराष्ट्रियोंके लिए किया है। कुमारिलके समयमें 'महाराष्ट्र' यह देशका और 'मराठा' यह वहाँके निवासियोंका नाम प्रचलित नहीं था। (पहिले भागमें हम लिख चुके हैं कि वराहमिहरकी बनायी देशोंकी सूचीमें महाराष्ट्रका उल्लेख नहीं है।) फिर कुमारिलके समयमें आन्ध्रसत्ता महाराष्ट्रमें नहीं थी, शबरके समयमें थी, ऐसा अनुमान होता है। अस्तु, दक्षिण और आन्ध्र-महाराष्ट्रमें उस समय क्षत्रिय थे और राज्याधिकारी न होनेपर भी वे राजा कहे जाते थे, यह उक्त वचनोंसे सिद्ध होता है। सारांश, कलि-

युगमें क्षत्रिय नहीं हैं, यह मत धर्मशास्त्रज्ञ कुमारिलको ज्ञात नहीं था। इसकी उत्पत्ति कुमारिलके पश्चात् (ई० स० ७०० = वि० ७५७ के पश्चात्) हुई है, यह निश्चित है।

उक्त वचनका खण्डन कलियुगके ही लिए बनी हुई पराशरस्मृतिमें हो गया है। इस स्मृतिमें क्षत्रियों और वैश्योंके लिए कुछ नियम लिखे हैं। यदि कलियुगमें क्षत्रियों और वैश्योंका अस्तित्व ही न होता, तो उनके लिए स्वतन्त्र नियम क्यों बनाये जाते? इस स्मृतिमें क्षत्रिय-वैश्योंके लोपकी कल्पना नहीं है। इसका समय ईसाकी सातवीं अथवा आठवीं शताब्दीके आसपास है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आठवीं शताब्दीतक इस कल्पनाका उदय नहीं हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि पराशरस्मृति दक्षिणमें लिखी गयी थी, क्योंकि उसमें सेतु-तीर्थकी पवित्रताका विशेष वर्णन है। चाहे वह दक्षिणमें लिखी गयी हो या उत्तरमें, कलियुगमें क्षत्रियोंके लोप होनेकी कल्पना उसमें नहीं है।

'शूद्रकमलाकर' की रचना एक दक्षिणी ब्राह्मणने काशीमें की है। अतः उसके अभिप्रायोंका पूर्व और दक्षिण भारतकी कल्पनाओंके अनुसार होना स्वाभाविक है। जहाँ राजपूत शब्द विशेष प्रचलित हुआ, उस मध्यभारतके क्षत्रिय दक्षिण और पूर्वके क्षत्रियोंको नवीं और दसवीं सदी ई० तक हीन नहीं समझते थे, इसके पश्चात् वे ऐसा समझने लगे। नवीं और दसवीं शताब्दीमें दक्षिण-पूर्वके क्षत्रियोंसे उनके विवाह-सम्बन्ध होते थे, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः क्षत्रिय-वैश्योंके लोपकी कल्पना दसवीं शताब्दीके पश्चात् दक्षिण या पूर्वमें उदित हुई थी। धर्मशास्त्रके लेखकोंने उसका अङ्गीकार किया और व्यवहारमें भी वह प्रचलित हो गयी। जिन राजपूतोंको अपनी विशुद्धताके सम्बन्धमें अभिमान था और अबतक है, उन्हें भी उक्त लेखकोंने 'उग्र' कह डाला और आगे चलकर यह मत भी प्रचलित हो गया कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र नहीं, उन्हें पुरोहितोंके गोत्र स्वीकार करने चाहिये। इस सम्बन्धमें अधिक विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है। अन्तमें हमें यही कहना है कि क्षत्रिय उग्र हैं, यह वचन ठीक नहीं है। कलियुगमें क्षत्रिय नहीं रहेंगे, इस कल्पनाके आधार-

पर इस वचनकी रचना हुई है। ऐतिहासिक दृष्टिसे 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' यह वचन प्रक्षिप्त है। यदि प्रक्षिप्त न हो, तो उसका यह अर्थ किया जा सकता है कि कलिका अन्त होते होते क्षत्रियोंका लोप हो जायगा। इस समय इस वचनकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं। हमें मानना ही पड़ता है कि अभी क्षत्रियोंका अस्तित्व है, उनमें राजपूत अत्यन्त विशुद्ध हैं और राजपूत ही कुलीन क्षत्रिय हैं।

काशीके सुप्रसिद्ध भट्टकुलोत्पन्न कमलाकरभट्टने अपने बनाये 'शूद्रकमलाकर' में 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' इस वचनको 'पुराणान्तरेष्वपि' कहकर उद्धृत किया है। किस पुराणका यह वचन है, इसका उल्लेख इन्होंने नहीं किया। कमलाकरभट्ट और उनके पिता* कलियुगमें क्षत्रिय-वैश्योंका अस्तित्व मानते हैं। 'शूद्रकमलाकर' के अन्तमें निम्नलिखित वाक्य हैं—

"ननु कलौ क्षत्रियवैश्याभावः उक्तो भागवते एकादशस्कन्धे—इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति। यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥ देवापियोंगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः। सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति॥ इति॥ द्वादशस्कन्धेऽपि—देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः। कलापग्राममासाते महायोगबलान्वितौ॥ ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ। वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत्प्रथयिष्यतः॥ "विष्णुपुराणेऽपि—महापद्मपतिर्नन्दः क्षत्रविनाशकृत्।" नन्दश्च कलेरादौ परीक्षितोरनन्तरं जातः। × × पुराणान्तरेष्वपि—"ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रावर्णास्त्रयोः द्विजाः। युगे युगे स्थिताः सर्वे कलावाद्यन्तयोः स्थितिः॥" अतः कथं द्विज संकरजाः उक्ताः। मैवम्। "कलौच बीजभूतास्तु केचित्तिष्ठन्ति भूतले।" इति विष्णुपुराणात्। "ब्रह्म क्षत्रं विशः शूद्रा वोजार्थे य इहस्थिताः। कृते युगे तु तैः सार्धं

---

* ये पिता-पुत्र उन्हीं गागाभट्टके वंशज थे जिन्होंने छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजका राज्याभिषेक किया था। ये स्वयं परम विद्वान् थे और इनका घराना विद्वत्ताके कारण अत्यन्तप्रसिद्ध है।

निर्विशेषस्तदाभवन् ॥" इति मात्स्योक्तेश्च प्रच्छन्नरूपाः स्वकर्मभ्रष्टाः क्षत्रियवैश्याः कलियुगे सन्त्येव क्वचिदित्यस्मत्पितृचरणाः।"

इस अवतरणसे गागाभट्टने श्री शिवाजी महाराजका राज्याभिषेक कैसे किया, यह प्रश्न हल हो जाता है। बीज रूपसे क्षत्रिय-वैश्य वर्त्तमान हैं, तभी सत्ययुगके आरम्भमें वे फिर उदित होंगे। बीजके नष्ट होने पर उनका अस्तित्व कैसे रहेगा? गहरा विचार करनेपर यह भी देख पड़ेगा कि वर्त्तमान समयमें ब्राह्मण भी प्रच्छन्नरूप स्वकर्मभ्रष्ट बीज रूप ही हैं। बीजकी विशुद्धताकी रक्षा करना ही महत्त्वकी बात है। अस्तु।

पुनश्च—'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' इस वाक्यकी उत्पत्ति कहाँ हुई, और किस ग्रन्थका यह वाक्य है, इसका हमने बहुत पता लगाया, पर अबतक हम अपने प्रयत्नमें सफल नहीं हो सके हैं। पूनाके सुप्रसिद्ध मीमांसाशास्त्र-पारङ्गत श्री किंजवड़ेकर शास्त्रीने इसकी उत्पत्तिका स्थान इस प्रकार बताया है—पतञ्जलिके महाभाष्यमें–'ब्राह्मणेन निष्कारणो वेदो षडङ्गोऽध्येयोज्ञेयश्च' यह वाक्य है। भाष्यके टीकाकार कैय्यटने इसपर कुछ नहीं लिखा है; किन्तु कैय्यटकी टीकापर नागोजी भट्टने जो टीका की है, उसमें वे लिखते हैं—'ब्राह्मणेनेत्युक्तेरन्यस्यैवमध्ययनं काम्यमेवेति सूचयतीति कश्चित्' यहाँ भी भट्टजीने अपना नहीं, 'कश्चित्' का मत दिया है। इसपर वाईके श्री वैद्यनाथ महादेव पायगुण्डेकी छाया इस प्रकार है 'अत्रारुचिबीजम्। तयोर्नित्याध्ययनविधायकस्मृत्यन्तरादि विरोधापत्तिरिति। तस्माद्ब्राह्मणपदं त्रैवर्णिकोपलक्षणमिति बोध्यम्। क्षत्रियस्यच वैश्यस्यच साङ्गवेदाध्ययनं ज्ञानं चेत्यर्थः। वस्तुतस्तु कलौ क्षत्रियस्याभावं सूचयितुं तथोक्तमिति यथाश्रुतमेवतत्साधु। तथा च—

कलौ न क्षत्रियाः सन्ति कलौ नो वैश्यजातयः।

ब्राह्मणश्चैव शूद्रश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतम् ॥ इति स्मृतिरितितत्वम्।'

अर्थात् 'कश्चित्' शब्दसे यही स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकारको उस मतसे अरुचि है। अथवा वह मत उसे ग्राह्य नहीं है। कारण भी स्पष्ट है। स्मृतिशास्त्रने क्षत्रिय वैश्यों सहित त्रैवर्णिकोंको वेदाध्ययनका अधिकार दे रखा है। उससे इस मतका मेल नहीं बैठता। 'ब्राह्मण' शब्द भाष्य-

कारने त्रैवर्णिकोंके लिए प्रयुक्त किया है और इसीसे क्षत्रियों तथा वैश्यों को भी वेदाध्ययन और वेद-ज्ञानका अधिकार है। (यह नागोजी भट्टका मत है, वास्तवमें कलियुगमें क्षत्रियोंका अस्तित्व नहीं है, यह सूचित करनेके लिए भाष्यकारने ऐसा लिख दिया, जो, जैसा सुना ही जाता है, ठीक है। आधार—"कलौ न क्षत्रियाः सन्ति" आदि स्मृतिवचन हैं, यह निश्चित है।

पायगुण्डेकी छाया सहित महाभाष्य प्रकाशित करनेवाले शिवदत्त अपनी टिप्पणीमें लिखते हैं "श्रुतीनां कलियुगपरत्वकल्पनं न समञ्जसमिति त्रैवर्णिकानामुपलक्षणमित्येव युक्तम् ।"—श्रुति कलियुगसे रद्द नहीं होती, इसलिये ब्राह्मण शब्दको त्रैवर्णिकोंका ही उपलक्षण मानना उचित है।

ऊपर दिये हुए अवतरणोंसे पाठकोंको इस बातका अनुमान हो जायगा कि मत किस तरह हलकोरा खाकर एकसे दूसरी दिशामें पहुँचते रहते हैं। इस विषयपर इतिहासदृष्ट्या हमारा मत इस प्रकार है—प्रारंभसे अशोक-कालतक अर्थात् लगभग ई० पू० २५० (वि० पू० १९३) तक—जब आर्यावर्तमें बौद्धधर्मका पूर्ण प्रसार हुआ—तीनो वर्णोंको वेदाध्ययनका अधिकार था और वे वेद पढ़ते भी थे। पर इस समय बहुतसे क्षत्रिय-वैश्य बौद्धधर्मी हुए और वेदको त्याग कर वेदविरोधी बन गये। अतः पतञ्जलिके समयमें ई० पू० १५० के लगभग ऐसी स्थिति थी जिससे वेदोंकी रक्षा करनेका भार अकेले ब्राह्मणोंपर ही आ पड़ा था। फलतः उन्होंने वस्तु-स्थितिके विचारसे, धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे नहीं, "ब्राह्मणेन वेदाध्येयः" लिख दिया। कैय्यट ६०० ई० (वि० ६५७) के लगभग हुए। तबतक स्थिति वही थी, अतः उन्होंने कुछ न लिखा। इसके बाद कुमारिल, शंकराचार्य आदिके प्रयत्नसे बौद्धधर्म भारतवर्षसे नष्ट हुआ, क्षत्रिय विशेषतः राजपूत राजाओंने पूर्ववत् अपना अधिकार चलाया और कितने वेद भी पढ़ने लगे। तब नागोजी भट्टके पूर्व अर्थात् १००० से १४०० ई० (वि० १०५७-१४५७) तक यह मत प्रचलित रहा कि वेदाध्ययन—क्षत्रियोंका काम्य कर्म है। काशीके नागोजी भट्टने इस विषयपर प्रचलित मत मात्र दे दिया है, खुद कुछ भी नहीं कहा है। इसके बाद सारे हिन्दुस्थानपर मुसलमानोंके

राज्य हो गया, क्षत्रिय फिर वेदोंकी ओर दुर्लक्ष करने लगे, दक्षिणमें मराठे तो नितान्त वेदविहीन हो गये। तब १६०० ई० (वि० १६५७) के आसपास पायगुण्डेने "कलिमें दो ही वर्ण हैं" इस आशयके एक अप्रसिद्ध वचनके आधारपर भाष्यकारके मूल वाक्यको ही ठीक ठहराया। वर्तमान कालमें जब त्रैवर्णिकोंकी वेदधर्ममें श्रद्धा है, तब शिवदत्तका तीनो वर्ण-वालोंको वेदाधिकार बताना उचित ही है। अतः इतिहासदृष्ट्या यह बात मान ली जा सकती है कि कलियुगमें दो ही वर्ण हैं, इस आशयका वाक्य १३०० से १६०० ई० (वि० १३५७-१६५७) के बीच किसी समय दक्षिण पूर्व प्रांतमें रचा गया।

छठाँ प्रकरण।

राजपूतानेमें आर्योंकी बस्तियाँ।

राजपूतों अथवा, उपयुक्त शब्दका व्यवहार करें तो, उनके वैदिक क्षत्रिय पूर्वजोंकी राजपूतानेको बस्तियाँ अधिक प्राचीन नहीं। महाभारत और रामायण इन दोनों भारतीय प्राचीन महाकाव्योंमें ऐसी बस्तियोंका उल्लेख है। यह प्रान्त जलवायुकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेके कारण बस्ती बसानेके लिए उपयुक्त भी नहीं है। जैसा कि पहले भागमें कहा जा चुका है, आर्य लोग प्रायः खेतीका धन्धा करते थे; अतः उन्हें स्वभावतः ही जंगली अथवा ऐसा प्रदेश प्रिय था जहाँ वर्षा न बहुत अधिक होती हो न बहुत कम, भूमि समतल और उपजाऊ हो। पश्चिमी राजपूतानेका रेतोला मैदान और पूर्वी राजपूतानेका पहाड़ी प्रदेश उनके बसनेके लिए उपयुक्त न था। ऐसी दशामें इस प्रान्तमें इतिहासपूर्व कालसे बहुत दिनोंतक केवल भिल्ल (भील), आभीर (अहीर), और दूसरी

द्रविड़ मूलजातियोंकी ही बस्ती रहना आश्चर्यकी बात नहीं। चंद्रवंशीय अथवा दूसरी आर्य शाखाओंके साथ बाहर निकले हुए जो आर्य मथुरासे दक्षिणकी ओर बढ़ते गये, उन्होंने इस प्रान्तको वैसा ही छोड़ दिया और इसके नीचे उतर आनर्त एवं सौराष्ट्रके समतल और उपजाऊ प्रदेशोंमें बस्तियाँ बसायीं। महाभारतमें उल्लेख है कि जरासंधसे परेशान होकर स्वतः श्रीकृष्णने चन्द्रवंशीय आर्योंका प्यारा मध्यदेश त्याग दिया और द्वारका नगर बसाया। आनर्त (उत्तर गुजरात)का राजा बलरामका ससुर था अतः बहुत करके इसी कारण कृष्णकी दृष्टि इस प्रदेशकी ओर गयी होगी। इस प्रकार अर्वाचीन काठियावाड़ एवं गुजरातमें द्वारका और आनर्त आर्योंके प्रथम उपनिवेश हैं। अवश्य ही यहाँके आर्योंको जब जब मध्यदेश जाना पड़ता था, तब तब वे अर्वाचीन राजपूतानेसे होकर ही जाते थे, पर वे बड़े कष्ट और अनिच्छासे ऐसा करते थे। उदाहरणार्थ, महाभारतमें बलरामके सरस्वती नदीके किनारे किनारे पंजाब जानेका उल्लेख कर कहा गया है कि शूद्र आभीरोंके भयसे यह नदी राजपूतानेके रेगिस्तानमें अन्तर्धान होगयी। श्रीकृष्णकी परलोकयात्राके पश्चात् सौराष्ट्रके नये अधिवासियोंके कुटुम्बों और विधवाओंको मध्यदेश ले जाते समय अर्जुनको इन्हीं आभीरोंसे कष्ट पहुँचा था। इन लोगोंका निर्देश दस्यु और म्लेच्छ शब्दोंसे किया गया है। श्रीयुत भांडारकरने भूलसे इन शब्दोंका अर्थ क्रमसे लुटेरा और विदेशी किया है (देखिये भांडारकर लिखित "हिन्दुओंमें विदेशियोंका मिश्रण" लेख—इण्डियन ऐंटिक्वेरी ४०)। वेदमें भारतके मूलनिवासियोंके लिए दस्यु संज्ञा काममें लायी गयी है। म्लेच्छ माने केवल विदेशी ही नहीं होता, क्योंकि महाभा-

रतमें दक्षिणके द्रविड़ोंको भी म्लेच्छ कहा है। [म्लेच्छ माने ऐसे लोग जो संस्कृतका ठीक उच्चारण न कर सकते थे; चाहे वे विदेशी तूरानी, सिथिक (सीदियन ?) अथवा मूल-द्रविड़, कोई हों।] अतः आभीर विदेशी नहीं, किन्तु मूलद्रविड़ वंशके थे और महाभारतकालमें, अर्थात् ई० पू० २५० (वि० १९३) के लगभग इस बालुकामय प्रदेशमें बसे हुए थे।

महाभारतमें इस मरुदेशके विषयमें दो उल्लेख मिलते हैं। इस प्रदेशमें आर्योंने किस प्रकार बस्ती बसायी, यह बात समझमें आ जानेके लिए उनकी चर्चा कर देना आवश्यक है। महाभारतके बाद श्रीकृष्ण जब द्वारकाको वापस जा रहे थे तो मरुदेशकी सीमापर उत्तंकने उन्हें रोका। संभवतः उत्तंक ही इस प्रदेशमें अपना आश्रम बनानेवाला पहला ब्राह्मण था। उसने श्रीकृष्णसे फरियाद की कि मुझे यहाँ बार बार गहरी प्यास लगा करती है और पानी थोड़ा ही मिलता है। श्रीकृष्ण-ने उत्तर दिया कि जब प्यास लगे तब मेरा स्मरण करना, और उत्तंकने जब जब उनका स्मरण किया तब तब उन्होंने वहाँ बादल भेजे। उन बादलोंसे प्रचुर वर्षा होती और इस प्रकार उत्तंककी तृषा शांत हो जाती। उसी समयसे मरुप्रदेशमें गरमीके दिनोंमें भी मेघ आने लगे। इन मेघोंका नाम उत्तंक मेघ पड़ा (महाभारत-अश्वमेध पर्व)। दूसरी कथा यह है कि इस प्रदेशके धरातलसे उठनेवाले उष्ण वाष्प अथवा वायुसे भी उत्तंकको बड़ा कष्ट पहुँचता था। यह वायु इस प्रदेश अथवा सूखे हुए समुद्रकी बालुकाराशिके नीचे छिपे हुए धुंधु नामक राक्षसका श्वासोच्छ्वास माना जाता था। उत्तंकने अयोध्या-के सूर्यवंशी राजा कुवलयाश्वसे सहायता मांगी और वह प्राप्त हुई। कुवलयाश्वने बालूको खोदवाकर उस राक्षसको ढूंढ

निकाला। उस राक्षसने अपने मुंहसे आगकी लपटें निकालीं, उनसे उतने ही क्षत्रिय जल मरे। पर अंतमें राजाके लाये हुए पानीसे वह आग बुझ गयी और उस दैत्यका अंत हुआ। तभीसे कुवलयाश्वका नाम धुंधुमार प्रसिद्ध हुआ (वनपर्व—अध्याय २०४)। यही कथा महाभारतमें एक जगह और लिखी है और रामायणमें भी लिखी है। इससे जान पड़ता है कि यह कथा लोगोंको बहुत प्रिय लग रही थी। इससे यह अनुमान होता है कि मरुप्रदेशमें प्रथम बस्ती सूर्यवंशी क्षत्रियोंके नेतृत्वमें ही बसी होगी।

रामायणमें भी, जो ई० पू० पहली शताब्दीकी रचना है, यही लिखा है कि इस भूभागमें उस समय भयावने अहीरोंकी बस्ती थी। युद्धकाण्डके बीसवें सर्गमें लिखा है कि जब रामने उद्धत दक्षिणसागरपर चलानेके लिए बाण उठाया, तब वह (समुद्र) मनुष्यशरीर धारण कर रामके सामने खड़ा हो गया। उसने उनसे क्षमा मांगकर प्रार्थना की कि 'आप यह बाण द्रुमकुल्य नामक मेरे उत्तर भागपर चलाइये, वहां आभीर प्रभृति बहुतसे लोग रहते हैं जो आकृति और कृति दोनोंसें ही क्रूर दस्यु हैं। वे मेरा पानी पी जाते हैं, उनका सान्निध्य अब मुझे सहन नहीं होता।' तदनुसार रामने वह बाण उत्तर भागपर चलाया जिससे वह प्रदेश निर्जल हो गया। बाण जहाँ धँसा वहीं एक कुआँ बन गया। वह व्रणकूप नामसे प्रसिद्ध है। द्रुमकुल्य प्रदेश कौनसा है और यह व्रणकूप कहाँ है, यह बात निश्चयके साथ नहीं कही जा सकती। तथापि हिन्दू कवियोंने जो यह लिखा है कि राजपूताना संभवतः पूर्व समुद्रका भाग है, जो अब सूखकर धरातलमें रूपान्तरित हो गया है, और थोड़ेसे प्रसिद्ध कुओंको छोड़कर वहाँ जलका

अभाव है, वह भूगर्भशास्त्रकी दृष्टिसे भी बिलकुल ठीक है। इस प्रांतको अकारण जो दण्ड दिया गया उसका विचार कर रामने इसे अत्यन्त उपजाऊ और आरोग्यकारक बना दिया। इस कथासे यह बात स्पष्टतः प्रकट होती है कि क्रूर और उजड्ड मूलनिवासियोंको जीतनेके अनन्तर ईसवी सन्‌के आरम्भमें (विक्रम संवत् ५७) के लगभग आर्य लोगोंने पहले पहल इस भागमें प्रवेश कर अपनी बस्ती कायम की होगी। इस प्रकार अधिवासका मार्ग उन्मुक्त हुआ। शीघ्र ही यह बात मालूम हो गयी कि मरुअरण्यकी धरती उर्वरा तथा जलवायु स्वास्थ्यप्रद है और वहाँ पशुपालन तथा हर तरहके अन्नकी खेती करनेकी सुविधा है। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि मरुदेशमें आर्योंकी पहली बस्ती बहुत करके ईसवी सन्‌के आरम्भमें (विक्रम संवत् ५७ के लगभग, कायम हुई होगी।

पूर्वी राजपूतानेके पहाड़ी प्रदेशपर आर्योंने इसके पहले भी चढ़ाइयाँ की होंगी। कारण, महाभारतमें अजमेरका समीपवर्ती पुष्कर तीर्थ अखिल भारतमें अत्यन्त पवित्र कहा गया है। आज भी भारतमें जो तीन अत्यन्त पवित्र क्षेत्र हैं—पुष्कर, कुरुक्षेत्र और गंगा—उनमें वह भी है। पर यद्यपि पुष्कर सरोवरका पता बहुत प्राचीन कालमें लग गया था, फिर भी इस क्षेत्रका पुष्करारण्यमें होना बताया गया है। इससे यह अनुमान निकलता है कि दण्डकारण्यके सदृश पुष्करारण्य भी बहुत समयतक विना बस्तीके था। यहाँ भी प्रारम्भमें केवल ब्राह्मणोंकी बस्ती स्थापित हुई होगी और फिर महाराष्ट्रकी भाँति बहुत कालके बाद क्षत्रियोंकी बस्ती बसी होगी।

यमुनाके प्रदेश और गुजरातके बीच यातायातका आज जो मार्ग—राजपूताना रेलवेका मार्ग—है, वही प्राचीन कालमें भी रहा होगा। पुष्कर सरोवरके अनन्तर आबूके उत्तुंग शिखरने स्वभावतः ही लोगोंका मन अपनी ओर आकृष्ट किया होगा। चारो ओर जहाँ तहाँ छोटी छोटी पहाड़ियों और बीचमें इस ऊँचे पर्वतको देखकर प्राचीन आर्योंके मनमें उसके हिमालयके पुत्र होनेकी कल्पनाका उदय होना स्वाभाविक है। इस नैसर्गिक काव्यकल्पनासे ही चन्द-वर्णित अर्बुद पर्वतकी कथाकी उत्पत्ति हुई। वास्तवमें इस कथाका मुख्य भाग भी प्राचीनतामें महाभारतके बराबर है। वनपर्वके ८२वें अध्यायमें अर्बुद तीर्थका उल्लेख है और अर्बुद पर्वत हिमालयका बेटा बताया गया है। यह भी लिखा है कि पूर्वकालमें पृथ्वीमें एक बड़ा गहरा विवर था, उसे भरनेके लिए यह पर्वत उत्तरसे लाया गया। इस पर्वतसे वसिष्ठके नामका भी सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे है। महाभारतमें लिखा है कि इस पर्वतपर स्थित वसिष्ठका आश्रम पवित्र स्थान है। उत्तंक द्वारा पृथ्वी खोदे जानेकी कथा महाभारतमें दो जगह मिलती है। पहली कथा यों है कि तक्षक नागका पातालतक पीछा करनेके लिए उसने पृथ्वीमें अत्यन्त गहरा विवर खोदवाया। उस विवरमें वसिष्ठकी गाय गिर पड़ी। इसपर वसिष्ठको उसे पाटनेके लिए हिमालयके किसी बेटेको लानेकी बात सूझी। इस प्रदेशके अपवित्र होनेके कारण हिमालयने पहले तो सहायता करनेसे इनकार कर दिया, पर वसिष्ठने जब उसे पवित्र बना देनेका वचन दिया, तब हिमालयका एक पुत्र वहाँ गया और वह बिल भर गया। इसके बाद स्वतः वसिष्ठ भी वहाँ जाकर रहने लगे और उन्होंने एक शिवमंदिर निर्माण किया।

इस कारण वह शिवमूर्ति अचलेश्वर अर्थात् पर्वतके ईश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुई। सम्पूर्ण राजपूत-इतिहासमें अचलेश्वरका मंदिर राजपूतोंका पवित्र स्थान माना गया है, आज भी माना जाता है। यह कथा संभवतः अति प्राचीन है। पीछे स्कन्द-पुराणमें उसका विस्तार होकर वह अर्बुद खण्डके तीसरे अध्यायमें दी गयी है। पुराणोंमें इस पर्वतका नाम नन्दिवर्द्धन और हिमालयसे जिस सर्पकी पीठपर सवार होकर नन्दिवर्द्धन आया, उसका नाम अर्बुद मिलता है। पर इस (स्कन्द) पुराणमें वसिष्टके यज्ञ करनेका कहीं भी उल्लेख नहीं है। प्राचीन ग्रंथोंकी अर्बुदकी उत्पत्ति-विषयक कथासे यह निष्कर्ष निकलता है कि ई० पू० २५० (वि० पू० १९३) में भी अर्बुद गिरि पवित्र स्थान माना जाता था और उसपर पहली बस्ती वसिष्ठ-कुलके कुछ आर्योंकी हुई होगी। बादमें परमार राजपूत भी, जिनका अभ्युदय इसी प्रदेशमें हुआ, अपनेको वशिष्ठगोत्री कहने लगे होंगे।

इतिहासकी दृष्टिसे यह अनुमान असंगत नहीं ठहरता कि वैदिक क्षत्रियोंने अधिवासके लिए अनुपयुक्त इस पहाड़ी और रेतीले प्रदेशमें ईसवी सन्‌के आसपास या उसके आरम्भमें जो बस्तियाँ कायम कीं, उसका कारण पंजाब और गंगाके प्रदेशके उनके प्राचीन स्थानोंपर विदेशियोंके आक्रमण होते रहना था। वास्तवमें शक, कुशान, हूण आदि हों अथवा बिलकुल पीछे आनेवाले मुसलमान, तुर्क या अफगान हों, इनके आक्रमणोंसे जब जब भारतीय आर्य विपुल-जलयुक्त और धनधान्यसम्पन्न उक्त दोनों प्रदेशोंसे खदेड़े गये हैं, तब तब बराबर राजपूतानेने उन्हें आश्रय दिया है। विश्वसनीय ऐतिहासिक आधारसे हमें यह बात ज्ञात है कि राजस्थान-

की मरुभूमिमें सबसे पीछे आश्रय लेनेवाले राजपूत कन्नौज-के राठौर थे। जयचन्दका पराभव तथा अन्त होनेपर राठौर घराने गंगाका प्रदेश छोड़कर मारवाड़की मरुभूमिमें जा बसे। वस्तुतः राजपूतानेको "राजपूतोंकी भूमि" संज्ञा मुसलमानोंके समयमें ही प्राप्त हुई। राठौरोंके पूर्व अनेक बार इसी प्रकार राजस्थानमें राजपूतोंके जा बसनेका प्रमाण—यद्यपि यह पूर्ण स्पष्ट नहीं है—इतिहासमें मिलता है। इस प्रकारका पहला उल्लेख मालव लोगोंके विषयमें है, जिन्हें यूनानी (ग्रीक) इतिहासकारोंने 'मल्लोय" कहा है। राजपूतानेके 'नगर' स्थान-में मिले हुए सिक्कोंके आधारपर कनिंगहमने अनुमान किया है कि ई० प्रथम शताब्दी (वि० ५८-१५७) के आसपास मालव लोग पंजाबसे मालव देशको जाते हुए राजपूतानेमें रह गये होंगे, क्योंकि उन सिक्कोंपर "जय मालवानाम्" बस इतना ही अंकित है। (कनिंगहमकृत आर्कियालॉजि-कल सर्वे रिपोर्ट, भाग १४) दूसरा उल्लेख माध्यमिकोंके विषयमें है। उनका राज्य जयपुरके निकट कहीं रहा होगा। शक-यवनोंने उनपर आक्रमण किया था। आख्या-यिकासे प्रकट होता है कि गौड़ राजपूत गौड़ देशसे अर्थात् थानेश्वरके आसपासके प्रदेशसे (बंगालसे नहीं, जिसे लोग भूलसे गौड़ समझते हैं) आकर अजमेरमें बस गये होंगे। आगे चलकर चाहमानों (चौहानों) ने वहाँसे उन्हें खदेड़ दिया। स्मिथ और भांडारकरने भिनमालके गूजरोंको विदेशीय माना है, पर हम उन्हें वैदिक आर्य मानते हैं। विदेशियोंने जब उन्हें उनके मूलस्थान पंजाबसे निकाल दिया, तब उन्होंने भी मारवाड़की मरुभूमिमें आश्रय लेकर अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा की। तीसरी और चौथी शताब्दियों

(वि० २५८-४५७) में जब कुशान और हूण लोगोंके आक्रमण हुए, उस समय कितने ही राजपूत घराने राजपूतानेमें जा बसे होंगे, पर इसका उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह मान लेनेमें कोई बाधा नहीं कि आठवीं शताब्दी (वि० ७५८-८५७) में जिन राजपूतोंने अरबोंके साथ बहादुरीसे लड़कर प्रसिद्धि प्राप्त की, वे उन वैदिक आर्योंके वंशज थे जो विदेशियोंके आक्रमणोंके कारण पंजाब और गंगाके प्रदेशसे निकल कर राजपूतानेमें आ बसे थे। इस पुस्तकके प्रथम भाग-के साथ हमने हिन्दुस्तानका जो धर्म-प्रदर्शक मानचित्र दिया है उससे प्रकट होता है कि राजपूतानेमें बौद्धोंकी प्रधानताका होना तो दूर रहे वे हिन्दुओंकी बराबरीमें भी न थे। यह भाग मुख्यतः हिन्दुओंका देश था। राजपूतानेके जंगलों और पहा-ड़ियोंमें वैदिक क्षत्रियोंने अपनी स्वतंत्रता और अपने वैदिक धर्मकी रक्षा की थी। और जब नये विदेशियोंने, जो आक्रमण कारी विदेशियोंके सहज गुण क्रूरताके अतिरिक्त नवीन मूर्ति-ध्वंसक धर्मकी उग्र असहिष्णुता भी अपने साथ लाये थे, उनपर आक्रमण किया, तब अपने धर्म और स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके लिए इन वैदिक क्षत्रियों अथवा राजपूतोंने प्रयत्नकी परमावधि कर डाली। यही कारण है कि इस कालमें हमें यह चमत्कार दिखाई देता है कि राजपूतानेमें राजपूतोंके नये नये वंशोंका उदय हुआ और उन्होंने न केवल अरबोंको खदेड़ दिया, किन्तु नये उत्साहसे प्रेरित होकर भारतवर्षमें हिन्दू राज्योंकी दूसरी परम्परा स्थापित की और हिन्दू मध्ययुगके दूसरे कालविभागमें हिन्दुस्थानपर राज्य किया। इन राज-पूतोंमें गुहिलोत, चाहमान, प्रतिहार और परमार प्रमुख थे। अगले खण्डमें हम इन्हीं वंशों और इनके द्वारा स्थापित

राज्योंका इतिहास देनेवाले हैं। अतः अर्वाचीन राजपूतोंने जिन्हें एक मतसे दाक्षिण्ययुक्त शौर्यमें सर्वश्रेष्ठ और जिनके रक्तको शुद्ध क्षत्रिय रक्त मान लिया है, उन्हीं गुहिलोतोंसे इस इतिहासका आरंभ करना उचित होगा।

चौथी पुस्तक

अन्यान्य हिन्दू राज्य ।

(लगभग सन् ७५० से १००० ई० तक)

पहला प्रकरण ।

चित्तौड़के गुहिलोत और बाप्पारावल ।

ईसवी नवीं शताब्दीके प्रारंभमें अथवा उसके थोड़ा पूर्व मुसलमानोंके आक्रमणोंका साहसके साथ सामना करके राजपूतानेके जिन अनेक राजकुलोंने प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमें मेवाड़का गुहिलोत राजकुल निस्सन्देह प्रमुख था। उसी वंशका इतिहास प्रथम देकर हम और राजवंशोंका इतिहास देंगे। टाडने अपने इतिहासमें लिखा है कि राजपूतोंके जो ३६ कुल इतिहासमें प्रसिद्ध हैं, वे सभी मेवाड़के राजघरानेको रामचन्द्रके वंशका होनेके कारण अग्रपूजाका अधिकारी मानते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैसलमेरको छोड़कर मेवाड़ ही ऐसा राज्य है जो सबसे अधिक—८०० वर्षोंतक–मुसलमानोंके आक्रमणोंके सामने और चारो ओरसे मुसलमान राज्योंके जालमें जकड़ा रहकर भी टिका रहा। चारो ओर मुसलमान राज्योंसे घिरा रहकर मेवाड़का राज्य आज बारहसौ वर्षोंसे कायम है पर कदाचित् इस बातमें मेवाड़की उतनी महत्ता नहीं है। मेवाड़की गद्दीके अधिकारियोंका अत्यंत विकट परिस्थितिमें भी शत्रुसे हार न मानकर कलबलसे उसका सामना करते रहनेके निश्चयपर सदा अटल रहना ही मेवाड़ राजकुलकी महत्ताका सच्चा कारण है। बाप्पा, खुमान, समरसी, भीम, हमीर, सांगा, प्रताप इत्यादिके चरित्र स्वतंत्रता देवीके विभिन्न तीर्थ सदृश हैं। इन वीर

पुरुषोंसे भारतका इतिहास पवित्र हुआ है* और मेवाड़ राज्य भी चिरस्थायी हो गया है।

इस वंशका आदि और अत्यन्त प्रसिद्ध पुरुष बाप्पारावल था। यह अत्यन्त पराक्रमी और विख्यात पुरुष हो गया है। सब महान् विभूतियोंकी तरह इसके चरित्रके विषयमें भी अनेक मनोरंजक और आश्चर्यजनक दन्तकथाएँ प्रसिद्ध हैं। टाड साहबने स्वतः राजस्थानमें भ्रमण कर, वहांके ऐतिहासिक स्थानों, उपलब्ध शिलालेखों और ताम्रपटोंका सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण तथा सर्वसाधारणमें प्रचलित दन्तकथाओंकी भी जांच पड़ताल करके अपना इतिहास लिखा है और वह है भी बड़े कामकी चीज़। यदि उन्होंने उन दन्तकथाओं और ताम्रपटोंका समीक्षापूर्वक उपयोग किया होता तो उनके इतिहासको अधिक विश्वसनीय रूप प्राप्त हुआ होता। पर उन्होंने प्रवीण इंजीनयरकी तरह इमारतकी मजबूतीकी ओर ध्यान न दे कर लोभी मनुष्यकी भांति उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्रीका उपयोग किया है। टाडको सामग्री एकत्र करनेकी ही धुन थी, वस्तुतः उसकी समीक्षा करनेका उन्हें अवकाश ही न था। इसके अतिरिक्त उनका मत अंग्रेज दार्शनिक ह्यूमके जैसा ही था।

टिप्पणी—यह बात याद रखनेकी है कि मेवाड़का राजकुल आज भी अपने स्वाभिमानकी रक्षा कर रहा है। मेवाड़के किसी भी राजपुरुषने मुसलमानी राजाके सामने माथा नहीं नवाया। मुगलोंके किसी भी दरबार में उनमेंसे कोई भी उपस्थित नहीं हुआ। ब्रिटिश शासनमें भी उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही जो उनके और ब्रिटिश अधिकारी दोनोंके लिए भूषणावह है। अभी १९११ ई० (वि० १९५७) के दिल्ली दरबारमें भी मेवाड़के राणाने अपनी पूर्व परम्पराके अनुसार उपस्थित होनेसे इनकार किया था और ब्रिटिश सरकारने भी उनकी परम्परा मान ली।

ह्यूमका कथन है कि कवि अपने काव्यको चटकीला बनानेके लिए वस्तुस्थितिका कितना ही विपर्यास कर डाले अथवा सत्यान्वेषणको परे रख कर अतिशयोक्तिसे कितना ही काम ले, फिर भी उसके मूलमें थोड़ा बहुत सत्यांश रह ही जाता है। यही बात दन्तकथाओंकी भी है। विशेषतः जब कवि ही राष्ट्रका इतिहासलेखक होता है तब उसके काव्यका कुछ न कुछ अधार अवश्य ही होता है।" ह्यूमकी इस उक्तिको मानकर हम भी उन सब दन्तकथाओंका विचार करेंगे। पर समीक्षाकी छलनीमें छानकर यह देख लेंगे कि उनमें दाना कितना है और भूसी कितनी है। दन्तकथाकी तरह बहुतसे शिलालेख और ताम्रपट भी छलनीमें पड़ने पर भूसी हो कर निकलेंगे। ताम्रपटपर खुद जानेसे ही कोई बात प्रामाणिक नहीं हो जाती, क्योंकि अविश्वसनीय और अतिरंजित वर्णन भी ताम्रपटपर लिखे जा सकते हैं। सत्यान्वेषणकी ऐसी खरी कसौटीसे टाडके काम न लेनेके कारण उनसे हमारा बहुत कुछ मतभेद होगा। टाडकी इमारतकी नींव चौडी है, पर गहरी नहीं है, इससे उनके कथन बहुत करके कमज़ोर ही रहेंगे। इसके अतिरिक्त इतिहासकारके लिए जो गुण सबसे अधिक आवश्यक है वह--पूर्वधारणाका अभाव—टाड साहबमें एक प्रकारसे है ही नहीं और इससे वस्तुस्तिथिका विपर्यास हो जानेकी बहुत संभावना है। इस दोषकी बात जाने दें तो यह बात कोई भी अस्वीकार न कर सकेगा कि टाडने जिस समय अपना इतिहास लिखा, उस समय खोजकी सामग्रीका बड़ा ही अभाव था और उसकी उचित दिशा भी निश्चित नहीं हुई थी। ऐसी दशामें भी टाडने सामग्री एकत्र करनेका जो कार्य किया है वह बड़े महत्वका है और राजपूतोंका प्राचीन इतिहास सन्दिग्ध रह जानेपर भी

मुसलमान शासनसे इधरका टाडने जो इतिहास लिखा है वह सदा ही प्रमाणभूत रहेगा।

पर इस समय भी ऐसा नहीं है कि सामग्री उपलब्ध हो और उसको यथास्थान रखना भर बाकी हो। मेवाड़ राजकुलका १२०० ई० (वि० १२५७) तकका विश्वसनीय इतिहास आज भी उपलब्ध नहीं है। इस समयके जो कुछ वृत्त मिलते भी हैं वे बहुत वेसिलसिले हैं और उनका अधिकतर भाग दन्तकथाओंके रूपमें ही है। आगे उत्तरोत्तर और भी नयी बात मालूम होती जायँगी और हम जो वेसिल-सिला वृत्तांत देने जा रहे हैं कदाचित् वह भी ग़लत ठहरे। पाठकोंको आरंभमें ही यह जता देना उचित है कि इस समयतक जो वृत्तान्त उपलब्ध है उसमेंसे असत्य और अतिशयोक्तिकी मिलावट निकाल कर बुद्धिग्राह्य इतिहास देनेका हम प्रयत्न कर रहे हैं।

मेवाड़ राजकुलका आदिपुरुष बाप्पारावल मानो हिन्दु-स्थानका चार्ल्स मार्टेल था। इन दोनों राजपुत्रोंके चरित्रमें अत्यधिक समानता है। दोनों ही समसामयिक थे। कार्य भी दोनोंका एक ही प्रकारका था। दोनोंने ही अपनी आयु अर-बोंके आक्रमणोंका प्रतीकार करनेमें खपायी। भिन्नता थी तो दोनोंके कार्यक्षेत्रमें। एक फ्रांसमें रहकर पूर्वसे आनेवाले मूरोंके आक्रमण विफल करता था, तो दूसरा भारतमें रहकर पश्चिमसे आनेवाले अरबोंके आक्रमणोंको रोकनेमें व्यस्त था। इसी तरह जैसे आस्ट्रियाका ड्यूक होनेसे चार्ल्स मार्टेल फ्रांसके सार्वभौम राजाका माण्डलिक था, उसी तरह बाप्पा-रावल भी चित्तौड़के मोरी राजाका माण्डलिक था। रावल माने छोटा राजा, डो० आर० भाण्डारकरके कथनानुसार

एक प्रकारका संन्यासी नहीं। "महाराज" शब्दका प्रयोग आज भी ब्राह्मण और साधु-संन्यासी दोनोंके लिए होता है। रावल शब्दका भी इसी प्रकार गौण रूपसे साधु-संन्यासीके लिए प्रयोग होता रहा होगा। पर महाराज शब्द जैसे मूलतः बड़े राजाका वाचक है, उसी तरह रावल शब्दका भी मूल अर्थ माण्डलिक राजा है। उदयपुरके उत्तरमें नागदा (प्राचीन 'नाग ह्रद') नामका जो छोटासा गाँव है, वहीं बाप्पारावल राज्य करता था। अरवली पर्वतकी घाटियों और उसमें बसे हुए भीलोंपर उसका शासन था। मूल (वल्लभी) वंशकी एक शाखा प्राचीन कालमें ईडरमें स्थापित हुई थी और फिर उससे कितनी ही उपशाखाएँ निकलीं। बाप्पारावलकी उपशाखा भी इसीमें है। मूल वल्लभी वंशकी ईडरवाली शाखा गुहिलसे चली, इसीसे वह गुहिलवंशके नामसे प्रसिद्ध हुई।

बाप्पारावलकी परिस्थिति शिवाजीसे भी मिलती है। शिवाजीकी तरह ही बाप्पारावल भी अतिशय स्वधर्माभिमानी था और उसे भी गोहिंसक अरबोंपर अत्यन्त क्रोध था। शिवाजीने जिस तरह पर्वतवासी मावलोंको अपना लिया था, उसी तरह बाप्पारावलने भी घाटी-तराइयोंमें रहनेवाले भीलोंको अपना बना लिया था। उन्हींकी सहायतासे उसने पहले पहल अरबोंका आक्रमण विफल किया। इस समयके आसपास हिन्दुस्थानमें अरबोंका खासा दबदबा था। सन् ७१२ ई० (वि० ७६९) में उन्होंने प्रथम बार सिंध प्रान्तमें प्रवेश कर उसे विजय किया और उसीको अपना केन्द्र बना दक्षिण तथा पूर्वकी ओर चढ़ाइयाँ करना आरंभ कर दिया। अरबोंके चित्तौड़के आक्रमणका एक ताम्रपत्रमें जो उल्लेख मिला है, वह प्रथम भागमें दिया जा चुका है। मरुप्रदेशमें प्रवास करनेका तो अरब

लोगोंको सदासे ही अभ्यास था, इसीसे चित्तौड़पर बारम्बार आक्रमण करना उनके लिए बड़ा ही सुगम था। अतः उन्होंने चित्तौड़को बराबर तंग करना आरंभ कर दिया। उपर्युक्त लेख—नवसारी चालुक्य लेख—में बताया गया है कि अरबोंने कच्छ चावोटक और मौर्योंपर (अवश्य ही ये चित्तौड़के ही मौर्य होंगे) आक्रमण किया। अस्तु, वाप्पारावल कट्टर शिवोपासक और नागदा प्रांतमें रहनेवाले हारीत नामक शैव साधुका शिष्य था। अचलगढ़ और अन्य स्थानोंके शिलालेखोंमें लिखा है कि "वाप्पाकी निस्सीम भक्ति देखकर हारीत स्वामीने भविष्यद्वाणी की थी कि यह अतिशय विख्यात पुरुष होगा। उन्होंने उसे सार्वभौमत्व सूचक होनेके कड़े दिये।" इस लेखसे हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि हारीत ऋषिने शिष्यमें महानताके लक्षण देख उसे चित्तौड़-नरेशकी सेनामें भरती होकर मूर्ति-भञ्जक और गोहिंसक म्लेच्छोंको कुचलनेका उपदेश दिया होगा। इस उपदेशके अनुसार वाप्पा चित्तौड़ गया होगा और वह चित्तौड़का सामन्त तो था ही, अतः मौर्य नरेशने अपनी कुछ सेनाका नायकत्व देकर अरबोंका आक्रमण व्यर्थ करनेका काम उसे सौंप दिया होगा।

जिस तरह पराक्रमी चार्ल्स मार्टेल आगे चलकर पेरिसका मेयर हुआ, उसी तरह वाप्पारावलको भी धीरे धीरे सेनापतिके अधिकार सौंपे गये होंगे। चार्ल्स मार्टेलकी तरह ही वाप्पाको भी एक प्रचण्ड युद्धमें अरबोंपर विजय प्राप्त हुई। इस विजयसे वाप्पा अतिशय विख्यात हो गया और फिर कालक्रमसे उसे चित्तौड़का सार्वभौम पद प्राप्त हुआ। इस विषयमें कितनी ही आख्यायिकाएँ हैं। एक आख्यायिका इस तरहकी है कि चित्तौड़के सब सरदारोंने अपने राजाके विरुद्ध विप्लव कर दिया

और उसे पदच्युत कर बाप्पाको चित्तौड़के सार्वभौम पदपर आसीन किया। इस कथाका सत्य होना संभव है। चार्ल्स मार्टेलके पेपिन नामक पुत्रने भी अपने नाममात्रके सार्वभौम राजाको इसी तरह पदच्युत कर उसके सब अधिकार अपने हाथमें कर लिये। संभव है, अरबोंको पछाड़नेके कारण बाप्पाके मनमें भी इसी तरह महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई हो और उसने सार्वभौम पद छीन लिया हो। परन्तु बाप्पारावलकी धर्मश्रद्धाका विचार करनेसे इस बातकी बहुत ही कम संभावना दिखाई देती है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि चित्तौड़-राजकी मृत्युके समय उसको कोई सन्तान या उत्तराधिकारी न रहा होगा और मराठोंके शाहूजीने ऐसी ही स्थितिमें जिस तरह अपना अधिकार पेशवाको सौंप दिया, उसी तरह उसने भी अपना अधिकार बाप्पाको दे दिया होगा। जो हो, इतनी बात अवश्य निश्चित है कि इसके बाद मौर्यकुलका राज्य लुप्त हो गया और गुहिलोत वंशका राज्य चित्तौड़में स्थापित हुआ, जो आजतक अव्याहत रूपसे चला आ रहा है। फ्रांसमें जिस तरह चार्ल्सके पोते चार्ल्स दि ग्रेटने मार्टेल वंशकी स्थापना की, उसी तरह राजपूतानेमें बाप्पाने चिरन्तन गुहिलोत वंशकी स्थापना की। आगे चलकर इसी वंशकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गयीं और आज इस वंशवालोंकी संख्या एक लाखसे भी अधिक है।

चार्ल्स मार्टेल थोड़े ही दिन जीवित रहा, पर बाप्पारावलने बड़ी लम्बी आयु पायी थी। उसने अनेक स्त्रियोंसे विवाह किया और उनसे उसे लड़केबच्चे भी बहुतसे हुए। वह इतने दिन जीवित रहा कि राज्यकार्यसे ऊब गया और अंतको सब अधिकार युवराजको देकर शिवोपासक संन्यासी हो गया। टाडका

कहना है कि उत्तर-वयमें वह संभवतः ईरान गया और वहा विवाहादि कर राज्य-स्थापन किया। परन्तु एकलिंग मंदिर-वाले शिलालेखको देखने * और वाप्पाकी धर्मनिष्ठापर ध्यान देनेसे उसका संन्यासग्रहण ही अधिक संभव जान पड़ता है।

अब वाप्पारावलके जन्म-संवत्का तथा इस बातका विचार करना चाहिये कि वह कब चित्तौड़के सिंहासनपर आसीन हुआ और उसने कब राज्य त्याग किया। दन्तकथादिके विचारसे तो ८२० वै० अर्थात् ७६३ ई० वाप्पाके अधिकार-त्यागका वर्ष ठहरता है और यह चित्तौड़के मान मौर्यके शिला-लेखसे बहुत मेल खाता है (देखिये टाड जिल्द २ मानमौर्यके लेखमें दिया हुआ संवत् ७७० = ई० ७१३)। मान मौर्यकुलका अन्तिम पुरुष समझा जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वाप्पारावलका राज्यकाल ७१३ ई० से ७६३ ई० (वि० ७७०-८२०) के बीच किसी समय आरम्भ हुआ। अन्दाजन यह समय ७३० ई० (वि० ७८७) होगा। टाडने मेवाड़में प्रचलित दन्तकथाके अनुसार यह काल ७२८ ई० (वि० ७८५) लिखा है (टाड—क्रुकका संस्करण, भाग १, पृष्ठ २८५)। यह निश्चित है कि अरबोंने ७१२ ई० (वि० ७६६) में सिंध प्रान्त स्वाधिकृत किया। इसके बाद ही उन्होंने राजपूतानेपर आक्रमण किया। मौर्य राज्यपर उनके आक्रमणका समय ७३८ ई०

* यह बात हम उस शिलालेखके इन दो श्लोकोंके आधारपर लिख रहे हैं—

हारीतराशि-वचनाद्वरमिन्दुमौले रासाद्य स द्विजवरो नृपतिर्बभूव।
पर्यग्रहीन्नृपसुताः शतशः स्वशक्त्या जैपीश्च राजकमलां सकलां बुभोज॥
दत्वा महीमध्वगुणाय सूनवे नवेन्दुमौलिं हृदि भावयन्नृपः।
जगाम वाप्पः परमेश्वरं महो महोदयं योगयुजामसंशयम्॥

(वि० ७९५) के पूर्व ही मानना चाहिये, क्योंकि इसी वर्षके नवसारीवाले शिलालेखमें इस आक्रमणका उल्लेख है। सारांश यह कि बाप्पारावलका राज्यारोहण-काल ७३० ई० (वि० ७८७) मानना अनुचित नहीं हो सकता। अतः मोटे हिसाबसे उसका राज्यकाल ३३ वर्ष रहा होगा। राज्यारोहणके समय बाप्पाका वयोमान क्या था, इसका निश्चय करना थोड़ा कठिन है। राज्याभिषेकके समय उसकी उम्र ३० वर्षसे कम मानना असंभव है और इस हिसाबसे उसका जन्माब्द ई० स० ७०० (वि० ७५७) ठहरता है। पुरानी दन्तकथाओं और मेवाड़के गुहिलोतोंकी दृढ़ धारणाके आधारपर बाप्पाका जन्माब्द वि० १९१ कहा जाता है। टाडने भी इसी धारणाका अनुवाद किया है। वे कहते हैं कि मेवाड़के भाट और खुद तत्कालीन महाराणा भी इस संवत्को छोड़नेको तैयार नहीं हैं (टाड—क्रुकका संस्करण भाग १, पृष्ठ २६८)। अतः जैसा कि ऊपर बताया गया है, मौर्य आदिके लेखोंसे निकलनेवाले ७०० सन् और दन्तकथामें कहे गये १९१ संवत्, इन दोनोंका मेल कैसे बैठाया जाय, टाडके पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकोंके लिए यह एक विकट प्रश्न था और टाडने उसे हल करनेका प्रयत्न भी किया है। टाडके कथनानुसार वलभी राजवंशका उच्छेद ५२४ ई० (वि० ५८१) में हुआ होगा और उसी सालसे नवीन अब्द-गणना प्रारंभ हुई होगी। परन्तु शिलालेखादिसे हमें यह बात निश्चित रूपसे मालूम है कि वलभी वंशका अन्तिम पुरुष ७६६ ई० (वि० ८२३) तक जीवित था, क्योंकि उस वर्षकी उसकी दी हुई सनद उपलब्ध है। ऐसी दशामें यही कहना पड़ेगा कि टाडका दिया हुआ संवत् ठीक नहीं है। नवीन संवत्-स्थापना-का काल वलभी वंशके उच्छेदके समयसे न मानकर उस

वंशकी संस्थापनाके समयसे माना जाय तो १६१ संवत् और ७०० ई० की संगति बैठ सकती है। भट्टार्कने ५०६ ई० (वि० ५६६) में वलभी राजवंशकी स्थापना की (वंशावली भाग १, पृष्ठ २५०)। ५०६ में १६१ जोड़नेसे ७०० होता है और इस प्रकार बाप्पारावलका जन्माब्द ७०० ई० (वि० ७५७) सिद्ध होता है। वलभी वंशकी ईडरकी शाखाने भट्टार्कके स्मरणमें उसके राज्य-संस्थापन-कालसे संवत्-गणना प्रारंभ की होगी और तभीसे इस संवत्का प्रचार हुआ होगा। प्रसिद्ध पुरुषोंके सम्मानार्थ नया संवत् चलानेकी प्रथा भारतवर्षमें सर्वत्र दिखाई देती है। इस रीतिसे विचार करनेसे ही दन्तकथा-वर्णित और समीक्षासे निश्चित संवत्की संगति बैठती है।

अब इतना ही और कहना शेष है कि हमारे मतसे बाप्पा एक ही व्यक्तिका नाम है। बाप्पा शब्दका "बाबा"—साधु-संन्यासी और पिता दोनों ही अर्थ हो सकते हैं और इसी दूसरे अर्थसे बाप्पाका मतलब गुहिलोत वंशका मूलपुरुष निकल सकता है, फिर चाहे वह हमारे कथनानुसार बाप्पा नामका व्यक्तिविशेष हो अथवा खुमान आदि वीर पुरुषोंका विशेषण हो क्योंकि नेपाल आदिके शिलालेखोंमें बाप्पा शब्दका प्रयोग मूलपुरुषके अर्थमें किया गया है (उदाहरण—"बप्प पादानुध्यात")। फिर भी अपने कथनकी यथार्थताका विचार हम एक स्वतंत्र टिप्पणीमें करनेवाले हैं। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि बाप्पा शब्दका व्यक्तिवाचक प्रयोग पूर्वकालमें प्रचलित था। उदाहरणार्थ—उस समयके एक जैन आचार्यका नाम बप्पभट्टी प्रसिद्ध है और तत्कालीन शिलालेखोंमें 'बप्पार्य' नामका उल्लेख मिलता है। बगुम्राकी सनदमें (ई० स० ६५५, वि० ७१२) दूतका नाम श्रीवल्लभ बाप्पा दिया गया है।

दूसरा प्रकरण।

बाप्पाके पीछेके राजा।

बाप्पा द्वारा स्थापित चित्तौड़का गुहिलोत राजवंश जगत्के इतिहासमें अत्यन्त विख्यात है। बाप्पाके समय (सन् ७३० या वि० ७८७) से आजतक अर्थात् कोई १२०० वर्षसे यह राजवंश बराबर कायम है। इस वंशका स्थान भी आजतक वही है, अन्तर इतना ही हुआ है कि इसकी राजधानी अब चित्तौड़ न होकर उदयपुर है। पर चित्तौड़ आज भी इसीके अधिकारमें है। इससे भी अधिक आश्चर्य और कौतुककी बात यह है कि इस वंशके सभी राजपुरुष एकसे वीर्यशाली, प्रजाहितैषी और स्वातंत्र्यप्रेमी हुए हैं। कठिनसे कठिन विपत्तिमें भी इन्होंने एकनिष्ठतासे अपने धर्मका पालन किया है। ये सब राजा अपनेको दशरथात्मज श्रीरामचन्द्रके वंशज कहते कहाते हैं और रामचन्द्रके चरित्र और विरुदका इन्हें बड़ा अभिमान भी है। इसी प्रकार इस वंशके आदिपुरुष बाप्पाके विषयमें भी, जिसने अपनी धर्मशीलता, स्वातंत्र्यप्रियता और शूरताकी बदौलत बड़प्पन पाया, सबको भारी अभिमान रहता आया है। चित्तौड़गढ़ और अचलेश्वरके लेखोंमें* बाप्पाकी जो बड़ाई गायी गयी

---

* शंकरमें बाप्पाकी एकनिष्ठ भक्ति देखकर उसे हारीतने सार्वभौमत्वसूचक सोनेका कड़ा दिया था, इसका उल्लेख नीचे उद्धृत लेखमें पाया जाता है— :

संप्राप्ताद्‌भुतमेकलिङ्ग-चरणाम्भोज-प्रसादात्फलम्
यस्मै दिव्य सुवर्णपादकटकं हारीतराशिर्ददौ। (आगे दे०

है, वह सर्वथा यथार्थ है। इसी प्रकार जगह जगह जो गुहिलोत वंशका प्रशंसापूर्ण उल्लेख† पाया जाता है वह भी उचित ही है।

इस कुलकी परस्पर भिन्न अनेक वंशावलियाँ मिलती हैं। इससे वाप्पाके वंशजोंका सिलसिला बैठाना कठिन पड़ रहा है। हालमें आटपुरामें एक लेख मिला है। उसमें तो यह वंशक्रम और भी भिन्न रूपमें मिलता है। इस लेखका पता टाडको भी था। परन्तु हालमें मिले हुए लेखकी सूची टाडकी दी हुई सूचीसे बहुत भिन्न है। पुराने लेखमें दिये हुए राजाओंकी संख्या—पृथ्वीराजके समकालिक समरसिंहतक—

वाप्पाख्यः स पुरा पुराणपुरुषप्रारंभ निर्वाहनात्-
तुल्योत्साह गुणो बभूव जगति श्रीमेदपाटाधिपः।

तथा च— (भा० ले० पृष्ठ ७५)

हारीतात्किल वप्पकोऽव्रिवलयं व्याजेन लेभे महः
क्षात्रं धातृ निभाद्वितीयं मुनये ब्राह्मं स्वसेवाच्छलात्।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वाप्पा ब्राह्मण और हारीत क्षत्रिय थे। कविका आशय यह है कि वाप्पाकी एकलिंग (शिव)-भक्ति ब्राह्मणके उपयुक्त थी और हारीत मुनिसे उसे जो प्रसाद प्राप्त हुआ वह क्षत्रियके अनुरूप था।

† गुहिलोत वंशका बड़प्पन निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रकट है—

यद्वंशो गुहिलस्य राजभगवन्नारायणः कीर्त्यते,
तत्सत्यं कथमन्यथा नृपतयस्तं संश्रयन्तेतराम्।
मुक्तेः कल्पितचेतसः करतलव्यासक्तदण्डोज्ज्वलाः
प्राणत्राणाधियः श्रियः समुदयैर्न्यस्तापहस्ताः सदा।
एतेऽद्यापि महीभुजः क्षितितले तद्वंशसंभूतयः
शोभन्ते सुतरामुपात्तवपुषः क्षात्राहि धर्मा इव।

—भावनगर इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ८५।

तीस है। इस संख्याके अनुसार प्रत्येक राजाका औसत राज्य-काल (१२००-७३० = ४७०) १५ वर्ष ठहरता है, और यह औसत बहुत कुछ संभव दिखाई देता है। परन्तु नये आटपुरा-लेखके अनुसार बाप्पासे शक्तिकुमारतक बीस ही राजा होते हैं। ९७७ ई० (वि० १०३४) के एक लेखमें शक्तिकुमारका उल्लेख मिला है। इस हिसाबसे प्रत्येक राजाके राजत्व-कालका औसत ११ वर्ष पड़ता है। वैसे देखनेमें यह औसत तनिक कम संभव जान पड़ता है, पर हमें साथ साथ उस समयकी परिस्थितिका भी विचार करना चाहिये और ऐसा करनेसे आटपुरावाले लेखमें वर्णित अनुक्रम भी ठीक ठहर सकता है। वह समय शांतिका न था। अरबोंने सिंध प्रान्त स्वाधिकृत कर लिया था और उनके आक्रमणपर आक्रमण हो रहे थे। इस कारण क्षत्रिय वीरोंको धरातीर्थमें बारम्बार प्राण विसर्जन करना पड़ता था। यहांतक कि अल्लट, नरवाहन, शालिवाहन और शक्तिकुमार—इन चारोंका सम्मिलित राज्य-काल २६ वर्ष (१००८ से १०३४ वै०) बताया गया है। इस रीतिसे विचार करनेसे नवोपलब्ध "आटपुरा-लेख" भी प्रामाणिक माना जा सकेगा।

इस नवोपलब्ध लेखकी एक उपपत्ति और भी हो सकती है। वह इस प्रकार होगी—टाडने अपनी सुचीके सम्बन्धमें यह अनुमान बाँधा है कि इस सूचीमें अनुक्रमपूर्वक दिये हुए राजाओंके नाम किसी एक शाखाके नहीं हैं, किन्तु अनेक शाखाओंके समकालिक राजाओंके हैं। गुहिल वंशकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होनेकी बात हमें चित्तौड़गढ़के लेखसे मालूम ही है; उन अनेक शाखाओंमें इस सूचीमें दिये हुए नामोंको बाँटकर प्रत्येक शाखाके समकालिक राजाका राज्यकाल

निकाल सकते हैं । जो हो, तत्काल बाप्पाके वंशजोंका क्रम और उनका राज्यकाल निश्चयपूर्वक स्थिर करना संभव नहीं है । फिर भी हम चित्तौड़गढ़ और अचलेश्वरके लेखोंके अनुसार यह क्रम स्थिर करते हैं। नवीन आटपुरा-लेखमें शील और अपराजित नामक राजाओंका उल्लेख मिलता है। पर इन दोनोंके ही सातवीं शताब्दीके लेख पाये गये हैं। इससे अनुमान होता है कि शील और अपराजित बाप्पाके पूर्वज थे। पर उनके भी नाम बाप्पाके अनुवंशजोंमें आ गये हैं।

बाप्पाके बाद मेवाड़की गद्दीपर गुहिल बैठा। इसका सारा समय शत्रुसे लड़नेमें ही बीता। मध्ययुगके सभी राजाओंको अरबोंसे लोहा लेना पड़ता था। इस समय अरबोंके आक्रमणों और राजपूतोंके प्रत्याक्रमणोंका ऐसा ताँता बँधा कि उस प्रदेशकी धरती रक्तमांसमय हो गयी और फलतः उसे मेदपाट * (प्राकृत मेवाड़) का अन्वर्थक नाम प्राप्त हुआ। मेदपाट नाम कुछ अतिशयोक्ति-सूचक जान पड़ता है सही, पर वह हमें बताता है कि उस समय अरबों और राजपूतोंमें कैसा विकट संग्राम मचा हुआ था। अस्तु, गुहिलने बाप्पारावलसे निकली शाखाको अपने नामसे चलाया और यह शाखा गुहिलोत नामसे प्रसिद्ध हुई। [गुहिलोत = संस्कृत गुहिलपुत्र; ओत (पुत्त) प्रत्यय राजपूतानेमें वंशजके अर्थमें प्रचलित है।]

गुहिलके बाद भोज सिंहासनासीन हुआ और इसके बाद शील। इन दोनोंको भी अरबोंसे गहरा युद्ध करना पड़ा। पर इनके बाद चित्तौड़की गद्दी प्राप्त करनेवाले कालभोजको उनसे अति कठिन संग्राम करना पड़ा। कालभोजके

* मेदः क्लेदभरेण दुर्जनजनस्याप्लावितः संगरे । मेदपाटाभिधः

पश्चात् उसका पुत्र भर्तृपट्ट राजा हुआ। भर्तृपट्टके बाद सिंह-राजको गद्दी मिली। इन सबका राज्यकाल भी शत्रुसे युद्ध करनेमें ही बीता और ये सभी एक सदृश रनबांकुरे भी निकले। सिंहके बाद उसका पुत्र महायक और महायकके पश्चात् खोम्माण (खुमान) को राजगद्दी मिली। प्राचीन शिलालेखोंमें खोम्माणके पराक्रमका विशेष वर्णन मिलता है। आटपुरावाले लेखमें दो और खोम्माणोंका उल्लेख किया गया है। इनमेंसे एक संभवतः कालभोजका पुत्र था, दूसरा सिंहराजका। अब प्रश्न यह है कि किस खोम्माणके राज्यकाल-में अधिक युद्ध होना संभव है। टाडने खोम्माण रासा (खुमान रासो) नामक काव्यग्रंथके आधारपर बताया है कि इस युद्धमें कौन कौन राजा चित्तौड़की ओरसे लड़े थे। साथ ही उन्होंने मुसलमानोंके विभिन्न आक्रमणोंका भी हाल दिया है। उनके विचारसे यह आक्रमण ईसाकी नवीं शताब्दीके प्रारंभमें ही हुआ जान पड़ता है। बाप्पारावलसे (अर्थात् ७६४ ई० से) लगाकर इस चढ़ाईतक (अनुमानतः ८२५ ई० तक) का काल मोटे हिसाबसे ६१ वर्ष ठहरता है। इतने समयमें पाँच राजाओंका हो जाना सर्वथा स्वाभाविक बात है। अचलेश्वर आदिके लेखोंमें बाप्पासे महायकतक जितने राजाओंके नाम दिये हैं, आटपुरावाले लेखमें उनसे अधिक नाम पाये जाते हैं (देखिये इंडियन एंटिक्वेरी भाग ३९, पृष्ठ १९१)। और इस नवीन लेखके अनुसार ८२५ ई० (वि० ८८२) के लगभग कालभोजका पुत्र खोम्माण ही राजा था; फलतः उसीका अरबोंके साथ घोर संग्राम होना सिद्ध होता है।

खोम्माण रासाका अवलोकन अभीतक हम नहीं कर सके हैं, इस कारण यह निर्णय नहीं कर सकते कि इतिहासकी

दृष्टिसे उसकी प्रामाणिकता और महत्व कितना है। इस काव्यमें बताया गया है कि चित्तौड़के रक्षार्थ कौन कौनसे राजा आये थे। परन्तु ऐसे ग्रन्थोंके वर्णन कहांतक विश्वसनीय होते हैं, यह सदा ही शंका और वादका विषय बना रहता है। कवि जिस समय काव्य लिखता है उस समयतक अपनी जानी हुई समस्त जातियोंका वह उसमें समावेश करता है। इसीसे ऐतिहासिक दृष्टिसे काव्य-ग्रन्थ गौण माने जाते हैं। होमरने भी अपने इलियड नामक काव्यमें अनेक स्थानोंमें समस्त ग्रीक जातियों और वीरोंका उल्लेख किया है। इससे यह जाना जा सकता है कि होमरके समयमें अमुक अमुक जातिका अस्तित्व था। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ट्रोजनकी लड़ाईके समय वे सब जातियाँ विद्यमान थीं। अस्तु, खोम्माण रासासे इतना आभास अवश्य मिलता है कि बहुतसी राजपूत जातियोंने चित्तौड़की ओरसे अरबोंके साथ युद्ध किया होगा। महमूद गज़नवीके भारतपर चढ़ आने पर तथा पृथ्वीराज और शहाबुद्दीनके संग्राममें भी राजपूतोंने इसी प्रकार मिलकर मोरचा लिया था।

तीसरे खोम्माणके अनन्तर अल्लट नामक अत्यन्त पराक्रमी पुरुष गद्दीपर बैठा। इसकी माताका नाम महालक्ष्मी था, जो मूलतः राष्ट्रकूट वंशकी थी।* अल्लटके पीछे उसका पुत्र नरवाहन राजा हुआ। इसका एक अलग लेख मिला है।

* इस विषयमें ८६६ ई० के निलगुंदवाले लेखमें यह उल्लेख मिलता है कि अमोघवर्षने गूजर (कन्नौज) को जीत लिया और चित्रकूट दुर्गके राजाको परास्त किया। इससे जान पड़ता है कि उस समय चित्तौड़की गणना प्रबल राष्ट्रोंमें होती होगी और दक्षिणके राष्ट्रकूट राज्यसे उसका युद्ध हुआ होगा।

इसमें इतना ही लिखा है कि अल्लटकी माताका नाम महालक्ष्मी था, उसके पितृकुलके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है। इससे अनुमान होता है कि वह खोम्माण अथवा आटपुरावाले लेखके निर्देशानुसार भर्तृपट्टका पुत्र होगा। अल्लटके पुत्र नरवाहनके पीछे शक्तिकुमार राजा हुआ। परन्तु आटपुरा-लेखमें बताया गया है कि नरवाहन और शक्तिकुमारके बीच शालिवाहनने राज्य किया था। प्रस्तुत आटपुरालेख शक्ति-कुमारके समयका है और इसमें लेखका काल वि० १०३४ अर्थात् ९७७ ई० दिया हुआ है। शक्तिकुमारके अनन्तर शुचि-वर्मा राजा हुआ। इसका वि० १०३८ का शिलालेख मिला है। चित्तौड़के लेखमें नरवाहन तकके राजाओंके नाम दिये हुए हैं। अचलेश्वरवाले लेखमें समरसिंह (१३३८ वै०) तकके राजा-ओंकी ही वंशावली दी हुई है। अस्तु, इस भागमें हम शुचिवर्मातकका इतिहास देते हैं। शुचिवर्माके बादके राजाओंके तथा राजपूतानेपर महमूद गजनवीकी चढ़ाईके समय चित्तौड़की गद्दीपर कौन राजा था, इस विषयमें हम आगे चलकर लिखेंगे।

गुहिलोत वंशकी वाप्पारावलसे शक्तिकुमार तककी वंशावली देकर और तुलनाके लिए मेवाड़ गजेटियरमें दी हुई राजाओंकी क्रमिक नामावली उद्धृत कर तथा अपने कथनके स्पष्टीकरणके लिए कुछ टिप्पणियाँ देकर हम इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

टिप्पणी—१. गुहिलोतोंकी वंशावली।

डी० आर० भांडारकर लिखित "इंडियन ऐंटिक्वेरी" जिल्द ३९, पृष्ठ ८८ और मेवाड़ गजेटियरमें भिन्न भिन्न लेखोंमें वर्णित गुहिलोत वंशावली इस प्रकार दी हुई है—

आटपुराका लेख (सं० १०३४)	अचलगढ़का लेख (सं० १३४२)	वाणपुराका लेख (सं० १४०९)	ईसवी सन्
गुहादित्य	वाप्पा-राजसंन्यास सं० ८२०	वाप्पा	७६३
१ गुहिल	गुहिल	गुहिल	
२ भोज	भोज	भोज	
३ महेन्द्र	...	...	
४ नाग	...	...	
*५ शील	शील	शील	
*६ अपराजित	...	...	
७ महेन्द्र (दूसरा)	...	...	
†८ कालभोज	कालभोज	कालभोज	
†९ खोम्माण	...	...	८३६

* वि० ७०३ का एक लेख मिला है जिसमें उक्त नाम आया है। पर हमारा खयाल है कि उक्त लेखमें उल्लिखित राजा यह नहीं है।

† भांडारकर आदिका यह मत है कि कालभोज अथवा खोम्माण इन्हीमेंसे कोई वाप्पा था और कालभोजसे ही यह वंश चला। ऐसा माननेका कारण वे यह बताते हैं कि गुहादित्यसे इस वंशका आरंभ माननेसे सं० ८१० से १०३४ वि० तक कुल बीस राजा हो जाते हैं, इस प्रकार प्रत्येकका औसत राज्यकाल अधिकसे अधिक दस वर्ष ही पड़ता है। और खोम्माणको ही वाप्पा मान लेनेसे प्रत्येक राजाका राज्यकाल २० वर्ष निकलता है (वि० १०३४ —८१० = २२४ = २० वर्ष), परन्तु यह औसत ठहरानेमें कितने ही पूर्वजोंको छाँट देना पड़ता है; गुहिल, भोज, शील और कालभोजका लोप कर देना पड़ता है। अचलगढ़वाले लेखमें वाप्पाके पश्चात् इन राजाओंके नाम मिलते हैं। इससे इन राजाओंका होना ही अधिक संभव है। नरवाहनका लेख तो इससे भी अधिक प्राचीन है। उसमें भी वाप्पाका नाम पाया जाता है। ऐसी दशामें कुछ

१० महायक	...	..	
११ भर्तृपट्ट	...	..	
१२ सिंह	सिंह.	सिंह	
१३ खोम्माण (दूसरा)	...	...	
१४ महायक	महायक	महायक	
१५ खोम्माण (तीसरा)	खोम्माण	खोम्माण	
१६ भर्तृपट्ट (दूसरा) (इसकी रानी महालक्ष्मी राष्ट्रकूट वंशकी थी)			९३६
१७ अल्लट वि० १००८	अल्लट	अल्लट	९५१
१८ नरवाहन (सं० १०२८)	नरवाहन	नरवाहन	९७१
१९ शालिवाहन	...	...	
२० शक्तिकुमार (सं० १०३४)	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	९७७
२१ शुचिवर्मन (सं० १०३८)			९८१ से १००० तक

राजाओंके नाम बाद कर और राजाओंका कार्यकाल बढ़ाना अनुचित है। सब राजाओंका कार्यकाल अल्प होना भी संभव है। यह भी हो सकता है कि आटपुरावाले लेखमें तत्कालीन भिन्न-भिन्न शाखाओंकी वंशावली एक ही जगह दी गयी हो। दोनों ही बातें संभव हैं। पहलीका कारण उस समय राजपूतानेपर बारंबार अरबोंका आक्रमण होते रहना है। दूसरे अनुमानका आधार आटपुरावाले लेखमें शालिवाहनका नाम पाया जाना है, क्योंकि चित्तौड़की वंशावलीमें शालिवाहनका नाम आना संभव नहीं है। शालिवाहनकी राजधानी आटपुरा थी। आटपुराके राजा चित्तौड़की ही शाखाके होंगे और इस कारण उनके नाम भी चित्तौड़की वंशावलीमें दिये गये होंगे। केवल अचलगढ़वाले लेखको ही आधारभूत मानें तो ८१० वै० से १०३४ तक अर्थात् बाप्पासे लगाकर शक्तिकुमार तक ११ ही

टिप्पणी—२. क्या गुहिलोत मूलतः विदेशी अनार्य थे ?

श्रीयुत डी० आर० भाण्डारकरने गुहिलोत वंशके पूर्वेतिहासपर एक निबंध लिखा है (बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी-न्यूसिरीज, जिल्द १, पृष्ठ १६७ से १८७ तक)। उसमें उन्होंने कहा है कि मेवाड़के गुहिलोत राजवंशका मूलपुरुष गुहदत्त नामका नागर ब्राह्मण था। वह मूलतः बड़नगरका निवासी और मेर जातिका था। "वास्तवमें देखा जाय तो वलभीके मैत्रक और नागर लोगोंका मूल निवासस्थान भारतवर्ष था। छठी शताब्दी (वि० ५५८-६५७) के आरंभमें, गुर्जर लोगोंकी तरह, उन्होंने हूणोंके साथ भारतमें प्रवेश किया।" इस भ्रमोक्ति द्वारा श्री भाण्डारकरने तीन उच्चतम जातियोंको नीचे गिरानेकी बड़ाई प्राप्त की है। जो गुहिलोत वंश समस्त भारतमें विशुद्ध क्षत्रिय कहाकर सम्मानित हो रहा है, उसको उन्होंने जातिमें हीन ठहरा दिया, उसके पूर्वजों अर्थात् वलभी वंशको विदेशी करार दे दिया और ब्राह्मणोंकी एक श्रेष्ठ उपजाति-नागर ब्राह्मणोंको मेर अर्थात् अनार्य बना दिया। इस प्रकार इस उक्तिसे एक साथ तीन शाखाओंपर आक्रमण होनेके कारण उसके औचित्यका विचार करना आवश्यक हो रहा है।

पहले यह देखना है कि भाण्डारकर महोदयकी दलील क्या है। फिर इसका विचार किया जायगा कि वह कहाँतक साधार और तर्कसिद्ध है। भाण्डारकरकी कल्पनाका आधार इस प्रकार है—"अलीनाके लेखमें कुछ प्रतिगृहीता (दान लेनेवाले) नागर ब्राह्मणोंके नाम दिये हैं। इन नामोंके अन्तमें 'मित्र' अल्ल लगा हुआ है।" बस यही देखकर आपने मान

राजाओंके नाम मिलते हैं। इस प्रकार प्रत्येकका राज्यकाल मोटे हिसाबसे बीस वर्ष निकलता है।

सार यह कि 'बाप्पा' खोम्माणका उपनाम होना संभव नहीं, हाँ वह पहले ही लेखमें उल्लिखित गुहादित्यका उपनाम हो सकता है। आटपुरा वाले लेखमें उपशाखाका नाम भी दिया जाना संभव है, अतः साधारण प्रकारसे अचलगढ़वाले लेखका क्रम ही अधिक विश्वसनीय सिद्ध होता है।

लिया कि 'मित्र' अल्लवाले नाम नागर ब्राह्मणोंके ही होते हैं और इस आधारपर यह अनुमान कर लिया कि चूँकि वलभीके राजा मैत्रक कहाते हैं इसलिये वे नागर ही होंगे, नहीं तो एक ही "मित्र" शाखाके विभाग तो अवश्य ही होंगे (पृष्ठ १८३)। उन्होंने फिर इस अनुमानके सहारे यह तर्क भिड़ाया है कि "चूँकि मित्र और मिहिर दोनों ही सूर्यके पर्याय हैं इसलिये मैत्रक और मिहिर एकही होंगे अर्थात् मैत्रक और मिहिरका मेर अथवा 'मह्र' (मर्ह) लोगोंकी ही एक उपजाति होना सिद्ध होता है। मैत्रक (अर्थात् वलभी) वंशका अभ्युदय सन् ५०० ई० (वि०५५७) के लगभग—अर्थात् जिस समय हूण लोग भारतमें प्रवेश कर उसे जीत रहे थे उस समय—हुआ, इससे प्रतीत होता है (निश्चय नहीं) कि गुर्जरोंकी तरह मैत्रक लोग भी एक विशिष्ट विदेशी जाति होंगे और उन्होंने हूणोंके साथ ही भारतवर्षमें प्रवेश किया।" "पहले यह तरीका था कि जो विदेशी लोग भारतमें बस जाते थे उनके पुरोहित ब्राह्मण और क्षात्रवृत्तिवाले लोग क्षत्रिय मान लिये जाते थे। इसी प्रथाके अनुसार गुहिलोत लोगोंको, जो मूलतः विदेशीय मेर थे, इस देशमें बसने पर इस देशके लोग क्षत्रिय मानने लगे।" संक्षेपमें भाण्डारकरका आशय इस प्रकार है—नागर ब्राह्मण मूलतः मित्र अर्थात् मेर जातिके विदेशीय लोग थे। गुहिलोत वंशका मूलपुरुष नागर था अतः यह वंश विदेशीय सिद्ध होता है। गुहिलोत वंशको वलभी वंशकी शाखा मानें तो भी वह विदेशी ही सिद्ध होता है, क्योंकि वलभी वंशके राजा अपनेको मैत्रक कहते हैं और इससे उनका सम्बन्ध मेर लोगोंसे सिद्ध हो ही गया। इस प्रकार चाहे गुहिलोत वंशका आदिपुरुष नागर ब्राह्मण माना जाय, और चाहे गुहिलोत वंशकी उत्पत्ति वलभीके मैत्र वंशसे मानी जाय, दोनों ही अवस्थाओंमें गुहिलोतोंके पूर्वज मेर नामके विदेशी लोग ही सिद्ध होते हैं।

अंग्रेजी तर्कशास्त्रमें जिसे डायलेमा कहते हैं, उसी तरहका तर्क उपस्थित कर भाण्डारकरने अपने मतका समर्थन करनेका यत्न किया है। इस तर्कमें दो पक्ष अथवा विकल्प हैं। पर चाहे जिस पक्षका अवलम्बन किया जाय सिद्धान्त एक ही निकलेगा। ऐसी तर्कप्रणाली सदा ही

सदोष नहीं हुआ करती, दोष बहुधा प्रमाणमें ही मिलेगा। विकल्पकी किसी एक प्रतिज्ञाको सदोष ठहराना है, अतः पहले अनुमानके एक हा प्रमेयपर विचार करते हैं। अनुमानका प्रथम प्रमेय तो सदोष है ही। गुहिलोत वंशके मूलपुरुषको नागर ब्राह्मण मान लें (यद्यपि वास्तवमें यह बात शंकास्पद ही है) तो भी इतनेसे ही गुहिलोतोंका विदेशी होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जिस दलीलसे इस बातको सिद्ध करना है वह खुद ही गलत है। 'मित्र' और 'मिहिर' शब्दोंका आपसमें कोई सम्बंध नहीं। अतः मित्र शब्दका काठियावाड़की एक नीच जातिके वाचक 'मेहर' शब्दसे किसी प्रकारका संबंध नहीं स्थापित किया जा सकता। यह पहले प्रमेयका संक्षेपमें निराकरण हुआ। दूसरा प्रमेय अधिक कठिन, जटिल और महत्वपूर्ण है, क्योंकि उससे मेवाड़के राजकुलकी परम्परापर भारी आघात पहुँचा है। मेवाड़के राजपूतोंकी दृढ़ धारणा है कि मेवाड़का गुहिलोत वंश भटार्क द्वारा संस्थापित वलभी राजवंशकी शाखा है, भटार्कका वंश-सम्बंध कनकसेनसे था और कनकसेन सूर्यवंशी श्रीरामचन्द्रके वंशमें उत्पन्न हुआ था।

इसमें सन्देह नहीं कि भाण्डारकरने अपने उक्त मतकी पुष्टिमें बहुतसे शिलालेखोंका प्रमाण दिया है। पर इसके साथ ही उन्हें उन लेखोंको समीक्षा करना और उन्हें परम्पराकी कसौटीपर कसना चाहिये था। शिलाखण्ड अथवा ताम्रपटपर खोद दी जानेसे ही कोई बात सच्ची नहीं हो जाती। बाप्पारावल नागर ब्राह्मण था अथवा क्षत्रिय था, इसका पक्का निश्चय करनेके लिए बाप्पाके समयका कोई लेख आज उपलब्ध नहीं है। बाप्पारावलका काल साधारण रीतिसे ७०० ई० से ७६४ ई० (वि० ७५७ से ८२१) सिद्ध होता है। पर इस कालका ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे बाप्पाके चरित्रके विषयमें संशयरहित जानकारी प्राप्त हो। दूसरे, बाप्पा जैसे विख्यात वंशसंस्थापकके विषयमें विस्मयकारक दंतकथाओंका रचा जाना स्वाभाविक बात है। अधिकतर दन्तकथाएँ अतिरंजित होती हैं और इसलिये सदा विश्वसनीय नहीं होतीं। बाप्पारावलके विषयमें एक दंतकथा आज भी मेवाड़में प्रचलित है। वह यह है कि बाप्पा (अथवा उसके

किसी पूर्वज) की माता पदाभिषिक्त रानी थी। उसके पतिपर विदेशियोंने चढ़ाई कर उसे राज्यच्युत और उसके समस्त कुल तथा राज्यका नाश कर दिया। रानी वनमार्गसे भागती जा रही थी कि जंगलमें ही उसके पेटसे बाप्पाका जन्म हुआ। पर यह कथा मनगढ़न्त हो सकती है। कितने ही राज्यसंस्थापकोंके विषयमें इसी प्रकारकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पाटणके वनराजका जन्म-वृत्तान्त भी ऐसा ही है। दक्षिणके वंशसंस्थापकोंके विषयमें केवल ऐसी जनश्रुतियाँ ही नहीं हैं, किन्तु शिलालेख भी मिले हैं। जो हो, बाप्पाकी जन्म-सम्बंधिनी यह कथा विश्वसनीय नहीं है। इसके अतिरिक्त निश्चित प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुका है कि वलभीका अन्तिम राजा ७६६ ई० (वि० ८२३) तक जीवित और राज्य करता था। अर्थात् बाप्पाका राज्यकाल समाप्त होने (७६२ ई०) के चार वर्ष बादतक वलभीका अन्तिम राजा वहाँकी गद्दीपर विराजमान था। इसलिये पहले तो यह देखना चाहिये कि किसी विशेष दन्तकथाकी उत्पत्ति स्वाभाविक है या नहीं और उसके विषयमें तत्कालीन लेखोंका प्रमाण कितना मिलता है।

अतः अब हम बाप्पाके विषयमें उपलब्ध आख्यायिकाओंको तत्कालीन लेखोंकी कसौटीपर कसकर यह देखेंगे कि उनमें तथ्यांश कितना है। बाप्पाके ब्राह्मण होनेका पहला स्पष्ट उल्लेख चित्तौड़ और अचलगढ़वाले लेखोंमें पाया जाता है। ये दोनों ही लेख एक ही मनुष्यके लिखे हुए हैं और क्रमसे १२७४ ई० (वि० १३३१) और १२८५ ई० (वि० १३४२) में, अर्थात् बाप्पाके ५०० वर्ष बाद लिखे गये हैं। इनमें स्पष्ट लिखा है कि बाप्पा ब्राह्मण था और उसका आदि वासस्थान आनंदपुर था।

जीयादानन्दपूर्वं तदिहपुरं······यस्मादागत्य विप्रः······बाप्पाख्यो।

अचलेश्वरवाले लेखके बादके लेखोंमें इसी परम्पराका अनुवाद मात्र किया गया है। उदाहरणार्थ एकलिंगमाहात्म्य और एकलिंग लेखोंमें यही बात लिखी है। एकलिंग लेखमें तो साफ ही लिख दिया गया है कि हम पूर्व कवियोंके कथनको ही दुहरा रहे हैं। इन पूर्ववर्ती कवियोंकी उक्तियोंमेंसे आटपुरावाले लेखकी बातोंका विचार हमें अवश्य करना चाहिये। क्योंकि वह यद्यपि बाप्पाके ३०० साल बाद लिखा गया है, फिर भी अचलेश्वरवाले

लेखसे वह २०० वर्ष पहलेका है। उसमें अचलेश्वरवाले लेखके पूर्वोक्त कथनका कुछ कुछ समर्थन करनेवाला जो श्लोक मिलता है वह यह है—

आनन्दपुरविनिर्गत विप्रकुलानन्दनो महीदेवः।
जयति श्री गुहदत्तः प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य।

संभवतः इस श्लोकका अर्थ ठीक न समझनेसे ही पीछेके लेखकोंको भ्रम हुआ। पृथ्वीराजरासोकी पंक्तियोंका ठीक अर्थ न मालूम होनेसे अग्निकुलकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कैसी असंगत कल्पना कर ली गयी, यह हम दिखा चुके हैं। प्रस्तुत श्लोकका प्रथम पद "आनन्दपुर विनिर्गत" है। यह "आनन्दपुर" नागर ब्राह्मणोंके पूर्व निवासस्थान बड़नगरका ही दूसरा नाम है, इसके लिए कोई प्रमाण नहीं। यह बात भांडारकर महाशयको भी स्वीकार है। इधर गुहिलोत राजपूतोंके पूर्व वासस्थान आटपुराका नाम भी आनन्दपुर था। यही नहीं, आनन्दपुर नाम कितने ही गांवोंने पाया है। ऐसी स्थितिमें आनन्दपुर शब्द निश्चित रूपसे बड़नगरका ही वाचक नहीं हो सकता। दूसरे, चित्तौड़के जिस लेखका ऊपर उल्लेख हुआ है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यहां आनन्दपुर नागहृदके लिए ही रखा गया है, क्योंकि प्रथम श्लोकमें नागहृदका वर्णन कर "जीयादानन्द पूर्वं तदिहपुरं·········" से उसका ही निर्देश किया गया है। इस श्लोकसे यह भी नहीं सिद्ध होता कि गुहिलोत वंशका संस्थापक ब्राह्मण जातिका पुरुष था। बल्कि उसका नागर ब्राह्मण न होना ही अधिक संभव दिखाई देता है। वह नागर ब्राह्मण होता तो अचलेश्वर और चित्तौड़के लेख लिखनेवालेने बड़े अभिमानसे इस बातका उल्लेख किया होता, क्योंकि इन कवित्वमय लम्बी-चौड़ी प्रशस्तियोंका लेखक स्वतः नागर ब्राह्मण था, इसका प्रमाण हमें उसके काव्यमें ही मिलता है।

तेनैषापि व्यधायि स्फुटगुणविशदा नागरज्ञातिभाजा
विप्रेणाशेप विद्वज्जनहृदयहरा चित्रकूटस्थितेन।

एकलिंगमाहात्म्य तो बहुत ही इधरकी रचना है अतः इतिहासकी दृष्टिसे उसका कुछ भी महत्व नहीं है।

उक्त श्लोकका सबसे महत्वपूर्ण शब्द महीदेव है। उसका अर्थ राजा और ब्राह्मण दोनों ही हो सकता है। यहाँ इस शब्दका भाण्डारकरकृत अर्थ ब्राह्मण न होकर, उनके उत्तरमें मोहनलाल पण्ड्याका बताया हुआ "राजा" ही होना संभव है। कारण यह कि "विप्रकुलानन्दनो महीदेवः" लिखकर यहाँ विप्र और महीदेवमें स्पष्ट विरोध-भाव दिखाया गया है और इससे काव्यका रसभंग नहीं होता। महीदेवका अर्थ ब्राह्मण करनेसे कविपर पुनरुक्तिका दोष लगता है। अतः इस श्लोकसे ही गुहदत्तके क्षत्रिय होने और उसीका नाम बाप्पा होनेकी संभावना प्रकट हो रही है। परन्तु भाण्डारकरको यह मत स्वीकार नहीं है। उनके मतसे महेन्द्रजित अथवा कालभोज इन्हीं दोमेंसे किसीका पुकारनेका नाम बाप्पा था। (मेवाड़ गजेटियरके लेखक अर्स्किनका भी यही मत है।)

भाण्डारकरके मतसे * गुहदत्त गुहिलका नाम होगा। पर यह अनुमान ठीक नहीं है। गुहिल बाप्पाके बाद राज्यारूढ़ होनेवाले उसके बेटेका नाम था, यह माननेके लिए अनेक लेखोंका आधार प्राप्त है। वैसे ही गुहदत्तका ही बाप्पा होना भी प्राचीन लेखोंसे सिद्ध होता है। इन लेखोंके अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन होनेके कारण भांडारकरने इनकी विश्वसनीयताको शंकास्पद माना है। पर कदाचित् उन्होंने नरवाहनके अत्यन्त प्राचीन लेखका विचार नहीं किया है। यह लेख सं० १०२८ (९७१ ई०) का है, अर्थात् वह अचलेश्वर, चित्तौड़गढ़ और आटपुरा इन तीनों स्थानोंके लेखोंसे अधिक प्राचीन है। अचलेश्वर और चित्तौड़गढ़के लेखोंमें स्पष्ट लिखा है कि बाप्पा ही मेवाड़ राजवंशका संस्थापक था। नरवाहनके लेखमें भी बाप्पाके राजसंस्थापक होनेकी बात इतनी ही स्पष्टतासे लिखी हुई है। यह लेख बहुत टूटी-फूटी दशामें है, कहीं कहीं मिट भी गया है। पर इसके प्रारम्भमें ही बाप्पाका नाम बिलकुल साफ पढ़ा जाता है। बाप्पाके लिए ही इसमें "गुहिल-गोत्र-नरेन्द्रचंद्र" विशेषण आया है। इसके सिवा

---

* अचलेश्वरवाले लेखसे इस कल्पनाकी संगति लगाना प्रायः असंभव है। बाप्पा यदि ब्राह्मण था तो क्या कालभोज भी क्षत्रिय न होकर नागर ब्राह्मण था?

बाप्पाके पहले और कोई नाम नहीं दिया गया है (देखिए भावन० इं०, पृष्ठ ५९)। इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि बाप्पारावल ही गुहिल राजवंशका मूलपुरुष था और वह क्षत्रिय था। और जब हमारे कथनानुसार गुहदत्तका ही बाप्पारावल होना साबित हो गया तब "महीदेव" शब्दका अर्थ "राजा (क्षत्रिय)" ही करना उचित है।

नरवाहनके लेखसे, जो सब लेखोंमें अधिक प्राचीन है, बाप्पारावलका गुहिलोत वंशसंस्थापक तथा राजा (क्षत्रिय) होना प्रकट होता है। अर्थात् ९७१ ई० तकके किसी भी लेखमें बाप्पारावलका ब्राह्मण होना नहीं पाया जाता। आटपुरावाले लेखके 'महीदेव' शब्दका अर्थ परवर्ती लेखोंमें भ्रमसे ब्राह्मण मान लिया गया होगा और चित्तौड़गढ़ तथा अचलेश्वर वाले लेखोंके समय (१२७४ ई०) ब्राह्मण अर्थ ही विशेष रूपसे रूढ़ रहा होगा। "महीदेव" शब्दका वस्तुस्थितिसे भिन्न यह अर्थ आगे चलकर क्यों रूढ़ हो गया, यह बात तत्कालीन अन्य राजवंशोंके इतिहासोंसे दिखाई जा सकती है।

विख्यात वंशोंके संस्थापकोंके विषयमें कल्पित कथाएँ सदा ही कही जाती हैं। बात यह है कि असाधारण पुरुषकी सभी बातें—उसके जन्मकी, उसके पराक्रमकी, उसको प्राप्त हुए यशकी—असाधारण ही न होनी चाहिये? पुरुषार्थकी अपेक्षा अद्भुत बातोंपर साधारण मनुष्यका विश्वास तो शीघ्र हो ही जाता है, विभूतियोंके पराक्रमके साथ स्वाभाविक वर्णनकी अपेक्षा काल्पनिक एवम् अलौकिकता-सूचक वर्णन ही लोगोंको अधिक रुचिकर जान पड़ते हैं। इस मनोवृत्तिके कारण वंशसंस्थापकोंके चरित्रमें सदा ही अद्भुत रसकी मिलावट पायी जाती है, पर इतिहासकारको चाहिये कि उसके कवित्वांशको अलग कर केवल सत्य भागको ग्रहण करे। चालुक्य वंशके संस्थापकके विषयमें शिलालेखोंमें ऐसीही अद्भुत बातें मिलती हैं। कहा गया है कि इस वंशका मूलपुरुष भारद्वाज द्रोणाचार्यके दिये हुए अर्घ्यसे (अर्थात् चुलूकसे) उत्पन्न हुआ। तनिक विचार करनेसे ही यह बात समझमें आ सकती है कि यह कथा चालुक्य शब्दपर कविकी श्लेषोक्ति मात्र है। प्रतिहारोंके विषयमें भी ऐसी ही दन्तकथा उपलब्ध

है। भगवान् रामचन्द्रके द्वारपाल (प्रतिहार) का काम सदैव लक्ष्मणजी किया करते थे, इसलिये प्रतिहार लोग अपने वंशकी उत्पत्ति लक्ष्मणसे मानते हैं। 'प्रतिहार' शब्दका यह श्लेष सहज ही समझा जा सकता है। पौराणिक ऋषिकुलोंके मूलपुरुषोंके सम्बन्धमें भी अत्यन्त विलक्षण और बहुत कुछ ऊटपटांग कथाएँ प्रसिद्ध हैं। वेदोंके कथानकोंकी भी यही दशा है। पर इन बातोंको विशेष महत्व देनेका प्रयोजन नहीं। वेदमें एक स्थान-पर लिखा है कि वसिष्ठ ऋषिकी उत्पत्ति उर्वशी अप्सरासे हुई। इसी उर्वशीको पुराणोंमें साधारण गणिकाका रूप दे दिया गया है, फलतः वसिष्ठ गणिका-पुत्र हो गये। अगस्त्य ऋषिकी उत्पति-कथा भी ऐसी ही ऊटपटाँग है। उर्वशीको देखकर मित्रावरुण अत्यन्त कामासक्त हो गये और उनका रेत स्खलित हो गया जिसे उन्होंने एक घड़ेमें डाल दिया। उसी घड़ेसे अगस्त्य उत्पन्न हुए। इसीसे अगस्त्य ऋषि कुंभयोनि नामसे प्रसिद्ध हैं। भृगुऋषि-का जन्मवृत्तान्त भी इसी तरहका है। पुराणोंकी इन कथाओंका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं। सभी प्रसिद्ध पुरुषोंकी उत्पत्ति विस्मयजनक और बहुतोंकी तो खेदपूर्ण तथा आश्चर्यमय है। यूनानी लोगोंमें भी उनके वंश-संस्थापकोंके विषयमें ऐसे ही चमत्कारिक वृत्तान्त प्रसिद्ध हैं। पर उनमेंसे सभी सच नहीं हैं। ये कथाएँ कालान्तरमें इस दृष्टिसे रची जाती हैं जिससे जनसाधारणको सुनकर आश्चर्य हो। उनके मूलमें थोड़ा बहुत सत्य रहता है, कमसे कम वे सद्बुद्धिसे रची गयी हों तो प्रयत्न करनेसे उनका हेतु भी प्रकट किया जा सकता है।

बाप्पारावलको ब्राह्मण क्यों मान लिया गया, इसकी उपपत्ति दी जा सकती है। सभी क्षत्रिय-कुल किस तरह अत्यन्त धर्मशीलतासे अपने अपने गोत्रका पालन करते थे, इस विषयमें हम अन्यत्र विस्तारसे विवेचन कर चुके हैं। उदयपुरके राजकुलका गोत्र वैजवाप है। कितने ही क्षत्रियों और ब्राह्मणोंके गोत्र एक ही हैं और इस प्रकार विभिन्न वर्णोंमें एक ही गोत्रका प्रचलित होना बहुतोंके लिए एक समस्या ही है। एक टिप्पणीमें हमने इस समस्याका समाधान करनेका यत्न किया है और उसीके सहारे हम प्रस्तुत प्रश्नको हल करनेका यत्न करेंगे। तेरहवीं शताब्दीमें विग्रा-

नेश्वरका मत प्रचलित था। इस मतके अनुसार क्षत्रिय-कुलोंने अपने अपने पुरोहितोंके ही गोत्र ग्रहण कर लिये, और इसी कारण ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके गोत्र एक ही हैं। अपनी गोत्र-सम्बंधिनी टिप्पणीमें हमने सिद्ध कर दिया है कि यह मत ठीक नहीं है।

विज्ञानेश्वरके पहले एक और मत प्रचलित था और हमारा विचार है कि उसीके आधारपर बाप्पारावलको ब्राह्मण मान लिया गया होगा। इस मतके अनुसार गोत्रोक्त ऋषि उस विशेष कुल-शाखाका केवल संस्थापक ही नहीं होता, किन्तु उसका अत्यन्त पुरातन पूर्वज भी होता है। परमारकुलका वसिष्ठ गोत्र क्यों है? इसीलिए कि परमारोंके लेखोंमें इस कुलके पुरातन पूर्वज परमारकी उत्पत्ति वसिष्ठ ऋषिके (यज्ञ) कुण्डसे बतायी गयी है। चेदीके लेखमें चालुक्य वंशकी उत्पत्ति इसी प्रकारकी बतायी गयी है, जिसके विषयमें हम पहले लिख आये हैं। भारद्वाजके चुल्लू (चुल्लूक) से चालुक्य वंशके मूलपुरुषका जन्म हुआ, इसलिए इस वंशका गोत्र भारद्वाज हुआ। चाहमान (चौहान) कुलके उदाहरणसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। चाहमान कुलका गोत्र वत्स है। इस कुलकी उत्पत्ति भी अनेक प्रकारसे बतायी गयी है। बिजोलियाके लेखमें कहा गया है कि चाहमान वंशमें सामन्त नामका जो पहला राजा हुआ उसका जन्म अहिच्छत्र-निवासी एक वत्सगोत्रीय ब्राह्मणसे हुआ था, इसीसे चाहमान कुलका गोत्र प्राचीन कालसे वत्स है। आगे चलकर चाहमानोंके गोत्रकी दूसरी ही उपपत्ति निकाली गयी। १३१९ (वि० १३७६) के अर्थात् चित्तौड़गढ़ और अचलेश्वरके लेख लिखे जानेके समयके छाछिगदेव राजाके सुंडावाले लेखमें यह उपपत्ति मिलती है। इसके सहारे चाहमानोंका सम्बन्ध ठीक वत्स ऋषितक पहुँचा दिया जाता है। इस आशयका लेख मिलता है कि वत्स ऋषिके आनन्दाश्रुसे चाहमानकी उत्पत्ति होनेके कारण चाहमानोंका गोत्र वत्स माना जाने लगा। गोत्रोत्पत्ति ठहरानेके ये सब विविध प्रयत्न मात्र हैं। इसी रीतिसे गुहिलोत वंशके गोत्रकी उपपत्ति बाप्पारावलको ब्राह्मण मानकर दी गयी है। अर्थात् जिस प्रकार चाहमान राजपूतोंका गोत्र वत्स होनेसे उनके मूलपुरुषकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे हुई मानी जाती

थी उसी प्रकार गुहिल कुलका गोत्र वैजवाय होनेसे इस वंशके आदिपुरुष वाप्पारावलका उस (वैजवाय) गोत्रका ब्राह्मण होना तेरहवीं शताब्दीमें माना जाने लगा। सार यह कि ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके गोत्र एक ही होनेसे यह मान लिया गया कि उनके मूलपुरुष ब्राह्मण रहे होंगे। और इसी रूढ़िका अनुसरण कर आटपुरा-लेखके 'महीदेव' शब्दका अर्थ क्षत्रिय न करके ब्राह्मण किया जाने लगा। पूर्व विवेचनानुसार राजपूत और ब्राह्मण दोनोंकी उत्पत्तिकी कथा काल्पनिक और फलतः सदैव त्याज्य है। ऐसी जनश्रुतियोंका जितना अंश संभव जँचे उतना ही ग्राह्य होता है।

हमारे मतसे वाप्पारावल ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय था। वह उस समयकी गोत्र-विषयक भ्रान्त कल्पनाके कारण ब्राह्मण मान लिया गया होगा। परन्तु वादका दूसरा विषय इससे भी अधिक विचारणीय है। माना कि जैसा कि डा० भाण्डारकर कहते हैं वाप्पारावल आनन्दपुर अथवा वड़नगरनिवासी नागर ब्राह्मण था और उसीसे गुहिलोत वंशकी उत्पत्ति हुई। पर इतनेसे ही, अर्थात् इस वंशके संस्थापक वाप्पाके ब्राह्मण होनेसे ही, समस्त गुहिलोत वंशका विदेशीय होना कैसे सिद्ध होता है? पहले भागमें और इस भागमें भी हम दिखा चुके हैं कि उस समय ब्राह्मणके क्षत्रिय-कन्याका पाणिग्रहण करनेसे उस दम्पतीकी सन्तति क्षत्रिय मानी जाती थी और इस प्रकारके विवाह उस समय प्रचलित थे। हिन्दू धर्मशास्त्र ऐसे विवाहकी सन्ततिको क्षत्रिय मानता है और पुत्रिकापुत्रकी कल्पना उसको स्वीकार है। वाप्पाका विवाह यदि किसी क्षत्रिय-कन्यासे हुआ हो तो उससे उत्पन्न सन्तति माताकी समकक्ष मानी जानेसे वाप्पारावलकी सन्तति जातिसे क्षत्रिय सिद्ध होती है। इसके सिवा शिलालेखोंसे प्रकट होता है कि वाप्पाके बादकी पीढ़ियाँ क्षत्रिय थीं और क्षत्रिय स्त्रियोंसे ही उनके विवाह हुए, फिर बीचमें एक आदमीके ब्राह्मण हो जानेसे ही समस्त गुहिलोत वंश किस प्रकार ब्राह्मण हो गया? अतः वाप्पारावलको ब्राह्मण मान लेनेपर भी गुहिलोत वंश किसी प्रकार विदेशीय नहीं सिद्ध होता। वाप्पाके बादके गुहिलोत राजाओंका सम्बन्ध क्षत्रिय कुलोंसे ही हुआ दिखाई देता है। इन सब बातोंका विचार करते

हुए केवल एक बाप्पाको ब्राह्मण मान लेने पर भी सम्पूर्ण गुहिलोत वंशको ब्राह्मण स्थिर करना अनैतिहासिक है।

बाप्पारावलके नागर ब्राह्मण होनेकी बात हमें तो साफ गलत मालूम होती है। पर वह ठीक हो तो भी उस समय ब्राह्मणका क्षत्रिय-कन्यासे विवाह होना प्रचलित था। संभव है, इसी प्रथाके अनुसार बाप्पाने ईडरके गुहिल (गुहिलोत) कुलकी क्षत्रिय-कन्यासे विवाह किया हो, उस कन्यासे उत्पन्न पुत्र अपने ननिहालका पुत्रिकापुत्र मान लिया गया हो और इस रूपसे उसने पूर्व वंशको कायम रखा हो, उसके पुत्रका नाम गुहिल (ननिहालका ही) पड़ा हो और इससे चले हुए नये वंशको गुहिलोत (गुहिलपुत्र) नाम प्राप्त हुआ हो। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। काश्मीरका गोनर्दीयवंशी राजा बालादित्य अपुत्रक मरा, और उसका कोई भी पुरुष उत्तराधिकारी न होनेसे वंश-लोपकी आशंका थी। अतः राजाने इस अवस्थामें कन्या द्वारा ही वंशरक्षा करनेके उद्देश्यसे अपनी एकलौती कन्या सनातन प्रथाके अनुसार किसी राजाको न देकर दुर्लभवर्द्धन नामक अपने एक कर्मचारीसे उसका ब्याह कर दिया। पूर्व निश्चयके अनुसार यह दुर्लभवर्द्धन ६०२ ई० (वि०६५९) में सिंहासनासीन हुआ, और उसके पुत्रने नानाका ही नाम ग्रहण किया, यह हम पहले भागमें लिख चुके हैं। इसी प्रकार बाप्पाने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय कुलकी एकलौती कन्याका पाणिग्रहण किया होगा और इस कन्यासे उत्पन्न पुत्रसे पुनः गुहिल वंश चला होगा। बाप्पाके बेटेका नाम गुहिल था और उसके नामानुसार ही वंशका नाम पड़ा, यह बात अचलेश्वरके लेखमें स्पष्ट लिखी है।* तात्पर्य यह है कि उस समय ब्राह्मण और क्षत्रियका परस्पर विवाह प्रचलित था और बाप्पा ब्राह्मण रहा हो तो भी उसने क्षत्रिय-कन्यासे विवाह किया होगा। सिंधके छछ और काबुलके शाही (लोगों ?) का वृत्तान्त पहले दिया जा चुका है (भाग १)। पुत्रिकापुत्र-धर्मके अनुसार इन क्षत्रिय-कन्याओंसे उत्पन्न लड़की-लड़के क्षत्रिय ही माने जाते थे और उनका

* बप्पकस्य तनयो नयनेता संबभूव नृपतिर्गुहिलाख्यः। यस्य नामकलितां किल जातिं भूभुजो दधति तत्कुलजाताः ॥

विवाह-सम्बन्ध अन्य क्षत्रिय कुलोंसे होता था। गुहिलोत कुलवालोंका विवाह-सम्बन्ध एतद्देशीय क्षत्रियोंसे हुआ है, इससे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें भी गुहिलोत वंशवालोंकी गणना एतद्देशीय खरे क्षत्रियोंमें होती थी।

अस्तु, बाप्पारावल और उसके वंशके विषयमें हमारा मत संक्षेपमें इस प्रकार है—सम्पूर्ण उपलब्ध लेखोंमें नरवाहनका लेख अत्यन्त प्राचीन है (६७१ ई.)। उससे वाप्पाका ब्राह्मण न हो कर क्षत्रिय होना स्पष्ट प्रकट होता है। आटपुराका लेख बादका है और उसमें आये हुए "महीदेव" शब्दका अर्थ ब्राह्मण क्यों किया गया, यह हम गोत्र-विवेचन द्वारा बता चुके हैं। वाप्पारावलका मूलवंश गुहिल ही होगा। बाप्पा क्षितिपति (क्षत्रिय) गुहिल वंशका मानो चन्द्रमा था, * नरवाहनके लेखके इस वाक्यसे जान पड़ता है कि मूल वलभी वंशकी एक शाखा नागड़ा (नागह्रद) में रहती थी जो गुहिल वंश कहलाती थी। संभवतः यह गुहादित्य द्वारा स्थापित ईडर शाखाकी उपशाखा रही होगी। इसी कुलमें अपराजित और शील नामके पराक्रमी राजा हुए होंगे, क्योंकि उनके पहलेका लेख उपलब्ध है। इसी राजवंशमें (द्विज कुलमें नहीं) वाप्पाने जन्म लिया होगा। वह अत्यन्त विख्यात पुरुष हुआ। कुलदीपक पराक्रमी पुरुषोंसे नया वंश चला ही करता है, अतः वाप्पा गुहिल वंशका मूलपुरुष मान लिया गया। वाप्पाके पूर्व वंशजोंको गुहिल और उसके पीछेवालोंको गुहिलोत अथवा गुहिलपुत्र ये दो भिन्न वंशसंज्ञाएँ दी गयी होंगी। वाप्पाका मूल नाम यही रहा होगा, कुल-संस्थापक होनेके कारण पीछेले लोग उसे इस नामसे (वाप्पा =वावा) स्मरण करने लगे होंगे; क्योंकि उस समय राजकुलमें भी यह नाम प्रचलित था (देखिये एपिग्राफिका इंडिका जिल्द ९ "वप्प भट्टारक पाद-भट्टरसः)। वाप्पा अत्यन्त धर्मशील और शिवोपासक था, उसके गुरु हारीत मुनि थे। अपने ही पराक्रमसे उसने उच्चपद प्राप्त किया और चित्तौड़का राजा हुआ। हिन्दू राजाओंके प्रथानुसार उसके अनेक स्त्रियोंसे

---

* यस्मिन्नभूद् गुहिल गोत्रनरेन्द्रचन्द्रः श्रीवप्पकः क्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम्।

विवाह करनेकी बात शिलालेखमें ही लिखी है। उसके सन्तति भी बहुत हुई। बाप्पाके वंशजोंकी संख्या आज कई सहस्र है और वे सारे राजपूतानेमें फैले हुए हैं। उसका राज्यकाल उथलपुथल कर देनेवाली घटनाओंसे भरा था। उसे समाप्त कर बुढ़ौतीमें उसने संभवतः संन्यास ले लिया और शेष आयु ईश-चिन्तनमें बितायी। †

अब भाण्डारकरका मत क्यों टिकने लायक नहीं है यह भी संक्षेपमें सुन लीजिये। आटपुराके लेखमें आये हुए "महीदेव" शब्दका अर्थ ब्राह्मण न करके क्षत्रिय करना ही सर्वथा युक्त है। और ब्राह्मण अर्थ करनेसे भी बाप्पाका नागर ब्राह्मण होना किसी प्रकार नहीं सिद्ध होता। क्योंकि आनन्दपुर अर्थात् बड़नगरका मूल निवासी मान लेनेसे ही उसका नागर ब्राह्मण होना कैसे सिद्ध होगा? क्या बड़नगरमें और जातिके ब्राह्मण नहीं थे? इसके सिवा आनन्दपुर बड़नगरके अतिरिक्त और कई नगरोंका भी वाचक है। चित्तौड़गढ़के लेखमें तो नागदाको ही स्पष्टतः आनन्दपुर ‡ बताया गया है। फिर नागर ब्राह्मण मूलतः मेर जातिके भी नहीं हैं। तब इन दलीलोंके सहारे जिनमेंसे एक भी टिकनेवाली नहीं, बाप्पा और उनके वंशज राजाओंका विदेशी होना किस तरह साबित होगा?

परिशिष्ट ।

शक्तिकुमारका आटपुरावाला लेख ।

इंडियन ऐंटिकरी १९१० जिल्द ३९ पृष्ठ १९१

संवत्सरशतेषु दशसु चतुस्त्रिंशत्यधिकेषु वैशाख शुक्ल प्रतिपदि संवत् १०३४ वैशाख शुक्ल प्रतिपदातिथौ श्रीनानिगस्वामि देवायतनं कारापितं ॥ आनन्दपुरविनिर्गत विप्रकुलानन्दनो महीदेवः। जयति श्रीगुहदत्तः प्रभवः

† देखिये एकलिंग जीका लेख—दत्वा महीमच्छगुणाय सूनवे नवेन्दु मौलिं हृदि भावयन्नृपः। जगाम बप्पः परमेश्वरं महो महोदयं योग युजामसंशयम् ॥

‡ यस्मिन्नागह्रदाह्वयं पुरमिलाखण्डावनीभूषणम् ।
जीयादानन्दपूर्वं तदिह पुरमिलाखण्डसौन्दर्यशोभि ॥

श्रीगुहिल वंशस्य। यस्यान्वये जगति भोजमहेन्द्रनागः शीलापराजित महेन्द्रजायतैकवीरः॥ जातैर्यथार्कसमशोभितकालभोजखोम्मापैः भर्तृपट्टैः। सिंहोऽभवत् तदनु तद्भृतीपि जज्ञे खोम्माण इत्यथ सुतोस्य महायकोऽभूत। खोम्माणमात्मजमवाप सचाथ तस्मात् लोकत्रयैकतिलकोजनि भर्तृपट्टः॥ ३॥ राष्ट्रकूटकुलोद्भूता महालक्ष्मीरिति प्रिया। अभूद्यस्या भवत् तस्यां तनयः श्रीमदल्लटः॥ ४॥ स भूपतिः प्रिया यस्य हूणक्षोणीशवंशजा दरीयदेवी यशो यस्या भाति हर्षपुराव्हयम्॥ अविकलकलाधारो धीरः स्फुरद्विलसत्करो विजयवसतिः क्षत्रक्षेत्रंक्षतादतिसंहतिः। सप्तजनिजना—प्रतापतरूद्भूतो विभवभवनंविधादेवी नृपो नरवाहनः॥ ६॥ चाहमानान्वयोद्भूता श्रीजेजय नृपात्मजा, राजा जयति शालिवाहनः इति ख्यातः प्रतापः ततः॥ ८॥ ततः शक्तिकुमारोऽभूत सुतः शक्तित्रयोर्जितः। भर्तृपट्टाभिधाश्रीश्च प्राप राष्ट्रमधापयत् × ॥ ९॥ श्रीमदाटपुर—युतालयं यस्य वास इति संपदां पदं यत्र सन्ति नृपपुंगवाः समं कल्पपादपपदातगामिनः॥ १०॥

तीसरा प्रकरण।

सांभरके चाहमान।

गुहिलोत वंशके साथ साथ जिन कतिपय अन्य राजवंशोंने ख्याति प्राप्त की उनमें सांभरके चाहमान अर्थात् चौहान वंशका आसन अत्युच्च है। टाडका तो कहना है कि वीर वृत्तिमें अन्य कोई भी क्षत्रिय कुल इसकी बराबरी नहीं कर सकता। पराक्रमके विषयमें मारवाड़के राठौर वंश और मेवाड़के गुहिलोत वंशकी चौहान वंशसे तुलना की जा सकती है। पर कुल मिलाकर चौहान वंश ही अग्रस्थानका अधिकारी होगा। इस वंशका आज तकका (१२०० वर्षका) इतिहास भी लगातार इस बातका पोषण करता है। गुहिलोत

वंशकी तरह इस वंशकी मूल राजधानी स्थिर नहीं रही, फिर भी बूंदी, कोटा तथा सिरोही—राजपूतानेकी ये प्रमुख रियासतें इस वंशवालोंके ही अधिकारमें हैं और यहांके राजाओंके पराक्रमका यशोगान मुसलमानोंके समयसे बराबर होता आ रहा है। अधिक क्या, पृथ्वीराज और उसके दादा विशाल-देवके समयमें तो सार्वभौमत्वका सम्मान भी इसी कुलको प्राप्त था। पानीपतके संग्रामके अनन्तर इस वंशका प्रताप-सूर्य सहसा अस्त हो गया और उसके साथ हिन्दू साम्राज्यका भी अन्त होकर हिन्दुस्थान सदाके लिए दासताकी शृङ्ख-लामें बँध गया। तथापि पृथ्वीराजके अतुल तेज तथा परा-क्रमकी प्रभा सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक राजपूत कुल बड़े अभि-मानके साथ कहता है कि पानीपतके युद्धमें हमारा कोई न कोई पूर्वज पृथ्वीराजकी ओरसे अवश्य लड़ा होगा—यही पृथ्वीराजके पराक्रमकी महत्ताका पर्याप्त प्रमाण है। अतुलनीय पराक्रमके कारण राजपूतोंके ३६ कुलोंमें चौहान कुलको ही अग्रस्थान प्राप्त होता परन्तु पराक्रमके साथ जो आन तथा अभिमान आवश्यक होता है वह इस कुलमें कुल मिलाकर कम दिखाई दिया, इसीसे इसे सर्वप्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता। गुहिलोत कुल और चौहान कुलमें बहुत समा-नता है। दोनोंके ही राज्य अद्यापि स्थिर हैं, दोनों ही समान प्रतापशाली भी हैं परन्तु गुहिलोत वंश अधिक आनदार तथा दृढ़व्रत रहा और मुसलमान ही नहीं, दूसरोंके सामने भी उसने सिर न झुकाया। पर चौहान घरानोंका अभिमान मुसलमानोंके राज्यकालमें स्थिर न रहा। उन्होंने दिल्लीके मुसलमान बादशाहको सम्राट् मान लिया और इस वंशके अनेक सरदारोंने अपनी जागीरको जब्त होनेसे बचानेके

लिए मुसलमानी धर्म भी स्वीकार कर लिया। अतः इस वंशमें क्षात्र तेजके साथ साथ आनपर मर मिटनेका स्वभाव भी उतनी ही प्रखरतासे न दिखाई पड़नेके कारण गुहिलोत वंश ही राजपूतोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान पानेका अधिकारी है।

अस्तु, गुहिलोत वंशके संस्थापकका वृत्तान्त थोड़ा बहुत उपलब्ध है। पर चौहान वंशके संस्थापकके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराज चौहानके दरबारी कवि चन्द-बरदाईने इस वंशका सम्बन्ध जो अग्निसे स्थापित किया है वह तथ्य नहीं, कोरी कवि-कल्पना है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। इस वंशका मूलपुरुष चाहमाण अथवा अनहिल माना जाता है। चाहमाणका जो काल बूँदी राज्यके सूरजमल भाटने दिया है, वह सन्दिग्ध ही है। स्वरचित वंशभास्कर नामक ग्रन्थमें इसने लिखा है कि चाहमाणसे लगाकर पृथ्वी-राजतक कुल १३६ राजा हुए। इतिहासकी दृष्टिसे यह कथन अतिरञ्जित जान पड़ता है, क्योंकि पृथ्वीराजरासोमें यह संख्या ३६ ही बतायी गयी है। पर यह संख्या भी ठीक नहीं है। उपलब्ध लेखोंसे इसका मेल नहीं बैठता। पृथ्वीराजका समकालीन (११६७ ई०) चन्द बरदाई जैसा प्रसिद्ध भाट दो सौ वर्ष पहले तककी विश्वसनीय वंशावली न दे सके, यह आश्चर्यकी बात है। इन सब कारणोंसे यहां हमें जिस कालके विषयमें विचार करना है, उसका—अर्थात् ८०० से १००० ई० तकका—इस वंशका वृत्तान्त अधूरा और असम्बद्ध प्राप्त होता है और हमें लाचार होकर इस कालके इतिहासका आधार हर्ष शिलालेखोंको ही बनाना पड़ता है (एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द २ पृष्ठ ११६)। इन सात लेखोंका काल क्रमसे सं० १०१३ और १०३० है (बिजोलियाका लेख इनके कोई

२०० वर्ष बाद अर्थात् सं० १२२६ में लिखा गया। इन दोनों लेखोंकी बातोंका आपसमें बहुत कुछ मेल है। पाठकोंकी जानकारीके लिए परिशिष्टमें ये उद्धृत कर दिये गये हैं। इन दो लेखोंके सिवाय इस वंशके और भी लेख उपलब्ध हैं, पर प्रस्तुत कालसे उनका सम्बन्ध नहीं है। या तो इनमें ८७२ ई० (वि० ९२९) से पहलेके वृत्तान्त हैं ही नहीं या वंशावली न देकर किसी एक ही राजाके पराक्रमका विशेष वर्णन किया गया है। [नाडूलके चौहानोंके विषयमें वि० १२१८ के तीन लेख मिलते हैं। (एपि० इंडिका ९, पृष्ठ ६८) कीलहार्नने खुएडाकी गुफाके छाछिगदेव राजाका (वि० १३१९) लेख प्रकाशित किया है। भाण्डारकरने भी बहुतसे लेख प्रकाशित कराये हैं।]

चौहान कुलके भाटोंका कथन है कि इस वंशका मूलस्थान नर्मदाके उत्तरमें स्थित माहिष्मती नामका ग्राम था और इस वंशको हिन्दुस्थानके सार्वभौम राजा होनेका सम्मान बारम्बार प्राप्त होता रहा है। यद्यपि महाराष्ट्रसे पंजाबतकके सम्पूर्ण भूभागमें चौहानोंकी बस्ती दिखाई देती है, फिर भी भाटोंके उक्त दोनों कथन पूर्णतया सत्य नहीं हैं। इस वंशका ऐतिहासिक मूलस्थान मेवाड़के उत्तरमें स्थित सांभर अथवा शाकम्बरी प्रदेश है। अजमेरकी गणना इसी प्रदेशमें होती है। ऐसी प्रसिद्धि थी कि यह प्रदेश सवालाख गाँवोंसे मिलकर बना है, इसीसे इसका नाम सपादलक्ष पड़ा।*

अब देखना है कि चाहमान वंशके मूलसंस्थापकोंके सम्बन्धमें लेखोंमें क्या सामग्री मिलती है। हर्षशिलालेखमें

* स्कन्दपुराणके कुमारीखण्डमें राज्यों और तदन्तर्गत ग्रामोंकी जो सूची दी हुई है उसका उल्लेख हम एक स्थानपर कर चुके हैं। पृ० ४९,

गूवक राजासे आरम्भ कर वंशावली दी गयी है। उक्त लेखके 'आद्य' शब्दका अर्थ 'पूर्वज' न कर, 'पहिला राजा' ही करना चाहिये। बिजोलियाके लेखमें प्रथम पूर्वजोंका उल्लेख किया गया है; परन्तु जिस श्लोकमें उल्लेख है, वह श्लोक बहुत ही सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त वह सर्वथा विश्वसनीय भी नहीं है। श्लोक इस प्रकार है—

विप्रश्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा।
सामन्तोऽनन्तसामन्त पूर्णतल्लो नृपस्ततः॥

इस श्लोकके दो अर्थ हो सकते हैं। भाण्डारकरके मतानुसार 'विप्र' के बदले 'विप्रः' पाठ स्वीकार करना उचित है। श्लोकके 'पूर्णतल्ल' शब्दका अर्थ समझमें नहीं आता। श्लोकका एक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—"पूर्वकालमें अहिच्छत्रपुरमें श्रीवत्सगोत्रोत्पन्न एक ब्राह्मण था; अनेक सामन्तोंवाला सामन्तराज (सरदार) उसका पुत्र (अथवा वंशज) है।" दूसरा अर्थ इस प्रकार हो सकता है—"पूर्वसमयमें अहिच्छत्रपुरमें श्रीवत्सगोत्रवाला सामन्त नामक एक ब्राह्मण था; अनेक सरदारोंसे युक्त पूर्णतल्ल उसी सामन्तका पुत्र है।"

चाहमान वंशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें चन्दका जो मत है उसपर इस श्लोकसे आघात पहुँचता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आबू पर्वतपर स्थित वसिष्ठ ऋषिके आश्रमके अग्निकुण्डसे चाहमानोंके पूर्वजके उत्पन्न होनेकी और इसीसे अग्निकुलमें चाहमान वंशके परिगणित किये जानेकी बात कपोल-कल्पित है, क्योंकि उक्त श्लोक चन्दसे दो सौ वर्ष पूर्व बना है। फिर भी यह श्लोक सर्वथा ग्राह्य नहीं है। इसमें चाहमानोंका पूर्वज वत्सगोत्रवाला

ब्राह्मण कहा गया है, परन्तु यह संभव नहीं जान पड़ता। चाहमानोंका वत्सगोत्र ही क्यों है? (ब्राह्मणोंमें भी वत्स गोत्र प्रचलित है) इसको उत्तर ही संभवतः किसी भाटने इस प्रकार देनेका यत्न किया हो कि चाहमानोंका पूर्वज ब्राह्मण था, इसीसे उसके वंशजोंका गोत्र वत्स है। परन्तु श्लोकका काल्पनिक अंश निकाल देने पर यह अनुमान निकलता है कि अहिच्छत्रपुर (वर्तमान रामपुर अथवा नागोर) में चाहमान वंशका अत्यन्त पराक्रमी सामन्त नामक बलाढ्य राजपूताग्रगण्य था। अनेक सरदार इसके सहायक थे। इसीने आगे चलकर साम्भर प्रान्तपर अधिकार किया और वहीं अपना राज्य स्थापित किया। उक्त श्लोकमें 'सामन्त' व्यक्तिवाचक नाम है, क्योंकि पृथ्वीराजरासोमें भी चाहमानके अनन्तर सामन्तदेवका ही नाम लिखा है।

हर्षलेखमें गूवकसे ही वंशावली आरम्भ की गयी है, इससे बिजोलियाके लेखमें सामन्तसे गूवकतक जो राजा हुए, उनकी सूची दी गयी है। वह सूची इस प्रकार है—१ जयराज, २ विग्रह, ३ श्रीचन्द्र, ४ गोपेन्द्र और ५ दुर्लभ। इसके पश्चात् गूवकसे दुर्लभतकका क्रम दोनों लेखोंमें समान ही है। केवल एक ही नाम ठीक कर लेना होगा। हर्षलेखकी सूचीके पाँचवे नाम (वाक्पतिराज) का बिजोलियाके लेखके 'वप्पयराज-विन्ध्यनृपति' इस नामसे मेल मिलानेसे काम बन जायगा। शब्दशास्त्रके नियमानुसार सहजमें ही मेल मिलाया भी जा सकता है*। बिजोलियाके लेखमें 'वाक्पति'का उल्लेख

* 'वाक्पति'का ही प्राकृत अपभ्रंश 'वाप्पय' है। अपभ्रंशमें 'क्'के स्थानमें 'प्' होकर 'त्'का लोप होता है। वप्पइ, वाप्पय इत्यादि क्रमसे ही 'वाक्पति'का अपभ्रंश 'वाप्पय' हुआ है।

है। सूचीमें यह दसवाँ नाम है; इससे अनुमान होता है कि पहिला वाक्‌पति वाप्पय और यह दूसरा वाक्‌पति होगा। दुर्लभराजके समयमें (विक्रम संवत् १०३०) हर्षलेख लिखा जानेके कारण उसमें दुर्लभके पीछेके राजाओंके नामोंका उल्लेख न होना स्वाभाविक है।

चाहमान घरानेका वंशक्रम।

हर्षशिलालेख वि. सं. १०३०	बिजोलियाका लेख वि. सं. १२२६
	सामन्त
	+जयराज
	+विग्रह
	+श्रीचन्द्र
	गोपेन्द्र, दुर्लभ
१ गूवक (अनुमानतः ई. स. ८६८)	१ गूवक प्रथम
२ चन्द्र (,, ८८३)	२ चन्द्र (शशि)
३ गूवक द्वि० (,, ८९८)	३ गूवक द्वितीय
४ चन्दन (,, ९१३)	४ चन्दन
५ वाक्‌पतिराज (,, ९२८)	५ वाप्पयराज— विन्ध्य-नृपति
६ सिंहराज (,, ९४३)	६ सिंह
७ विग्रहराज (,, ९५८)	७ विग्रहराज
८ दुर्लभराज (,, ९७३)	८ दुर्लभ

राजपूताना गजेटियरमें उक्त प्रकारसे बिजोलिया लेखानुसार वंशावली दी गयी है (जिल्द ३ पृष्ठ ६५), परन्तु उसमें गूवकसे पहिले जो दुर्लभ हुआ, उसका उल्लेख नहीं है। वास्तवमें उसी दुर्लभने इस वंशको उन्नत किया; उसका नाम लेखमें न होना अचरजकी बात है। हर्षलेख और बिजोलियाके लेखमें दुर्लभके नामका स्पष्ट उल्लेख है। गजेटियरमें भी उसका उल्लेख होना आवश्यक था।

अब यह देखना चाहिये कि स्थूल रूपसे सामन्तदेव और गूवक-राजका क्या काल निश्चित किया जा सकता है। इस घरानेके प्रत्येक राजाका राजत्वकाल १५ वर्षके लगभग पड़ता है। विग्रहराजका समय विक्रम संवत् १०३० (ई० सन् ९७३) निश्चित ही है। विग्रहराजके दादा वाक्पतिराजके कनिष्ठ पुत्र लक्ष्मणने 'नाडूल' में इसी घरानेकी दूसरी गद्दी स्थापित की थी। प्राचीन लेखोंमें लक्ष्मणका समय वि० सं० १०३९ (ई० स० ९८२) दिया गया है। अतः वाक्पतिका समय एक पीढ़ी पूर्व अर्थात् ई० स० ९३३ के बदले ९४३ मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। तबसे पहलेकी एक एक पीढ़ीका राजत्वकाल यदि साधारणतः १५ वर्षका मान लिया जाय, तो यह अनुमान निकलता है कि गूवकराज ई० स० ८६८ (९७३–१०५) और सामन्तराज ई० स० ७७८ (वि० ८३५) में राज्य करता होगा। राजपूताना गजेटियरमें सामन्तराजका समय ई० स० ७५० (वि० ८०७) लिखा है, पर उसमें यह नहीं बताया गया कि यह समय किस आधारपर निश्चित किया गया है। लक्ष्मणराजके लेखोंमें उल्लिखित समयके आधारपर प्रत्येक राजाका राजत्वकाल १५ वर्षका मानकर सामन्तका समय हम ई० स० ७७८ निश्चित करते हैं और हमारा अनुमान है कि यह, अथवा ई० स० ७५० ही सही, उसका ठीक ठीक राजत्वकाल होगा। अरबोंके आक्रमणोंका प्रतिकार करनेके कारण गुहिलोत घरानेकी तरह जो घराने विशेष प्रसिद्ध हुए, उन्हींमें चाहमानोंका समावेश करना चाहिये। सम्भवतः बाप्पारावल और सामन्तराज समकालीन ही रहे होंगे। कदाचित् बाप्पाके पश्चात् कुछ समयके अनन्तर ही सामन्तका उत्कर्ष हुआ और उसने ईसाकी आठवीं सदी (वि० ७५८-८५७) के उत्तरार्धमें सांभरमें अपना राज्य स्थापित किया। उसका वंशज गूवक सम्भवतः उससे भी अधिक प्रसिद्ध हुआ और राजपूत राजाओंमें प्रमुख रूपसे गिना जाने लगा। हर्षके लेखमें गूवकके सम्बन्धमें लिखा है—"यस्मिन्नागावलोकप्रवरनृपसभा-लब्ध वीरप्रतिष्ठः"—सार्वभौम नागभट राजाकी राजसभामें गूवकको, वीरताके कारण, बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसी आधारपर कीलहार्न साहब कहते हैं कि गूवक नागभटकी सभाका एक प्रधान सरदार था। बादमें

उन्होंने अपना मत बदल दिया, किन्तु हन्सोट लेखपर स्टेन कोनाऊ साहबने जो लेख लिखा है, उससे सिद्ध होता है कि अन्तमें कीलहार्न साहबका फिर वही मत हो गया। परन्तु हमारा अनुमान है कि सामन्त कदाचित् स्वतन्त्र राजा न होकर किसी राजाका सरदार रहा होगा। गूवकके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह स्वतन्त्र राजा रहा होगा। संभवतः अपने पराक्रमसे ही वह उन्नत हुआ और अरबोंके विरुद्ध लड़नेवाले राजपूत राजाओंके मण्डलमें प्रमुख रूपसे गिना जाने लगा। हो सकता है कि इस राजमण्डलका आधिपत्य (सार्वभौमत्व) नागभटके हाथमें रहा हो। नृपसभाका अर्थ 'सार्वभौम राजाका दरबार' न कर 'स्वतन्त्र राजाओंका मण्डल' करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित रूपसे नहीं मान लिया जा सकता कि हन्सोट लेखमें चाहमानोंका उल्लेख है ही। लेखमें 'चाहमान' शब्द अस्पष्ट है और लेखका काल वि० स० ८१३ (ई० स० ७५६) है, जो गूवकके कालसे नहीं मिलता। अतः हन्सोट लेखसे यह स्थिर करना ठीक नहीं कि गूवक स्वतन्त्र राजा था या सार्वभौम नागभटका सरदार था।

प्रथम गूवकमें और बाप्पारावलमें बहुत कुछ समानता है। दोनों अत्यन्त पराक्रमी वीर थे, दोनों अपनी वीरतासे सुप्रसिद्ध हुए थे और दोनों ही कुलोंके संस्थापक माने गये थे। दोनोंका पराक्रमक्षेत्र एक था। दोनोंने मुसलमानोंके आक्रमणोंका प्रतिकार करनेमें ही अपनी सब शक्ति लगायी और दोनों एक समान प्रतापी थे। दोनों कट्टर स्वधर्माभिमानी थे। इतना ही क्यों, दोनों एकसे ही दृढ़ शिवोपासक थे। गुहिलोत और चाहमान कुलोंके कुलदेव 'शिव' ही हैं। जैसी गुहिलोतोंकी एकलिंगजीपर अत्यन्त श्रद्धा थी वैसी ही चाहमानोंकी साँभरके हर्षदेवपर थी। हर्षलेखमें तो यही कहा गया है कि गूवकराजने ही हर्षदेवका विस्तीर्ण देवालय बनवाया और उसके पश्चात् जो राजा हुए उन्होंने विपुल धन व्यय कर उसे भव्य रूप प्रदान किया। लेखमें कहा है—"श्रीहर्षः कुलदेवोस्यास्तस्माद्धिश्यः कुलक्रमः"—अर्थात् श्रीहर्ष चाहमानोंके कुलदेव हैं और उन्हींके प्रसादसे यह कुल वैभवके शिखरपर आरूढ़ हुआ। गुहिलोत

कुलकी भी एकलिंगजीके सम्बन्धमें यही धारणा है। सब बातोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि मुसलमानोंके आक्रमणोंका प्रतिकार करने और आर्यसंस्कृतिकी सुरक्षा करनेके निमित्त शिवभक्त राजपूतोंके कुल आगे बढ़े और सुप्रसिद्ध हुए। धर्म और राजनीतिका किस सीमातक सम्बन्ध है, इसका विवेचन हम तत्कालीन धर्मस्थितिका विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मुसलमानोंके आक्रमणोंके प्रतिकारका कठिन कार्य शिवोपासक लकुलीश सम्प्रदायवालोंने अगुआ होकर अपने ऊपर लिया था और चाहमान कुल उसी सम्प्रदायका अनुयायी था।

प्रथम गूवकके अनन्तर उसका पुत्र चन्द्रराज और उसके पश्चात् द्वितीय गूवक गद्दीपर बैठा। द्वितीय गूवकके पुत्र चन्दनने दिल्लीके तोमर जातिके रुद्रेण नामक राजाका पराभव कर विशाल कीर्ति सम्पादन की। इस प्रकारके वर्णनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय तोमरोंके पैर भारतमें भलीभाँति जम गये थे और उनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापन करने लगे थे। चन्दनका पुत्र महाराज वाक्पति उस समयके राजाओंमें अत्यन्त प्रतापी था। सन् ८०० से १००० (वि० ८५७ से १०५७) के बीच हुए प्रत्येक चाहमान राजासे वह श्रेष्ठ सिद्ध होता है। वाक्पतिके सम्बन्धमें हर्षलेखमें वर्णन है कि उसने तन्त्रपालका पराभव किया था। यह पता नहीं चलता कि तंत्रपाल किस देशका राजा था। विजोलियाके लेखमें उल्लेख है कि वाक्पतिको विन्ध्यनृपति कहते थे। इससे जान पड़ता है कि सांभरसे विन्ध्याचलतक उसने अपना अधिकार जमा लिया था। राजपूताना गजेटियर (जिल्द ३ व) के मतसे पृथ्वीराजरासोमें उल्लिखित माणिकराय यही था, परन्तु प्रमाणाभावसे इस मतके सम्बन्धमें कुछ लिखा नहीं जा सकता। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि वाक्पतिके कनिष्ठ पुत्र लक्ष्मणने ई० स० ९४३ (वि० सं १०००) में नाडूलमें इसी कुलकी एक स्वतन्त्र शाखा स्थापित की। सिरोही राज्यके वर्तमान राजा अपनेको इसी शाखाके वंशज मानते हैं।

वाक्पतिका ज्येष्ठ पुत्र सिंहराज सांभरका राजा था। उसके सम्बन्धके वर्णनसे ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त दानवीर था। उसने हर्षदेवके मन्दिरको विपुल सम्पत्ति दी थी और उसका छत्र तथा गुम्बज सोनेसे मढ़वा दिया था। सिंहराजकी दानवीरता, वैभव और पराक्रमकी तुलना-सूर्यवंशी माने गये, चाहमानोंके अत्यन्त पुरातन पूर्वज, राजा हरिश्चन्द्रके इन्हीं गुणोंके साथ की गयी है। इसने तोमरोंका पूर्ण पराभव किया और लक्ष्मणने अन्य बहुतसे राजाओंपर विजय पायी तथा कितनोंको कैद भी कर लिया था। सिंहराजके पश्चात् उसके पुत्र विग्रहराजके हाथमें राज्यसूत्र आया। यह भी सब प्रकारसे पिताकी ही तरह प्रतापी था। इसीके राजत्वकालमें हर्षलेख लिखा गया, इस कारण उसमें इसकी प्रचुर प्रशंसा की गयी है। हर्षदेवस्थानको इसने दो ग्राम प्रदान किये थे। विग्रहके बाद इसका भाई दुर्लभ राज्य करने लगा। इस पुस्तकमें दुर्लभके राज्यकाल तकका ही हम विचार करेंगे। महमूद गजनवीने भारतपर जब चढ़ाई की, तब सांभर किसके अधिकारमें था, इत्यादि बातोंका विचार पाँचवें पुस्तकमें किया जायगा।

हर्षशिलालेख दसवीं शताब्दी (वि० ९५८-१०५७) में लिखा गया था; इससे विदित होता है कि दसवीं सदीतक चाहमान सूर्यवंशी कहलाते थे। अन्य लेखोंमें भी इसका उल्लेख है। चौदहवीं शताब्दी (वि० १३५८-१४५७) तक उनकी यही दृढ़ धारणा थी, हमीरकाव्यमें, चाहमान सूर्यवंशी कैसे हुए, उनकी उत्पत्ति किससे हुई, उन्होंने अपनी गद्दी अजमेरमें क्यों स्थापित की, अजमेरके निकटके सरोवरका नाम 'पुष्कर' क्यों पड़ा, इत्यादिका विस्तृत वर्णन है। वह बड़ा ही मनोरंजक होनेके कारण यहाँ उद्धृत किया जाता है—"एक बार ब्रह्माको यज्ञ करनेकी इच्छा हुई, इस कारण आकाशमार्गसे वे पृथ्वीतलका निरीक्षण करने लगे। जब वे अजमेर प्रान्तका निरीक्षण कर रहे थे, तब उनके हाथका कमल पृथ्वीपर गिर पड़ा। उन्होंने वही स्थान यज्ञके लिए उपयुक्त समझा और वहीं यज्ञ किया। यज्ञरक्षाके लिए सूर्यसे उन्होंने चाहमानोंकी उत्पत्ति करायी। जहाँ कमल गिरा और ब्रह्माने यज्ञ किया, वहाँ एक सरोवर बन गया,

इसीसे उसका नाम पुष्कर (कमलसरोवर) पड़ा ।" ब्रह्माका यही एक स्थान क्यों है, भारतवर्षमें और कहीं ब्रह्माका मन्दिर क्यों नहीं है, उक्त आख्यायिकासे इसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही उससे यह भी मालूम हो जाता है कि सूर्यसे चाहमानोंकी सृष्टि कैसे हुई। यह आख्यायिका चाहे सच हो या झूठ, पर चाहमानोंकी उत्पत्तिकी विभिन्न कथाओंसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न भिन्न कुलोंकी उत्पत्तिकी कथाएँ मनमानी लिख डाली गयी होंगी और निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके लिए कोई ऐतिहासिक आधार है ही। कहीं शब्दपर खींचतान की गयी है, कहीं कल्पनाकी दौड़पर ही भरोसा रखा गया है और कहीं दन्तकथाओंके आधारपर ऐतिहासिक उलझनोंको सुलझानेका प्रयत्न किया गया है। उक्त आख्यायिकाके आधारपर चन्दबरदाईने चाहमान कुलका जो अग्निकुलसे सम्बन्ध जोड़ा है, वह बिलकुल नया सिद्ध होता है। सारांश, ऐसा प्रतीत होता है कि चाहमान संभवतः सूर्यवंशी क्षत्रिय थे और भारतमें उनका प्रवेश बहुत प्राचीन समयमें हुआ होगा। आधुनिक चाहमान अपनेको सूर्यवंशी न समझ कर अग्निवंशी समझते हैं, यह वस्तुस्थितिका विपर्यास मात्र है।

हर्षशिलालेख।

एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द २ पृष्ठ १२१

आद्यः श्रीगूवकाख्या प्रथित नरपतिश्चाहमानान्वयोभूत
श्रीमन्नागा (द्य ?) लोकप्रवरनृपसभाल(ब्ध)वीरप्रतिष्ठः ।
यस्य श्रीहर्षदेवे वरभवनमयी भौतली-कीर्तिमूर्ति
र्लोकेद्यापि स्थिरैषा प्रतपति परमैः ⏑– ⏑– [गैठं ?] ॥१३॥
पुत्रःश्रीचन्द्रराजो भवदमलयशास्तस्य तीव्रप्रतापः
सूनुस्तस्याथ भूपः प्रथम इव पुनर्गूवकाख्यः प्रतापी ।
तस्माच्छ्रीचन्दनोभूत्क्षितिपतिभयदस्तोमरेशं सदर्पं
हत्वा रुद्रेण भूपं समर (भुवि) [वक्षे] लाद्ये [न लब्धा] जयश्रीः ॥१४॥

ततः परमतेजस्वी सदा समरजित्वरः ।
श्रीमान्वाक्पतिराजाख्यो महाराजो भवत्सुतः ॥१५॥

येनादैन्यं स्वसैन्यं कथमपि दधता वाजिवल्गा मुमुक्षु
प्रागेव त्रासितेभः सरसिक (रि) रटड्डिंडिमौडिं ⌣ ⌣
वन्दक्ष्माभर्तुराज्ञां समदमभि (व) हन्नागतोनन्त पार्श्व
क्ष्मापालस्तन्त्रपालो दिशि दिशि गमितो ह्रीनिषण्णः प्रसण्ण (न्न): शूरस्येदं ॥१६॥

लोकैर्यो हि महीतले ननु हरिश्चन्द्रोपमो गीयते
त्यागैश्च (यं) जयैषुकी [र्ति ×] (र+) मला धर्मश्च यस्योज्व [ज्ज्व] लः ।
येनादायि हराय मन्दिरकृते भक्त्या प्रभूतं वसु
श्रीमद्वाक्पतिराज सूनुरसमः श्रीसिंहराजो भवत् ॥१७॥

हैममारोपितं येन शिवस्य भवनोपरि ।
पूर्णचन्द्रोपमं स्वीयं मूर्त्तं य (श) ⌣ [पिं?] डक (म्) ॥१८॥

......तोमरनायकं सलवणकं सैन्याधिपत्योद्धतं ।
युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्न्ना (र्णा) सिता जिंष्णुना ।
कारावेश्मनि भूरयश्च विधृतास्तावद्धि यावद् गृहे
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्त्ती स्वयम् ॥१९॥

[न्वि ×] महराजो भूत्तत्सुतो वासवोपमः ।
वंशलक्ष्मी र्जयश्रीश्च येनैते विधुरोद्धृते ॥२०॥

श्रीसिंहराज- रहिता किल चिंतयन्ती ।
भीतेव संप्रति विभु र्ननु को ममेति ।
येनात्मवा (बा) हुयुगले चिरसन्निवासं
सन्धीरितेति ददता निज [रा ×] जलक्ष्मीः ॥२१॥

येन दुष्टदमनेन सर्वतः साधिताखिलमही स्व वा (बा) हुभिः ।
लीलयैव वशवर्त्तिनी कृता किंकरीव निज पादयोस्तले ॥२२॥

यस्य चारुचरितं सतां सदा श्रृण्वतां जगति कीर्तितं जनैः ।
हृष्टिजात घनरोमकं···जायते तनुरलं मुहुर्मुहुः ॥२३॥

मुक्ताहारैः सुतारैः प्रतरलतुरगैश्चारुवस्त्रैश्च शस्त्रैः ।
कर्पूरैः पूगपूरै र्म्मलयतरुवरै र्हेमभारैरपारैः ॥
उद्यद्दानैः समानैश्चलकुलगिरिभिर्दन्तिवारैः सदारै
र्व्विव्याजैः प्रातिर—◡ ◡ भिरिति मृतैः प्राभृतैर्यः सिषेवे ॥ २४ ॥

छत्रधारी वरग्रामो, द्वितीयः शंकराणकः [। ×]
तेनेमौ हर्षना [थाय] (भ) क्तया दत्तौ सशासनौ ॥ २५ ॥
श्रीमद्दुर्लभराजेन योनुजेन विभूषितः [। ×]
लक्ष्मणेर्नेव काकुत्स्थो विष्णुनेव हलायुधः ॥ २६ ॥
[महा] राजाबली चासौ शम्भुभक्तिगुणोदया ।
श्रीहर्षः कुलदेवोस्यास्तस्मात्द्विग्यः कुलक्रमः ॥ २७ ॥
अनंतगोचरे श्रीमान् पण्डित औत्तरे स्व (श्व) रः ।
पंचार्थ- लाकुलाम्नाये विश्वरूपो भवद्गुरुः ॥ २८ ॥

बिजोलियाका लेख ।

जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल जिल्द ४ भाग १ पृष्ठ ४९—

विप्रश्रीवत्स- गोत्रे भूदहिच्छत्रपुरे पुरा ।
सामन्तोनंत सामंत पूर्णतल्लो नृपस्ततः ॥ १२ ॥
तस्माच्छ्री जयराजविग्रहनृपौ श्रीचन्द्र गोपेन्द्रको
तस्माद्दुर्लभगूर्वकौ शशिनृपो गूवाकसच्चन्दनौ ।
श्रीमद्वप्पयराज विन्ध्यनृपतिः श्रीसिंहराड् विग्रहौ
श्रीमद्दुर्लभगुंदु वाक्पति नृपाः श्रीवीर्यरामोनुजः ॥ १३ ॥
श्रीचण्डोवनिपेतिराणकधर श्रीसिंहलोट्टसल-
स्तद्भ्राताथ ततोपि वीसल नृपः श्रीराजदेवीप्रियः ।
पृथ्वीराज नृपोथ तत्तनुभवो रासल्य देवी विभु-
स्तत्पुत्रो जयदेव इत्यवनिपः सोमल्लदेवीपतिः ॥ १४ ॥

हत्वापाधिगर्मिचलाभिधयशो राजादि वीरत्रयं
क्षिप्रं क्रूर कृतांत वक्त्रकुहरे श्रीमार्ग दुर्गोन्नितं।
श्रीमत्सोल्लण दण्डनायकवरः संग्राम रंगांगणे
जीवन्नेव नियंत्रितः करभके येनेष्ठनि—सात् ॥ १५ ॥
अर्णो राजोस्य सूनुर्द्धृत हृदयहरिः सत्व वाशिष्टसीमो
गांभीर्यौदार्यवर्यः समभवदपरा लब्धमध्यो नदीत्सः।
तच्चित्रं जंतजाद्यः स्थितिरनृत महापंकहेतुर्न्न मध्यो
न श्रीमुक्तो न दोषाकररचितरति र्न जिह्वाधि सेव्यः ॥ १६ ॥
यद्राज्यं कुशवारणं प्रतिकृतं राजांकुशेन स्वयं
येनात्रैव न चित्र मेतत्पुनर्मन्यामहे तं प्रति।
तच्चित्रं प्रतिभासते सुकृतिना निर्वाण नारायण-
न्यक्काराचरणेन भंगकरणं श्रीदेवराजं प्रति ॥ १७ ॥
कुवलय विलासकर्ता विग्रहराजो जनिस्ततो चित्रं।
तत्तनयस्तच्चित्रं यत्र जडक्षीण सकलंकः ॥ १८ ॥

आदानत्वंचकभादानपते परस्य आदानः।
यस्य दधत्करवालः करालः करतलाकलितः ॥१९॥
कृतान्तपथसज्जोभूत्सज्जनो सज्जनो भुवः।
वैकुंतं कुंतपालागाद्यतो वैकुंतपालकः ॥२०॥
जाबालिपुरं ज्वालापुरं कृतापल्लिका पिप्पली।
वाततूलतुल्यं रोपात्तद्धलं न सौर्येण ॥२१॥
प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः।
ढिल्लिकाग्रहणश्रान्त माशिकालाभलंभितः ॥२२॥
तज्ज्येष्ठभ्रातृपुत्रोभूत् पृथ्वीराजः प्रभूपमः।
तस्मादर्जितदीनाणो हेमपर्वतदानतः ॥२३॥
अतिधर्मरते—पि पार्श्वनाथ स्वयंभुवे।
दत्तंमोराझरी ग्रामं भुक्तिमुक्तिश्च हेतुना ॥२४॥

स्वर्णादिदाननिवहैर्दशभिर्महद्भिस्तोलानरैर्नगरदानचयैश्च विप्राः।
येनार्चिताश्चतुरभूपति वस्तुपालमाक्रम्य चारु मनसिद्धिकरी गृहीतः ॥२५॥

सोमेश्वरा ल्लब्धराज्यस्ततः सोमेश्वरो नृपः।
सोमेश्वरनतो यस्माज्जन सोमेश्वरो भवत् ॥२६॥
प्रतापलंकेश्वर इत्यभिख्यां यः प्रासवान् प्रौढ़प्रभुप्रतापः।
यस्याभिमुख्ये वरवैरिमुख्या केचिन्मृताः केचिदभिद्रुताश्च ॥२७॥
तृतीयायां तिथौ वारे गुरौ तारे च हस्तके
वृद्धिनामनि योगे च करणे तैत्तिले तथा।

संवत् १२२६ फाल्गुन वदि ३ ॥ ताभारेवणा यामयोरंतराले गुहिलपुत्रा सदावर महंघणसिंहाभ्यां दत्तक्षेत्र डोहली १

चौथा प्रकरण।

कन्नौजके सम्राट् प्रतिहार।

गुहिलोतों और चाहमानोंकी तरह अरबोंका प्रतिकार करनेसे प्रतिहारोंका घराना भी इसी समय सुप्रसिद्ध होकर गुहिलोत घरानेकी तरह उन्नत हुआ। प्रतिहारोंने उत्तरभारतका प्रदेश धीरे धीरे हस्तगत कर कन्नौजके साम्राज्य-पदपर अधिकार कर लिया। टाड साहब गुहिलोतों या चाहमानोंकी तरह प्रतिहारोंका सम्मान नहीं करते। इसका कारण यह हो सकता है कि मुसलमानी अमलदारीमें यह घराना गिरता जा रहा था और अब तो नामशेष ही हो गया है। परन्तु टाडके पश्चात् इधर जो नये लेख उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें प्रतिहार घरानेकी विशेष उन्नतिके प्रमाण मिलते हैं। स्मिथ और भाण्डारकरने बहुत सावधानीसे इस घरानेके सम्बन्धमें खोज कर इसका सुश्रृंखल इतिहास लिखा है। बिलकुल हालकी खोजसे यह निश्चित हुआ है कि कन्नौजके 'वर्म'

घरानेका सम्राट्-पद ईसाकी नवम और दशम शताब्दीमें प्रतिहारोंके अधिकारमें निष्कण्टक रूपसे था। प्रतिहार घरानेके सम्बन्धको सब उपलब्ध सामग्री स्मिथ साहबने सन १९०९ के रायल एशियाटिक सोसाइटीके जर्नलमें अत्यन्त सुन्दर रीतिसे ग्रथित की है। परन्तु स्मिथके मतसे प्रतिहारोंका समावेश गुर्जर जातिमें होता है और गुर्जर एतद्देशीय नहीं हैं। इस मतका खण्डन हम पहले कर चुके हैं; उसका सारांश यह है कि एक तो प्रतिहार गुर्जर नहीं हैं और दूसरे गुर्जर एतद्देशीय ही हैं। स्मिथ साहबका उक्त भ्रान्त मत छोड़ दिया जाय, तो उनका लिखा प्रतिहारोंका शेष इतिहास मान्य हो सकता है। उसीका आधार लेकर और नवीन उपलब्ध सामग्रीका उपयोग कर तथा स्मिथ साहबके उल्लिखित लेखोंका स्वयं परीक्षण कर और उनका ठीक ठीक अर्थ लगाकर यह प्रकरण हम लिख रहे हैं।

ई० सन् १९०३-४ की आर्किआलाजिकल रिपोर्टमें भोजराजका सागरतालका लेख छपा है। उसकी प्रतिलिपि जिज्ञासु पाठकोंके सुभीतेके लिए आगे प्रकाशित की गयी है। इस लेखसे प्रतिहार घरानेकी उत्पत्ति और इस घरानेके प्राचीन राजाओंका अच्छा परिचय मिलता है। इस घरानेका प्रथम प्रसिद्ध राजा नागभट है। स्मिथके मतसे नागभटका समय ई० स० ७२८ से ७४० (वि० ७८५-७९७) है। प्रतिहार घरानेके मूलपुरुष श्रीरामचन्द्रके भाई लक्ष्मण माने गये हैं; क्योंकि वे रामचन्द्रके द्वारपाल अर्थात् प्रतिहारका काम करते थे। अतः इस घरानेकी गणना सूर्यवंशमें होती थी। उक्त लेखमें नागभट-के सम्बन्धमें निम्नलिखित उल्लेख है—"प्रतिहार (द्वाररक्षक) का चिह्न धारण करनेवाले इस वंशमें नागभटका जन्म हुआ।

जो पापरत बलन नामक म्लेछ राजाके विरुद्ध निरन्तर शस्त्र लिये रहनेके कारण जन्मसे ही चार हाथोंवाला प्रतीत होता था। इस वर्णनसे पता चलता है कि मूर्तिभंजक अरबोंसे लड़कर इसने विजय पायी थी। अरबोंने सिन्ध प्रान्तपर अधिकार कर पूर्वकी ओरका प्रान्त हस्तगत करना आरम्भ कर दिया था। यह सब वृत्तान्त पहिले लिखा जा चुका है। अरबोंपर विजय पाकर जिस प्रकार बाप्पारावलने कीर्ति सम्पादन की, उसी प्रकार नागभटने भी की और जिस प्रकार बाप्पाने गुहिलोत घरानेकी अथवा सामन्तदेवने चाहमान घरानेकी स्थापना की, उसी प्रकार प्रतिहार घरानेको स्थापना नागभटने की थी। स्मिथके मतसे 'भिनमाल' नगर नागभटकी राजधानी था, परन्तु लेखोंमें कहीं इसका उल्लेख नहीं है। कदाचित् प्राचीन समयमें लेख लिखनेवालोंको सभी स्थलोंके नामका निर्देश करना महत्वका न प्रतीत हुआ हो, क्योंकि वे उनसे भलीभाँति परिचित थे परन्तु हमारे लिए स्थलों-का ज्ञान लेना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यही नहीं, स्थलोंको जाने विना इतिहासकी शृङ्खला ही नहीं बाँधी जा सकती। अस्तु, यह निश्चित है कि पृथ्वीराज चौहानके समयमें नाहरराय प्रतिहारकी राजधानी (जोधपुरके निकट) मांडोर थी। इससे अनुमान होता है कि नागभटके समयमें भी प्रति-हारोंकी गद्दी मांडोरमें थी। नाहरराय और पृथ्वीराज चौहान-में जो लड़ाई हुई थी, उसका वर्णन आगे आयगा। मांडोरके उजड़े हुए पुराने राजमहलों और वहां उपलब्ध हुए पाली भाषाके शिलालेखोंसे ज्ञान पड़ता है कि प्राचीन समयमें मांडोर बहुत समृद्ध और महत्वका नगर था (देखो टाड जिल्द १ पृष्ठ २१०,)। हमारी धारणा है कि नागभटकी गद्दी मांडोरमें

ही थी। पिछले भागमें हम लिख चुके हैं कि आठवीं शताब्दी (वि० ७५८-८५७) के पूर्व भिनमालमें व्याघ्रमुखके वंशज 'चाप' वंशके राजा राज्य करते थे। अतः भिनमालमें नागभट-की राजधानी होना असम्भव जान पड़ता है। हमारे मतपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि भिनमाल और मांडोर ये दोनों नगर मारवाड़में थे और एक ही राजछत्रके अधीन थे। इस प्रान्तको पहिले गुर्जरत्रा कहते थे। गुर्जरत्रा मारवाड़ है, गुजरात नहीं। उस समय गुजरात 'लाट' नामसे प्रसिद्ध था। गुर्जरत्रामें एकछत्री राज्य था और वह भिनमालमें ही रहा होगा, अतः मांडोरमें दूसरे राज्यका होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सब तरहसे विचार करनेपर नागभटके मूलस्थान-का निश्चय करना कुछ कठिन अवश्य है, पर यह असन्दिग्ध है कि वह मारवाड़में ही कहीं रहा होगा। क्योंकि ईसाकी आठवीं सदीके आरम्भमें अरबोंके जितने आक्रमण मारवाड़-पर होते थे, उतने सांभर या चित्तौड़पर नहीं होते थे। नाग-भटने अरबोंसे युद्ध कर और उन्हें पराजित कर प्रसिद्धि पायी थी। इससे जान पड़ता है कि उसका कार्यक्षेत्र मारवाड़में ही कहीं था। अरबोंने सिन्ध प्रान्तपर ई० स० ७१२ (वि० ७६९) में अधिकार किया। इससे कुछ ही वर्षोंके पश्चात् वे मारवाड़-की ओर झुके होंगे। अतः स्मिथने जो नागभटका समय (ई० स० ७२८ से ७४७) निश्चित किया है वह ठीक प्रतीत होता है।

नागभटके पश्चात् उसका भतीजा ककुस्थ (अथवा कक्कुक) गद्दीपर बैठा। स्मिथके मतसे उसका राजत्वकाल ई० स० ७४० से ७५५ (वि० ७९७-८१२) तक था। ककुस्थके अनन्तर देवशक्ति (देवराज) राज्य करने लगा। उसका राजत्वकाल अनुमानतः ई० स० ७५५ से ७७० (वि० ८१२-

८२७) तक था। इस वंशमें अपने पराक्रमसे जो अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और जिसने सम्राट्-पदको प्राप्त किया, वह वत्सराज इसी देवराजका पुत्र था। वत्सराजने कन्नौजपर चढ़ाई की और वहांके भंडीकुलके राजाको हराकर साम्राज्यका अधिकार प्राप्त किया। वत्सराजके पराक्रमके सम्बन्धमें भोजके शिलालेखमें यह लिखा है—ख्याताद् भंडिकुलान्मदोत्कटकरिप्राकार दुर्लंघतो। यः साम्राज्यमधिज्य कार्मुकसखा संख्ये हठाद्ग्रहीत्। इस श्लोकका अर्थ इतिहास-कोविदोंने ठीक नहीं किया, इससे विपर्यास होना सम्भव है; अतः इसपर थोड़ा अधिक विचार करना आवश्यक है।

श्लोकका सरल अर्थ यह है—"मदोन्मत्त हाथियोंके घिरावसे जहां प्रवेश होना असम्भव था, उस साम्राज्य-पदको प्रसिद्ध भण्डीकुलसे युद्धमें धनुषकी सहायतासे पराक्रम कर छीन लिया।" अब यह देखना है कि 'वत्सराजने साम्राज्याधिकार हस्तगत किया,' इसका अर्थ क्या है। अति प्राचीन समयसे उत्तर भारतके लोग साम्राज्य और सामन्तका अर्थ जानते हैं। इस सम्बन्धका पहिला उल्लेख महाभारतके सभापर्वमें है। श्रीकृष्ण कहते हैं—"ब्राह्मणोंके भयसे सब क्षत्रियोंने मिलकर राजकूट स्थापन किया और मगध देशके जरासन्धको उसका अधिपति बनाया।" जरासन्धको हरानेपर सार्वभौम पदका मान पाण्डवोंको प्राप्त हुआ या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके समयमें (अर्थात् ईसवी सन्के पूर्व लगभग ३०० वर्षों तक) सम्राट्पदके अधिकारी मगधमें अवश्य थे। उस समय मगधमें कदाचित् नन्दवंशका अधिराज्य था। चन्द्रगुप्तने सार्वभौमत्वके अधिकार अधिक

दृढ़मूल किये और अशोकने अपने पराक्रमसे सम्राट्पद प्राप्त किया। पाटलिपुत्र नगरी सार्वभौम साम्राज्यकी राजधानी बनी। आगे चलकर वहीं विभिन्न वंशोंके सम्राट् भिन्न भिन्न समयमें हुए। अन्तमें पाटलिपुत्रमें गुप्त राजाओंका साम्राज्य स्थापित हुआ। गुप्त राजाओंमें समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विशेष विख्यात थे। इसके अनन्तर भारतमें हूणोंने प्रवेश किया। उन्होंने गुप्तोंको हराकर उनकी राजधानी उध्वस्त कर डाली। तबसे पाटलिपुत्रका महत्व घटने लगा। बादमें हर्षने कन्नौजमें साम्राज्यपद कैसे स्थापित किया, इसका विवरण पहिली पुस्तकमें दिया ही जा चुका है। हर्षने अपने उत्तम राज्यप्रबन्धसे अन्य कई राजाओंको अपने वशमें कर लिया था। उसके पास साठ हजार गजसेना थी और वह स्वयं बड़ा पराक्रमी था। कन्नौज नगरका महत्व बहुत बढ़ गया था और प्रत्येक पराक्रमी राजा चाहता था कि मेरी गद्दी कन्नौजमें ही रहे। मुसलमानोंके राजत्वकालमें भी यही बात थी। हर एक मुसलमान सरदार चाहता था कि दिल्लीके बादशाहको हराकर मैं ही तख्तनशीन होऊँ। सभी शूर पुरुष महत्वाकांक्षी होते हैं। महत्वाकांक्षासे ही प्रेरित होकर माण्डोरके वत्सराजने कन्नौजपर चढ़ाई की और उसमें वह विजयी भी हुआ। वर्मवंश धीरे धीरे क्षीण हो ही रहा था, अतः वत्सराज जैसे प्रतापी राजाका आक्रमण होनेपर वह कहाँतक ठहर सकता था? कन्नौज उसके हाथसे निकल गया। इतिहासका यह एक साधारण नियम प्रतीत होता है कि हर किसी राज्यकी अभिवृद्धिकी साधारण मर्यादा दो सौ वर्ष होती है। इसके अनन्तर ह्रासका आरम्भ होने लगता है। कन्नौजके वर्मवंशकी भी यही हालत हुई।

वर्मवंशका अन्तिम पुरुष कौन था और किस शकमें वत्सराजने कन्नौजपर चढ़ाई की, इसका उल्लेख भोजके लेखमें नहीं है। एक जैन ग्रन्थके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि वत्सराजने सन् ७८३ (वि ८४०) के बाद कन्नौजपर चढ़ाई की थी। एक जैन लेखके आधारपर स्मिथका अनुमान है कि उस समय कन्नौजकी गद्दीपर इन्द्रराज विराजमान था। "शक ७०५ में इन्द्रायुध उत्तरका, कृष्णराजका पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण देशका, अवन्ति नामक राजा (अवन्ति नगरीका नहीं) पूर्वदेशका, वत्सराज पश्चिम देशका और सौर्योंके देशका अधिपति जयवराह था।" इस अवतरणसे स्पष्ट है कि शक ७०५ ❀ अर्थात् सन् ७८३ में कन्नौजकी गद्दीपर इन्द्रराज अथवा इन्द्रायुध विराजमान था और मारवाड़में वत्सराज राज्य करता था।

यहाँ श्लोकके 'अवन्ति भूपति' शब्दका स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'अवन्ति भूपति' का अर्थ 'अवन्ति नगरी अथवा मालवेका राजा न कर, 'अवन्ति' नामक राजा, ऐसा ही करना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि श्लोकमें स्पष्ट ही कहा है कि अवन्ति भूपतिका राज्य पूर्वमें था किन्तु अवन्ति पूर्वमें नहीं है। तात्पर्य यह कि यद्यपि ७८० (वि० ८३७) में इन्द्रायुध राजा वत्सराजके द्वारा पराजित हो गया था, तथापि सन् ७८३ (वि० ८४०) तक वही कन्नौजकी गद्दीपर था। पराजित सम्राट् सिंहासनपर कैसे रह सकता है, इसका उत्तर उत्तर-

❀ शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां।
पातीन्द्रायुध-नाम्निकृष्ण नृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्॥
पूर्वां श्रीमदवन्ति-भूभृति नृपे वत्सादि राजेऽपरां।
सौर्याणामधिमण्डले जययुते वीरे वराहेऽवति॥

भारतके इतिहासकी नाना प्रकारके उलटफेरोंकी घटनाओंका विचार करनेसे मिल जाता है। जो राजवंश क्षीण हो जाता था, उसके अन्तिम पुरुषकी जीवित अवस्थातक उसीके नामसे राजकाज होता था और उसके पश्चात् विजयी वंश गद्दीका मालिक बनता था। यही नहीं, इतिहासमें ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि सार्वभौम वंशका उच्छेद हो जानेपर, उस वंश-का दूरका भी कोई पुरुष यदि बच रहा हो, तो उसे बहुतेरे सरदार सहायता देकर बलवा कर देते थे। तात्पर्य, लोगोंमें प्राचीनता और प्राचीन राजवंशका बड़ा अभिमान होता था। जनताका यही आग्रह रहता था कि शासन-सूत्र चाहे किसीके हाथमें क्यों न हो, राज्यशासन प्राचीन राजवंशके नामसे ही होना चाहिये। जनता अत्यन्त पुराणप्रिय होती है। जनताका यह मनोभाव देखकर ही विजयी शासक विजितोंके प्राचीन राजवंशोंका एकाएक विध्वंस नहीं करते। इसके बिलकुल हालके उदाहरण मराठों तथा अंग्रेजोंके शासन-कालमें ही मिल सकते हैं। यही नहीं, पुराने पराभूत राजाकी ओरसे ही राज्यसंचालन हो, इसलिए पुराने राजवंशके पक्षपातियों और विजयी सैनिकोंमें युद्ध तक छिड़ जाता था। दिल्लीका राज्यपदाधिकारी परंपरागत रूपसे मुगल राजवंश ही रहे, किन्तु कोष, सेना, कर तहसील आदि शासनसूत्र अपने हाथ आ जायँ, इसलिये १८ वीं सदी (वि० १७५८-१८५७) में अंग्रेजों, मराठों और पठानोंमें बड़ी स्पर्धा थी। पूर्वके प्रान्त अंग्रेज दबा बैठे थे। दक्षिण और पश्चिमके प्रान्त मराठों और अफ़गानोंने हस्तगत कर लिये थे। तीनों दिल्लीके राजवंशकी रक्षाके बहाने आपसमें जूझ रहे थे। ईसाकी आठवीं शताब्दी (वि० ७५८-८५७) में वत्सराजके समयमें

भी यही दशा थी । वत्सराजने पश्चिमकी ओरसे चढाई कर कन्नौजका साम्राज्य पादाक्रान्त किया, तब बंगालके अधिपति गोपालराज (अर्थात् अवन्ति) और दक्षिणकी ओरसे राष्ट्रकूटों (अर्थात् मराठों) ने उसपर चढ़ाई की । पालवंश तथा राष्ट्रकूटोंके लेखोंसे ज्ञात होता है कि वत्सराजने गोपालराजको हराकर गौड़-बंगाल (पूर्व और पश्चिम बंगाल) के अधिपतिके राजचिह्न (दो छत्र) छीन लिये; परन्तु राष्ट्रकूटोंके राजा ध्रुवने वत्सराजको अपना पराक्रम दिखाकर उससे गौड़-बंगालके वे दोनों राजछत्र लिये और उसे गुर्जर प्रान्त अर्थात् मारवाड़तक हटा दिया ।

यह वर्णन राष्ट्रकूट-लेखका है । परन्तु इससे वत्सराज और गोपालकी लड़ाई कहाँ हुई, वत्सराजका पराभव ध्रुवने कब और कैसे किया, इसका कुछ पता नहीं चलता । युद्ध-समयमें किसकी कितनी सेना थी और वह किस प्रकारकी थी, इसका भी कहीं उल्लेख नहीं है । यह अनुमान किया जा सकता है कि वत्सराजका प्रान्त रूक्ष और उष्ण होनेसे उसके पास गजसेना अधिक न रही होगी, तीरन्दाजों और घुड़सवारोंकी ही संख्या अधिक होगी (राजपूत घोड़ेपर चढ़नेमें बड़े कुशल होते हैं)। बंगाल और कन्नौजके राजाओंके पास गजसेना रही होगी । इतिहाससे यह सिद्ध ही है कि हर्षके पास साठ सहस्र गजसेना थी । अतः उसके उत्तराधिकारीके पास भी उसका होना सम्भव है । इसीसे भोजके लेखमें लिखा है कि हाथियोंकी दीवारसे घिरा हुआ होनेपर भी कन्नौजका राज्य वत्सराजने हस्तगत कर लिया । मराठोंकी गजसेना और अश्वसेना तो प्राचीनकालसे ही प्रसिद्ध है (देखो ह्युएनसंग कृत वर्णन और हर्षचरित प्रथम भाग)। इस कारण

वत्सराज यद्यपि कन्नौज और बंगालपर विजय पा सका, तथापि राष्ट्रकूटोंके सामने उसकी दाल नहीं गली।

इस प्रकार कन्नौज जीतनेका वत्सराजका प्रयत्न विफल हुआ परन्तु वत्सराजके पुत्रने अपने पिताका उद्देश्य, बड़ा परिश्रम दिखला कर, सिद्ध किया। वत्सराजके पुत्रका नाम नागभट था। इसी नागभट (दूसरे) को कन्नौजके साम्राज्य-संस्थापकका मान मिला है। नागभटके दिग्विजय-वर्णनके चार श्लोक भोजलेखमें मिलते हैं जिनसे उसके पराक्रमका अनुमान किया जा सकता है। नागभटने प्रथम कन्नौजके सामन्तोंका पराभव कर, फिर कन्नौजपर चढ़ाई की (आन्ध्र, सैन्धव, कलिंग, विदर्भ आदि राजा कन्नौजके सामन्त थे)। नागभटने उनका पराभव कर उन्हें वशमें किया और उनसे राजस्व लेना आरम्भ किया। हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासमें एक विशेष बात यह देखी जाती है कि यहाँ युद्धमें जो राजा पराजित हो जाता था, विजेता उसकी भूमि नहीं हरण करता था, न वहाँ अपना सिक्का ही जमाता था, केवल उससे कर ले लेता था। दिग्विजयका यह अर्थ नहीं था कि सब राज्योंको उजाड़कर वहाँ अपना प्रभुत्व जमाया जाय और वहाँका शासन-सूत्र अपने हाथमें ले लिया जाय। विजित राष्ट्रोंके राजाओंसे अपना आधिपत्य स्वीकार करा लेना ही दिग्विजयका उद्देश्य होता था। सार्वभौमपदका भी यही अर्थ है कि सब राजा विजेताका आधिपत्य स्वीकार कर लें। वे राजा सार्वभौम राजाके 'माण्डलिक' कहलाते, परन्तु राज्य-शासनमें वे किसी प्रकार परतंत्र नहीं होते थे। अस्तु, इस प्रकार दिग्विजय कर, नागभटने वङ्गाधिपतिका पराभव किया। इसी वङ्गाधिपतिने पहिले कन्नौजके इन्द्रराजको

हराकर उसके स्थानमें चक्रायुधको कन्नौजका राजा बनाया था। सम्राट् चक्रायुधने फिर वंगाधिपतिका आश्रय ग्रहण किया। इसी निमित्तको * आगे कर नागभटने उसपर चढ़ाई की और वह विजयी भी हुआ। इसी प्रकारके साधारण निमित्तोंका आधार ग्रहण कर विजयेच्छु और महत्वाकांक्षी वीर अपना काम बना लेते हैं। मुसलमानोंके राजत्वकालमें ऐसा ही दृश्य देख पड़ता है। दिल्लीश्वर शाह आलमने अंग्रेजोंका आश्रय लिया, उसके इसी अपराधपर मराठोंने उसपर चढ़ाई की और उसे पदच्युत कर बाबरके एक वंशजको गद्दीपर बैठाया। नागभटने चक्रायुधका पराभव किया, परन्तु उसे पदच्युत नहीं किया, 'विजय नम्रव पुर्यराजत'—उलटे वह उसे गद्दीपर बैठाकर, स्वयं सामन्तों जैसा विनयपूर्ण बर्ताव उसके साथ करने लगा। इससे वह बहुत ही लोकप्रिय हो गया। कुछ समय बीतनेपर नागभटने स्वयं साम्राज्यपदाभिषेक करा लिया और वह कन्नौजका शासन करने लगा। बुचकला-लेख (ए० इंडि० पृ० १६८) में नागभट और वत्सराज, दोनोंके लिए सार्वभौमत्वसूचक विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। "परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर" का विरुद दोनोंके नामोंके साथ है। इससे प्रतीत होता है कि पहले पहल वत्सराजने ही कन्नौजकी विजय की थी। नागभट भी सम्राट् पदाभिषिक्त हुआ था, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु प्रश्न यह है कि नागभट कन्नौजमें ही राज्य करता था या और कहीं? बुचकला-लेखमें, जो सन् ८१५ (वि० ८७२) के लगभग लिखा गया था, कहीं कन्नौजका उल्लेख नहीं है। स्मिथका अनुमान है कि नागभटने सन् ८१० (वि० ८६७) के लगभग

* पराश्रयकृत स्फुट नीचभावम्।

कन्नौजमें अपनी गद्दी स्थापित की और इसके पश्चात् सन् ८१६ (वि० ८७३) में चक्रायुधके साथ वर्म वंशका अन्त हो गया। (प्रथम पुस्तक देखो)

कन्नौज-विजयके बाद साम्राज्यपदपर प्रतिष्ठित हो कर नागभटने कन्नौजके सब सामन्तोंको अधीन कर लिया था। लेखोंमें उसके पादाक्रान्त किये देशों (अर्थात् उन देशोंके सामन्तों) की जो सूची मिलती है, उससे कन्नौजके साम्राज्यकी सीमा निर्धारित की जा सकती है। आनर्त (उत्तर गुजरात), मालवा, किरात (विन्ध्य प्रान्त), तुरुष्क, वत्स (प्रयाग), मत्स्य (जयपुर) और अन्य देशोंके किले नागभटने हस्तगत किये थे। अतः कन्नौजका साम्राज्य उत्तरमें हिमालयसे दक्षिणमें काठियावाड़तक और पूर्वमें प्रयागसे लेकर पश्चिममें पंजाबतक फैला था। 'तुरुष्क' किस प्रान्तका नाम था, इसका निश्चय करना कठिन है। स्मिथके मतानुसार तुरुष्क सिन्ध प्रान्त है। सिन्ध प्रान्तपर ई० स० ७१२ (वि० ७६९) में अरबोंने अधिकार किया था और उक्त लेख ई० स० ८५० (वि० ९०७) का है। अतः इस लेखके समयमें नागभटने अरबोंको कैसे हराया होगा, यह एक समस्या ही है। तुरुष्क प्रान्त कौनसा था, यह हम एक टिप्पणीमें विस्तारके साथ बतावेंगे।

स्मिथके मतसे दूसरे नागभटका राजत्वकाल सन् ८०० से ८२५ तक (वि० ८५७-८८२) था और यह ठीक भी जंचता है। चक्रायुधको आश्रय देनेवाले वङ्गाधिपति धर्मपालका उसने पराभव किया, इससे अब उसका कोई प्रबल शत्रु ही नहीं बच रहा था। परन्तु वत्सराजकी तरह नागभटको भी राष्ट्रकूटोंने परास्त किया था, यद्यपि यह बात सही है कि राष्ट्रकूट

उसके पीछे बहुत नहीं पड़े; नहीं तो कन्नौजका राज्य राष्ट्रकूटों-के ही हाथ आ जाता। परन्तु कन्नौजकी गद्दी नागभटके पश्चात् आठ पीढ़ियोंतक उसीके वंशजोंके पास रही।

नागभटके पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र राजकाज देखने लगा। सन् ८२५ से ८४० (वि० ८८२-८९७) तक उसके राज्य कर चुकने पर मिहिर (भोजराज) को राज्यपद प्राप्त हुआ। प्रतिहार वंशमें भोज जैसा प्रतापी पुरुष दूसरा नहीं हुआ और उसका राजत्वकाल भी सबसे अधिक अर्थात् ५० वर्ष—सन् ८४० से ८९० तक (वि० ८९७-९४७) था। सागरताललेखमें भोजराजकी खूब स्तुति की गयी है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यह लेख उसके समयमें ही लिखा गया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका आधिपत्य पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और हिमालयसे विन्ध्य पर्वततक सर्वमान्य था। कन्नौजका महत्वपूर्ण प्रतिस्पर्धी बंगालका राजा था। भोज-राजने उसका पराभव किया परन्तु राष्ट्रकूटोंको वह परास्त न कर सका। उलटे सन् ८५७ (वि० ९१४) की 'बगुमरा' सनद-से ज्ञात होता है कि यद्यपि भोजराजकी सत्ता सर्वत्र फैली हुई थी, तो भी राष्ट्रकूटोंके राजा ध्रुवनिरुपमने उसका पराभव किया था (धामव्याप्त दिगन्तरोऽपि मिहिरः सद्धश्य वाहा-न्वितः)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय भी मिहिरकी सेना-में घुड़सवारोंकी ही संख्या अधिक थी। बिलहारी और काशीके लेखोंसे (एपि० इंडि० पृ० २५२) ज्ञात होता है कि चेदी (हैहय) देशका हैहय कोक्कलदेव भोजका समकालीन था और वह भोजराजका समर्थक भी था। "भोजे वल्लभराजे श्री-हर्षे चित्रकूटभूपाले। शंकरगणेन राजनि यस्यासीदभयदः पाणिः॥" इस श्लोकमें कोक्कलदेवकी स्तुति अतिशयोक्तिपूर्ण

जान पड़ती है। परन्तु इससे प्रतीत होता है कि कन्नौजका साम्राज्य आग्नेय दिशामें यमुनातटतक फैला हुआ था।

भोजराजके राज्य-प्रबन्धका वर्णन अलमसऊदी नामक अरबी प्रवासीने सन् ८५१ (वि० ६०८) में लिख रखा है। वह कहता है "गूज्जरके राजाके पास बड़ी भारी सेना है। उसका अश्वदल अद्वितीय है और उसके पास ऊंटकी सेना भी है। वह अत्यन्त सम्पत्तिशाली है और उसके राज्यमें चोरोंका भय नहीं है" (ईलियट भा० १)। इसका अर्थ यह है कि कन्नौजका साम्राज्यपद जबतक वर्मवंशके हाथ था, तबतक कन्नौजकी सेनामें 'गजदल' अधिक था, परन्तु वह पद प्रतिहार वंशके हाथ आनेपर वहांकी सेनामें घुड़सवारोंका महत्व बढ़ा। इसका कारण यह है कि मूल प्रतिहार वंश मारवाड़का है, मारवाड़में घोड़ेपर चढ़नेकी लोगोंकी विशेष अभिरुचि होती है और चपलताके कारण युद्धमें घोड़ेका अधिक उपयोग होता है। अरब लोग कन्नौजके राज्यको 'जूजर' (गुर्जरों) का राज्य कहते थे। इसका कारण एक तो यह है कि प्रतिहारोंका मूल देश गुर्जरत्रा (वर्तमान मारवाड़) है, दूसरे अरबों द्वारा विजित सिन्ध प्रान्तसे, जहां वे लोग बस भी गये थे, सटा हुआ ही गुर्जरत्रा देश है। इस कारण प्रतिहार वंशके वैरी और अरबोंके सहायक राष्ट्रकूट लोग भी प्रतिहारोंको 'गुर्जर' ही कहते थे। परन्तु कन्नौजके प्रतिहारोंने अपनेको कभी 'गुर्जर' नहीं कहा, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

भोजके पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल (निर्भयराज) गद्दीपर बैठा। उसका राजत्वकाल अनुमानतः सन् ८६० से ६०८ (वि० ६४७ से ६६५) तक था। उसका गुरु प्रसिद्ध कवि और नाटककार राजशेखर था। राजशेखरके ग्रन्थोंमें

भी उसके महेन्द्रपाल और महेन्द्रपालके पुत्र महीपालके गुरु होनेका उल्लेख है। भोजराजके द्वारा सम्पादित विशाल राज्यकी महेन्द्रपालने भलीभाँति रक्षा की। ताम्रपट इत्यादिसे उसके राज्यका विस्तार अनायास निश्चित किया जा सकता है। सौराष्ट्र, अवध और पंजाबका करनाल प्रान्त उसके राज्यके अन्तर्गत था। चालुक्याधिपति बलवर्म राजाके ताम्रपटमें महेन्द्रपालके नामके साथ 'महाराजाधिराज परम-भट्टारक परमेश्वर' यही विरुदावली लिखी है। इससे जान पड़ता है कि महेन्द्रपाल चक्रवर्ती सम्राट् था और चालुक्य वंशका उक्त (गुजरातका) राजा उसका सामन्त था। कन्नौज दरबारकी ओरसे दिये जानेवाले बालकीय प्रान्तके एक ग्राम (दिघ्वा-डुबौलि) के दानपत्रसे ज्ञात होता है कि अवध प्रान्त भी कन्नौजके साम्राज्यके अन्तर्गत था। ललित-पुरके निकट उपलब्ध हुए 'सियाडोनी' लेख (इस लेखका समय ई० स० ६०३ = वि० ६६० है) में साम्राज्यान्तर्गत साम-न्तोंके राज्य-प्रबन्ध और राजनीतिक परिस्थितिके सम्बन्धमें बहुतसी बातें लिखी हैं। इनका विचार स्वतन्त्र प्रकरणमें ही करना उचित होगा। महेन्द्रपालके समयमें ये लेख लिखे गये हैं, इस कारण इनका निर्देश यहाँ कर दिया गया है।

महेन्द्रपालके अनन्तर उसका ज्येष्ठ पुत्र दूसरा भोज गद्दीपर बैठा। उसका राजत्वकाल कुल दो वर्षोंका (सन् ६०८ से ६१० तक = वि० ६६५-६६७) था। भोजके पश्चात् उसका छोटा भाई महीपाल राज्याधिकारी हुआ। उसके अन्य नाम क्षितिपाल, हेरम्बपाल और विनायकपाल थे। विभिन्न लेखोंसे उसका राजत्वकाल सन् ६१० से ६४० (वि० ६६७ से ६६७) तक था (स्मिथ-रा० ए० सो० ज० १६०६ पृ० २६६)। इसी राजाके

समयसे कन्नौजका ह्रास आरम्भ हुआ। राष्ट्रकूट लेखोंमें तो लिखा है कि तीसरे इन्द्रराजने ९१५ से ९१७ (वि० ९७२-९७४)के आस पास कन्नौजपर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की। पम्पनामक कानड़ी कविकी कवितासे जाना जाता है कि उसके आश्रय-दाता अरिकेसरी कर्नाटके पिता नरसिंह चालुक्यने कन्नौज-पर चढ़ाई कर अपने घोड़ोंको गङ्गा-यमुनाके सङ्गममें नहलाया। इससे प्रतीत होता है कि नरसिंह चालुक्य इन्द्रराजका माण्डलिक था और उसने कन्नौजकी चढ़ाईमें उसे सहायता दी थी। अस्तु, कन्नौजका पराभव इस प्रकार हुआ सही, किन्तु उसका वैभव कदाचित् महीपालके राजत्वकालमें भी पूर्ववत् बना रहा। इसी राजाके दरबारमें राजशेखरके लिखे 'बालभारत, (प्रचण्ड पाण्डव) नामक नाटकका अभिनय किया गया था।

हड्डाल लेखोंमें, जो २२ दिसम्बर ९१४ (७ पौष ९७१) को लिखे गये थे, सामन्ताधिपति धरणीवराह नामक चापराज द्वारा दी जानेवाली सनदोंका उल्लेख है (इंडि० एंटि० जि० १२, पृ० १९०)। उसमें लिखा है कि महीपाल सार्वभौम राजा था और काठियावाड़ उसीके साम्राज्यके अन्तर्गत था (राजा-धिराज परमेश्वर महीपाल देवपाल प्रसादतः समनुशासता)। इससे एक तो यह सिद्ध होता है कि ९१४ (वि० ९७१) तक काठियावाड़ कन्नौज साम्राज्यके अन्तर्गत था। दूसरे, यह कि ९६१ में चापवंश नष्ट हुआ और अनहिलवाड़ेमें मूलराज चालुक्यने नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। अतः कन्नौज-साम्राज्यसे काठियावाड़के पृथक् होनेका समय ई० स० ९१४ (वि०९७१) के बाद और ई० स० ९६१ (वि० १०१८) के पहले है। स्मिथका कथन है कि "अनुमानतः तीसरे गोविन्द-

राजने महीपालके राजत्वकालमें ई० स० ९१६ (वि० ९७३) के आसपास गुर्जरोंपर चढ़ाई की, उसी समय काठियावाड़-पर उसने अपना अधिकार जमा लिया।" मतलब यह कि इन्द्रराजके कन्नौजपर चढ़ाई करनेके थोड़े ही दिनोंके बाद काठियावाड़ कन्नौजकी अधीनतासे निकल गया। तभीसे कन्नौजके ह्रासका भी आरम्भ हुआ। फिर भी सन् ९१३ (वि० ९७०) में कन्नौज साम्राज्यकी पूर्वसीमा काशीतक थी, यह 'असनी' और काशीके लेखोंसे (यथाक्रम सन् ९१७ और ९३१ = वि० ९७४ तथा ९८८) स्पष्ट है। इन लेखोंमें महीपाल नहीं, किन्तु महीशपाल और विनायकपाल, इन दो नामोंका उल्लेख है। खजुराहोके एक टूटे-फूटे लेखमें लिखा है कि क्षितिपालने एक चन्देल (सम्भवतः यही हर्ष है) राजाकी सहायतासे अपना गत वैभव और सम्राट्‌पद पुनः प्राप्त किया। सन् ९१६ (वि० ९७३) में इन्द्र (तीसरे) ने कन्नौजको हराया, उसके पश्चात् ही ये लेख लिखे गये हैं।

महीपालके पश्चात् उसका पुत्र देवपाल राज्यारूढ़ हुआ। उसका राजत्वकाल सन् ९४० से ९५५ (वि० ९९७-१०१२) तक था। ९४८ ई० (वि० १००५) के खजुराहोके लेखमें उसे 'राजाधिराज' कहा है। उसके द्वारा यशोवर्मा चन्देलको दी गयी वैकुण्ठ अथवा विष्णुकी मूर्तिका उल्लेख भी उसमें है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि देवपाल अधिराज था, तथापि उसकी सत्ता घट चली थी। उसे औरोंसे सहायता लेनी पड़ती थी और उसका पुरस्कार भी देना पड़ता था। वैकुण्ठ मूर्तिका वृत्तान्त इस प्रकार है—"भोट अथवा तिब्बतका राजा यह मूर्ति कैलाससे ले आया (एपि० इंडि० १,१३४)। उसने इसे कीरदेशके राजा 'साही' को दिया। देवपालने साही

राजाको 'गजदल' के द्वारा सहायता दी, इस उपकारके बदले साही राजाने यह मूर्ति देवपालको अर्पित कर दी। देवपालसे वह यशोवर्माको मिली।

देवपालके अनन्तर उसका सौतेला भाई विजयपाल राज्याधिकारी हुआ। उसने सन् ९५५ से ९९० (वि० १०१२–१०४७) तक राज्य किया। मथनदेव नामक एक सरदारके राजौर-लेखमें उसे 'अधिराज' लिखा है (एपि० इंडि० ३, २६६)।

इससे ज्ञात होता है कि अबतक कन्नौजकी सत्ता अंशतः मानी जाती थी। कन्नौजका ह्रास बराबर हो रहा था। विजयपालके राजत्वकालमें मूलराज सोलंकीने उससे गुजरात प्रान्त छीन लिया था। मालवा भी स्वतन्त्र हो गया था और वहां मुंजराज राज्य करता था। जझोतीका राज्य चन्देलके हाथ चला गया था और वह (चन्देल) भी अत्यन्त प्रबल हो गया था। इसने ग्वालियरके अधिकांश प्रान्तपर अधिकार कर लिया था और कन्नौजकी सत्ता ठुकरा कर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। सारांश, वज्रदामनके अतिरिक्त अन्य माण्डलिक राजा तथा सरदार कन्नौजकी सत्ताको नहीं मानते थे, इस राजाके राज्यकार्यकी और बातें अज्ञात हैं। पंजाबके जयपालसे सबुक्तगीनका सन् ९९० (वि० १०४७) में जो घोर युद्ध हुआ था उस समय विजयपालने जयपालको सहायता दी थी। विजयपालके बाद राज्यपाल गद्दीपर बैठा। स्मिथके मतानुसार उसने ९९० से १०२० (वि० १०४७-१०७७) तक राज्य किया। इसी राजाके समयमें कन्नौजका राज्य नष्ट हुआ। महमूद गज़नवीकी चढ़ाईका वर्णन इस पुस्तकके तीसरे भागमें किया जायगा। अतः कन्नौजके ह्रासका विचार भी उसीके साथ करना उचित होगा।

प्रतिहार वंशके उपर्युक्त संक्षिप्त इतिहाससे प्रकट है कि पहिले नागभटने गुर्जरत्रा (मारवाड़) में अरबोंको हराकर सन् ७२५ (वि० ७८२) में नया राज्य स्थापित किया। उसके पौत्र दूसरे नागभटने ८१५ के लगभग कन्नौजकी विजय कर वहीं अपनी राजधानी स्थापित की। ८०० से १००० (वि० ८५७-१०५७) के बीच इस वंशमें भोज और महेन्द्रपाल जैसे अत्यन्त पराक्रमी तथा वैभवसम्पन्न राजा हुए। उनके समयमें कन्नौजके साम्राज्यका पूर्ण विस्तार हुआ। प्रायः सम्पूर्ण आर्यावर्त उनके अधीन था और उनके शासनकालमें प्रजा भी बहुत सुखी थी क्योंकि उनकी शासनप्रणाली न्यायपूर्ण तथा शान्तिवर्द्धक थी। इस राजवंशके दफ्तरके कागजों और दानपत्रोंकी पद्धति हर्षके अनुकरणसे स्थिर की गयी थी। प्रत्येक राजाके आज्ञापत्रमें भूतपूर्व राजाओंका उल्लेख संक्षिप्त रूपसे किया गया है। यह पद्धति हर्ष और मोगलोंके दानपत्रों और आज्ञापत्रोंमें देख पड़ती है। इसी तरह प्रत्येक राजाकी पटरानीका उल्लेख भी पत्रोंमें है और कहीं कहीं उपास्य देवताओंके नाम भी लिखे गये हैं। हमारे कथनका स्पष्टीकरण भोजराजके दौलतपुर वाले दानपत्र और महेन्द्रपालके दिघ्वा-दुबौली लेखके निम्न लिखित अवतरणोंसे हो जायगा।

परम वैष्णव	देवराज	भूयिका देवी
" माहेश्वर	वत्सराज	सुन्दरी देवी
" भगवतीभक्तो	नागभट	अप्रा देवी
" आदित्यभक्त	रामभद्र	चन्द्र भट्टारिका
" भगवतीभक्तो	भोज	
" "	महेन्द्रपाल	देहनागा
" वैष्णव	भोज	महादेवी
" आदित्यभक्त	महीपाल	

ऊपर दिये हुए मोहरोंपरके मजमूनसे स्वभावतः हर्षकी मोहरोंके मजमूनकी याद आती है। हर्षकी मोहरोंके मजमून में हर एक राजाकी माका और उपास्य देवताका नाम रहता है। हर्ष और प्रतिहारोंके उपास्योंमें बड़ा अन्तर है। हर्षके कट्टर बौद्ध-मतावलम्बी होनेके कारण उसके लेखोंमें सौगत (बुद्ध) का उल्लेख है (यथा—परम सौगत राज्यवर्धन)। ८०० से १००० (वि० ८५७-१०५७) के बीच आर्यावर्तसे बौद्ध-मत प्रायः उठ गया था और पंचायतन देवताओंकी पूजा प्रचलित हो गयी थी। इस समय शैव-वैष्णवोंके झगड़े मिट गये थे या उत्पन्न ही नहीं हुए थे और हिन्दूधर्ममें सहिष्णुताका अच्छा प्रचार हो गया था। इस प्रकारका अन्तर क्यों और कैसे हुआ, इसका विचार हम एक स्वतन्त्र प्रकरणमें करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धोंके समयमें पिता-पुत्रका धर्म भिन्न होनेपर भी दोनोंमें जिस प्रकार प्रेमसम्बन्ध बना रहता था, उसी प्रकार इस समय पितापुत्रके उपास्य देवता भिन्न होनेपर भी राज्यकार्यमें कोई क्षति नहीं पहुँचती थी। यही नहीं, राजपरिवारमें एक ही समयमें विभिन्न देवताओंकी आराधना विना बाधाके की जाती थी। परमत-सहिष्णुता और परदैवत-सहिष्णुता ही हिन्दूधर्मकी विशेषता है और इस गुणका उत्कर्ष इस समय भलीभांति देख पड़ता था। सारांश, बुद्धकी उपासना कम हो गयी और शिव, विष्णु, सूर्य, देवी तथा गणेशमें से किसी न किसी देवताकी उपासना सर्वत्र प्रचलित हो गयी। अस्तु, एक लेखकने जो यह प्रश्न किया है कि उस समयके राजा शाक्त थे, या अन्य किसी देवताके उपासक थे, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

यहां इतना ही कह देना उचित होगा कि 'अन्तःशाक्ताः' यह प्रसिद्ध वचन दाम्भिकोंको लक्ष्य कर कहा गया है, सद्भाविकोंके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

हर्षके राजलेख और दानपत्रोंकी तरह प्रतिहार राजाओंके लेख भी अत्यन्त संक्षिप्त होते हैं और उनमें स्तुति बहुत ही कम होती है। प्रतिहार राजाओंके लेखोंमें एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक राजाका एक अन्य सांकेतिक नाम होता है, जिसे 'विरुद' कहते हैं। यह सांकेतिक नाम लेखके अन्तिम श्लोकमें होता है। उदाहरणार्थ, महेन्द्रपालके उक्त लेखके अन्तमें 'श्रीमद्भाकप्रयुक्तस्य शासनस्य स्थिरायतेः' यह श्लोकार्ध है, इससे महेन्द्रपालका सांकेतिक नाम 'भाक' स्पष्ट जान पड़ता है। इसी तरह भोजका विरुद नाम 'प्रभास' और महीपालका 'श्रीहर्ष' था (इण्डि० एण्टि० १५, पृ० १४१)। भोज (मिहिर) का 'आदिवराह' यह एक नाम और पाया गया है। भोजराजने आदिवराहके चिह्नके बहुतसे सिक्के ढलवाये थे, क्योंकि १०२० (वि० १०७७) के 'सियाडोनी' में मिले लेखमें 'आदिवराह द्रम्मों' (सिक्कों) का उल्लेख है। अस्तु, जिस प्रकार लेखकी अन्तिम पंक्तिमें राजाका विरुदनाम लिखा रहता है, उसी प्रकार दानपत्रोंमें उस दूतका नाम भी लिखा रहता है, जो उस दानपत्रको यथास्थान पहुँचा देता है। प्रतिहार राजाओंके दानपत्रोंमें यह भी एक विशेषता है।

टिप्पणी—१ 'घटिआला' लेखमें दी हुई प्रतिहारोंकी वंशावली।

श्रीभाण्डारकरने एपि. इंडि. भा. ९ पृ० २९९ में 'घटिआला'में उपलब्ध हुई प्रतिहारोंकी वंशावली प्रकाशित की है। उस वंशावलीका

कन्नौजके सम्राट् घरानेकी वंशावलीसे मिलान करनेसे प्रतीत होता है कि दोनों घरानोंका मूलपुरुष एकही था और नागभटसे उसकी दो शाखाएँ हो गयीं। 'घटिआला'के लेखानुसार नागभटका समय ई० स० ७०१ (वि० सं० ९१८–१६०=७५८) और कन्नौजकी वंशावलीके अनुसार ई० स० ७२५ (वि० ७८२) है। दोनोंमें विशेष अन्तर न होनेसे कहा जा सकता है कि नागभटसे ही दो वंश विभक्त हुए। यह भी सम्भव है कि कन्नौज जानेपर नागभट फिर माण्डोर लौटा ही न हो और माण्डोरका प्रतिहार वंश परम्परागत रूपसे राज्य करता रहा हो। दोनों वंश एक ही होनेके कारण माण्डोरका घराना कन्नौजका माण्डलिक हो नहीं सकता। अस्तु, उक्त लेख जोधपुरसे १८ मीलकी दूरीपर 'घटिआला' नामक स्थानमें मिला है। हो सकता है कि वहीं पहिले माण्डोर रहा हो। लेखमें लिखा है कि कक्कुक नामक राजाने वि० सं० ९१८ में एक विजयस्तम्भ स्थापित किया। लेखोक्त वंशक्रम इस प्रकार है—हरिश्चन्द्र नामक ब्राम्हण-ने भद्रा नामकी क्षत्रियकन्यासे विवाह किया; उसीसे × × नामक पुत्र हुआ। उसका पुत्र नरभट और नरभटका पुत्र नागभट था। नागभटके पश्चात् १ तत, २ यशोवर्मा, ३ चन्दक, ४ शिलुक, ५ भोट, ६ भिल्लादित्य, ७ कक्क, और ८ कक्कुक क्रमशः हुए। कक्कुककी माताका नाम दुर्लभा देवी था (कक्कुक नाम कन्नौजके घरानेकी वंशावलीमें भी है)। कक्कुक बड़ा पराक्रमी और विद्वान् था। उसने निम्नलिखित देशोंपर विजय प्राप्त की थी—त्रावणी, वल्ल, माड (जेसलमीरका नाम अवतक माड ही है—भाण्डारकर), आर्य, गुर्जरत्रा, लाट और पर्वत। इनमें आर्य और पर्वत किन देशोंके नाम थे, यह नहीं कहा जा सकता। गुर्जरत्रा मारवाड़ और लाट वर्तमान गुजरात है। सारांश, प्रतिहारोंकी मूल शाखा माण्डोरमें ही चलती रही और वह कन्नौजकी शाखाके समान ही प्रतापी थी।

अब शंका यही है कि सामन्तके नाते सम्राट् घरानेका उक्त वंशावली-में उल्लेख नहीं है। कदाचित् कन्नौजके घरानेका समवंशीय होनेके कारण कक्कुकने उसका उल्लेख नहीं किया।

इसके अतिरिक्त माण्डोरका वंश अपनेको कन्नौजके सम्राट् वंशकी बराबरीका समझता था; इस कारण उसने कन्नौजकी शाखाका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं समझी।

यह कहा जा चुका है कि कक्कुक जैसा प्रतापी था, वैसाही विद्वान् भी था। उसने कुछ सुभाषित रचे हैं। उनमेंसे दो तीनका उल्लेख लेखमें भी हुआ है। उनको यहां उद्धृत करनेसे पाठकोंका कुछ मनोरञ्जन ही होगा।

वल्लकी काकलीगीतं शरच्चन्द्रश्च मालती।
विनीता स्त्री सतां गोष्ठी कक्कुकस्य प्रियाणि षट् ॥
न्यायमार्गो गुरोर्भक्तिः पुत्रे स्नेहः कृतज्ञता।
प्रियावाग् नागरो वेषः कक्कुकस्य प्रियाणि षट् ॥

२—दौलतपुरा तथा अन्य लेखोंका समय।

दौलतपुराके लेखमें भोजदेवके दिये गुर्जरत्राके डेडानक (डीडवाना) से सम्बन्ध रखनेवाले एक ग्रामके दानका उल्लेख है। इस लेखमें संवत् १०० लिखा गया है। अबतक लोग यही मानते आये हैं कि यह हर्ष संवत् है; परन्तु छानबीन कर श्रीभाण्डारकरने सिद्ध किया है कि यह संख्या १०० नहीं ९०० है। इससे प्रतिहारोंके समयका मेल ठीक बैठ जाता है। श्रीभाण्डारकरने प्रतिहार राजपुरुषोंके राजत्वकालकी जो गणना की है, वह प्रशंसनीय है। एक प्रश्न अवश्य उठता है कि १०० का मेल ९०० से किस प्रकार मिलाया गया? फिर भी भाण्डारकरकी कालगणना ठीक है।

पेहवा लेख—यह लेख भोजकालीन है और इसमें हर्षसंवत् लिखा है। लेखमें 'हर्ष' शब्द न होनेपर भी इस लेखसे ज्ञात होता है कि हर्ष संवत् ई० स० ९५० (वि० १००७) के पश्चात् भी प्रचलित था। साधारणतया उत्तर भारतमें विक्रम और दक्षिण भारतमें शालिवाहन संवत् प्रचलित होनेके कारण उस समयके नये घरानोंके किसी राजाको अपना नया संवत् प्रचलित करनेकी प्रवृत्ति नहीं हुई। उत्तरमें विक्रम और

दक्षिणमें शालिवाहन संवत् क्यों माना जाता था, इसका विचार स्वतन्त्र रूपसे किया जायगा।

३—भण्डीकुल।

भोजराजके सागरतालके लेखमें लिखा है कि वत्सराजने भण्डीकुलसे साम्राज्यपद छीन लिया था। बाणके हर्षचरित्रमें भण्डी नामक हर्षके एक मामाका उल्लेख है। अब प्रश्न यह है कि उस भण्डीका कन्नौजके घरानेसे कुछ सम्बन्ध था या नहीं? वत्सराजने जब कन्नौजपर अधिकार किया, तब कन्नौजकी गद्दीपर इन्द्रायुध नामक राजा अधिष्ठित था। अतः कल्पना की जा सकती है कि इन्द्रायुध और हर्षचरितका भण्डी, दोनों भण्डीकुलके ही व्यक्ति थे। इस पुस्तकके पहिले भागमें हम कह आये हैं कि हर्षकी माता यशोमती और उसका भाई भण्डी, दोनों मौखरी घरानेकी एक उपशाखाके एक कुलमें उत्पन्न हुए थे। मुख्य मौखरी घरानेके राजा कन्नौजमें राज्य करते थे। हर्षके देहावसानके पश्चात् इसी घरानेका कोई पुरुष कन्नौजकी गद्दीपर बैठा और उसीसे वर्मवंश चला। उस वर्मका पूर्वज भण्डी था और इधरके वंशज भी भण्डी ही कहलाते थे। अतः इन्द्रायुधको भण्डीकुलोत्पन्न कहनेमें इतिहासका विरोध नहीं है।

४—तुरुष्क।

८५० (वि० ९०७) के आसपास लिखे हुए सागरतालके लेखमें 'तुरुष्क' नामक एक प्रान्तका उल्लेख है। ज्ञात नहीं होता कि यह कौन सा प्रान्त है। 'तुरुष्क' शब्द संभवतः 'तुर्क' शब्दसे बना है। परन्तु तुर्कोंने भारतमें दसवीं सदी (वि० ९५८–१०५७) के उत्तरार्धमें अर्थात् सबुक्तगीनके समयमें प्रवेश किया था। इससे पहिले यहां उनके आनेका कहीं उल्लेख नहीं है। महाभारतमें 'तुरुष्क' शब्द नहीं है। भागवतमें है; परन्तु यह ग्रन्थ आठवीं सदीका लिखा हुआ है, अतः इसका विशेष महत्व नहीं है। स्मिथका तर्क है कि तुरुष्क—तुर्क—अरबोंका नाम है, परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। अरबोंकी 'ताजिक' संज्ञा है और कहीं कहीं उन्हें 'बर्बर'

भी कहा है । ८५० (वि० ९०७) से पहिले उनके लिए कहीं 'तुरुष्क' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । हमारी समझमें ई० स० ६००–८००(वि० ६५७–८५७) तक भारतपर लगातार आक्रमण करते रहनेके कारण अरबोंकी सेना बहुत क्षीण हो गयी थी और वे नयी चढ़ाइयोंके लिए सैनिकोंकी कमीका अनुभव करने लगे थे । भारतसे अटूट सम्पत्ति हाथ लग जानेके कारण बगदादके खलीफ़ा भी विलासितामें समय बिताने लगे थे । अतः सिन्ध में अरब लोग जो सेना भेजते थे, उसमें तुर्क ही अधिक होते थे । महायुद्धके अवसरपर अंग्रेजोंकी ओरसे जिस प्रकार भारतीय सेना जर्मनी-से लड़ी, उसी प्रकार उस समय अरबोंकी सेनामें बहुतसे वैतनिक तुर्क समाविष्ट हो गये थे । यही कारण है कि नवीं शताब्दी (वि० ८५८–९५७) के पश्चात् सभी विदेशियोंको यहाँके लोग 'तुर्क' कहने लगे थे ।

५—कन्नौजके प्रतिहार सम्राटोंकी वंशावली ।

१ माण्डोरका नागभट—नागभटका एक भाई
(ई० स० ७२५–७४०)

२ कक्कुक (नागभटका भतीजा)
(ई० स० ७४०–७५५)

३ देवशक्ति
(ई० स० ७५५–७७०)

४ वत्सराज (ई० स० ७७०–८००)
इसीने कन्नौजपर अधिकार किया

५ नागभट (द्वितीय), यह कन्नौजका सम्राट् था
(ई० स० ८००–८२५)

६ रामचन्द्र (ई० स० ८२५–८४०)

७ मिहिर या भोज (यह सबसे प्रतापी था)
ई० स० ८४०–८९०)

८ महेन्द्रपाल (ई० स० ८९०–९०८)

८ महेन्द्रपाल (क्रमागत)

९ भोज (द्वितीय, ई० स० ९०८-९१०)

१० महीपाल (इसको क्षितिपाल या विनायकपाल भी कहा है। ९१०-९४० ई०)

११ देवपाल (ई० स० ९४०-९५३)

१२ विजयपाल (ई० स० ९५३-९९०)

१३ राज्यपाल (ई० स० ९९०-१०१८)

राज्यपालके राजत्वकालमें महमूद गज़नवीने कन्नौजपर चढ़ाई कर कन्नौज शहरको लूट लिया। तभीसे कन्नोजके प्रतिहार वंशका ह्रास हुआ।

६-आर्किआलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया १९०३-४, पृष्ठ २८०.
ग्वालियरकी भोज-प्रशस्ति।

(पं १) ओम् नमो विष्णवे।
शेपादि तल्प धवला धरभागभासि—
वक्षःस्थलोल्लसित कौस्तुभकान्तिशोणम्।
श्यामं वपुः शशिविरोचनविम्वचुम्बि-
व्योमप्रकाशमवतान्नरकद्विपो वः ॥१॥
आत्मारामफलादुपार्ज्य विजरं देवेन दैत्यद्विपा
(पं २) ज्योतिर्वीजमकृत्रिमे गुणवति क्षेत्रे यदुप्तं पुरा
श्रेयः कन्दवपु स्ततस्समभवद्भास्वानत आपरे
मन्विक्षाकुककुस्थमूल पृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥
तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहितपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं
रामः पौलस्त्यहिन्स्रं क्षतविहतिसमित्कर्म चक्रे पलाशैः।
श्लाघ्य (पं ३) स्तस्यानुजो सौ मववमदमुषो मेघनादस्य संख्ये
सौमित्रिस्तीव्रदण्डः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥

तद्वन्शे प्रतिहार- केतनभृति त्रैलोक्य- रक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुने र्मूर्तिर्वभूवाद्भुतम्।
येनासौ सुकृत-प्रमाथिवलनम्लेच्छा (पं ४) धिपाक्षौहिणीः
क्षुन्दानस्फुर दुग्रहेतिरुचिरै र्दोर्भिश्चतुर्भिर्बभौ ॥ ४ ॥
भ्रातुस्तस्यात्मजो भूत्कलित कुलयशाः ख्यात काकुस्थनामा
लोके गीतः प्रतीक पृथुवचनतया कक्कुकः क्ष्माभृदीशः।
श्रीमानस्यानुजन्मा कुलिशधरधरा सुद्वहन्देवराजो
यज्ञेच्छिनोरुपक्षक्षपितग (पं ५) तिकुलं भूभृतां सन्नियन्ता ॥५॥
तन्सूनुः प्राप्य राज्यं निजमुदयगिरिस्पर्शि भास्वत्प्रतापः
क्ष्मापालः प्रादुरासीन्नतसकलजगद्वत्सलो वत्सराजः।
यस्यैतास्सम्पदश्च द्विरदमदसुरास्वाद सान्द्र प्रमोदाः
पद्माक्षीराक्षिपन्त्यः प्रणयिजन परिष्वङ्गकान्ता विरेजुः ॥ ६ ॥
ख्या (ताद्) भण्डि (पं ६) कुलान्मदोत्कट करि प्राकार दुर्लङ्घतो
यः साम्राज्यमधिज्यकार्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत्।
एकः क्षत्रियपुङ्गवेषु च यशोगुर्वीन्धुरंप्रोद्वह—
न्निक्ष्वाकोः कुलमुन्नतं सुचरितैश्चक्रे स्वनामाङ्कितम् ॥ ७ ॥
आद्यः पुमानपुनरपि स्फुटकीर्तिरस्मा—
ज्जातस्स एव किल नागभटस्तदाख्यः।
यत्रा (पं ७) न्ध्र सैन्धवविदर्भकलिंगभूपैः
कौमार- धामनि पतङ्गसमैरपाति ॥ ८ ॥
त्रय्यास्पदस्य सुकृतस्य समृद्धिमिच्छु—
र्यः क्षत्रधाम- विधिबद्धबलिप्रबन्धः।
जित्वा पराश्रयकृतस्फुटनीचभावं
चक्रायुधं विनय- नम्र- वपुर्व्यराजत् ॥ ९ ॥
दुर्वारवैरि वर वारण वाजिवार—
याणौघसंघट (पं ८) न घोर घनान्धकारं।
निर्जित्य वङ्गपतिमाविरभूद्विवस्वा—
नुद्यन्निव त्रिजगदेकविकास कोपः ॥१०॥

आनर्त्त मालव किरात तुरुष्कवत्सं—
मत्स्यादि राजगिरि- दुर्ग्गहठापहारैः।
यस्यात्मवैभवमतीन्द्रियमाकुमार—
माविर्ब्बभूव भुवि विश्वजनीनवृत्तेः ॥११॥
तज्जन्मा राम (पं ९) नामा प्रवरदरिवलन्यस्त भूभृत्प्रबन्धै—
रावध्नन्वाहिनीनां प्रसभमधिपतीनुद्धत क्रूरसत्वान्।
पापाचारान्तरायप्रमथनरुचिरः सङ्गतः कीर्तिदारै—
स्त्राता धर्मस्य तैस्तैस्समुचितचरितैः पूर्ववन्निर्वभासे ॥१२॥
अनन्यसाधनाधीन प्रतापाक्रान्त दि (पं १०) ङ् मुखः।
उपायैस्सम्पदां स्वामी यः सव्रीडमुपास्यत ॥१३॥
अर्थिभिर्विनियुक्तानां सम्पदां जन्म केवलं।
यस्याभूत्कृतिनः प्रीत्यै नात्मेच्छाविनियोगतः ॥१४॥
जगद्वितृष्णुः स विशुद्धसत्वः
प्रजापतित्वं विनियोक्तुकामः।
सुतं रहस्यव्रतसुप्रसन्नात्
सूर्यादवा (पं ११) पन्मिहिराभिधानं ॥१५॥
उपरोधैक- संरुद्ध विन्ध्यवृद्धेरगस्त्यतः।
आक्रम्य भूभृतां भोक्ता यः प्रभुर्भोज इत्यभात् ॥१६॥
यशस्वी शान्तात्मा जगदहितविच्छेद-निपुणः
परिष्वक्तो लक्ष्म्या न च मदकलङ्केन कलितः।
बभूव प्रेमार्द्रो गुणिषु विषयः सूनृत (पं १२) गिरा—
मसौ रामो वाग्रे स्वकृतिगणनायामिह विधेः ॥१७॥
यस्याभूत्कुलभूमिभृत्प्रमथन व्यस्तान्य सैन्याम्बुधे-
र्व्यूढावस्कुटितारिलाजनि वहान्हुत्वा प्रतापानले।
गुप्ता वृद्धगुणैरनन्यगतिभिः शान्तैस्सुधोद्भासिभि—
धर्म्मोपत्स्यशः प्रभूतिरपरा लक्ष्मी पुनर्भू (पं १३) र्न्न या ॥१८॥
प्रीतैः पालनया तपोधनकुलैः स्नेहाद्गुरूणां गणै—
र्भक्त्या भृत्यजनेन नीतिनिपुणैर्वृन्दैररीणां पुनः।

विश्वेनापि यदीयमायुरमितं कर्तुं स्वजीवैषिणा
तन्निघ्ना विदधे विधातरि यथा सम्पत्परार्धाश्रये ॥१९॥
अवितथमिदं यावद्विश्वं श्रुते (प १४) रनुशासना—
भवति फलभाक्कर्ता नेशः क्षितीन्द्रशतेऽ्वपि।
अधरितकलेः कीर्तेर्भर्तुस्समतां सुकृतैरभू—
द्विधुरितधियां सम्पद्वृद्धिर्यदस्य तदद्भुतम् ॥२०॥
यस्य वैरिवृहद्वङ्गान्दहतः कोपवह्निना।
प्रतापादर्णसां राशीन्पातुर्वै तृष्णमावभौ ॥२१॥
कुमार इव विद्यानां (पं १५) वृन्देनाद्भुतकर्मणा।
यः शशासासुरान्घोरान्क्षत्रेणेनास्त्रैक वृत्तिना ॥२२॥
यस्याक्षपटले राज्ञः प्रभुत्वाद्विश्वसम्पदः।
लिलेख मुखमालोक्य प्रातिलेख्यकरो विधिः ॥२३॥
उद्दामतेजः प्रसरप्रसूता
शिखेव कीर्तिर्द्युमणिं विजित्य।
जाया जगद्भर्तु (पं १६) रियाय यस्य
चित्रंत्विदं यज्जलधीन्स्ततार ॥२४॥
राज्ञा तेन स्वदेवीनां यशःपुण्याभिवृद्धये।
अन्तःपुरपुरं नाम्ना व्यधायि नरकद्विषः ॥२५॥
यावन्नभः सुरसरित्पसरोत्तरीयं
यावत्सुदुश्चरतपः प्रभवः प्रभावः।
सत्यञ्च यावदुपरिस्थमवस्यशेषं
तावत्पु (पं १७) नातु जगतीमियमस्य कीर्तिः ॥२६॥
पातुर्विश्वस्य सम्यक्करमसुनिमतश्रेयसस्सन्निधाना—
दन्तर्वृत्तिर्विवेकः स्थित इव पुरतो भोजदेवस्य राज्ञः।
विद्वद्वृन्दार्जितानां फलमिव तपसां भट्टभन्नेक सूनु—
र्वालादित्यः प्रशस्तेः कविरिह जगता साक (?) माकल्प वृत्तेः ॥२७॥

× × × ×

पाँचवाँ प्रकरण।

अनहिलवाड़ पाटणके चावडे।

चावडा वंशका मध्ययुगीन कालका सुशृंखल इतिहास लिखना कुछ कठिन है। प्राचीन इतिहास जाननेके प्रधान साधन शिलालेख, दानपत्र और आज्ञापत्र होते हैं। परन्तु इस वंशके सम्बन्धमें इनमेंसे एक भी उपलब्ध नहीं है। बम्बई-गजेटियर (भाग १) में गुजरातका वृत्तान्त लिखते हुए इस वंशका भी थोड़ा परिचय कराया गया है। परन्तु उसका आधार प्रबन्ध और बखर* हैं। इसके अतिरिक्त गजेटियरके लेखकने जिन प्रबन्धों और बखरोंको प्रमाणभूत माना है, वे सभी हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं; इस कारण कहा नहीं जा सकता कि उनमें मौलिक भाग कितना है और अतिरञ्जित किया हुआ कितना। मूल प्रमाणभूत ग्रन्थ देखे विना युक्ति और तर्क नहीं किया जा सकता। साधारणतया बखरोंका इतिहास जितना विश्वसनीय होता है, उतना प्रबन्धोंका नहीं होता। प्रबन्धोंमें घटनाओंका विपर्यास और अत्युक्तिपूर्ण वर्णन बहुत किया रहता है। पाठकोंको आश्चर्यचकित करना ही प्रबन्ध आदिका उद्देश्य होता है। अतः उनमें सत्यके थोड़ेसे आधारपर कल्पनाके पुल ही अधिक बाँधे हुए देख पड़ते हैं। अस्तु, बम्बई-गजेटियर (भा० १) के आधारपर ही चावडा वंशका इतिहास हम लिखेंगे और साथ ही 'सुकृतसंकीर्तन' तथा 'प्रबन्धचिन्तामणि' में वर्णित इतिहासकी भी आलोचना करेंगे।

---

* दक्षिणमें प्राचीन समयमें युद्धों और राजवंशोंका जो इतिहास लिख कर रखा जाता था, उसे 'बखर' कहते हैं।

इसमें किसीका मतभेद नहीं है कि हम जिस समयका इतिहास लिख रहे हैं, उसी समय चावडोंके घरानेका अभ्युदय हुआ था। उनका मुख्य स्थान उत्तर गुजरातके सारस्वत मण्डलमें था। इस घरानेके प्रबल होनेपर इसकी गणना स्वतन्त्र राजघरानोंमें होने लगी; किन्तु सन् ८०० से १००० (वि० ८५७-१०५७) तक यह स्वतन्त्र नहीं था। तबतक यह सार्वभौम कन्नौज साम्राज्यमें ही गिना जाता था।

चावडा घरानेकी गणना भिनमालके चापोत्कट अथवा चापकुलकी उपशाखामें की जानी चाहिये। चापकुलका एक छोटासा सरदार घराना पञ्चसरमें रहता था। इस घरानेका अन्तिम पुरुष किसी 'भूयड' द्वारा मारा गया। यह भूयड कौन और कहाँका था, इसका पता नहीं लगता। चाप सरदारकी रानी गर्भवती थी। वनमें भटकते हुए उसने प्रसव किया। उसके जो पुत्र हुआ, वही इस कुलका संस्थापक वनराज था। इस कथा और बाप्पारावल, तथा दक्षिणके चालुक्य एवं अन्य कितने ही राजाओंके जन्मकी कथाओंमें बहुत कुछ समानता है। परन्तु हमारी समझमें वनराजकी कथामें बहुत सत्यांश है और इसी कथाके अनुकरणपर अन्य राजाओंकी कथाएँ लिखी गयी हैं। वनराजने निज पराक्रमसे एक स्वतंत्र राज्यकी स्थापना की। आरम्भमें भीलों आदिकी सहायतासे उसने लूट-पाट कर विपुल धन संग्रह किया। एक बार तो शिवाजीकी तरह कन्नौजकी ओर जाते हुए मुख्य सरकारी खजानेपर ही छापा मार कर उसने उसे लूट लिया*। इस

---

* प्रबन्धचिन्तामणिके आधारपर हमने यह बात लिखी है। उसमें लिखा है कि कन्नौजसे धंचकुल नामक एक सरदार गुजरातमें आया था और छः मास तक प्रजासे कर-ग्रहण करता रहा। वह जब लौट रहा था

बड़ी लूटसे वह प्रबल सेना खड़ी कर सका और उसकी सहायतासे राज्य स्थापन करनेमें सफल हुआ। वर्तमान गुजरातके उत्तरमें अनहिलपुर नामक नगर उसने सन् ७४६ (वि० ८०२) में † बसाया, वही उसकी राजधानी हुआ। उस समय कन्नौजके साम्राज्यका ह्रास हो चला था; इस कारण जिस किसीमें साहस और कार्यक्षमता होती वही वीर पुरुष स्वतन्त्र राज्य स्थापन कर लेता था। बाप्पारावलने इसी तरह चित्तौड़में राज्यकी स्थापना की; साँभरके सामन्तदेवने भी अपने पराक्रमके भरोसेपर समयसे लाभ उठाया और राज्यकी स्थापना की। माण्डोरके नागभटका उदाहरण प्रसिद्ध ही है। परन्तु बाप्पारावल आदिको राज्य स्थापन करते समय अरबोंसे लगातार लड़ना पड़ा था, वनराजके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। नवसरीकी सनदसे पता चलता है कि अरबोंने किसी चापराजका पराभव किया था; किन्तु इससे यह निश्चित नहीं होता कि वह पराभव वनराजका ही हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि वनराजने अनहिलवाड़ेमें एक प्रबल राज्यकी स्थापना की थी और उसकी दिन दिन श्रीवृद्धि ही होती गयी।

तो एक पहाड़ी दर्रेमें वनराजने उसपर छापा मारा और उसे मार कर खजाना लूट लिया। उस लूटमें उसे २४ लाख चाँदीके द्रम्म (सिक्के) मिले थे।

† इण्डियन एंटिक्वेरी (भा० ४, पृ० १४७) में एक पुराने पोवाडे (ऐतिहासिक गान) के आधारपर एक लेख लिखा गया है। इसमें अनहिलवाड़ेकी स्थापनाका समय संवत् ८०२ बताया है। संवत् ८०२ और सन् ७४६ का ठीक मेल बैठता है। यही समय मेरुतुंगने भी प्रबन्धचिन्तामणिमें लिखा है।

बाप्पारावलकी तरह वनराज भी दीर्घायु था और उसने राज्य भी दीर्घकालतक किया। उसका राजत्वकाल सन् ७६५ से ८०५ (वि० ८२२-८६२) तक माना जाता है। जब अनहिल-वाड़ेकी स्थापना सन् ७४६ (वि० ८०३) में हुई, तो उसी समयसे उसका राजत्वकाल माना जाना चाहिये। वह सन् ७६५ से क्यों माना जाता है, यह बात समझमें नहीं आती। वनराजके अनन्तर उसका पुत्र जोगराज (सुकृतसंकीर्तनमें उसका नाम योगराज लिखा है) गद्दीपर बैठा। उसने सन् ८०६ से ८४१ (वि० ८६३-६८) तक राज्य किया। उस समय कन्नौजका अधिराज भोज था; जोगराज उसका माण्डलिक माना जा सकता है। जोगराजके पश्चात् रत्नादित्य और फिर वैरिसिंह राज्याधिकारी हुआ। इसके बाद सन् ८५६ (वि० ६१३) में खेमराज और ८८१ (वि० ६३८) में मुण्डराज सिंहासनारूढ़ हुआ। मुण्डराजका ही नाम भूयड था। (कहीं कहीं उसका नाम चामुण्ड भी लिखा है, पर वह ठीक नहीं है।) भूयडके बाद सन् ६०८ (वि० ६६५) में घाघड उर्फ राहप गद्दीपर बैठा और ६३७ से ६६१ तक (वि० ६६४-१०१८) इस कुलके अन्तिम पुरुषने राज्य किया। (बम्बई-गजेटियरमें लिखा है कि इसका नाम ज्ञात नहीं है।) इसी अन्तिम राजाको उसका भांजा मूलराज सोलंकी पदच्युत कर स्वयं राजा बन बैठा। सुकृतसंकीर्तनमें इस राजाको नाम भूभट लिखा है। ❀

❀ प्रबन्धचिन्तामणिमें राजाओंकी सूची और उनके राजत्वकालकी समाप्तिके संवत् इस प्रकार दिये गये हैं:—

१	योगराज	८७८ संवत्		४	चामुण्ड ९३८	संवत्
२	रत्नादित्य	८८१	,,	५	अकडदेव ९६५	,,
३	खेमराज	९२२	,,	६	भूयडदेव ९९१	,, = ई० सन् ९३४

पाटणके चावडोंके सम्बन्धमें जैन प्रबन्धलेखकोंने इससे अधिक कुछ नहीं लिखा है। चावडा वंशके राजाओं और उनके राजत्वकालकी सूचीके अतिरिक्त उनके प्रबन्धोंमें और कुछ भी मसाला नहीं मिलता। चावडोंकी राजधानीके जो भग्नावशेष, मन्दिर, राजप्रासाद आदि विद्यमान हैं, उन्हींके आधारपर कुछ अनुमान किया जा सकता है। वाप्पारावल तथा अन्य राजपूत राजाओंकी तरह चावडे भी परम शिव-भक्त थे, और बादमें उन्होंने संभवतः जैन पंडितोंको भी आश्रय दिया था। कन्नौजका माण्डलिक होनेके कारण इस घरानेको स्वतन्त्र रूपसे युद्ध भी बहुत कम करने पड़े। इस प्रकार चावडोंका उपलब्ध संक्षिप्त इतिहास यहीं समाप्त होता है।

चाप वंशकी एक दूसरी उपशाखाका कुछ पता चला है, उसे लिखकर हम यह प्रकरण समाप्त करेंगे। इण्डि० एंटि० भाग १२, पृष्ठ १९३ में धरणीवराहका एक दानपत्र छपा है। उसका समय शक ८३६ या सन् ९१७ (वि० ९७४) है। इस दानपत्रसे ज्ञात होता है कि वढ़वान (वर्धमान) में चापोंकी एक उपशाखाका राज्य था जो कन्नौजके माण्ड-लिकोंमें गिनी जाती थी। उक्त दानपत्रसे स्पष्ट जान पड़ता है कि वह (धरणीवराह) कन्नौजके राजाधिराज महीपाल-का माण्डलिक था (राजाधिराज परमेश्वर श्री महीपालदेव-प्रसादतः समनुशासता)। अतः उसका काठियावाड़के चूड़ा-सम वंशसे कोई सम्बन्ध नहीं था। उसी दानपत्रमें धरणी-वराहके चार पूर्वजोंके नाम इस प्रकार लिखे हैं—१ विक्रमार्क,

---

योगराजने भट्टदेश्वरीका व कथक्षरी देवालय तथा भूयडदेवने पटणका भूयदेश्वरका देवालय और प्राचीर बनवाया था।

२ अद्दक, ३ पुलकेशिन्, और ४ ध्रुवभट । हर एक राजाका राजत्वकाल बीस वर्षोंका मान लेनेसे विक्रमार्कका समय ८३७ (वि० ८९४) ठहरता है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि विक्रमार्क तथा कन्नौजके भोज समकालीन थे।

उक्त दानपत्रमें चापोंकी उत्पत्ति शङ्करके चाप (धनुष) से हुई बतायी गयी है। पर यह बात सत्य नहीं मानी जा सकती। यह एक शब्दश्लेष मात्र है। डाक्टर ब्यूलरका कथन है कि शब्दश्लेषोंके आधारपर लिखी हुई कथाएँ प्रायः काल्पनिक होती हैं और यह कथा भी उन्हींमेंसे एक है। अस्तु, उक्त दानपत्र 'आमर्दक संतान' नामक एक शिवोपासक महन्तको दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय काठियावाड़में भी शिवोपासना प्रचलित थी और जिस तरह बुद्धानुयायी विहारोंमें रहा करते थे, उसी तरह शिवोपासक महन्त मठोंमें रहते थे।

छठा प्रकरण ।

धारके परमार ।

मध्ययुगीन कालके दूसरे भागमें राजपूत राज्यका संस्थापक चौथा सुप्रसिद्ध वंश परमारोंका हुआ। परमारोंका आदि निवास-स्थान आबूमें था; पीछेसे उन्होंने अपनी राजधानी धारमें स्थापित की। टाडके मतानुसार अग्निकुण्डसे जो कुल उत्पन्न हुए, उनमें परमार अत्यन्त प्रतापशाली थे और उनका विस्तार भी बहुत दूरतक हुआ था। अपने कथनकी पुष्टिके लिए टाडने भाटोंकी कविताओंमें

से एक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है कि परमार कुलका विस्तार समस्त भूमण्डलमें हुआ था। तथापि टाडका यह भी कथन है कि यह कुल अनहिलवाड़ेके सोलंकियों अथवा अजमेरके चौहानोंकी तरह वैभवशाली नहीं था, और अग्निकुलमें इसका पद कनिष्ठ था। हमारे मतसे टाडका मत निराधार है। परमारोंका कुल आजकल क्षीण होने और उसके वैभवके प्रत्यक्ष प्रमाण—दानपत्र, शिलालेख, स्मारक आदि—टाडके समयमें अत्यल्प उपलब्ध होनेके कारण उसकी ऐसी धारणा होना स्वाभाविक है। प्रतिहारोंके सम्बन्धमें भी उसकी ऐसी ही धारणा थी; परन्तु दोनों कुल प्रतापी और वैभवशाली थे; विशेषतया भोजराजके समयमें परमारोंका कुल बहुत ही विख्यात हुआ और विद्याभिरुचिके सम्बन्धमें इसकी कीर्ति दिग्दिगन्तमें फैल गयी। वर्तमान समयमें यह कुल अस्तङ्गत सा हो गया है। मेवाड़के माण्डलिक 'विजोलिया' के राजाके अतिरिक्त धारकी मूल शाखाका कोई वंशज नहीं देख पड़ता। अरवलीकी तरहटीमें स्थित 'चन्द्रावती'की विहाल शाखाके राजा, राजपूतानेके अन्तर्गत 'धत' के सोधा राजा और मारवाड़के अन्तर्गत 'पुगल'के सांखला राजा अभी विद्यमान हैं, जो परमारोंके निकट सम्बन्धी हैं। सिंधके उम्र और सुम्र कुलके राजा भी इसी वंशके थे। मुसलमानोंके समयमें दोनों राजकुलोंका बहुत उत्कर्ष हुआ था; किन्तु वर्तमान समयमें उन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया है, इस कारण उनकी गणना राजपूतोंमें नहीं होती।

परमार वंशका अभ्युदय पहिले पहिल कब और कैसे हुआ, इसका विचार होना आवश्यक है। टाडके मतसे ई० स० ७१४ (वि० ७७१) तक चित्तौड़में परमारोंका राज्य था,

पीछे गुहिलोतोंने उनपर चढ़ाई कर चित्तौड़ उनसे छीन लिया। यह बात निर्विवाद है कि गुहिलोतोंसे पहिले चित्तौड़में पाटलिपुत्रके मौर्योंका राज्य था। शिलालेखोंमें चित्तौड़के मोरी घरानेका उल्लेख है; परन्तु परमारोंकी मोरी नामक-शाखासे इन मौर्योंका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। चित्तौड़के मौर्य क्षत्रिय नहीं, शूद्र थे। क्षत्रिय कुलोंकी अन्य सूचियोंमें मौर्योंका नाम है, परन्तु चन्दकी सूचीमें नहीं है। इस पुस्तकके प्रथम भागमें हम यह भी बता चुके हैं कि हुएनसंगने सिन्धके राजाओंका जो विवरण दिया है, उसमें कहा है कि ये राजा चित्तौड़के राजाके सम्बन्धी और शूद्र हैं। सारांश, परमारोंका चित्तौड़के मौर्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः परमारोंका उदयकाल नवीं शताब्दी (वि० ८५८--९५७) से पीछे नहीं हट सकता। परमारोंके जो शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कृष्णराजके पूर्वजोंका कुछ भी उल्लेख नहीं है। प्रतिहारोंके पूर्वजोंकी लम्बी सूची मिलती है, परन्तु परमारोंकी नहीं मिलती। बारहवीं शताब्दी (वि० ११५८-१२५७) के लगभग लिखी हुई उदयपुर-प्रशस्तिमें कृष्णराजसे पहिलेके कुछ राजाओंकी नामावली है, पर वह विश्वसनीय नहीं है। भाट आदि कवियोंको अतिशयोक्तिसे भरे काव्य लिखनेकी लत पड़ी रहती है। इससे वे किसी वंशावलीमें एक ही नाम कई बार लिखकर उसे लम्बी बना दिया करते हैं। अस्तु, इण्डियन एंटिक्वेरी (भाग १, पृष्ठ २२३) में ब्यूलर साहबने विभिन्न शिलालेखोंमें लिखी परमारोंकी वंशावलियाँ एकत्र प्रकाशित की हैं। इनको परस्पर मिलाकर परमारोंका शृंखलाबद्ध इतिहास लिखनेका प्रयत्न ब्यूलर साहबने किया है। आधुनिक इतिहासकारोंने उनका मत स्वीकार भी कर लिया है। पर उनका

लिखा इतिहास भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। उनके मतसे ई० स० ८०० (वि० ८५७) के लगभग परमारोंका अभ्युदय हुआ था। कृष्णराजका भी उन्होंने यही काल माना है। हमारे मतसे यह काल अनेक कारणोंसे अग्राह्य है। परमारोंका अभ्युदयकाल इतना पीछे हटाया नहीं जा सकता।

(१) वाक्पतिराज उर्फ मुंज और राजा भोजके भूमिदानपत्रोंमें (इंडि० ऐंटि० भा० ६, पृ० ४८८) परमारोंका यह वंशानुक्रम दिया हुआ है—कृष्ण, वैरिसिंह, सीयक, वाक्पति। इसके बादके राजाओंकी, सिन्धुराज अथवा भोजराज तककी, पूरी सूची अनेक लेखोंमें देख पड़ती है। उदयपुर-प्रशस्तिमें पहिला नाम उपेन्द्र लिखा है और कहा है कि वैरिसिंहसे पहिले और एक वैरिसिंह, सीयक तथा वाक्पति हुए थे। परन्तु ये नाम परमारोंकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिए दुबारा लिखे गये हैं। (२) नागपुर-प्रशस्तिमें वैरिसिंहसे ही वंशानुक्रम आरम्भ किया गया है; उसमें उक्त चारों नाम हैं ही नहीं। (३) प्रतिहार सम्राट् दूसरे नागभटके समय (ई० स० ८०० से ८२५ = वि० ८५७-८८२) तक मालवेमें परमारोंका स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना सम्भव नहीं है। नागभटने मालवेको पूर्णतः पादाक्रान्त किया था, यह तो उसीके लेखोंसे सिद्ध है। नागभटके आक्रमणसे पहिले मालवा राष्ट्रकूटोंके अधिकारमें था, यह बड़ोदेके कर्क-राजाके दानपत्रसे (ज० बंगाल ८ पृ० २९२) स्पष्ट है। * बादके इतिहासमें भी यह विशेषता देख पड़ती है कि मालवा कुछ समयतक तो उत्तराधिप सम्राट्के और फिर दक्षिणाधिप सम्राट्के अधिकारमें चला जाता था। (४)

* गौडेन्द्र वंगपति-निर्जयदुर्विदग्ध सद्गूर्जरेश्वर दिगर्गलतां च यस्य।
नीत्वा भुजं विहतमालवरक्षणार्थं स्वामीत्यमपि राजफलानि भुंक्ते॥

लेखों और दानपत्रोंमें वाक्पतिराजके नामके साथ 'कृष्णपादानुध्यात' विशेषण जोड़ा गया है। कृष्णराजको परमारोंका आदिपुरुष माननेसे ही उक्त विशेषण सार्थक हो सकता है। अतः वैरिसिंह (पहिला), सीयक (पहिला) और वाक्पति (पहिला), इनके नाम पृथक् करनेसे ही परमारोंकी सच्ची वंशावली निश्चित की जा सकती है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि भाटोंकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तियोंकी अपेक्षा तत्कालीन दानपत्र और शिलालेख आदि—चाहे वे कितने ही अपूर्ण क्यों न हों,—इतिहासके लिए अधिक उपयुक्त होते हैं।

अतः परमारोंका आदिपुरुष कृष्णराजको ही मानना उचित है। यह पहिले माण्डलिक था, पीछे स्वतन्त्र राजा बन गया। राष्ट्रकूटोंके राजा तीसरे गोविन्दराजने पतनोन्मुख कन्नौजके प्रतिहार सम्राट्पर जब चढ़ाई की, उसी समय कृष्णराजने सम्राट्की सत्तासे अपनेको मुक्त कर लिया। कन्नौजके महीपालका राजत्वकाल सन् ९०८ से ९४० तक (वि० ९६५-९९७) माना गया है। गोविन्दराजने कन्नौजपर सन् ९१० (वि० ९६७) के आसपास चढ़ाई की थी। अतः कृष्णराजके स्वतन्त्र राज्यका स्थापन-काल भी यही (सन् ९१०) निश्चित होता है। वाक्पति उर्फ मुंजराजके प्रथम दानपत्रका काल सन् ९७४ (वि० १०३१) है। अतः मुंजराजके राज्याभिषेकका काल ९७० (वि० १०२७) माना जा सकता है। उसके पिता सीयकका इससे २० वर्ष पूर्व (सन् ९५०) में राज्यारूढ़ होना सम्भव है। सीयकके पिता वैरिसिंहका राजत्वकाल सन् ९३० से ९५० (वि० ९८७-१००७) मान लेनेपर कृष्णराजका काल ९१० से ९३० तक (वि० ९६७-९८७) निश्चित होता है। यह काल उपर्युक्त अनुमित कालसे मिलता जुलता भी है। अस्तु,

उक्त सभी दानपत्रोंमें वाक्पतिके पूर्ववर्ती राजाओंके लिए 'महाराजाधिराज परमेश्वर' ये विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि सम्राट्के लिए ही ये विशेषण प्रयुक्त होते थे, तथापि कुछ स्वतन्त्र राजा भी अपने लिए इनका उपयोग करते थे। इन विशेषणोंसे यह सिद्ध होता है कि कृष्णराज स्वतन्त्र राजा था।

परमारोंको मूल गद्दी अवन्ती या उज्जैनमें थी, फिर धारमें लायी गयी। धारा नगरीका उल्लेख ईसाकी सातवीं सदीके एक लेख (नंबर ५१, प्लेट नंबर ३२ कार्पस इन्स्क्रिप्शियोनोरेम भाग ३) में मिलता है। इससे सिद्ध है कि धारा नगरी परमारोंने नहीं बसायी, किन्तु अनहिलवाड़ेके सोलङ्कियोंके उपद्रवसे बचनेके लिए उज्जैनको छोड़ उन्होंने इस नगरीका आश्रय लिया था।

यह हम कह चुके हैं कि कृष्णराजके परवर्ती वैरिसिंह, (प्रथम), सीयक (प्रथम) और वाक्पति (प्रथम) के नाम काल्पनिक होनेके कारण इतिहासकी दृष्टिसे उन्हें सूचीसे पृथक् कर देना ही उचित है। ब्यूलरका भी कथन है कि उदयपुर आदिकी प्रशस्तियोंमें उक्त राजाओंके पराक्रमोंके जो वर्णन हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं है। ऐसे वर्णन हर एक राजाके लिए लागू हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त राजाओंके राजत्वकालकी एक भी ऐसी बात नहीं लिखी गयी है, जो इतिहासकी दृष्टिसे स्वीकार की जा सके। अतः इन नामोंको पृथक् कर देना ही उचित है। कृष्णराजके पश्चात् वैरिसिंह उर्फ वज्रट गद्दीपर बैठा। उसके अनन्तर उसका पुत्र सीयक उर्फ श्रीहर्ष सिंहासनारूढ़ हुआ (सीयक नाम सिंहराजसे नहीं बना है, यह श्रीहर्षका संक्षिप्त रूप है)। सीयकका उल्लेख 'नवसाहसाङ्क' और 'प्रबन्धचिन्तामणि'

में भी है। सीयकके सम्बन्धमें दो बातोंका वर्णन मिलता है; एक तो, उसने हूणोंका पराभव किया और दूसरे, उसने गरुड़की तरह खोट्टिग राजाके खजानेपर आक्रमण किया था। सीयक द्वारा पराजित हूण इसी देशके क्षत्रिय थे, अन्य द्वीपके नहीं। आजकल हूण शब्दका प्रयोग जिस प्रकार हम पाश्चात्य म्लेच्छोंके लिए करते हैं, सीयकके समयमें उसी प्रकार वह अरबोंका वाचक था। सीयककी गरुड़की उपमा भी अन्वर्थक है; क्योंकि दानपत्रोंमें परमारोंका राजचिन्ह गरुड़ ही दिया गया है। उनका ध्वजचिह्न भी गरुड़ ही था। ब्यूलरके मतसे खोट्टिग मान्यखेटके राष्ट्रकूटोंका वंशज था। इस राजाका २२ अक्तूबर सन् ९७१ (५ कार्तिक १०२८) के सूर्यग्रहणके अवसरपर दिया हुआ एक दानपत्र उपलब्ध है। इसके भतीजे कर्कराजका भी सितम्बर सन् ९७२ (आश्विन १०२९ वै०) का एक ताम्रपत्र मिला है। इससे यह जान पड़ता है कि खोट्टिग राजाका देहान्त सितम्बर सन् ९७२ (आश्विन १०२९ वै०) के पहिले ही हो गया था। इन बातोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मालवा राज्यके साथ राष्ट्रकूटोंका वैर-भाव था और सीयक तथा खोट्टिग समकालीन थे। सीयकका राजत्वकाल सन् ९५० से ९७३ तक (वि० १००७-१०३०) माना जा सकता है; क्योंकि धनपाल कविने अपने पैयलच्छि नामक प्राकृत काव्यमें लिखा है कि जिस समय मालवाधिपतिने मान्यखेटका प्रान्त लूटा, उसी समय उस काव्यकी रचना हुई। ब्यूलरके मतसे उस समय (ई० स० ९७२ में) मालवाका अधिपति सीयक था। उसने खोट्टिगका पराभव किया और उसीको लक्ष्य कर यह काव्य लिखा गया। उक्त कविके काव्यका काल संवत् १०२९ अर्थात सन् ९७२ निश्चित है।

मान्यखेटकी लूटका भी यही काल है और इससे वाक्पति-राजके दानपत्रके काल (सन् ९७४) का विरोध नहीं पड़ता।

सीयकके पश्चात् उसका पुत्र वाक्पति उर्फ मुंज गद्दीपर बैठा। इसके दिये दानपत्रोंमें इसके अमोघवर्ष और पृथ्वी-वल्लभ ये दो नाम और मिलते हैं। सम्भवतः राष्ट्रकूटोंके परा-भवके पश्चात् इसने ये दो उपाधियाँ धारण कर ली थीं। मुंज-के नामसे जो अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ, वह यही वाक्पति था। नागपुरप्रशस्तिमें मुंजके बदले वाक्पति ही लिखा है, इससे स्पष्ट है कि वाक्पतिका ही अपर नाम मुञ्ज था। मुञ्ज स्वयं भी उत्तम कवि था और उसकी सभामें सुकवियों और विद्वानोंका अच्छा आदर था। संस्कृत साहित्यमें पद्मगुप्त, धनिक, हला-युध और धनपाल आदि जो विद्वद्दल प्रसिद्ध हैं, वे इसीके आश्रित थे। मुञ्ज विद्वान् होनेके साथ ही साथ पराक्रमी भी था। उदयपुर-प्रशस्तिसे जाना जाता है कि उसने राष्ट्रकूटोंका ही पराभव नहीं किया, बल्कि कर्नाट, चोल और केरल प्रान्तोंपर भी अधिकार जमा लिया। चेदीके हैहयोंको भी उसने हराया। उस समय चेदीका राजा युवराज था। केरलादि देशोंके राजा राष्ट्रकूटोंके सहायक, मित्र और सम्बन्धी थे। उनका राष्ट्रकूटोंके पक्षमें रहना स्वाभाविक था। पृथ्वीराजकी तरह इस राजाके सम्बन्धकी भी बहुतसी दन्तकथाएँ प्रचलित हैं, परन्तु वे विश्वास योग्य नहीं हैं। वीर पुरुषोंके सम्बन्धमें ऐसी अद्भुत कथाएँ प्रायः चल पड़ती हैं, और कालान्तरमें लोगोंका उनपर दृढ़ विश्वास भी हो जाता है, किन्तु उनमें सत्यांश होता ही है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। पृथ्वीराजके सम्बन्धमें एक ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि पृथ्वीराजने शहाबुद्दीनको

चौदह बार हराया और उतनी ही बार उसे कारागारमें डाल रखा; परन्तु अन्तमें शहाबुद्दीनने पृथ्वीराजको हरा दिया और उसे मार डाला। इस कथाका उद्गम-स्थान मेरुतुङ्गकी कल्पना है जो अबतक प्रचलित है। पृथ्वीराजकी दन्तकथाकी अपेक्षा मुञ्जकी दन्तकथा अधिक काव्यमय है। कथासरित्सागरकी उदयन-वासवदत्तकी कथाके अनुकरणपर मुञ्जके सम्बन्धमें यह कथा गढ़ी गयी कि जब मुंज कारावासमें था तब तैलपकी विधवा बहिन उसकी शुश्रूषा करती थी। (राजपूतोंकी रीति-नीतिके विचारसे यह बात सम्भव नहीं है।) वह उसपर आसक्त हो गयी। मुंजने भाग जानेका विचार किया और इस काममें उसने उसकी सहायता चाही। उसने अपने भाई तैलपसे मुंजका यह विचार कह दिया। इससे क्रुद्ध होकर तैलपने मुंजका सिर कटवा डाला। अत्यन्त काव्यमय होनेसे यह कथा कदाचित् सच्ची नहीं है और तत्कालीन अथवा आसपासके समयके किसी लेखका इसे आधार भी नहीं है। इतिहासकी दृष्टिसे इस कथाका कोई महत्व न होनेपर भी इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि मुंजने तैलपका कई बार पराभव किया और प्रत्येक बार उसके साथ दयापूर्ण बर्ताव भी किया, पर अन्तिम युद्धमें वह स्वयं पराजित हो गया और सम्भवतः उसीमें मारा भी गया।

मुंजके पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज गद्दीपर बैठा और उसके थोड़े ही दिन राज्य करनेके उपरान्त उसका पुत्र सुप्रसिद्ध भोजराज राज्याधिकारी हुआ। भोजके भावी वैभवका भविष्यकथन मुंजने पहिलेसे ही कर रखा था। वास्तवमें धारा नगरीके परमार कुलमें भोज सबसे प्रसिद्ध, पराक्रमी और विद्वान् हुआ। उसका राजत्वकाल सन् १०००

(वि० १०५७) के अनन्तर होनेके कारण उसके सम्बन्धमें इस पुस्तकमें विशेष रूपसे नहीं लिखा जायगा। वह महमूद ग़ज़नवीका समकालीन था, अतः उसीके साथ उसका भी विवरण देना उचित होगा। भोजके सम्बन्धकी एक दन्तकथाका उल्लेख यहां कर देना पर्याप्त है। वह कथा इस प्रकार है— ज्योतिषियोंने भविष्यकथन किया था कि भोज मुञ्जसे भी अधिक प्रतापी होगा और मुंजसे राजगद्दी छीन लेगा। इस कारण मुंजने भोजका वध करनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु यह कथा भी अनैतिहासिक अतएव कविकल्पना मात्र है। *

---

* इस कथा तथा मुंजकी मृत्यु और भोजके राज्यारोहणके सम्बन्धमें ए० इं० भाग १, पृष्ठ २३० में लिखा है—वाक्पति अर्थात् मुंजने अपने पश्चात् भोजको गद्दी देनेका निश्चय किया था, यह बात सच्ची नहीं जँचती। उसने भोजका वध करनेका भी यत्न नहीं किया था। 'नवसाहसांकचरित' नाटकके इन वाक्योंसे ये कल्पनाएँ असम्भव सिद्ध होती हैं—"वाक्पतिराजने अम्बिकाकी ओर प्रस्थान करते समय यह पृथ्वी सिन्धुराजके अधीन कर दी।" अर्थात् जब मुंजने राष्ट्रकूटोंपर अन्तिम चढ़ाई की, जिसमें उसका पराभव हुआ, तब राज्यसूत्र उसके उत्तराधिकारी युवराज सिंधुराजके हाथमें दे दिया गया था। मुंजके लड़ाईमें मारे जानेपर (उसके पुत्रहीन होनेसे) उत्तराधिकारके नियमानुसार सिन्धुराज गद्दीपर बैठा। इस अनुमानकी पुष्टि उक्त नाटकके ही एक दूसरे वाक्यसे होती है। कवि कहता है—"जब महाराज मुंज स्वर्ग सिधारे, तब उन्होंने मेरा मुहँ मोहरबन्द कर दिया था, परन्तु उन कलिबान्धवके अनुज सिन्धुराजने उसे फिर खोल दिया है।" अर्थात् मुञ्जके समयमें कवि पद्मगुप्त राजकवि था और जब सिन्धुराज राज्यारूढ़ हुआ, तब उसने भी उसे अपनी सभामें वही स्थान दिया। श्री नीलकण्ठ जनार्दनकीर्तनेके मतसे मुञ्जने भोजको ही अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया था, किन्तु भोजके अल्पवयस्क (नाबालिग) होनेसे सिन्धुराज गद्दीपर बैठा। यह कल्पना भी पूर्वोक्त वाक्य के विरुद्ध होनेसे ग्राह्य नहीं है।

सिन्धुराजका देहावसान कब हुआ और भोज कब राज्याधिकारी हुआ, इसकी छानबीन करना यहाँ आवश्यक है। 'सुभाषितरत्नसन्दोह' नामक ग्रन्थके कर्ता अमितगतिने लिखा है कि यह ग्रन्थ मुंजके शासनकालमें विक्रमीय संवत् १०५० (ई० स० ९९४) में रचा गया, अतः ९९४ ईसवीमें मुञ्ज राज्यारूढ़ था, यह निश्चित है और उसका मृत्युकाल सन् ९९७ (वि० १०५४) मान लिया जा सकता है। राय बहादुर गौरीशंकर ओझाने सिन्धुराजके सम्बन्धमें लिखे हुए एक छोटेसे निबन्धमें सिन्धुराजकी मृत्युका समय ई० स० १०१० (वि० १०६७) माना है और यह सिद्ध किया है कि पाटणके अधिपति चामुण्डराज सोलङ्कीके साथ हुए युद्धमें वह मारा गया। बड़नगरकी कुमारपाल-प्रशस्तिमें, जो विक्रमी संवत् १०२८ में खोदी गयी थी, उक्त बात लिखी हुई है।* ब्यूलरने इस प्रशस्तिके अनुवादमें 'सिन्धुराज' शब्दका अनुवाद 'सिन्ध देशका राजा' कर डाला है। इस कारण इस सम्बन्धमें अबतक भ्रम फैल रहा था। श्रीगौरीशंकरजी कहते हैं—'सिन्धुराज शब्द मालवेके सिन्धुराजको लक्ष्य करके लिखा गया है, यह निश्चित है।' परन्तु सिन्धुराज और चामुण्डराजके युद्धका काल उक्त प्रशस्तिमें लिखा न होनेसे ई० स० १०१० (वि० १०६७) में सिन्धुराजका देहान्त हुआ और भोज सिंहासनारूढ़ हुआ, यह निश्चित नहीं किया जा

---

* जयसिंह देवसूरि नामक जैन ग्रन्थकारके एक ग्रन्थके इन श्लोकोंसे भी यही बात सिद्ध होती है। (इं० एं० भाग १२ पृष्ठ १९७) "राजा चामुण्डराजोथ यः······। सिन्धुराजमिवोन्मत्तं सिन्धुराजं मृधेवधीत्। तस्माद्वल्लभराजोऽभूत् यत्प्रतापाभितापितः मुंजोवन्तीश्वरो धीरो यंत्रेपि न धृतिं दधौ॥ इन श्लोकोंका अर्थ कैसे लगाया जाय, यह एक समस्या है।

सकता। भोजप्रबन्धमें यह समय सन् १०२१ (वि० १०७८) बताया गया है, पर वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि कोंकण-विजयके उत्सव-प्रसङ्गमें दिया हुआ सन् १०२० (वि० १०७७) का भोजका एक दानपत्र उपलब्ध हुआ है (ए० इं० भाग ११ पृष्ठ ८१ और इं० ऐं० भाग ६ पृष्ठ ४८)। राज्यारूढ़ होते ही कोंकणविजयकी शक्ति भोजमें नहीं आ सकती; कुछ समय अवश्य ही बीता होगा। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि परमार राजाओंके राज्यारोहणका समय अबतक अनिश्चित ही है।

श्रीकाशीनाथ कृष्ण लेलेने मराठीमें धारका इतिहास लिखा है। उसमें संक्षेपमें प्राचीन इतिहास लिखकर आप कहते हैं—मुंजने ही प्रथम धारानगरी अपनी राजधानी बनायी और वहाँ अनेक तालाव खोदवाये। उनमें 'मुंज-सागर' नामक सुन्दर तालाव अबतक प्रसिद्ध है। इसी तरह सिन्धुराजका 'कुंजसागर' भी प्रसिद्ध है। (सिन्धुराज का दूसरा नाम कुंज था।) माण्डवगढ़में भी एक मुञ्जताल है। मुञ्जने उज्जैन, महेश्वर, ओंकार और धर्मपुरी (नर्मदातट) में अनेक घाट बनवाये हैं।

उज्जैन—धारके परमारोंका वंशक्रम इस प्रकार है—

१ कृष्णराज (ई० स० ८१४-८३४ अनुमानतः)
२ वैरिसिंह = वज्रट (ई० स० ८३४-८५४ „)
३ सीयक = श्रीहर्ष (ई० स० ८५४-८७३ „)
४ वाक्पति = मुंज (ई० स० ८७३-८८७ „)
५ सिंधुराज = कुंज (ई० स० ८८७-१०१० „)
६ भोज = प्रसिद्ध परमार भूप १०१० „)

राजत्वकालके सन् अनुमानतः लिखे गये हैं, निश्चित नहीं हैं।

सातवाँ प्रकरण ।

बुन्देलखण्डके चन्देल ।

विन्सेण्ट स्मिथने रायल एशियाटिक सोसाइटीके जर्नल-में बुन्देलखण्ड अथवा 'जेजाक भुक्ति' का जो पूर्व इतिहास लिखा है, वह दन्तकथाओंसे भरा हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्डमें, चन्देलोंका प्रवेश होनेके पूर्व, पहिले गहरवारों और फिर परिहारोंकी वस्ती थी। परन्तु दन्त-कथाओंमें सत्यांश बहुत ही थोड़ा और समयकी गड़बड़ी अधिक रहती है। इस कारण दन्तकथाओंके आधारपर ऐति-हासिक उलट-फेरोंका समय निश्चित करना कठिन हो जाता है। दन्तकथाओंके अनुसार बुन्देलखण्डके मनोहर तालाव गहरवारोंके बनवाये हुए हैं; परन्तु ऐसा माननेके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। अतः चन्देलोंसे पहिले बुन्देलखण्ड-में गहरवारोंका होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। हुएनसङ्गने अपने सन् ६४० (वि० ६९७) के प्रवास-वर्णनमें लिखा है कि जझोतीमें एक ब्राह्मण राजा राज्य करता था। हम पहिले लिख चुके हैं कि यह ब्राह्मण राजा सम्भवतः कन्नौजके सम्राट् हर्षका सूवेदार था। हर्षके पश्चात् कन्नौजपर मौखरी उर्फ वर्म वंशका अधिकार हुआ। जबतक वर्म वंशकी सत्ता अबाधित थी, तव-तक जझोती प्रान्तपर भी कन्नौजका पूर्ण अधिकार रहा होगा; परन्तु कन्नौजके साम्राज्यका ह्रास आरम्भ होते ही वह प्रान्त क्रमशः स्वतन्त्र होता गया। तात्पर्य यह कि जिस समय चक्रा-युध इन्द्रायुधकी गद्दीपर वैठा, उसी समय यह उलट-फेर भी हुआ होगा। बनारसमें उपलब्ध हुए चन्देल वंशके अति प्रसिद्ध

धङ्गराजके लेखसे (ए० इं० भा० १, पृ० १२६) हमारे इस काल-निर्णयकी पुष्टि होती है। धङ्गराजके लेखमें चन्देल वंशके आदि-पुरुषसे जो वंशावली दी गयी है, उससे ज्ञात होता है कि इस वंशका आदिपुरुष नन्नुक था। नन्नुकसे धङ्गराजतकके शासन-कालका विचार करते हुए नन्नुकका काल सन् ८३१ से ८५० तक (वि० ८८८-९०७) निश्चित होता है। महोवाके कानूनगो-से मिले हुए २०४ और २२५ हर्ष शकके लेखके आधारपर स्मिथ साहबने नन्नुकका राज्यारोहण-काल सन् ८३१ (वि० ८८८) ठहराया है। उस समय हर्ष शक प्रचलित था। इससे यह सिद्ध होता है कि कन्नौजकी सत्ता अबतक इस प्रान्तपर थी। चन्देल वंशका उत्कर्ष हर्ष शक २०४ अर्थात् ई० स० ८१० से आरम्भ हुआ और ई० सन् ८३१ में क्षीणबल सम्राट्से युद्ध कर नन्नुकने विजय प्राप्त की। फिर उसने परि-हारोंको मार भगाया और बुन्देलखण्डमें अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

नन्नुकके पश्चात् विजयने सन् ८७०से ८९० (वि० ९२७-९४७) तक राज्य किया। उक्त लेखमें कहा है कि नन्नुकके पश्चात् जय-शक्ति और विजयशक्तिने क्रमशः राज्य किया और ये दोनों सगे भाई थे। हर्षराजके एक लेखमें (ए० इं० १,१२६) नन्नुकके उत्तराधिकारीका नाम जेज्जक लिखा है। कहा जाता है कि जयशक्ति और विजयशक्ति इन संयुक्त नामोंसे ही जेज्जक नाम बना है; परन्तु यह स्पष्ट देख पड़ता है कि जेजाक भुक्तिसे ही जजोति बना है, और हुएनसङ्गने इस प्रान्तके लिए इसी नामका प्रयोग किया है। अर्थात् दो सौ वर्ष पूर्व ही यह नाम बरता जाता था, इस कारण जयशक्ति-विजयशक्ति नामोंसे इसका बनना सम्भव नहीं है। 'भुक्ति' शब्दसे सूचित होता

है कि यह एक बड़े साम्राज्यका प्रान्त था, फिर चाहे वह गुप्त साम्राज्यका प्रान्त रहा हो जिसका प्रधान स्थान अयोध्या था या कन्नौज साम्राज्यका भाग रहा हो जिसकी मुख्य राजधानी कन्नौज थी। 'जेज्जक' नाम चन्देलोंमें पुनरुक्तिरूढ़ हुआ सा जान पड़ता है। अस्तु, विजयके पश्चात् राहिलने (सन् ८६० से ९१० तक = वि० ६४७-६६७) राज्य किया। वह पराक्रममें बहुत प्रसिद्ध था। उसकी राजधानी महोवा थी। महोबाके निकट जो विस्तृत सरोवर है, उसका नाम भी 'राहिल्यसागर' ही है। सरोवरके निकट ही उस राजाकी स्मृतिमें विशाल शिव-मन्दिर बना है। राहिलराजके पराक्रमका वर्णन पृथ्वीराज चौहानके चन्द भाटने भी किया है। उसकी कन्याका विवाह तत्कालीन चेदीराज कोकलसे हुआ था। राहिलके अनन्तर उसका पुत्र हर्ष राज्यारूढ़ हुआ। उसका विवाह चाहमान कुलकी कञ्चुका नामकी कन्यासे हुआ था। उसका राजत्व-काल सन् ९१० से ९३० तक (वि० ९६७-९८७) माना जा सकता है। स्मिथके मतसे उसका विवाह 'गङ्ग' जातिकी कन्या-से हुआ था। हो सकता है, गङ्ग नामकी चाहमानोंकी कोई शाखा हो। हर्षके पुत्र यशोवर्माके पराक्रमसे चन्देल वंशका गौरव बहुत बढ़ गया! उसने कलचूरी नरेशका पराभव कर कालिंजरके सुप्रसिद्ध पहाड़ी किलेपर अधिकार कर लिया। महाभारतके समयसे कालिंजर एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान माना जाता है और भारतके इतिहासमें भी कालिं-जरके किलेका बहुत महत्व है। कालिंजरके किलेपर प्रभुत्व बनाये रखनेमें चेदीके राजा विशेष गौरव समझते थे, क्योंकि वे 'कालिंजरपुरवराधीश्वर' कहलाते थे। चेदियोंका पराभव करने पर वही पद यशोवर्माको मिला। लेखमें यशोवर्माकी

कालिंजर-विजयके साथ ही साथ गौड़, खश, कोशल, काश्मीर, मिथिला, मालवा, चेदी, कुरु, गुर्जर देशोंपर भी विजय प्राप्त करनेका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इस वर्णनमें भी कुछ तथ्य है। कालिंजरका किला हस्तगत करनेपर कलचूरियों अर्थात् चेदियोंका पराभव हो गया था। गुर्जर अर्थात् प्रतिहार राजा कन्नौजके साम्राज्य पदपर प्रतिष्ठित था। शिलालेखोंमें यह भी लिखा है कि यशोवर्माके पिता अर्थात् हर्षने कन्नौजके देवपालको राष्ट्रकूट नरेश तीसरे इन्द्रके विरुद्ध सहायता दी थी, उसी समयसे कन्नौजका ह्रास हो चला था। इससे लाभ उठाकर सम्भवतः यशोवर्माने कन्नौजके सम्राट्का पराभव किया और उससे वैकुण्ठ अर्थात् विष्णुकी मूर्ति प्राप्त की। ज्ञात होता है कि यशोवर्मा विष्णुभक्त था। महीपालको वह मूर्ति कैसे और कहांसे मिली, इसका वृत्तान्त खजुराहो-लेखमें लिखा है। प्रथम वह मूर्ति भोट अथवा तिब्बतके राजाके पास थी। उससे कीरके शाहीराजके हाथ आयी और फिर महीपालको प्राप्त हुई। उक्त लेख एक और दृष्टिसे भी महत्वपूर्ण है—उससे यह प्रतीत होता है कि जझोतीका चन्देल राजा कन्नौज अथवा अन्य किसी सार्वभौमका माण्डलिक न होकर स्वतन्त्र राजा था। स्मिथका भी यही मत है। उनका कथन है कि भोज और महेन्द्रपालके शासनकालमें चन्देल राजा कन्नौजके माण्डलिक थे, बादमें वे स्वतन्त्र हो गये। वि० सं० १०५२ अर्थात् ई० स० ९९६ के एक लेखमें हर्ष और यशोवर्माके नामोंके साथ 'परमभट्टारक' और 'परमेश्वर' ये विशेषण देख पड़ते हैं (इं० एँ० भा० १६, पृ० २०२)। इससे यह कहा जा सकता है कि हर्ष ही चन्देलोंका पहिला स्वतन्त्र राजा था। खजुराहो-लेखमें देवपालको 'हयपति' कहा

है। उस समय हयपति, गजपति, नरपति, भूपति आदि विशेषण राजाओंके नामोंके साथ प्रयुक्त होने लगे थे। कन्नौजके सम्राट् मारवाड़से आये थे और मारवाड़के लोग घोड़ेपर चढ़नेमें बड़े कुशल होते हैं। सम्राट्की सेनामें घुड़सवार अधिक थे, इस कारण देवपालको 'हयपति' कहना बिलकुल ठीक है। सेनाके स्वामित्व-सूचक इसी प्रकारके पद अन्य राजाओंको भी दिये जाते थे।

यशोवर्माका शासन-काल सन् ९२५ से ९५० तक (वि० ९८२-१००७) माना जा सकता है। इसके अनन्तर चन्देलोंके महापराक्रमी पुरुष धंगराजका राजत्वकाल आरम्भ होता है। खजुराहो-लेखके आरम्भमें ही धंगराजके राज्यविस्तारकी चतुःसीमा दी गयी है। उत्तरमें यमुना नदीतक, दक्षिणमें मालवा नदी-तटके भास्वत ग्रामतक, पूर्वमें कालिंजर गढ़तक और पश्चिममें गोपाद्रि (ग्वालियर) तक उसका राज्य फैला हुआ था। मालवा नदी वर्तमान बेतवा (वेत्रवती) नदी है। कुछ लोगोंके मतसे मालवा नदी 'धसान' नदी है, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि धसान दशार्ण प्रान्तमें है। 'भास्वत्' अर्थात् भैल्लस्वामिन् वर्त्तमान भेलसा है।

धंगराजके राजत्वकालके बहुतसे लेख मिले हैं। उनमेंसे सन् ९५४ (वि० १०११) के खजुराहो-लेखका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दो और महत्वके सन् ९९८ (वि० १०५५) और १००२ (वि० १०५९) के लेख हैं। ९९८ (वि० १०५५) के लेखमें धंगकी तुलना हम्मीरके साथ की गयी है। इससे प्रतीत होता है कि सन् ९८९-९९० (वि० १०४६-१०४७) में 'क्रम्मु' नामक स्थानमें सबुक्तगीनके साथ हुए संग्राममें धंगने विशेष पराक्रम दिखाया था। फ़रिश्ताके लिखे वृत्तान्तसे भी यही

अनुमान दृढ़ होता है। वह लिखता है,—"लाहोरके जयपालकी सहायताके लिए कालंजर बड़ी भारी सेना और ख़जाना लेकर प्रस्तुत हुआ"। इस लेखसे हिन्दुओंकी विजय सूचित होती है, किन्तु मुसलमान लेखकोंका कहना है कि हिन्दुओंकी पराजय हुई। सम्भव है, किसीकी जय या पराजय न हुई हो, दोनोंकी बराबरी रही हो। इस युद्धका हाल तीसरे भागमें लिखा जायगा, इस कारण यहाँ अधिक विस्तारका प्रयोजन नहीं है।

धंगका राजत्वकाल सुदीर्घ था और वह दीर्घायु भी था। एक आख्यायिका है कि अन्त समयमें गंगा-यमुनाके संगममें उसने जल-समाधि ली थी। राजेन्द्रलाल इस आख्यायिकाको महत्व नहीं देते। उनके मतसे धंगराजने स्वयं जलसमाधि नहीं ली, वृद्धावस्थाके ही कारण उसकी मृत्यु हुई थी। हम उक्त आख्यायिकाको कल्पित नहीं समझते। हिन्दू धर्मशास्त्र इस प्रकारके शरीर-त्यागकी आज्ञा देता है। हिन्दू धर्मशास्त्र प्रायोपवेशन कर अथवा जीर्ण शरीरका तीर्थस्थानमें त्यागकर इहलोकका त्याग करनेको पुण्यकारक मानता है। * धंगराजके तीसरे दानपत्रसे प्रतीत होता है कि उसके राज्यका विस्तार काशीतक था। इस सम्बन्धमें मतभेद होनेपर भी इसमें सन्देह नहीं कि वह चन्देल वंशका सर्वविख्यात वीर पुरुष

---

* राजेन्द्रलाल धंगराजके देहत्यागके वर्णनको अत्युक्तिपूर्ण समझते हैं। निम्न श्लोकसे पाठक स्वयं अपना मत स्थिर कर सकते हैं—

रक्षित्वा क्षितिमम्बुराशिरशनामेतामनन्यायतिं।
जीवित्वा शरदां शतं समधिकं श्रीधंग पृथ्वीपतिः॥
रुद्रं मुद्रितलोचनं स्वहृदये ध्यायन् जपन् जाह्नवी।
कालिन्द्याः सलिले कलेवर परित्यागादगान्निर्वृतिम्॥

एपि० इंडि० १, १४६.

था। वह उत्कट शिवभक्त भी था। उसके दानपत्रोंके आरंभमें 'ॐ नमः शिवाय' लिखा रहता है। हम कह चुके हैं कि उस समय शिव, विष्णु, सूर्य अथवा देवीकी उपासनाका काफी प्रचार था और शैव वैष्णवोंका विरोध नहीं करते थे। हिन्दू समाजमें मताभिमानके पागलपनने प्रवेश नहीं किया था, सब लोग धर्मके सम्बन्धमें परमत-सहिष्णु थे।

एक बात और है। चन्देलोंके सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। चेदी राजाओं और चन्देलोंके सिक्कोंमें बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि चेदी राजाओंके सिक्कोंपर दुर्गाकी और चन्देलोंके सिक्कोंपर हनूमानकी छाप है। साथ ही, ध्यानमें रखने योग्य एक बात यह है कि धंगसे पहिलेके राजाओंके या धंगके समयके सिक्के नहीं मिले हैं। संभव है, उनके स्वतन्त्र सिक्के न बने हों और उनके समयमें कन्नौजके ही सिक्के प्रचलित रहे हों (इंडि० एंटि० भाग ३७ में स्मिथ लिखित चन्देलों और १८०८ तकके उनके सिक्कोंका वृत्तान्त देखो)। स्मिथके मतसे धंगके पूर्वजोंके समयमें 'इंडोससेनिअन' सिक्कोंका प्रचार था। हम इससे सहमत नहीं हैं। हमारे मतसे भोजादिके 'आदि-वराह' आदि सिक्कोंका प्रचार कन्नौज साम्राज्यके अन्तर्गत सब देशोंमें था। ग्यारहवीं शताब्दी (वि० १०५८-११५७) में चेदीके गांगेयदेवने स्वतन्त्र सिक्के बनाना आरम्भ किया और उसीका अनुकरण कर चन्देलोंने हनूमानकी छापके अपने चांदी, सोने और ताम्बेके सिक्के बनाये। कौनसा चन्देल राजा हनूमानका उपासक था, इसका पता नहीं चलता। अस्तु, यह विषय तीसरे भागमें विस्तारपूर्वक लिखा जायगा। खजुराहो-लेखके अन्तमें "विनायकपालके राजत्वकालमें" ऐसे शब्द लिखे हैं। यद्यपि कीलहार्न साहबके मतानुसार

इस विनायकपालका पता चलना कुछ कठिन है, फिर भी हमारा अनुमान है कि विनायकपाल ही कन्नौजका सम्राट महीपाल था और यशोवर्मा स्वतन्त्र होते हुए भी उसका सार्वभौमत्व उसी प्रकार स्वीकार करता था जिस प्रकार मराठे स्वतन्त्र होते हुए भी दिल्लीपतिको सार्वभौम मानते थे। मराठोंके राज्यमें मोगलोंके सिक्के प्रचलित थे, इसी तरह कन्नौजके सिक्के भी उन स्वतन्त्र राज्योंमें प्रचलित थे, जो किसी समय कन्नौजके माण्डलिक थे।

स्मिथ साहबकी इंडि० एँटि० २३७ में लिखी चन्देलोंकी वंशावली—

१	नन्नुक	८३१	ई० स०	५	राहिल	९००	ई० स०
२	वाक्पति	८४५	„	६	यशोवर्मन्	९३०	„
३	जयशक्ति	७६०	„	७	धंग	९५०	„
४	विजयशक्ति	८८०	„	८	गंड	१०००	„

टिप्पणी—चन्देलोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें स्मिथका भ्रान्त मत।

सर विन्सेण्ट स्मिथने अपने 'हिन्दुस्थानका प्राचीन इतिहास' में तथा अन्यत्र भी, अपना यह निश्चित मत प्रकट किया है कि चन्देल गोंड़ या भर जातिके हैं। उपर्युक्त पुस्तक (द्वि० संस्क० पृष्ठ ३७०) में वे लिखते हैं— "चन्देल मूलतः गोंड़ अथवा भर हैं, यही अनुमान प्रबल प्रमाणोंसे सिद्ध होता है।" राजपूतोंको विदेशी म्लेच्छ अथवा भारतके आदि द्रविड़ सिद्ध करनेकी ओर यूरोपीय पंडितोंकी, स्वभावतः परन्तु विना कारण, प्रवृत्तिसी हो गयी है। उक्त मत इसीका परिणाम स्वरूप है। स्मिथने अपने इतिहासमें कानसे प्रबल प्रमाण दिये हैं, उनकी ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अपने इतिहासमें तो उन्होंने वे प्रमाण नहीं दिये, पर इण्डियन एँटि-

क्वेरी भाग ३७, पृष्ठ १३७ में विस्तारपूर्वक लिखे हैं। वे लिखते हैं—" मेरा आजतक (सन् १९०८ तक) यही मत है कि चन्देलोंकी उत्पत्ति किसी मूल आदिम निवासी जातिसे हुई है, चाहे वह जाति भर हो या गोंड़।" इसकी पहिली दलीलमें उन्होंने चन्देलोंमें प्रचलित, पागलपनसे भरी हुई, यह दन्तकथा दी है कि चन्द्रमा और काशी-निवासी एक ब्राह्मण-की कन्यासे उनकी उत्पत्ति हुई है। इस दन्तकथाके सम्बन्धमें स्मिथ लिखते हैं—"इस कथाका यही महत्व है कि इसने चन्देलोंके पूर्वजोंकी जातिके सम्बन्धमें जो सन्देह था, उसे दूर कर उन्हें चन्द्रवंशी बना डाला है। यही नहीं, उन्हें अधिक प्रतिष्ठित बनानेके लिए इस कथाने एक ब्राह्मण कन्याको उनकी आदिजननी भी मान लिया है। परन्तु वास्तवमें चन्देल निकृष्ट राजपूत ही माने जाते हैं।" उनकी दूसरी दलील देखिये। "चन्देल गोंड़ोंके मध्य प्रान्तमें उत्पन्न हुए, इसके सूचक प्रमाण स्पष्टतः देख पड़ते हैं। महोबाके चन्देल जमींदार अपनेको वहींके आदिम निवासी मानते हैं और कहते हैं कि हमारे पूर्वज केन नदीके तटके मनियागढ़ किलेमें रहते थे। इसकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि चन्देलोंके कुल-देवता मणिया देव (देवी) हैं और उनका मन्दिर मनियागढ़ किलेमें है। जब चन्देल मनियागढ़से उठकर निकट ही महोबामें आकर राज्य करने लगे, तब अपने साथ अपनी कुलदेवी भी महोबामें ले आये। इस देवीका रूप भी गोंड़ोंके देवताओंसे मिलता जुलता है। चन्द कविने भी ईसाकी तेरहवीं सदी (वि० १२५८-१३५७) में मनियागढ़में एक गोंड़ माण्डलिक राजाके अस्तित्वका उल्लेख किया है।" तीसरी दलील स्मिथने यह दी है कि "चन्देल राजकन्या दुर्गावतीका विवाह गढ़ामण्डलाके गोंड़ राजासे हुआ था।" स्मिथकी अन्तिम टिप्पणी यह है कि "गहरवार अथवा चेदीके हैहय भी इसी तरह भारतके आदिम निवासियों (भीलों अथवा आदि द्रविड़ों) के वंशज हैं, परन्तु सुप्रसिद्ध राजा हो जाने पर वे क्षत्रिय, ठाकुर अर्थात् राजपूत होनेका दावा करने लगे। गोंड़ोंमें ऐसी प्रथा अबतक प्रचलित है।" ये सब दलीलें कितनी लचर और भ्रान्त हैं, इसका अनुमान हिन्दू पाठक सहजमें ही कर सकते हैं; इस कारण इनका निराकरण करनेकी आवश्यकता

नहीं है। तो भी यूरोपीय पाठकों और उनके अनुयायियोंको जतानेके लिए इसपर कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहिली दलील चन्देलोंमें प्रचलित उनकी उत्पत्तिकी कल्पित कथाके आधारपर स्थित है। ऐसी पागलपनकी कल्पित कथाएँ हर एक देश और हर एक जातिके वीर पुरुषों और वीर कुलोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रचलित होती आयी हैं। पर उनसे कोई अनुमान नहीं स्थिर किया जा सकता। उदाहरणार्थ, ग्रीकोंमें यह दन्तकथा प्रचलित है कि एकिलीजकी उत्पत्ति अपोलो (सूर्य) के संयोगसे थेटिसकी कोखसे हुई है। क्या यह दन्तकथा सत्य मानी जा सकती है? और यदि सत्य मान ली जाय, तो क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि एकिलीजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें सन्देह था और उसे छिपानेके लिए ही यह कथा प्रचलित की गयी? हम कह चुके हैं कि वीर पुरुषोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धकी ऐसी सभी कथाएँ कल्पित होती हैं, इस कारण ऐतिहासिक विचारमें वे त्याज्य हैं। ऐसी निरी कवि-कल्पनाएँ वैदिक समयसे प्रचलित होती आयी हैं, उनसे किसी प्रकारका अनुमान करना अनुचित है। किसी कथामें कथित वीरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें सन्देह था, यह नहीं कहा जा सकता, और न यही कहा जा सकता कि वह कुलीन ही था। चन्देलोंके भाटोंने चन्देल नामका श्लेषार्थ कर (जिसे कीलहार्न 'नाममूलक कथा' कहते हैं) जब यह कथा अपने अन्नदाताओंके कुलीनत्वका गौरव बढ़ानेके लिए रची, तब उनको स्वप्नमें भी यह खयाल न हुआ होगा कि भविष्यत्‌के विद्वान् मनमाना अर्थ कर विपरीत सिद्धान्त स्थापित करनेमें इसका उपयोग करेंगे। चन्देल नामसे ही वंशप्रवर्तक चन्द्रकी कल्पना सूझती है। उत्तम वंशजननीके लिए ब्राह्मण कन्याकी कल्पना कर ली गयी, इसमें भी कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि प्राचीन समयमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें प्रसङ्गानुसार प्रतिलोम विवाह हुआ करते थे। ब्राह्मण कन्या देवयानी और क्षत्रिय ययातिसे यदुवंशके संस्थापककी उत्पत्ति हुई। सारांश, हमारे बारम्बार कहे अनुसार ऐसी कथाएँ ऐतिहासिक विचार करते हुए सर्वथा त्याज्य हैं। इस कथासे यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि चन्देल प्राचीन कालसे चन्द्रवंशी

माने जाते हैं। हमें यह देखना है कि क्या लोगोंका यह विश्वास कभी बदला भी था? क्या कभी चन्देल हीनवंशी माने गये थे? यदि वे कभी अनार्य माने गये हों, तो उनका राजपूत होनेका दावा अग्राह्य हो सकता है।

स्मिथका महत्वपूर्ण तर्क यह है कि चंदेलोंको लोग हीन कुलके ही समझते आये हैं, पर इस तर्कके लिए स्मिथके पास कोई आधार नहीं है। अतः इसका उत्तर हम यही देंगे कि यह दलील झूठी है और इसके विरुद्ध अनेक प्रमाण हैं।

प्रथमतः चन्दने ३६ राजपूत कुलोंकी जो सूची बनायी है, उसमें आरम्भमें ही चन्देल हैं। पहिले दोहेका 'छन्द' शब्द चन्देल-वाचक ही है। (रासोमें चन्द शब्द कभी कभी चन्देलोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा महोबा प्रसङ्गमें—आये लाखन साम रम, उचरे आल्ह सुभाय। हम आवेंगे काम सब, राज चन्द नहिं जाय॥ पृष्ठ २५७५)। छन्द=चन्द, चन्द=चन्देल, इस व्युत्पत्तिको हम न भी मानें, तो भी टाडने अपनी पुस्तकमें ३६ कुलोंकी जो प्राचीन सूचियां दी हैं, उनमें से कुमारपालकी सूचीमें चन्देलका नाम होनेसे यह मानना ही होगा कि कुमारपालचरितके समयसे (ई० स० १२०० के आस पास) चन्देलोंकी गणना उत्तम राजपूतोंमें होती आयी है। दूसरे, जिस चन्द वरदाईके लेखको स्मिथ साहब प्रमाण मानते हैं, उसी चन्दने किसी लेखमें चन्देलोंके हीन राजपूत होनेकी कोई बात नहीं कही है। तीसरे, प्राचीन शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि चन्देलोंके विवाह-सम्बन्ध उत्तम कुलके माने जानेवाले राजपूतोंके, विशेषतः हैहयोंके वंशके, साथ होते थे। स्मिथ कुछ भी कहें, हैहय चेदी पहिले और अब भी उत्तम राजपूत माने जाते हैं। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि चन्देलोंके वर्तमान प्रधान वंशधर गिद्धौर महाराजका विवाह-सम्बन्ध गुहिलोत, चौहान आदि उत्तम राजपूत वंशोंके साथ होता है। अतः स्मिथका यह कहना कि चन्देल हीन राजपूत माने जाते हैं, बिलकुल मिथ्या है।

स्मिथकी तीसरी दलील भी पहिलीकी तरह लचर और न्यायविरुद्ध है। यद्यपि उचित जाँच-पड़तालके बाद ही वह दी गयी है, तथापि वह

प्रामाणिक नहीं जँचती। गोंड़ोंके ठीक मध्य देशमें चन्देलोंका उत्कर्ष हुआ, यह बात सही है; किन्तु इससे हम उन्हें गोंड़ कैसे ठहरा सकते हैं? इतिहास बता रहा है कि सैकड़ों राजपूत घरानोंने गोंड़, भर, भील आदि जंगली आदिम निवासियोंके देशोंमें जाकर अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित किये थे। राजपूतों अर्थात् क्षत्रियोंका यह स्वभाव ही है कि यदि आर्य देशोंमें राजा होनेका उन्हें अवसर न मिले, तो वे जंगली अनार्य देशोंके राजा बन जाते हैं। (गीतामें भी कहा है—दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्।) उदाहरणार्थ, बाप्पारावल भीलोंमें जाकर राज्य करने लगे थे और भीलोंके देशमें ही गुहिलोत वंशका अभ्युदय हुआ; इससे क्या यह कहा जा सकता है कि गुहिलोत भील हैं? ब्रिटिशोंने भी हिन्दू-मुसलमानोंमें आकर विशाल राज्यकी स्थापना की है, तो क्या वे हिन्दू या मुसलमान कहे जा सकेंगे? आश्चर्य है कि इसमें इतिहासकारोंको अब तक सन्देह होता है कि साहसी क्षत्रियोंने आर्यमध्यदेशसे हिमालयकी कन्दराओं, राजस्थानकी मरुभूमि और मेवाड़के पर्वतोंमें जाकर राज्य स्थापन किये थे। सारांश, चन्देलोंका प्रधान राज्य गोंड़ोंके मध्यदेशमें स्थापित हुआ, इससे वे गोंड़ थे, यह सिद्ध नहीं हो सकता। महोबाके चन्देल जमींदारका यह कथन कि 'हम यहींके आदिम निवासी हैं' आश्चर्यजनक नहीं है। ऐतिहासिक प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि महोबामें एक सहस्र वर्ष पूर्वसे चन्देल रहते आये हैं। सन् १९२० (वि० १९७७) में चन्देल जमींदार यदि यह कहें कि महोबामें हम अनादि कालसे रहते आये हैं, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? महोबामें आनेके पहिलेसे ही चन्देल मनियागढ़में रहते आये थे। वे वहाँ कब आये, इतिहासको इसका पता नहीं। चन्देल गोंड़ोंके देशमें हजारों वर्षोंसे हैं। कौन कह सकता है कि हूणोंके आक्रमणके समय वे वहाँ आये या उससे भी पहिले कुशानोंके समयमें आये? इतिहास बता रहा है कि भारतमें आर्य बाहरसे आये हैं; परन्तु कितने ही बहुश्रुत तथा विद्वान् इतिहासकार यही मानते हैं कि आर्य बाहरसे नहीं आये, वे यहींके हैं। उनका आदिनिवासस्थान न तो उत्तर ध्रुवके निकट है और न वोल्गा

तटवर्ती प्रान्तमें ही। आर्योंका आदिनिवासस्थान भारतवर्ष ही है। फिर यदि महोबाके जमींदार अपनेको बुन्देलखण्डके आदिमनिवासी मानते हों, तो उनके विश्वासका महत्व ही क्या रह जाता है और उसी विश्वासके आधारपर चन्देल गोंड़ हैं, यह अनुमान कैसे किया जा सकता है ?

स्मिथका यह अनुमान भी भ्रान्त है कि चन्देलोंकी कुल-देवी मनिया-देवी होनेके कारण वे गोंड़ हैं। यह प्रसिद्ध ही है कि हर एक राजपूत कुलका एक कुलदेवता या देवी होती है। उनके गोत्रोच्चारमें वेदके साथ ही उसका भी उच्चारण किया जाता है। चन्देल गोंड़ोंके देशमें आये, मनिया-गढ़ उन्होंने हस्तगत किया और उसके आसपास अपना राज्य स्थापित किया, इस सहजसिद्ध बातको यदि हम मान लें, तो उनकी कुलदेवीका नाम मनियादेवी होनेमें आश्चर्यकी कौन सी बात है ? स्मिथके इस कथनमें तथ्य नहीं है कि इस देवीका गोंड़ोंकी देवीसे साम्य है, क्योंकि उन्होंने यह नहीं बताया कि कैसा साम्य है। हम मान भी लें कि गोंड़ोंसे ही चन्देलोंने इस देवीको पाया, तो भी वे गोंड़ नहीं हो सकते। हम कई बार यह प्रतिपादन कर चुके हैं कि आर्योंने अनार्यों अर्थात् भारतके आदिमनिवासियोंसे ही शिव और दुर्गा दोनों देवताओंको प्राप्त किया है। उन्होंने वैदिक देवताओंसे उनका सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपना लिया है। अतः चन्देलोंकी मनियादेवीकी पूजा-विधि और गोंड़ोंके देवताओंकी पूजाविधिमें समानता हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

रासोमें लिखा है कि सोलहवीं शताब्दीमें मनियागढ़में एक गोंड़ माण्डलिक था। पर इससे चन्देलोंकी मूल उत्पत्तिके सम्बन्धमें क्या अनुमान किया जा सकता है ? चन्देलोंने मनियागढ़से आकर महोबामें एक बड़े राज्यकी स्थापना की, जो ईसाकी नवीं शताब्दीसे तेरहवीं शताब्दीतक (वि० ८५८-१३५७) कायम रहा। चन्देलोंके राज्यपतनके पश्चात् यदि मनियागढ़में कोई गोंड़ माण्डलिक हुआ हो तो इससे चन्देलोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें निर्णय ही क्या किया जा सकता है ?

रानी दुर्गावतीकी कथासे उलटी ही बात सिद्ध होती है; किन्तु आश्चर्य है कि स्मिथने अपनी कल्पनाकी पुष्टिके लिए उसका उपयोग किया है।

अबुल्फ़ज़लने अकबरनामेमें वह कथा इस प्रकार लिखी है (बीवरिज-कृत अनुवाद भाग २, पृष्ठ ३३३ से ही सम्भवतः वह कथा स्मिथने उद्धृत की है।)—"रानी दुर्गावती राढ़ और महोबाके राजा सालवाहनकी कन्या थी। सालवाहन चन्देलवंशी था। अमानदासके पुत्र दलपतके साथ वह ब्याही गयी थी। दलपत हीन कुलका, परन्तु श्रीमान् था और सालवाहनकी दशा गिरी हुई थी। इसीसे उसे यह सम्बन्ध करना पड़ा।" वही ग्रन्थकार फिर लिखता है—"प्राचीन समयसे राढ़के राजाओंका पद बहुत श्रेष्ठ माना जाता था परन्तु जमींदारीके अतिरिक्त आयका उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं था। खर्जी (दलपतका दादा) पेशकशके नामपर बहुतसा धन बटोरने लगा था।" पृष्ठ ३२६ में लिखा है-"वास्तवमें दलपत गोविन्ददास कछवाहाका पुत्र था। उसके उत्पन्न होते ही संग्रामने उसे गोद ले लिया और उसका नाम दलपत रखा। उसीसे दुर्गावती ब्याही गयी थी।" इन तीन अवतरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि अबुलफ़ज़ल भी इस बातको मानता है कि चन्देल उच्च राजपूत हैं, किन्तु निर्धनताके कारण उन्हें अपनी कन्याका विवाह दलपतके साथ करना पड़ा। इतिहासमें हम देखते हैं कि राज्यकी आशासे उत्तम कुलके राजपूतोंने अपनी कन्याएँ मुसलमान बादशाहों तकको ब्याह दी थीं। फिर यदि गढ़ामण्डलाके श्रीमान्, किन्तु हीन कुलके राजाको सालवाहनने अपनी कन्या ब्याह दी, तो इससे उसके उच्च कुलमें धब्बा कैसे लग सकता है? राजाओंमें ईश्वर-भाव स्वभावतः माननेके कारण राजपूतलोग उन्हें अपनी कन्याएँ अर्पण करनेमें आगा-पीछा नहीं करते, चाहे राजा मुसलमान ही क्यों न हो। उनका उच्च कुल संबन्धी अभिमान कन्याके वरण करते समय प्रकट होता है। उच्च कुलकी कन्याओंसे ही वे विवाह करते हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि दलपतके गोंड़ होनेका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। यदि वह गोंड़ होता, तो भी सालवाहनके उच्च कुलमें कोई बाधा नहीं पहुंचती। दलपत या उसके पूर्वजोंके गोंड़ होनेका कहीं वर्णन न होते हुए भी स्मिथने उसे गोंड़ कैसे मान लिया, यह बात समझमें नहीं आती। उपर्युक्त वर्णनसे दलपत राजपूत ही प्रतीत होता है, चाहे उसका कुल निकृष्ट ही क्यों न

हो। वह समृद्ध तथा शक्तिशाली था और गढ़ा तथा उसके आस पासके प्रदेशमें उसका राज्य था। इसके अतिरिक्त दलपतका कुल निकृष्ट मान भी लिया जाय, तो भी वह स्वयं उच्च कछवाहा कुलमें उत्पन्न होकर गढ़ा कुलमें गोद आया था। सालवाहनने उसे अपनी कन्या व्याह दी, इसमें अनुचित क्या हुआ? सबसे बढ़कर बात तो यह है कि रानी दुर्गावतीने अलौकिक पराक्रमसे अपना श्रेष्ठ राजपूत कुल सिद्ध कर दिया है। दलपतके मारे जानेपर वह स्वयं बड़ी वीरतासे मोगलोंके साथ लड़ी और संग्राममें पराजित होकर आहत होनेपर भावी विपद् और अपमानसे बचनेके विचारसे उसने आत्महत्या कर ली। रानी दुर्गावतीका यह चरित्र उसके पिताके कुलको सब भांति श्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है। फिर भी इसी कथाके आधारपर स्मिथ चन्देलोंको गोंड़ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है?

आठवाँ प्रकरण।

चेदी अर्थात् त्रिपुरके कलचूरी।

क्षत्रिय वंशवृत्तकी हैहय नामक शाखा बहुत प्राचीन समयसे प्रसिद्ध है। इस शाखाकी उत्पत्ति सहस्रार्जुनसे हुई है। पुराणोंमें लिखा है कि सहस्रार्जुनने रावणको हराया था। प्राचीन समयसे हैहय वंशके लोग नर्मदातटवर्ती स्थानोंमें रहते आये हैं। पुराणेतिहाससे यह भी पता चलता है कि हैहयोंने अयोध्याके सूर्यवंशी राजा सगरका पराभव किया था। फिर थोड़े ही दिनोंमें हैहयोंने दक्षिण कोसल अर्थात् छत्तीसगढ़पर अधिकार कर लिया। नागपुरके भोंसलोंके समयतक वह प्रान्त उनके ही अधीन था। प्रथम भागमें मध्यप्रान्तके इन हैहयोंका कुछ परिचय दिया गया

और साथ ही चेदीकी कलच्चूरी शाखाके इतिहासकी भी रूप-रेखा बतायी गयी है। कलच्चूरी घराना हैहय वंशकी ही एक शाखा है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। पर इसका प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह बताना भी कठिन है कि कलच्चूरियोंने त्रिपुर (वर्तमान जब्बलपुर) में कब और क्यों स्वतन्त्र राज्यकी स्थापना की। कलच्चूरी लोग विक्रम अथवा शालिवाहन शक न मानकर अपना स्वतन्त्र चेदी शक मानते हैं। कीलहार्न साहबके मतानुसार चेदी शकका आरम्भ ई० स० १४८ से हुआ है। ईसाकी चौदहवीं सदीके अन्त (वि० १४५७) तकके कलच्चूरियोंके इतिहास और दानपत्रोंमें चेदी शक पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कलच्चूरियोंका घराना बहुत प्राचीन समयसे विख्यात था। चेदी शक पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात और कोंकण प्रान्तमें भी प्रचलित था, इससे जान पड़ता है कि दक्षिणके चालुक्योंके उदयसे भी पूर्व पश्चिम प्रान्तमें कलच्चूरियोंका राज्य था। शातवाहनके पश्चात् आन्ध्र साम्राज्यका अधिकांश उनकी अधीनतामें अवश्य ही आ गया था। कालिंजरका दृढ़ किला प्राचीन समयसे उनकी अधीनतामें था ही। धीरे-धीरे पूर्वीय प्रान्तमें उन्होंने प्रवेश किया और अन्तमें यमुनातटके प्रदेशपर अधिकार कर लिया। 'चेदी' इस अन्वर्थक नामसे भी यही बात सिद्ध होती है।

विभिन्न प्रान्तोंमें कलच्चूरियोंका क्रमशः किस प्रकार प्रवेश हुआ, उसका यह संक्षिप्त वर्णन है। परन्तु ईसाकी नवीं शताब्दी (वि० ८५८-६५७) के उत्तरार्धसे पहले कलच्चूरियोंकी गणना स्वतन्त्र राजाओंमें नहीं होती थी। कलच्चूरियोंका स्वतन्त्र

राज्य ईसाकी नवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें स्थापित हुआ। इस वंशका कलचूरी नाम क्यों पड़ा, यह कहना कठिन है। इतिहास-प्रसिद्ध कुलों अथवा वंशोंकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे बतायी जाती है, किन्तु उन बातोंमें तथ्यांश बहुत ही अल्प होता है। इस कुलके सम्बन्धमें भी यही बात है। यह कोई नियम नहीं कि सब नाम सार्थक ही हों। प्रायः कविगण नामपर चमत्कृतिजनक श्लेषरचना करते हैं। पर वास्तवमें इस प्रकार नामोत्पत्तिके सम्बन्धमें गढ़ी हुई रचना काल्पनिक ही हुआ करती है, और वही आगे चलकर सच्ची जान पड़ती है। नामके सम्बन्धमें रची हुई श्लेषपूर्ण कथाएँ प्राचीन कालसे प्रचलित हैं। ऋग्वेदमें भी ऐसी श्लेषजन्य कथाएँ वर्णित हैं। परन्तु पहिले कहे अनुसार उनमें तथ्यांश बहुत ही कम होता है। सारांश, किसी कुलके नामकी अन्वर्थकताका विचार करना बड़े परिश्रमका काम है और परिश्रम किया भी जाय, तो उससे सत्यांश ज्ञात होनेकी कोई आशा नहीं। अतः नामोंकी व्युत्पत्तिके फेरमें न पड़ना ही उचित है। इसी विचारसे हमने हैहय, चालुक्य, चाहमान (चौहान), प्रतिहार अथवा कलचूरी आदि नामोंकी छानबीन नहीं की। अस्तु, कलचूरी वंशसंबंधी दो प्रधान लेख उपलब्ध हुए हैं और वे कीलहार्न साहबने एपि० इंडि० भाग १, पृ० २६५ और भाग २, पृ० ३०५ में प्रकाशित किये हैं। उनके नाम हैं—बिलहारी शिलालेख और बनारस ताम्रपट लेख। इन लेखोंसे ज्ञात होता है कि कलचूरी वंशमें सन् ८५० (वि० ९०७) के लगभग कोकल नामक एक विख्यात वीर पुरुष हुआ था। कोकल और उसके वंशजोंका वृत्तान्त कीलहार्न साहबने एपि० इंडि० के दूसरे भागमें दिया

है। उसके तथा और जो नयी बातें ज्ञात हुई हैं उनके आधारपर कलचूरियोंका इतिहास नीचे दिया जाता है।

उपर्युक्त लेखोंमें कोक्कलदेवका विशेष गुणगान किया गया है। लिखा है—"उत्तरके भोजराज और दक्षिणके वल्लभराज, मानों ये दो नृपरूप जयस्तम्भ कोक्कलदेवने खड़े किये हैं।" इसका अर्थ यह है कि कोक्कलदेवके तेजके सामने भोजराज अथवा वल्लभराजका तेज फीका पड़ जाता था और कोक्कल सम्राट् था एवं भोज आदि नृपति उसके माण्डलिक थे। लेखमें उल्लिखित भोज कन्नौजका सुप्रसिद्ध मिहिर भोज था। भोजके निश्चित लेख सन् ८६२—७६ और ८२ (वि० ९१९-३३ और ३९) के हैं। वल्लभराज राष्ट्रकूटोंका राजा द्वितीय कृष्ण है और उसका समय सन् ८७५ से ९११ तक (वि० ९३२-९६८) माना गया है। पहले कहा जा चुका है कि कोक्कलदेवने चित्रकूटके हर्षदेवको सहायता देनेका आश्वासन दिया था। एक और लेखमें कोक्कल नृपतिको 'त्रिकलिंगाधिपति' भी कहा है। लेखोंमें कोक्कलराजकी कितनी ही स्तुति क्यों न की गयी हो, पर भोजराज तथा कृष्णराज जैसे वीर्यशाली राजाओंको उसने पराजित किया होगा, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। सम्भवतः भोजराज और कृष्णराजकी दृढ़ मित्रताके कारण कोक्कलको उस समय ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त हुई होगी। उक्त राजाओंसे कोक्कलकी मित्रता ही नहीं, नाता भी था। कोक्कलकी कन्या कृष्णराजकी पटरानी थी, सम्भवतः उसकी दूसरी कन्या भोजराजसे ब्याही गयी होगी। कोक्कलका विवाह चन्देल हर्षकी बहिन 'नट्टा' से हुआ था। हैहयोंकी गणना उच्च क्षत्रियोंमें होती थी, इस कारण सभी राजकुल उनसे सम्बन्ध स्थापन करनेके लिए उत्सुक रहते थे। ईसाकी सातवीं, आठवीं

तथा बादकी शताब्दियोंमें दक्षिणके दोनों चालुक्य वंशोंने हैहयोंसे नाता जोड़ा था। बारहवीं शताब्दीमें भी प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल हैहयोंके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेके लिए उत्सुक रहा करते थे। पृथ्वीराज चौहानने हैहयोंकी एक कन्याके साथ विवाह किया था। सारांश, उस समय कोक्कलका महत्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इसका कारण उसका अलौकिक पराक्रम न होकर यह है कि उसने विभिन्न वैभवशाली नृपतियोंसे स्नेह-सम्बन्ध या नाता जोड़ लिया था। लेखोंमें वर्णित उसका महत्व अगर सत्य भी मान लिया जाय, तो भी उसका कारण लेखोक्त बातोंसे भिन्न है।

कोक्कलके पश्चात् उसका पुत्र मुग्धतुंग उर्फ प्रसिद्धधवल (या धवल) गद्दीपर बैठा। उसके बालहर्ष और केयूरवर्ष नामक दो पुत्र थे। मुग्धतुंगके अनन्तर बालहर्षने बहुत ही थोड़े दिन राज्य किया और फिर केयूरवर्ष राजा हुआ। उसकी रानीका नाम नोहलादेवी था, जो एक चालुक्य सामन्तकी कन्या थी। बिलहारी लेखमें जो दन्तकथा लिखी है, उसमें कहा गया है कि पहिला चालुक्य भारद्वाज गोत्रका था और द्रोणकी अञ्जलिसे उत्पन्न हुआ था। नोहलादेवीने अपने नाम-पर नोहलेश्वर शिवका मन्दिर बनवाया और उसके लिए जो ग्राम दिये थे, उनका दानलेख देवालयमें खुदा हुआ है। इससे जान पड़ता है कि बौद्ध भिक्षु जिस प्रकार विहारोंमें रहते थे, उसी प्रकार लकुलीश मतानुयायी शिवोपासक संन्यासी उस समय मठों और मन्दिरोंमें रहा करते थे। अब बौद्धमतका ह्रास हो चला था, इस कारण प्रायः सभी राजपूत शिवोपासक बन गये थे और 'आगमवेद' को प्रमाण मानते थे। इस समयकी धर्मभावनाओंके सम्बन्धमें एक

स्वतन्त्र प्रकरणमें विचार किया गया है, इस कारण यहाँ उसका केवल दिग्दर्शन ही करा देना पर्याप्त होगा।

केयूरवर्षका दूसरा नाम युवराज था। चन्देललेखोंसे पता चलता है कि इसका पराभव किसी चन्देल राजाने किया था। केयूरवर्षके अनन्तर उसका पुत्र लक्ष्मण राज्याधिकारी हुआ। उसकी रानीका नाम राहड़ा था। उसके बोधादेवी नामकी कन्या हुई, जिसका विवाह उत्तर चालुक्य वंशमें हुआ था। उसीका पुत्र सुप्रसिद्ध तैलप चालुक्य था। उसका समय सन् ९७३ (वि० १०३०) है। लक्ष्मणके पश्चात् उसका प्रथम पुत्र शंकरगण और तदनन्तर द्वितीय पुत्र युवराज (दूसरा) राज्य करने लगा। युवराज और मुंज समकालीन थे (ई० स० ९७४, ९७९, ९९३)। युवराजका पुत्र द्वितीय कोक्कलराज था। कोक्कलराजके पश्चात् गांगेयदेवको राजपद मिला। पूर्वोक्त राजाओंमें यह सर्वप्रसिद्ध था। परन्तु इसका राजत्वकाल सन् १००० (वि० १०५७) के अनन्तर होनेके कारण इसका वर्णन तृतीय भागमें करना उचित होगा। इस वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कलचूरी क्षत्रिय कहींसे नये आये हुए अथवा नकली क्षत्रिय नहीं थे, किन्तु उनका कुल बहुत प्राचीन है। इस कुलका विशेष उत्कर्ष ई० स० ८५० (वि० ९०७) से हुआ, किन्तु यह कुल पुरातन कालसे सच्चे क्षत्रियोंमें ही गिना जाता है। यही कारण है कि अनेक प्रसिद्ध क्षत्रिय कुलोंके इस कुलके साथ सम्बन्ध हुए और यही इस कुलके वैभवका मूल कारण है। इस कुलमें गांगेय नामक अति प्रसिद्ध राजा हुआ और उसके पश्चात् यह कुल वैभवगिरिके उत्तुङ्ग शिखरपर आरूढ़ हुआ। इसका कारण यह भी हो सकता है कि महमूदके आक्रमणके पश्चात्

कन्नौज बहुत ही क्षीणबल हो गया था, जिससे कलचूरियोंने लाभ उठाया । कलचूरी घरानेके लोग अत्यन्त शिवभक्त थे । विभिन्न राजाओंका राजत्वकाल अनिश्चित होनेपर भी गांगेय तककी कलचूरियोंकी बहुत कुछ विश्वसनीय क्रमबद्ध वंशावली यहाँ दी जाती है ।

कलचूरियोंकी वंशावली ।

१ कोक्कलदेव ई० स० ८५०
|
२ मुग्धतुंग उर्फ प्रसिद्धधवल ई० स० ९००
|
- ३ बालहर्ष
- ४ केयूरवर्ष उर्फ युवराज ई० स० ९२५ (इसका विवाह नोहलादेवीसे हुआ था ।)
  |
  ५ लक्ष्मणदेव ई० स० ९५०
  |
  - ६ शंकरगण ई० स० ९७०
  - ७ युवराजदेव (मुंजका समकालीन) ई० स० ९८०
    |
    ८ कोक्कलदेव (द्वितीय) ई० स० १०००
    |
    गांगेयदेव ई० स० १०२०

नवाँ प्रकरण।

बंगाल अथवा मुंगेरके पाल।

भारतीय इतिहासके मध्ययुगीन कालके दूसरे भाग (ई० स० ८०० से १००० तक = वि० ८५७-१०५७) के इतिहासका अबतक जो वर्णन किया गया है, उसमें प्रधानतया राजपूताने और मध्य भारतमें उत्कर्षको प्राप्त हुए राजपूत राज्योंका ही विचार हुआ है। उन विभिन्न राज्योंके संस्थापक तथा सञ्चालक हिन्दूधर्मानुयायी और प्रायः शिवोपासक राजपूत वीर थे। अरबोंके साथ युद्धमें उन्होंने शूरता दिखायी और यश पाया, इसीसे उनका उत्कर्ष हुआ। राज तानेकी तरह अन्यत्र अर्थात् महाराष्ट्र और बंगालमें राजपूत राज्योंकी उसी समय स्थापना हुई थी, किन्तु इसके कारण भिन्न थे। सिन्धसे उक्त प्रान्त दूर होनेके कारण इन क्षत्रिय वीरोंको अरबोंसे लड़ना नहीं पड़ा, किन्तु पहिलेसे ही जो राज्य दुर्बल हो रहे थे उन्हें पादाक्रान्त कर उनके स्थानमें उन्होंने नये बलाढ्य राज्योंको स्थापना की। इस प्रकार विख्यात हुए राजवंशोंमें बंगालका पाल वंश और दक्षिणका राष्ट्रकूट वंश अग्रगण्य है।

इस कालका विचार करते हुए एक खास बात यह पायी जाती है कि वर्तमान अंग्रेजी राज्यमें राज्यके शासनके सुभीतेके लिए भारतके जो विभाग किये गये हैं, उन्हीं विभागोंमें उस समय भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए थे। इसका कारण हर एक प्रान्तकी विशिष्ट भूरचना, जलवायु, समाजकी स्थिति, भाषा-भेद और विभिन्न आचार ही हैं। वर्तमान संयुक्तप्रान्त

का उन्होंने उद्योग नहीं किया। बौद्ध मतानुयायी राजाओंके दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि वे वर्णाश्रम धर्मको मानते थे। यही नहीं, उसके अनुसार वे अपना आचरण भी रखते थे, ब्राह्मणोंको सम्मानपूर्वक दान देते थे। गोपालराजके राजत्व-कालमें वैदिक धर्मानुयायियोंको विशेष कष्ट नहीं पहुँचा। उसके मन्त्री और प्रजाजन वैदिक धर्म माननेवाले थे, परन्तु उन्हें उसका शासन सुखकर ही हुआ। कुछ इतिहासकार गोपालराजका सम्बन्ध कन्नौजके प्रतिहार वंशकी 'पाल' शाखा-से जोड़ते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। स्मृति आदि ग्रन्थोंमें लिखा है कि क्षत्रियोंके नामोंके साथ पाल (रक्षणकर्ता), गोप, त्राता अथवा इसी अर्थका और कोई शब्द जोड़ देना चाहिये, जिससे वे अन्वर्थक हो जाते हैं। तदनुसार अनेक क्षत्रिय कुलोंके नामोंके साथ 'पाल' शब्द जोड़ा गया है। अतः गोपाल क्षत्रिय था, यह 'पाल' शब्दसे ही सिद्ध होता है। एक बात यह भी है कि पाल वंश प्रति-हारोंके पश्चात् प्रसिद्ध नहीं हुआ, वरन् दोनों वंशोंका उदय एक ही समयमें हुआ था। यह हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उन दोनोंमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था।

अब पाल घरानेके वंशक्रमका विचार करें। अबतक उप-लब्ध हुए सब शिलालेखोंका विचार कर कीलहार्न साहबने एक लेख लिखा है, जिसमें तीसरे विग्रहराजके 'आमगाछी' ताम्रपटका विवेचन किया गया है। इस लेखमें पालोंकी वंशा-वली दी गयी है। वंशावलीमें राजाओंका अनुक्रम और हर एक राजाके शासनके वर्ष भी लिखे गये हैं। परन्तु इससे यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि अमुक राजाके राज्यारोहण-

का संवत् अमुक ही था, क्योंकि किसी दानपत्रमें किसी शकका उल्लेख नहीं है, केवल राजाके 'राज्यमान वर्षका' ही उल्लेख है। किसी कालके निश्चित करनेमें यह बड़ी अड़चन है। तो भी इतना अवश्य है कि जिन कारणोंसे उत्तर भारतमें विक्रम संवत् प्रचलित हुआ, वे कारण बंगालके लिए लागू नहीं हैं। अस्तु, कीलहार्न साहबकी लिखी वंशावलीके आधारपर हम पालवंशका वृत्तान्त लिख रहे हैं और समकालीन घटनाओं तथा अन्य प्रमाणोंसे पाल राजाओंका काल स्थूल मानसे निश्चित करना चाहते हैं।

गोपालराजसे ही पाल घरानेकी स्थापना हुई, अतः उसके पिता तथा पितामहका इतिहास न लिखनेसे भी काम चल सकता है। लोगोंके इच्छानुसार गोपालराजको ही प्रथमतः बंगालका प्रभुत्व प्राप्त हुआ। पाल घरानेका वह पहला राजा था। पहले कहा जा चुका है कि गोपालराजको पश्चिमके वत्सराज, कन्नौजके वर्म इन्द्रायुध और राष्ट्रकूटोंके तीसरे गोविन्दराजसे युद्ध करना पड़ा था। अतः गोविन्दराज आदिके समयका विचार करते हुए गोपालराजका राजत्वकाल ई० स० ७८० से ८०० तक (वि० ८३७-८५७) निश्चित किया जा सकता है। *

गोपालराजके पश्चात् उसका पुत्र धर्मपाल राज्याधिकारी हुआ। उसकी रानी राष्ट्रकूट वंशकी थी। खालिमपुर और भागलपुरके दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि धर्मपालने कन्नौजके सम्राट् इन्द्रको हरा कर कन्नौजकी गद्दीपर चक्रायुधको

* जैनग्रन्थके अन्तमें उल्लिखित वत्सराज आदिके साथ यह भी उल्लेख है कि 'पूर्वमें अवन्तिभूपति राज्य करता था'। इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि गोपालका दूसरा नाम अवन्तिभूपति था।

बैठाया। इससे सिद्ध होता है कि धर्मपालका राजत्वकाल ई० स० ८०० से ८२५ तक (वि० ८५७-८८२) था। पहिले लिखा जा चुका है कि वत्सराजके पुत्र नागभटने चक्रायुधको हराकर कन्नौजका सम्राट्पद स्वयं हस्तगत कर लिया था; अर्थात् कन्नौजपर अधिकार प्राप्त करनेसे पहिले नागभटने धर्मपालको हराया था। धर्मपालका पक्ष ग्रहण कर राष्ट्रकूटके तीसरे गोविन्दराजने नागभटका पराभव किया सही, किन्तु उसका सम्राट्पद वह नहीं छीन सका। गोविन्दराजने धर्मपालका पक्ष ग्रहण किया। इसका कारण यह था कि यह (धर्मपाल) उसका जामाता था। भागलपुर लेख (इंडि० एंटि० भाग २१, पृष्ठ २५०) से विदित होता है कि धर्मपालकी रानी रणदेवी राष्ट्रकूटोंके परबल नामक राजाकी कन्या थी। कीलहार्न साहब कहते हैं कि परबलका ही दूसरा नाम गोविन्द-राज था। अतः गोविन्दराजका धर्मपालकी सहायता करना स्वाभाविक ही था। गोविन्दराजके द्वारा पराजित होनेके कारण नागभटसे बंगालको कोई क्षति नहीं पहुँची।

धर्मपालके बाद उसका भतीजा देवपाल गद्दीपर बैठा। इसका राजत्वकाल ई० स० ८२५ से ८५० तक (वि०८८२-९०७) निश्चित किया जा सकता है। देवपालके पश्चात् उसका भतीजा विग्रहपाल राज्यारूढ़ हुआ। एक दानपत्रमें देवपालको धर्मपालका भतीजा और दूसरेमें धर्मपालकी रानी रणदेवीका पुत्र कहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि धर्मपाल और देवपाल दोनोंके सन्तान नहीं थी और उन्होंने भतीजोंको गोद लेकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। भागलपुरके लेखमें लिखा है कि विग्रहपालका विवाह हैहय कुलकी राजकन्या लज्जासे हुआ था। विग्रहपालका राजत्वकाल ई० स० ८५०

से ८७५ तक (वि० ९०७-९३२) माना जा सकता है। विग्रहपालके बाद उसके पुत्र नारायणपाल देवको गद्दी मिली। इसीके समयमें भागलपुरका दानलेख लिखा गया। भागलपुरवाले लेखसे नारायणपालका काल निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसमें किसी प्रचलित शकका उल्लेख न कर राजाके शासन-वर्षका ही किया है। नारायणपालके अनन्तर राज्यपाल राज्यारूढ़ हुआ। उसका विवाह राष्ट्रकूटोंके तुङ्ग उर्फ जगत्तुङ्ग राजाकी भाग्यवती नामकी कन्यासे हुआ था। राज्यपालने ई० स० ९२५ (वि० ९८२) तक राज्य किया और उसके पश्चात् उसका पुत्र दूसरा गोपालराज राज्यासीन हुआ। इसका राजत्वकाल ९२५ से ९५० तक (वि० ९८२-१००७) माना जा सकता है। गोपालराजके अनन्तर दूसरे विग्रहपालने ई० स० ९५० से ९७५ तक (वि० १००७-१०३२) राज्य किया। फिर उसका पुत्र महीपाल गद्दीपर बैठा। महीपालके शासनकालमें ही सारनाथका दानपत्र लिखा गया। इस दानपत्रमें विक्रम संवत् लिखा हुआ है। यह दानपत्र वि० सं० १०८३ अर्थात् ई० स० १०२६ में लिखा गया है। हमने हर एक राजाका शासनकाल अनुमानतः २५ वर्षका माना है और यह दानपत्र १०२६ में लिखा गया है। महीपालका शासनकाल हमारे अनुमानके अनुसार ई० स० १००० (वि० १०५७) में समाप्त होना चाहिये, किन्तु दानपत्रमें लिखे संवत्के हिसाबसे २६ वर्ष बढ़ते हैं। ये २६ वर्ष यदि पिछले नौ राजाओंके शासनकालमें समान रूपसे बाँट दिये जायँ, तो प्रत्येक राजाका शासनकाल तीन वर्ष बढ़ जायगा। महीपालके शासनकालके अन्तमें यह दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मानकर ही उक्त अनुमान किया गया है। सम्भव है,

किसी एक ही राजाका शासनकाल २५ या २८ वर्षोंसे अधिक रहा हो। कई प्रकारसे विचार करते हुए यही प्रतीत होता है कि महीपालका शासनकाल सबसे अधिक था। इस दानपत्रसे जान पड़ता है कि महीपालको उसके शत्रुओंने पदच्युत कर दिया था, किन्तु उसने अपने पराक्रमसे फिर पैतृक राज्य प्राप्त कर लिया। दानपत्रमें उल्लिखित महीपालके शत्रु कौन थे, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। ग़जनीके महमूदके आक्रमणोंसे हिन्दुस्थानको भारी धक्का पहुँचा। सम्भव है, दूर होते हुए भी उसका प्रभाव महीपालपर भी पड़ा हो। इसका विचार हम अगली पुस्तकमें करेंगे। महीपालके समयसे पाल वंशका शीघ्रतासे पतन हो चला और उसके स्थानमें सेन वंश राज्य करने लगा। कालमानके लिहाजसे पाल वंशके ह्रासके कारणों आदिका विचार तीसरे भागमें ही करना उचित जान पड़ता है।

महीपालके पश्चात् नयपाल गद्दीपर बैठा और उसके बाद तीसरा विग्रहपाल राज्य करने लगा। इसीने आमगाछी-दानपत्र लिखवाया। इसी दानपत्रके सम्बन्धमें कीलहार्न साहबने मनन करने योग्य टिप्पणी लिखी है। दानपत्र आदिको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाल असल क्षत्रिय थे। पालोंके विवाह-सम्बन्ध दक्षिणके राष्ट्रकूटों और चेदीके हैहयोंके साथ हुए थे, इससे भी यही सिद्ध होता है। इस वंशके आरम्भके पुरुष यद्यपि बौद्ध धर्मानुयायी थे, तथापि पीछेसे यह वंश शिवोपासकोंमें, गिना जाने लगा। उक्त दानपत्रोंके उल्लेखोंसे यह भी विदित होता है कि पालोंने शिवमन्दिरोंके लिए अनेक जागीरें दी थीं। उस समयमें प्रचलित लकुलीश मतानुसार आचरण करनेवाले शिवागम सम्प्रदायके संन्यासियोंका वे बहुत आदर करते थे। भागलपुर-दानपत्रमें लिखा

है कि नारायणपालका पिता सौगत (बुद्ध) मतानुयायी था, किन्तु स्वयं नारायणपाल शिवका उपासक था और उसने एक सहस्रसे अधिक शिवमन्दिरोंकी स्थापना की थी। (स्वयंकारित सहस्रायतनस्य तत्र तत्र भगवतः शिवभट्टारकस्य पाशुपत आचार्य परिषदश्च—पूजावलिचरु—इत्यादि।) इस दानपत्र-से यह एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि अन्य राजाओंकी अपेक्षा पालोंने राज्य-प्रबन्धमें बहुत कुछ सुधार किया था। साथ ही इस हानिकारक पद्धतिका भी उन्होंने अवलंबन किया कि राज्यरक्षाके लिए वे किरायेकी परायी सेना खड़ी करते थे। हिन्दुस्थानकी पराधीनताके कारणोंमें यह पद्धति भी एक कारण है। किरायेकी सेनामें राष्ट्राभिमान कहांसे आ सकता है? ऐसी किरायेकी सेनाके ही सहारे विदेशियोंने हिन्दु-स्थानपर अधिकार जमाया। अस्तु, राज्य और सेना-प्रबन्धके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र प्रकरणमें विचार किया जायगा।

अब हम संक्षेपसे पाल वंशके राज्यविस्तारका वर्णन करते हैं। आजकलका सारा बंगाल, तथा बिहार और आसाम प्रान्त भी, पालोंके अधीन था। भागलपुर-लेखसे जान पड़ता है कि पालोंने उत्कल और कामरूप (प्राग्ज्योतिष) उर्फ आसामपर विजय प्राप्त की थी। खालिमपुर-दानपत्रसे ज्ञात होता है कि मगध और बिहार प्रान्त पालोंने आरम्भमें ही हस्तगत किये थे। गोपालराजके समयमें बंगाल प्रान्तके पश्चिम और पूर्व—गौड़ और वंग—दो विभाग प्रसिद्ध थे। आगे चलकर दोनों विभाग एक हो गये। उनका पृथक् उल्लेख कहीं नहीं देख पड़ता।

पाल और सेन वंशोंका जो इतिहास उपलब्ध है, वह दन्तकथाओंके आधारपर स्थित नहीं है, उसके आधारभूत

विश्वासयोग्य अनेक प्रमाण हैं। दन्तकथाओंमें आदिसूरादि अनेक राजाओंकी कथाएँ वर्णित हैं, किन्तु इतिहासकी दृष्टिसे वे विश्वासयोग्य नहीं हैं। इस कारण इस प्रकरणमें हमने उनका समावेश नहीं किया।

अन्तमें पाल राजाओंकी वंशावली लिखकर हम यह प्रकरण समाप्त करते हैं। वंशावलीमें राजाओंके शासनकालके वर्ष स्थूल मानसे लिखे गये हैं। अर्थात् यदि आगे चलकर विश्वासयोग्य ठीक समयका पता लगा, तो इन वर्षोंमें अन्तर पड़ जायगा।

बंगालके पाल राजाओंकी वंशावली।

गोपाल (ई० स० ७८०—८००)
|
धर्मपाल (ई० स० ८००—८२५)
|
देवपाल (दत्तक भतीजा, ई० स० ८२५—८५०)
|
विग्रहपाल (दत्तक भतीजा, ई० स० ८५०—८७५)
|
नारायणपाल (ई० स० ८७५—९००)
|
राज्यपाल (ई० स० ९००—९२५)
|
गोपाल (दूसरा) (ई० स० ९२५—९५०)
|
विग्रहपाल (दूसरा) (ई० स० ९५०—९७६)
|
महीपाल (वि० सं० १०८३ अर्थात् ई० स० १०२६ में इसने जो दान-पत्र दिया, वह प्रकाशित हो चुका है।)

दसवाँ प्रकरण।

दक्षिणके राष्ट्रकूट।

साधारणतया राष्ट्रकूटोंकी उत्पत्ति यदुकुलसे मानी जाती है। परन्तु वर्धा ताम्रपत्रमें इनकी उत्पत्तिकी कथा कुछ और ही लिखी है। चन्द्रवंशके सात्यकीकी शाखामें रट्टा नामकी राजकन्या हुई। उसीके पुत्रका नाम राष्ट्रकूट था और वही राष्ट्रकूटोंका मूलपुरुष होनेके कारण उसीके नामसे उसका वंश प्रसिद्ध हुआ। परन्तु यह कथा सच्ची नहीं जँचती। पहिले कहा जा चुका है कि 'देशपाण्डे' की तरह 'राष्ट्रकूट' भी पदका नाम है, व्यक्तिविशेषका नहीं। अस्तु, जो लेख उपलब्ध हुए हैं, उनके देखनेसे पता चलता है कि राष्ट्रकूटोंके पहिले राजा गोविन्द, कर्क (प्रथम) और इन्द्र थे। डाक्टर भाण्डारकरका कथन है कि गोविन्दराजसे पहिले दन्तिवर्मन् और इन्द्रराज नामक दो राजा हुए थे। राष्ट्रकूटोंके लेखोंमें गोविन्द आदिके सम्बन्धमें विशेष वृत्तान्त नहीं लिखा है; परन्तु उनकी वीरता, न्यायप्रियता और दानशीलताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

इन्द्रराजका विवाह शलिक्य (चालुक्य) वंशकी कन्यासे हुआ था। (राज्ञी सोमन्वयी तस्य पितृतश्च शलिक्यजा।) परन्तु इन्द्रराजके पश्चात् चालुक्योंसे राष्ट्रकूटोंका स्नेह-सम्बन्ध नहीं रहा। राष्ट्रकूटोंके उपलब्ध लेखोंमें सामनगढ़का ताम्रपट अधिक प्राचीन है। उससे उक्त राजाओंका समय निर्धारित किया जा सकता है। वह लेख शक ६७५ अर्थात् ईसवी सन् ७५३ में दन्तिदुर्गके राजत्वकालमें लिखा गया है। दन्ति-

दुर्गसे पहिले तीन राजा होगये। हर एक राजाका शासन-काल २५ वर्षोंका मान लेनेपर गोविन्दराजका समय ई० स० ६६० (वि० ७१७), कर्कका ६८५ (वि० ७४२) और इन्द्रराज-का ७१० (वि० ७६७) निश्चित किया जा सकता है।

दन्तिराज, जो राष्ट्रकूट वंशका प्रथम सुप्रसिद्ध पुरुष माना जाता है, इन्द्रराज और उसकी चालुक्य वंशकी रानीका पुत्र था। चालुक्योंकी अधीनतासे इसीने राष्ट्रकूटोंका राज्य स्वतन्त्र किया; महाराष्ट्र देशको स्वाधीन करनेवाला यही पहिला राजा है। इसके राज्यका विस्तार उत्तरमें नर्मदा और दक्षिणमें तुंगभद्रातक था। युवराज गोविन्द (द्वितीय) के अलास लेखमें तो स्पष्टतः लिखा है कि कांची, केरल, चोल, पांड्य, श्रीहर्ष, वज्रट आदिपर प्रभुत्व रखनेवाले चालुक्योंको दन्तिराजने सहजमें ही हरा दिया। चालुक्योंके पराभवका वर्णन सामनगढ़के लेखमें भी आया है। इससे प्रतीत होता है कि दन्तिराजने चालुक्याधिपति वल्लभराजका सहज ही पराभव किया था और इसीसे उसे स्वतन्त्र राजाकी—'राजाधिराज-परमेश्वर'—पदवी मिली। लेखमें लिखा है—"बौद्ध धर्मानुयायी कन्नौजके श्रीहर्षका पराभव करनेसे विख्यात हुई कर्नाटककी सेनाको भी उसने हरा दिया।" वल्लभराज चालुक्य वंशका अन्तिम राजा दूसरा कीर्तिवर्मन् ही था।

कहा जाता है कि दन्तिवर्माका वध उसके चाचा कृष्णराजने किया; किन्तु लेखोंमें कहीं इसका उल्लेख नहीं है। केवल बड़ोदाके दानपत्रमें ही थोड़ा उल्लेख है। उसमें लिखा है—"कृष्णवर्माने कुपथगामी अपने एक आप्तका वध करा डाला और प्रजाके कल्याणके लिए राज्यसूत्र अपने हाथमें ले लिया।" बड़ोदाके लेखसे कृष्णराजके सम्बन्धमें

प्रचलित जनश्रुति सही मान ली जा सकती है। साधारणतया कविगण अपने आश्रयदाताओंके अन्तस्थ कलहोंपर परदा डाल दिया करते हैं। अतः दन्तिदुर्गके वधका लेखोंमें उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है।

दन्तिवर्माने चालुक्योंको हरानेका जो काम आरम्भ किया था, वही कृष्णराजने भी जारी रखा और अन्तमें चालुक्य पूर्ण रूपसे पराजित हो गये। कृष्णराजने थोड़े ही समयमें चालुक्योंका वैभव नष्ट कर डाला। एलापुर (वेरूल उर्फ एल्लोरा) का सुप्रसिद्ध कैलासेश्वरका मन्दिर इसीने बनवाया था। वर्धा ताम्रपत्रमें लिखा है कि कृष्णराजने अपने राज्यमें अनेक सुन्दर मन्दिर बनवाये, जिससे राज्यको कैलास पर्वतकी शोभा प्राप्त हुई। बड़ोदा लेखमें केवल कैलास मन्दिरका ही सुरम्य और विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है—"जिस समय देवताओंने कैलासाधिपतिका यह मन्दिर देखा, उस समय वे आश्चर्यचकित हो गये। उन्हें ज्ञान पड़ा कि यह मन्दिर ईश्वरीय सत्तासे आपही आप निर्मित हुआ है क्योंकि इतनी अतुलनीय मनोहरता उत्पन्न करना मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है।"

कृष्णराजके अनन्तर उसका पुत्र द्वितीय गोविन्दराज राज्यारूढ़ हुआ। यह विशेष पराक्रमी नहीं था। वणी-दिंडोरी, राधनपुर और बड़ोदाके लेखोंमें तो इसका नामोल्लेखतक नहीं है। वर्धा ताम्रपत्रमें लिखा है कि गोविन्दराज अत्यन्त विषय-लम्पट था। राजकाजकी ओर वह बिलकुल ध्यान नहीं देता था। उसने राज्य-प्रबन्धका भार अपने छोटे भाई निरुपमपर छोड़ दिया था। वणी-दिंडोरी और राधनपुरके लेखोंसे यह भी ध्वनित होता है कि गोविन्दराजको निरुपमने पदच्युत कर दिया था।

गोविन्दराजके उपरान्त उसके छोटे भाई ध्रुवको गद्दी मिली । ध्रुवको निरुपम और धोर भी कहते थे । यह राज्य-प्रबन्धमें कुशल और पराक्रमी था । इसने गंग नामक राजाको हराकर कैद कर लिया और गौड़पर विजय पानेसे मदान्ध हुए पश्चिमके वत्सराजको मरुभूमिकी ओर खदेड़ दिया । गौड़-से छीने हुए दो राजछत्र इसने हस्तगत किये थे (देखिये—राधनपुर दानपत्र, एपि० इण्डि० भाग ६, पृष्ठ २४३) । दक्षिणके पल्लवराजको भी ध्रुवने हराया था । ई० स० ७८३ (वि० ८४०) में लिखे गये जैन हरिवंशमें ध्रुवराजके दक्षिणका राजा होनेका उल्लेख है । संभव है, वह उल्लेख तृतीय गोविन्दराजका हो ।

ध्रुव निरुपमका पुत्र तृतीय गोविन्दराज था । इसका नाम जगत्तुंग भी था । इसीने शक ७३० अर्थात् ई० स० ८०८ में वणी-दिंडोरी और राधनपुरके ताम्रपट लिखवाये । राष्ट्रकूटोंमें सबसे श्रेष्ठ यही राजा हुआ । कावी लेखमें लिखा है कि ध्रुव-राजने गोविन्दराजके अनुपम गुण देखकर साम्राज्यसूत्र उसके हाथ सौंप दिया । गोविन्दराजके बन्धु-बान्धवों और शत्रुओंको उसका उत्कर्ष असह्य होगया । बारह राजपुत्रोंने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच कर बलवा कर दिया, किन्तु गोविन्दराजने बड़े धैर्यसे बलवेको दबाया और गंगराजको मुक्त कर दिया । परन्तु द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर गंगने फिर चढ़ाई की । गोवि-न्दराजने उसे फिर हराया और पुनः बन्धनमें डाल दिया । इसके पश्चात गुर्जरपर चढ़ाई करनेकी उसने तैयारी की । यह वार्ता सुनते ही गुर्जराधिपति उत्तरकी ओर भाग गया । सम्भवतः इसी समय गोविन्दराजने कन्नौजपर चढ़ाई की थी और मालवाधिपतिसे अपना सार्वभौमत्व स्वीकार कराया था । उस समय मालवा प्रान्त परमारोंके अधीन नहीं था । फिर

गोविन्दराज विन्ध्याचलकी ओर झुका। वहांका राजा मारशर्व तुरन्त ही उसके शरणापन्न हुआ और उसने उसे बहुमूल्य भेंट अर्पण की । वर्षा ऋतु होनेके कारण श्रीभवन (मालखेड़) में चार मास बितानेके बाद दलबलके साथ तुंगभद्रा नदीके तट-पर जाकर उसने पल्लवराजको हराया । फिर उसने एक नगर-का परकोटा बनवा देनेके लिए वेंगीराजको विवश किया । गोविन्दराज जैसा वीर्यशाली राजा राष्ट्रकूटोंमें दूसरा नहीं हुआ । गोविन्दराजका विरुदनाम प्रभूतवर्ष (विपुल वर्षा करने वाला) था। इसी राजाके लिखाये उपर्युक्त दिण्डोरी और राधनपुरके लेख हैं। ये लेख मयूरखण्डीमें लिखे गये । नासिक जिलेके अन्तर्गत मोरखंड नामक स्थानके पहाड़ी किलेको पहिले मयूरखण्डी कहते थे और वही राष्ट्रकूटोंकी पुरानी राज-धानी था।

गोविन्दराजके पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष राज्य करने लगा। 'अमोघवर्ष' उसका विरुदनाम जान पड़ता है। उसके असल नामका पता नहीं चलता। उसके दानपत्रोंमें उसे 'अतिशयधवल' और 'लक्ष्मीवल्लभ' भी कहा है ।

अमोघवर्षके शासनकालका अनुमान निलगुंड लेखसे किया जा सकता है (एपि० इं० भाग ६, पृ० १००)। यह लेख शक ७८८ अर्थात् ई० स० ८६६ (वि० ६२३) में लिखा गया है। उस समय अमोघवर्षके राज्यका ५२ वाँ वर्ष था। इससे कहा जा सकता है कि उसका शासनकाल शक ७३६ अर्थात् ई० स० ८१५ से आरम्भ हुआ है। केन्नरी लेख (इं० एँ० भाग १३, पृ०१३५) से जान पड़ता है कि अमोघवर्षका अन्तिम दान-लेख शक ७६६ अर्थात् ई० स० ८७७ में लिखा गया है। उसका राजत्वकाल सुदीर्घ अर्थात् साठ वर्षोंका माना गया है।

कर्डा लेखसे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षके शासनकालमें मान्यखेट नगरका बहुत उत्कर्ष हुआ था। अब प्रश्न यह रह जाता है कि मान्यखेट नगर किसने बसाया? वर्धा लेखमें स्पष्ट लिखा है कि मान्यखेट नगर अमोघवर्षने बसाया ❀ और वह इतना शोभायमान था कि उसके आगे इन्द्रकी अमरावती भी फीकी पड़ जाती थी। निजामके राज्यमें इस समय जो मालखेड़ नामक ग्राम है, वही मान्यखेट नगर था। अमोघवर्षने वेंगीके चालुक्योंसे फिर युद्ध किया और युद्धमें विजय पाकर बहुत बड़ा प्रान्त हस्तगत कर लिया। खारेपाटन लेखमें लिखा है कि बहुतसे चालुक्य राजपुत्रोंको उसने यमसदनका मार्ग बताया था। निलगुंड लेखसे ज्ञात होता है कि वंग, अंग, मगध, मालव, वेंगी आदिके राजाओंने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

लेखोंमें यह भी कहा गया है कि अमोघवर्षने जैन विहारोंके लिए प्रचुर सम्पत्ति दी थी। उत्तरपुराण नामक एक जैनग्रन्थके अन्तमें उस समयका इतिहास लिखा है। उसमें अमोघवर्षके सम्बन्धमें भी दो एक श्लोक हैं। उनसे जान पड़ता है कि अमोघवर्ष जिनसेन नामक जैनाचार्यका परम भक्त था (देखो, डाक्टर भाण्डारकरका राष्ट्रकूटोंके सम्बन्धका लेख, बांबे गजेटियर, जिल्द १)। डाक्टर फ्लीटने रत्नमालिका या प्रश्नोत्तरमाला नामक एक संस्कृतकी छोटी सी पुस्तकके आधारपर अनुमान किया है कि अमोघवर्ष विद्वानोंका प्रेमी

❀ यह लेख आपत्तिजनक जान पड़ता है। अमोघवर्षके पिता गोविन्दराजने श्रीभवन उर्फ मालखेड़में चार मास विताये थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इससे प्रतीत होता है कि गोविन्दराजने ही मालखेड़में सर्वप्रथम अपनी राजधानी बसायी।

था और उनका आदरसत्कार भी करता था। उक्त पुस्तकका दिगम्बर जैनोंने अनुवाद किया है। उसके अन्तके श्लोकमें लिखा है कि अपने शासनकालके अन्तमें स्वेच्छासे शासन-सूत्र त्यागकर अमोघवर्ष धर्माचरणमें समय विताने लगा। अमोघवर्ष जैनमतानुयायी हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह दिगम्बर जैनोंका आदर करता था। अमोघ-वर्षके समयमें उत्तरमें मिहिर भोज राज्य करता था। वह भो पराक्रम और विद्याभिरुचिके लिए प्रसिद्ध था। सारांश, ईसाकी सातवीं शताब्दी (वि० ६५८-७५७) में जिस प्रकार उत्तरमें हर्ष और दक्षिणमें पुलकेशिन् (दूसरा) पराक्रम और दानशीलताके कारण विख्यात और लोकप्रिय हुए, उसी प्रकार ईसाकी नवीं शताब्दी (वि० ८५८-९५७) में उत्तरमें भोजराज और दक्षिणमें अमोघवर्ष सुप्रसिद्ध हुए थे।

अमोघवर्षके पश्चात् उसका पुत्र अकालवर्ष राज्याधिकारी हुआ। सहस्रार्जुन (हैहय) वंशके कोकलराजकी कन्या महा-देवीसे इसका विवाह हुआ था। वर्धा और कर्डाके ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है क इसका जन्मनाम कृष्णराज था।

वर्धा लेखसे यह भी ज्ञात होता है कि अकालवर्षने गुर्जरा-धिपतिको भयभीत कर लाटके राजाका गर्व खर्व किया और समुद्रतटके भूभागमें अपना दबदबा जमाया। आंध्र, कलिंग, गंग और मगधके राजा इसकी आज्ञाके वशवर्ती थे।

नवसरी लेख शक ८३६ में लिखा गया। उसमें गुर्जराधि-पतिके साथ हुए अकालवर्षके युद्धका वर्णन है। उससे ज्ञात होता है कि शक ८३६ से २५-३० वर्ष पूर्व अर्थात् शक ८०६-८११ के बीच वह युद्ध हुआ था। डाक्टर भाण्डारकरके मतसे इस

राजाका शासनकाल शक ७६७ से ८३३ अर्थात् ई० स० ८७५ से ९११ (वि० ९३२ से ९६८) तक था।

सांगली और नवसरी लेखोंसे पता चलता है कि अकालवर्षके जगत्तुंग नामक पुत्र था और उसका विवाह कोक्कलपुत्र रणविग्रहकी कन्या लक्ष्मीसे हुआ था। कर्डा ताम्रपटमें लिखा है कि कोक्कलपुत्रका नाम शंकरगण था। खारेपाटन लेखकी सूचीमें जगत्तुंगका नाम नहीं है। उसमें अकालवर्षके बाद उसके पौत्र इन्द्रराजका नाम है। वर्धा ताम्रपटसे यह अनुमान होता है कि राज्यपद-प्राप्तिका अवसर आनेके पहिले ही जगत्तुंगका देहान्त हो गया था। इसीसे अकालवर्षके बाद जगत्तुंगके पुत्र इन्द्र (तीसरा) को गद्दी मिली।

नवसरी लेखमें इन्द्रराजका नाम नित्यवर्ष लिखा है। नवसरीका दानपत्र इन्द्रराजने ही दिया था। उसकी राजधानी मान्यखेटमें थी। परन्तु 'पट्टबन्धोत्सव' (राज्यारोहण) के समय वह कुरुन्द्रमें था। इस अवसरपर उसने ब्राह्मणोंको सोनेका तुलादान दिया था। नवसरी दानपत्र उसके राज्याभिषेकके वर्ष अर्थात् ई० स० ९३४ (वि० ९९१) में लिखा गया है। परन्तु डा० फ्लीटके इंडि० ऐंटि० (भाग १२, पृ० २२४) में लिखे लेखसे विदित होता है कि शक ८३८ अर्थात् ई० स० ९१६ में इन्द्रराज राज्य करता था।

इन्द्रराजके अनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र अमोघवर्षका पुत्र गोविन्दराज राज्यारूढ़ हुआ। इसके सम्बन्धमें विभिन्न लेखोंमें मतभेद है। सांगली दानपत्रमें लिखा है कि हैहय वंशीय कोक्किलराजके अनङ्गदेव नामक पुत्रकी द्विजंबा (डा० भाण्डारकरके मतसे 'विजयंबा') नामकी कन्यासे इन्द्रराजका विवाह हुआ था। इस दम्पतिसे गोविन्दराज नामक पुत्र

हुआ और उसीने सांगलीका दानपत्र दिया है। खारेपाटन लेखमें कहा है कि गोविन्दराज अमोघवर्षका छोटा भाई था। वर्धा ताम्रपटमें उल्लेख है कि राज्यपद मिलनेपर पितृशोकके कारण कुछ ही दिनोंमें अमोघवर्षका देहान्त हो गया और उसके पश्चात् उसका छोटा भाई गोविन्दराज राज्य करने लगा।

वर्धा और खारेपाटन लेखोंसे ज्ञात होता है कि विषय-लंपट होनेके कारण गोविन्दराज लोकप्रिय न हो सका। दोनों लेखोंमें उसकी विलासिताकी निन्दा की गयी है। खारेपाटन-लेखमें लिखा है—"मृगनयनियोंके नेत्रकटाक्ष रूपी जालमें फँस जानेके कारण जनता उसका आदर नहीं करती थी। विषयलम्पट होनेसे वह दिन प्रतिदिन क्षीण हो चला और अत्यधिक विषय-सेवनसे ही उसकी असामयिक मृत्यु हो गयी।" परन्तु सांगली दानपत्रमें गोविन्दराजकी प्रचुर प्रशंसा लिखी है। इसका कारण यह हो सकता है कि वह दानपत्र इसी राजाने दिया था।

सांगली दानपत्रका काल शक ८५५ अर्थात् ई० स० ९३३ (वि० ९९०) है। फ्लीट साहबने गोविन्दराजका (जिसमें प्रभूत-वर्ष नाम है) एक दानपत्र छपाया है। उससे ज्ञात होता है कि गोविन्दराज शक ८४०-१ अर्थात् ई० स० ९१८-१९ (वि० ९७५-७६) में राज्य करता था। ऊपर कहा गया है कि शक ८३६ से इन्द्रराज राज्य करने लगा। इससे अनुमान होता है कि गोविन्दराजने बहुत ही थोड़े दिन राज्य किया।

खारेपाटनके लेखसे ज्ञात होता है कि चौथे गोविन्दराजके पश्चात् उसका चाचा अर्थात् जगत्तुंगका कनिष्ठ पुत्र अमोघवर्ष राज्य करने लगा। परन्तु वर्धा ताम्रपटमें लिखा है—"चौथे

गोविन्दराजकी मृत्युके पश्चात् साम्राज्यरक्षाके लिए सामन्तोंके प्रार्थना करनेपर अमोघवर्षने राज्यपद ग्रहण किया।"

तीसरे अमोघवर्षके पश्चात् उसका पुत्र कृष्ण राजा बना। वर्धाका दानपत्र उसीका दिया हुआ होनेसे उसमें उसका बहुत कुछ वर्णन आया है। उसने अपने शत्रुओंको सीधा किया और अत्यन्त उन्मत्त हुए दन्तिग तथा बप्पटको प्राणदण्ड दिया। गंगराज उसके शरणापन्न हुआ। दक्षिणमें कृष्णराज इस प्रकारका पराक्रम दिखा रहा है, यह सुनकर गुर्जराधिपतिने उत्तरके कालिंजर और चित्रकूटके किलोंको हस्तगत करनेका विचार छोड़ दिया। हिमालयसे सिंहल (सिलोन) तकके सब सामन्त राजा कृष्णराजकी आज्ञाको शिरोधार्य समझते थे। जिस वर्धा दानपत्रमें उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है, वह उसने अपने छोटे भाई जगत्तुंगदेवके नाम लिखा था। उसका शासनकाल शक ८६२ अर्थात् ई० स० ९४० से आरम्भ होता है (ई० ऐं० भाग १२, पृष्ठ २५६ देखो)। 'यशस्तिलक' नामक जैन ग्रन्थके अन्तमें किये गये उल्लेखोंसे डा० भाण्डार-करने यह मत कायम किया है कि शक ८८१ में कृष्णराज राज्य-पदारूढ़ था। इससे मान लिया जा सकता है कि उसका शासनकाल ई० स० ९४० से ९५९ तक (वि० ९९७—१०१६) था।

कृष्णराजके अनन्तर उसका कनिष्ठ भ्राता खोट्टिग राज्य-करने लगा। कर्डा दानपत्रमें लिखा है कि ज्येष्ठ भ्राता कृष्णराजदेवके स्वर्गवासी होनेपर अमोघवर्षका खोट्टिगदेव नामक पुत्र, जो कुण्डका देवी नामकी रानीसे उत्पन्न हुआ था, राज्यारूढ़ हुआ। अर्थात् कृष्णराज और खोट्टिगदेव सौतेले भाई थे। खोट्टिगदेव शक ८९३ में राज्य करता था (ई० ऐं० भाग १२, पृष्ठ २५५ देखो)।

खारेपाटन दानपत्रसे ज्ञात होता है कि खोट्टिगके बाद उसका भतीजा कोक्कल राज्याधिकारी हुआ। कर्डा दानपत्रमें उसके पिताका नाम निरुपम लिखा है। खोट्टिग पराक्रमके लिए प्रसिद्ध था। गुर्जरोंकी प्रचण्ड सेनाका उसने पराभव किया था और चोलाधिपतिको मानों विनोदसे वह तङ्ग किया करता था। हुनवी राजाका वह रक्षक था और पांड्य राजा उससे डरा करता था। परन्तु अन्तमें चालुक्य वंशके तैलपने उसे पूर्णतः पराजित कर दिया, जिससे राष्ट्रकूटोंके सम्राट्पदके सब अधिकार ई० स० ९७४ (वि० १०३१) के लगभग चालुक्योंके हाथमें चले गये। ये सब बातें उपर्युक्त लेखोंमें लिखी हैं।

कोक्कलके शासनकालमें कर्डा दानपत्र लिखा गया है। इससे सिद्ध है कि कोकल शक ८९४ अर्थात् ई० स० ९७२ में राज्य करता था। एक दूसरे लेखसे (इं० एं० भा० १२, पृ० २७०) ज्ञात होता है कि वह शक ८९६ अर्थात् ई० स० ९७४ में राजा था। सारांश, दक्षिणका साम्राज्यपद राष्ट्रकूटोंके हाथमें ई० स० ७५० से ९७४ तक (वि० ८०७-१०७१) रहा। आगे-चलकर पश्चिमके गङ्गराजने तृतीय कृष्णराजके गोविन्द (चतुर्थ) नामक राजपुत्रको साम्राज्यपदपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न किया, (इं० एं० भा०, २३ पृ० १२४) पर वह सफल न हो सका। अन्तमें इन्द्रराजने प्रायोपवेशन कर (भूखे रहकर) ता० २७ मार्च सन् ९८२ (वि० १०३८ के १२ चैत्र) को शरीर-त्याग कर दिया। तभीसे राष्ट्रकूट वंशका अन्त हो गया (एपि० इं० भा० ६, पृ० १८२)।

अब इस वंशके राजाओंके नामोंकी सूची देकर और नामोंके साथ यथासम्भव उनका राज्यवर्ष अथवा मृत्युवर्ष लिखकर यह प्रकरण समाप्त किया जायगा।

१. दन्तिदुर्ग-	राज्यवर्ष	ई०स०	७५३—मृत्युशक ।	
२ कृष्ण अकालवर्ष	"	"	७७३—	
३ ध्रुवनिरुपम धारावर्ष	"	"	७८३—	
४ गोविन्द जगत्प्रभूतवर्ष	"	"	८०८—	
५ अमोघवर्ष	"	"	८१५ से ८७५ तक ।	
६ दूसरा कृष्ण, अकालवर्ष	"	"	८७५ से ९११ तक ।	
७ तीसरा इन्द्र, नित्यवर्ष	"	"	९१४ का दानपत्र उपलब्ध है ।	
८ अमोघवर्ष दूसरा				
९ गोविन्द चौथा, सुवर्णवर्ष	"	"	९३३—	
१० अमोघवर्ष तीसरा	"	"	—	
११ कृष्ण तीसरा, अकालवर्ष	"	"	९४० से ९६१ तक ।	
१२ खोट्टिग नित्यवर्ष	"	"	९७१—	
१३ कोक्कल	"	"	९७२ और ९७४	

इसीके राजत्वकालमें चालुक्य तैलपने राष्ट्रकूटोंपर चढ़ाई की, जिसमें तैलप विजयी हुआ और राष्ट्रकूट वंशका अन्त हो गया।

उपसंहार ।

राष्ट्रकूटोंका वंश महाराष्ट्र प्रान्तमें अत्यन्त प्रसिद्ध होनेके कारण उनके सम्बन्धमें साधारणतया कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है। मालखेड़के राष्ट्रकूट राजपूतानेके राष्ट्रकूटों अर्थात् राठोरोंसे भिन्न हैं। दोनों क्षत्रिय होनेपर भी मालखेड़के राष्ट्रकूट अपनेको चन्द्रवंशी और राजपूतानेके राष्ट्रकूट अपनेको सूर्यवंशी कहते हैं। दोनों वंशोंके गोत्र भी भिन्न हैं। राठोरोंका गोत्र गौतम और राष्ट्रकूटोंका अत्रि है।

चालुक्योंकी भी यही बात है। दक्षिणके चालुक्य राजपूतानेके चालुक्योंसे भिन्न हैं। दोनों क्षत्रिय हैं, परन्तु मराठा चालुक्य अपनेको सूर्यवंशी कहते हैं और उनका गोत्र मानव्य है, पर राजपूतानेके चालुक्य अपनेको सोमवंशी कहते हैं और उनका गोत्र भारद्वाज है। नाम-सादृश्यसे दोनोंका वंश एक ही नहीं माना जा सकता। प्रायः पदाधिकारसे भी नाम प्रचलित हो जाते हैं। राष्ट्रकूट नाम भी ऐसे ही नामोंमेंसे एक है। राष्ट्रकूटका अर्थ है राष्ट्रका कूट अर्थात् मुखिया या प्रधान अधिकारी। देशमुख या देशपांडे नाम भी इसी शब्दकी तरह चल पड़े हैं। महाराष्ट्रमें तहसीलके मुख्य अधिकारीको देशमुख और उसके मातहतके प्रधान कारकून (हेडक्लर्क) को देशपांडे कहते हैं। मराठा आर्य जब महाराष्ट्रमें आये, तब नार्मन लोगोंकी तरह उन्होंने राष्ट्र अर्थात् प्रान्ताधिकारके पद मराठोंमें बाँट दिये। (राष्ट्र शब्द विशुद्ध महाराष्ट्रीय है।) उन विविध अधिकार-सम्पन्न मराठोंकी राष्ट्रकूट पदवी थी। राष्ट्रकूट प्रधानतया मराठे ही थे। उनमेंसे एक कुलका महाराष्ट्रमें ई० स० ७५० से ९७४ तक (वि० ८०७-१०३१) राज्य था। महाराष्ट्रके इतिहासका वह अत्यन्त वैभवशाली भाग है।

नवसरी-लेखसे ज्ञात होता है कि गुजरातके एक चालुक्य सरदारने अरबोंको ऐसा पछाड़ा था कि महाराष्ट्रको मुसलमानोंके आक्रमणोंका भय ही नहीं रहा था। गुजरातके उस सरदारको दक्षिणके सम्राट्की ओरसे 'अजेय जेता' की पदवी दी गयी थी। इसीसे उसकी शूरता और कार्यक्षमताका परिचय मिल जाता है। अरबोंके आक्रमण ऐसे भयानक तूफ़ानकी तरह होते थे कि देशके देश उध्वस्त हो जाते थे। अरबोंने

सिन्ध, कच्छ, चापोत्कट, मौर्य आदि राजाओंको हराकर अब दक्षिणपर धावा किया तब मराठोंकी प्रखर तलवारोंके तेजके आगे उनकी एक न चली और उन्हें पीछे लौट जाना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि फिर पांच सौ वर्षोंतक महाराष्ट्रपर आक्रमण करनेका साहस अरबोंने नहीं किया। कन्नौजका सम्राट् अरबों और मराठोंका समान शत्रु होनेके कारण पीछे दोनोंमें मेल हो गया और वे एक दूसरेकी सहायता करने लगे।

दन्तिदुर्गके शासनकालसे राष्ट्रकूटोंका उत्कर्ष आरम्भ हुआ। आश्चर्यचकित कर देनेवाला वेरूल (एलौरा) का कारु-कार्य दन्तिदुर्गके बादके कृष्ण नामक राजाने तैयार कराया। वहाँ एक प्रचण्ड पर्वतको भीतर ही भीतर खोदकर एक सुन्दर शिवमन्दिर बनाया गया है। उसे देखकर मनुष्य अचम्भेमें आजाता है और पहाड़को काटकर उसको मन्दिर-का रूप देनेवालेकी कल्पनाशक्तिकी प्रशंसा करने लगता है। मन्दिरकी बनावट प्रशस्त है और उसपर जो तक्षण कर नकाशी की गयी है, वह विस्मयजनक है। उस समयके कलाकौशलका वह चिरन्तन स्मारक है। यही नहीं, संसारकी आश्चर्यजनक मानवी कृतियोंमें उसकी गणना की जा सकती है। जिसने इस मन्दिरकी रूपरेखा मनमें खींची होगी, (क्योंकि उस समय नक़शे या मानचित्र नहीं बनाये जाते थे) वह धन्य है। वर्तमान समयमें राष्ट्रकूटोंकी राजधानी उध्वस्त हो गयी है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि वेरूलके कारुकार्योंके कारण उन (राष्ट्रकूटों) का नाम अमर बना हुआ है।

राष्ट्रकूटोंके नाम बिलकुल सादे—कृष्ण, गोविन्द आदि—हुआ करते थे और अबतक महाराष्ट्रमें ऐसे ही नाम रखनेकी

प्रथा प्रचलित है। परन्तु उनको भी बहुमान-सूचक तथा श्रेष्ठता-निदर्शक विरुदावली या पदवियां होती थीं। चालुक्योंके पश्चात् वे पृथ्वीवल्लभ अथवा वल्लभराज (अरबी भाषामें बलहरा) कहाते थे और 'वर्ष' शब्दसे युक्त उनकी अनेक उपाधियां थीं, यथा—प्रभूतवर्ष, अमोघवर्ष, नित्यवर्ष इत्यादि। इतिहासके नये विद्यार्थी इन नामोंसे चक्करमें आजाते हैं।

चालुक्यों अथवा आधुनिक गायकवाड़ोंकी तरह लाट अर्थात् दक्षिण गुजरात प्रान्त (विशेषतः नवसरी प्रान्त) राष्ट्रकूटोंके ही अधिकारमें था। इसी तरह पूर्व चालुक्यों अथवा आधुनिक मराठोंकी तरह उनकी सत्ता दक्षिणमें तंजौरतक स्थापित हो गयी थी। परन्तु पूर्व चालुक्योंकी तरह महाराष्ट्रमें ही सीमाबद्ध हो कर बैठे न रहकर उन्होंने आधुनिक मराठोंकी तरह उत्तर भारतपर चढ़ाइयाँ करनेका सिलसिला बराबर जारी रखा था। जिस प्रकार आधुनिक मराठे सरदार दिल्लीपर अधिकार करनेका बराबर प्रयत्न करते जाते थे, उसी तरह उस समयकी भारतकी राजधानी कन्नौजको पादाक्रान्त करनेका प्रयत्न राष्ट्रकूट किया करते थे। पर चालुक्य कभी कन्नौजतक नहीं पहुँचे। पुलकेशीने हर्षका और विनयादित्यने यशोवर्माका पराभव उनकी सेनाको नर्मदा तट-पर रोककर किया था, कन्नौज जाकर नहीं। चतुर्थ गोविन्द-राजके खम्भायत दानपत्रमें इन्द्रराजकी कन्नौजको चढ़ाईका वर्णन है। उसमें लिखा है कि इन्द्रराजकी अश्वसेनाने भयानक और विशाल यमुना नदी पार कर कन्नौजको उजाड़ डाला (तीर्णा यत्तुरगैरगाध यमुना सिन्धु प्रतिस्पर्धिनी। इत्यादि)। कन्नौजसे मनुष्योंकी बस्ती उठ गयी और वहां घासका जंगल उग आया। कन्नौज—'कुशस्थली'—का नामानुसार

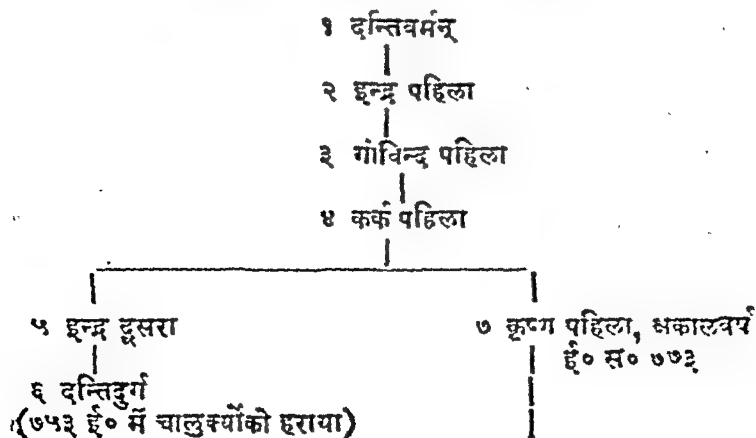
रूप भी प्राप्त हो गया। यमुनाका पानी काला और गहरा तथा पाट विशाल होनेसे वह बड़ी भीषण है। उस समय उससे नहरें नहीं निकाली गयी थीं, अतः वह अबकी अपेक्षा अधिक उग्र और विस्तीर्ण रही होगी। तब पुल बाँधनेके साधन भी उपलब्ध न होनेके कारण यमुना कृष्ण सर्पकी तरह भयानक हो थी। मराठोंके इतिहासमें सेनाके घोड़ेके साथ नदियां तैरकर पार करनेके कई प्रसंग हैं। घुड़सवारीमें मराठे पहिलेसे ही प्रसिद्ध है। राष्ट्रकूटोंका मुख्य अवलम्ब घुड़सवारोंका सैन्य ही रहा करता था। घुड़सवारोंकी सेनाके साथ बहुत सा टंट घंट ले जाना नहीं पड़ता, इस कारण इस सेनाकी सहायतासे राष्ट्रकूट सुदूर प्रान्तोंमें जाकर विजय प्राप्त किया करते थे। घुड़सवार सेनाके अतिरिक्त उनके पास पैदल सेना और गज-सेना भो रहती थी। ये सब बातें अरब लेखकोंने भी लिख रखी हैं।

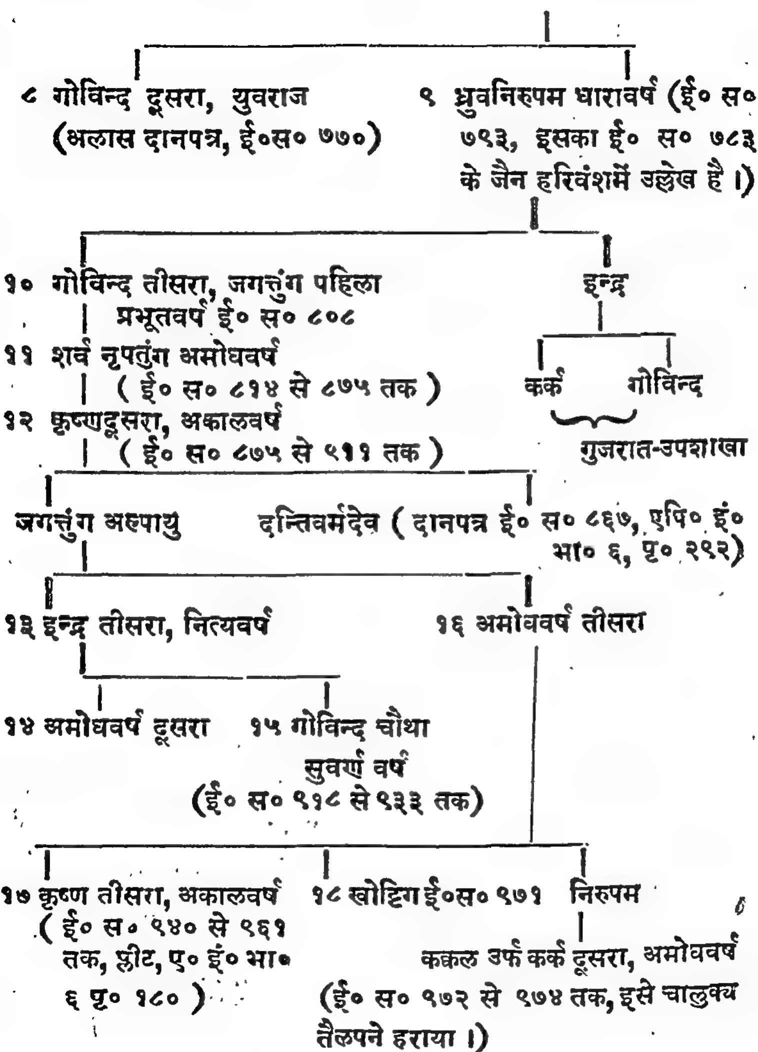
राष्ट्रकूटोंका राज्य प्रबन्ध और सेना-प्रबन्ध भी सुश्रृंखल था। सैनिकोंको वेतन ठीक समयपर मिला करता था, इससे वे अप्रसन्न नहीं रहते थे। राष्ट्रकूट प्रारम्भमें शिवोपासक थे, परन्तु आगे चलकर कुछ लोग जैन मतकी ओर झुक पड़े। कर्नाटकके कृषकोंमें इसी कारण अबतक जैनमतका प्रचार है। राष्ट्रकूटोंके विवाह सम्बन्ध उत्तरके राजपूतों, बंगालके पालों और चेदीके हैहयोंसे हुआ करते थे। लेखोंसे ज्ञात होता है कि मेवाड़के अल्लटकी माता राष्ट्रकूट घरानेकी कन्या थी। अल्लटके समयमें उत्तर भारतका राष्ट्रकूट (राठोर) वंश प्रसिद्ध नहीं था। इससे सिद्ध है कि अल्लटकी मां दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशकी ही कन्या थी। पहिले अमोघवर्षके ई० स० ८६६ (वि० ९२३) में लिखे निलगुंड लेखसे विदित होता है कि चित्रकूटोंसे

राष्ट्रकूटोंकी अनबन हो गयी थी। राष्ट्रकूटोंने चित्रकूटोंको पराजित भी किया (एपि० इंडि०, भा० ६, पृ० १०६)। क्षत्रियोंके बन्धु-बान्धवोंमें ऐसे युद्ध हुआ करते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यूरोपके इतिहासमें भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं।

निलगुंड लेखसे ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूटोंका 'लांछन' अर्थात् ध्वज-चिह्न गरुड़ था और राज्य-चिह्न चालुक्योंसे छीने हुए पालिध्वज अर्थात् तीन शुभ्र छत्र थे। राष्ट्रकूटोंकी महाराजाधिराज, परमेश्वर और भट्टारककी पदवी थी। उनकी एक उपाधि 'लट्टलूरपुर परमेश्वर' भी थी, परन्तु उन्हें यह कैसे प्राप्त हुई, इसका अबतक पता नहीं चला है। हमारी समझमें 'लट्टलूरपुर' राष्ट्रकूटोंकी, मालखेड़ अथवा उससे पूर्व मयूरखण्डी बसानेसे भी पहिलेकी, राजधानी रहा होगा और इसीसे उन्हें 'लट्टलूरपुर परमेश्वर' कहा जाता होगा।

राष्ट्रकूट घरानेकी विस्तृत वंशावली।




८ गोविन्द दूसरा, युवराज (अलास दानपत्र, ई०स० ७७०)
९ ध्रुवनिरुपम धारावर्ष (ई० स० ७९३, इसका ई० स० ७८३ के जैन हरिवंशमें उल्लेख है।)
१० गोविन्द तीसरा, जगत्तुंग पहिला प्रभूतवर्ष ई० स० ८०८
इन्द्र
११ शर्व नृपतुंग अमोघवर्ष (ई० स० ८१४ से ८७५ तक)
कर्क
गोविन्द
गुजरात-उपशाखा
१२ कृष्णदूसरा, अकालवर्ष (ई० स० ८७५ से ९११ तक)
जगत्तुंग अल्पायु
दन्तिवर्मदेव (दानपत्र ई० स० ८६७, एपि० इं० भा० ६, पृ० २९२)
१३ इन्द्र तीसरा, नित्यवर्ष
१६ अमोघवर्ष तीसरा
१४ अमोघवर्ष दूसरा
१५ गोविन्द चौथा सुवर्ण वर्ष (ई० स० ९१८ से ९३३ तक)
१७ कृष्ण तीसरा, अकालवर्ष (ई० स० ९४० से ९६१ तक, फ्लीट, ए० इं० भा० ६ पृ० १८०)
१८ खोट्टिग ई०स० ९७१
निरुपम
कक्कल उर्फ कर्क दूसरा, अमोघवर्ष (ई० स० ९७२ से ९७४ तक, इसे चालुक्य तैलपने हराया।)

ग्यारहवाँ प्रकरण ।

अन्य छोटे राज्य ।

अभी तक ई० स० ८०० से १००० तक (वि० ८५७-१०५७) हिन्दुस्थानके विभिन्न प्रान्तोंमें जो प्रमुख राज्य उदित होकर उत्कर्षको प्राप्त हुए उनके इतिहासका विचार किया गया है; अब उस समयके अन्यान्य छोटे छोटे राज्योंका नामोल्लेख कर अन्य बातोंपर दृष्टिपात किया जायगा। इस ग्रंथके प्रथम भागमें प्रायः इन सब राज्योंका नामोल्लेख किया गया है; परंतु इस भागकी पूर्तिके लिए उनका फिर कुछ विचार हो जाना आवश्यक है। (१) उस समयके छोटे राज्योंमें सिन्धका मुसलमानी राज्य प्रमुख था। उसका विस्तार मुलतानतक हो गया था और उसका प्रबन्ध बगदादके खलीफा द्वारा नियुक्त सूबेदार किया करता था। परन्तु उस समय खलीफाकी सत्ता क्षीण हो चली थी; इस कारण सिन्धका राज्य तुर्कोंने हस्तगत कर लिया। (२) काबुलके 'शाही' राजाओंका विस्तृत वर्णन प्रथम भागमें किया जा चुका है। हुएनसङ्ग द्वारा वर्णित बौद्ध धर्मीय क्षत्रिय वंशका अन्त ई० स० ८८० (वि० ९३७) में हो गया और काबुलमें लल्लिय नामक ब्राह्मण सेनापतिकी सत्ता प्रस्थापित हुई। काबुलके ब्राह्मणी राज्यका संस्थापक यही लल्लिय था। यह राज्य ई० स० ८८० से १०२१ तक (वि० ९३७-१०७८) रहा। अलबेरूनी, राजतरंगिणी और उपलब्ध हुए सिक्कोंके अनुसार उक्त घरानेके राजाओंकी वंशावली इस प्रकार है—

१ लल्लिय	ई० स० ८८०—९००	
२ सामन्त	”	९००—९२०

३ कमलु	ई० स० ९२०—९४०	
४ भीमदेव	,,	९४०—९६०
५ जयपाल	,,	९६०—९८०
६ आनन्दपाल	,,	९८०–१०००
७ त्रिलोचनपाल	,,	१०००–१०२१

ईरानमें राजाको 'शाह' कहते हैं, इसीसे काबुलके क्षत्रिय-ब्राह्मण राजा भी 'शाह' कहलाते थे। वहांके क्षत्रिय राजा बौद्ध मतानुयायी और ब्राह्मण राजा वैदिक मतके तथा शिव अथवा विष्णुके उपासक थे।

(३) काबुलमें जब ब्राह्मणी राज्य था, तब कन्दहारमें क्षत्रियोंका राज्य था। वास्तवमें काबुल और कन्दहारकी गणना भारतमें ही होनी चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। इसका कारण यह है कि दोनों प्रान्त तुर्कोंके अधिकारमें चले जानेपर वहांके लोगोंने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया। तबसे वे प्रान्त तुर्कस्थानमें ही गिने जाने लगे। कन्दहारमें राज्य करने वाले क्षत्रिय राजपूत भट्टी वंशके थे। मुसलमानी ग्रन्थोंमें कन्दहारका इतिहास लिखा मिलता है। वह हम इस ग्रन्थके तीसरे भागमें लिखेंगे।

उक्त छोटे छोटे राज्य सिन्धुनदके उस पार थे। अब सिन्धु नदके दक्षिण तटके राज्योंकी स्थितिका निरीक्षण करना उचित होगा। काश्मीर राज्यका समग्र इतिहास इस ग्रन्थके पहिले भागमें लिखा गया है। कर्कोट वंशके जयापीड़ राजाका शासनकाल ई० स० ७५१ से ७८२ तक (वि० ८०८-८३९) था। इसके पश्चात् उस वंशका ह्रास ही हो चला और वहाँके राजाओंने अपने राज्यसे बाहरकी उथल-पुथलकी ओर विशेष ध्यान भी नहीं दिया।

सम्भवतः इसीसे कर्कोट वंश किसी तरह ई० स० ८५५ (वि० ९१२) तक राज्य कर सका। फिर काश्मीरका राज्य उत्पल वंशीय अवन्तिवर्मा नामक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिके हाथ आया। उत्पल वंश भी बहुत दिनोंतक नहीं चला। ई० स० ९३९ (वि० ९९६) में उत्पल वंशमें राज्यका कोई पुरुष उत्तराधिकारी न रहनेके कारण प्रजाने यशस्करदेवको अपना राजा बनाया। यशस्करके पुत्रको दुर्बल और राज्य करनेके अयोग्य जानकर दिविर वंशके पर्वगुप्तने उसपर चढ़ाई की और उसे पदच्युत कर स्वयं राजपद ग्रहण किया। पर्वगुप्तके पश्चात् और एक राजाके राज्य करने पर दिविर वंशका भी अन्त हो गया और दिद्दा रानीने राज्यसूत्र अपने हाथमें ले लिया। उसने अपने इच्छानुसार कई बालकोंको गद्दीपर बैठाया और उनमेंसे जिसे चाहा उसे गद्दीसे उतार भी दिया। ई० स० १००४ (वि० १०६१) में दिद्दाका देहान्त होने पर उसके भाईके पुत्रने काश्मीरपर अधिकार कर लिया। यही लोहर वंशका प्रथम राज्य-संस्थापक है। इस वंशके हाथमें काश्मीरका राज्य आजाने पर राज्यका प्रबन्ध सुधर गया। इस वंशमें अनेक शूर और पराक्रमी पुरुषोंके उत्पन्न होनेसे काश्मीरको दूसरोंके प्रभुत्वका भय नहीं रहा और उसका स्वातन्त्र्य अबाधित रह सका।

पञ्जाबमें सबसे महत्वका और प्राचीन राज्य जालन्धर अथवा त्रिगर्तके कांगड़ाकोटका था। वहांके राजा सोमवंशी क्षत्रिय थे। उनके मूलपुरुषका नाम सुशर्मन था। महमूदकी चढ़ाईके समयतक वह राज्य कायम रहा; फिर उसपर मुसलमानोंका अधिकार होगया। जालन्धरके पतनका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है, जो आगे लिखा जायगा। साधारणतया

हिमालयके आसपासके राज्योंसे, उनके एक ओर तथा पहाड़ोंमें होनेके कारण, कोई छेड़छाड़ नहीं करता था। अस्तु, जालन्धरके राजाओंकी विशेष बातें अज्ञात हैं। एक लेखसे विदित होता है कि ई० स० ८०४ (वि० ८६१) में जयचन्द नामक राजा राज्य करता था। कल्हणने लिखा है कि ई० स० १०४० (वि० १०९७) में वहां इन्द्रचन्द्र नामक राजाका राज्य था।

उस समय पञ्जावमें और भी कुछ राज्य रहे होंगे। राजतरंगिणीमें पंजाबके टेक्क राज्य, गूजर आलखान राज्य और कन्नौजके मिहिर भोज राज्यका उल्लेख है। परन्तु कन्नौजको छोड़कर अन्य दोनों राज्योंके दानपत्र, शिलालेख आदि कुछ भी अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। जब महमूदने चढ़ाई की, तब लाहौरके राजाओंने ज़ोरोंसे उसका प्रतिरोध किया, परन्तु अन्तमें उन्हें हार खानी पड़ी। यह वृत्तान्त मुसलमान ग्रन्थकारोंने लिखा है; अतः यह पक्षपातपूर्ण भी हो सकता है। अन्य प्रमाणोंके अभावसे इस सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता।

दिल्ली तो उस समय एक मामूली गाँव था। इस समयके लगभग वहां अनंगपाल तोमरने अपना छोटासा राज्य बसाया था।* आगे कोई दो सौ वर्षोंमें इस राज्यका बहुत कुछ उत्कर्ष हुआ। परन्तु दिल्लीके तोमरों और सांभरके चाहमानोंमें घोर शत्रुता होनेके कारण ईसाकी दसवीं शताब्दी (वि० ९५८-१०५७) में दोनोंमें लगातार युद्ध होते रहे। दोनोंकी राज्य-सीमाएँ एक दूसरीसे सटी हुई थीं। लेखोंसे पता चलता

* टाडके इतिहासमें एक कविद्वारा वर्णित दन्तकथा लिखी है। उसमें कहा गया है कि वि० सं० ८४८ (सन् ७९१) में पांडवोंके वंशज अनंगपालने इन्द्रप्रस्थमें पुनः अपने पूर्वजोंकी गद्दी प्रस्थापित की।

है कि तोमर रुद्रेणसे ई० स० ९१३ (वि० ९७०) में चाहमान चन्दनराजका युद्ध हुआ और सन् ९४३ (वि० १०००) में वाक्पतिराजने तोमर तन्त्रपालका पराभव किया। वाक्पतिके पुत्र सिंहराजने भी एक तोमरका पराभव किया था।† यह वृत्तान्त तोमरोंके लेखोंमें नहीं है। तोमरोंके बहुत ही थोड़े लेख मिले हैं। उनसे पता चलता है कि तोमर कन्नौजके माण्डलिक थे।

मध्यभारतके राज्योंका विचार करना अनावश्यक है, क्योंकि मध्यभारत और अवधमें उस समय कोई स्वतन्त्र राज्य ही नहीं था। दोनों प्रान्त कन्नौजके अधीन थे।

उस समय नेपालका लिच्छवि वंश नष्ट हो चुका था और वहां एक राजपूत राज्यकी स्थापना हो गयी थी। उस राजपूत घरानेका एक भी लेख उपलब्ध न होनेके कारण उसका विश्वसनीय इतिहास लिखना कठिन है। दन्तकथाओंसे राजाओंका अनुक्रम तैयार किया जा सकता है; किन्तु उसकी सत्यताकी जाँच करनेका कोई साधन नहीं है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि इन राजपूत राजाओंने सन् ८७९ (वि० ९३६) से अपना नया संवत् चलाया था; परन्तु उससे पहिले कितने राजा हुए, इसका पता नहीं चलता। साधारणतया अनुमान किया जा सकता है कि सन् ८०० (वि० ८५७) के लगभग यह घराना राज्यारूढ़ हुआ और सन् १०००के पश्चात् भी यह कायम रहा।

कामरूप उर्फ आसामका राज्य भास्करवर्माके स्थापित किये हुए भगदत्त वंशके अधिकारमें था। बीचमें कुछ समय तक वह बंगालके पालोंकी अधीनतामें चला गया था, किन्तु फिर भी उसकी गणना स्वतन्त्र राज्योंमें की जानी चाहिये,

---

† हर्ष शिलालेख, ई० स० ९७३ एपि० इंडि० भाग १, पृष्ठ २४२

क्योंकि अरब लेखकोंने उसका उल्लेख गौरवके साथ किया है। नवीं और दसवीं शताब्दी (वि० ८५८-१०५७) में आसामका स्वातन्त्र्य अबाधित था।

पहिले लिखा जा चुका है कि पूर्व और पश्चिम बंगालमें मुंगेरके पालोंका एकछत्री राज्य था। पहिले भागमें उड़ीसाका इतिहास भी विस्तारके साथ लिखा गया है। उड़िया प्रान्त उस समय केसरी वंशके ही अधिकारमें था। केसरी वंशके राजा श्रद्धालु, धर्मात्मा और शिवके उपासक थे। जगन्नाथ-पुरीमें उपलब्ध हुए तालपत्रपर लिखे एक लेखसे ज्ञात होता है कि केसरी वंशका राज्य ई० स० ११३२ (वि० ११८९) तक अक्षुण्ण था। परन्तु इसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि अन्य लेखोंसे पता चलता है कि उड़ीसामें ११३२ (वि० ११८९) से पहिले कोई सूर्योपासक राजवंश राज्य करता था। ईसवी सन् ११३२ (वि० ११८९) के पश्चात् वहांके राजा जगन्नाथ अर्थात् विष्णुके भक्त बने। इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि शिवोपासक केसरी वंशके पश्चात् सूर्योपा-सक राजाओंका राज्य उड़ीसामें नहीं था। इस सूर्योपासक राजवंशका अबतक कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं हुआ है।

आन्ध्र प्रान्तमें उस समय विन्ध्यशक्ति आदि कैंकिल यवनोंका राज्य था। विष्णुपुराण और भागवतमें इन यवनोंका उल्लेख है। पालोंके खालिमपुर-दानपत्रसे ज्ञात होता है कि यवनोंका राज्य कन्नौज साम्राज्यके अन्तर्गत था। कन्नौजके लेखोंमें भी आन्ध्र-विजयका उल्लेख है। आन्ध्र प्रान्तमें ई० स० ९०० (वि० ९५७) तक यवनोंका राज्य था। फिर वह प्रान्त एक वैष्णव राजवंशके अधिकारमें चला गया, जिसका वृत्तान्त आगे लिखा जायगा।

कोसल अर्थात् छत्तीसगढ़का राज्य पहिलेसे ही हैहयोंके अधीन था और जिस समयका इतिहास लिखा जा रहा है, उस समय भी वे ही उस प्रान्तके शासक थे। वेंगीके चालुक्योंका राज्य भी ई० स० १०१५ (वि० १०७२) तक अबाधित था। साधारणतः किसी एक वंशका कहीं दो सौ वर्षोंसे अधिक राज्य नहीं रहा; परन्तु चालुक्योंके अधीन वेंगीका राज्य ४०० वर्ष (६३३ से १०१५ तक) रहा। मद्रास प्रान्तमें छोटे छोटे बहुतसे राज्य थे; किन्तु वे मालखेड़के साम्राज्यके अन्तर्गत ही गिने जाते थे।

कांचीके पल्लवों और बादामीके चालुक्योंके वंश तब अस्तंगत हो गये थे। कांचीमें पुनः पल्लवोंने नये राज्यकी स्थापना की थी, परन्तु उस वंशके दन्तिवर्म राजाको ई० स० ८०३ (वि० ८६०) में राष्ट्रकूटोंने हरा दिया। तबसे वह राज्य राष्ट्रकूटोंके अधीन हो गया। अन्तमें चोल राजाओंने पल्लवोंको इतना नीचा दिखाया कि फिर वे सिर ऊपर न उठा सके। वह वृत्तान्त आगे लिखा जायगा। दक्षिणमें पाण्ड्य तथा अन्य छोटे छोटे बहुतसे राज्य थे। उनमें चोल, हांयसल और गंग राज्य प्रधान थे। परन्तु उनका समय मध्ययुगके बाद होनेके कारण यहां उनका केवल नामोल्लेख ही किया गया है।

बारहवाँ प्रकरण।

समकालीन अरब लेखक।

मध्ययुगीन भारतके अनेक मनोरञ्जक तथा विश्वासयोग्य वर्णन उस समयके अरब लेखकोंने अपने प्रवास-वृत्तान्तोंमें लिख रखे हैं। उनसे तत्कालीन इतिहासपर

अच्छा प्रकाश पड़ता है। अतः उनका विचार स्वतन्त्र रूपसे करना आवश्यक है। अरब लेखकोंके ग्रन्थ केवल फ्रेंच भाषामें ही अनूदित हुए हैं। इस कारण उनका सम्यक् रूपसे अध्ययन करना साधारणतः कठिन ही है। ईलियटने अपने इतिहासमें उन भाषान्तरोंमेंसे बहुतसे महत्वपूर्ण अवतरण उद्धृत किये हैं। ईलियटके समयमें ऐतिहासिक खोजका कार्य प्रारंभिक अवस्थामें था। उस समय अरब लेखकों द्वारा वर्णित राज्यों और राजाओंके नामोंका ठीक ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन था। पर अब वह स्थिति नहीं रही। राजस्थानके इतिहासका कार्य समयके बदलने और तत्वान्वेषकोंके परिश्रमसे बहुत कुछ सुगम हो गया है। इसीसे अरब लेखकोंके ग्रन्थ मनोरंजक प्रतीत होने लगे हैं। उनमें चित्रित की हुई राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियोंका मेल अब भलीभांति बैठाया जा सकता है। पाठकोंके सुभीतेके लिए अरबी प्रवासियोंके ग्रन्थोंमेंसे कुछ अवतरण यहां उद्धृत किये जाते हैं।

ईलियटने अपने इतिहासमें अरबी प्रवासियोंके जो नाम लिखे हैं, उनके देखनेसे जान पड़ता है कि पहिला प्रवासी सुलेमान नामक व्यापारी था। उसने अपना यात्रा-वर्णन ई० स० ८५७ (वि० ९१४) में लिखा। व्यापारके निमित्त ईरानकी खाड़ीसे होकर हिन्दुस्थान और चीनमें वह कई बार भ्रमण कर चुका था। वह लिखता है—"मैंने जितनी पृथ्वी देखी उसमें चार श्रेष्ठ राजा पाये। पहिला बैबिलानका (खलीफाका), दूसरा चीनका, तीसरा कुस्तुन्तुनिया (ग्रीकों) का और चौथा वल्हारा। चारोंमें वल्हारा सर्वश्रेष्ठ है।" वल्हारा कौनसा था और उसकी राजधानी मानकिर कहां थी, इसका पता ईलियट-

को न चला। परन्तु उसके पश्चात् जो ऐतिहासिक तत्वान्वेषक हुए, उन्होंने निश्चित किया है कि 'वल्लभराय' शब्दका अरबी अपभ्रंश बल्हारा और समुद्रतटसे दूरवर्ती 'मान्यखेट', का अपभ्रंश मानकिर है जो राष्ट्रकूटोंकी राजधानी था। उस समय राष्ट्रकूटोंके राज्यका विस्तार समग्र दक्षिण प्रान्तमें हो गया था और वह बड़ा प्रबल राज्य था, यह तत्कालीन लेखोंसे ही सिद्ध होता है। राष्ट्रकूट दक्षिणके सार्वभौम थे। सुलेमान लिखता है—"हिन्दुस्थानके राजा किसीका सार्वभौमत्व स्वीकार करने पर भी अपना राज्य-प्रबन्ध स्वतन्त्र रूपसे किया करते थे। हम कई बार दिखा चुके हैं कि भारतके प्राचीन साम्राज्यकी कल्पना अन्य देशोंकी कल्पनासे भिन्न है। समकक्ष राजाओंमें जो अपना महत्व स्थापित करे और सबसे अपनी अधीनता स्वीकार करा ले वही उस समय सम्राट् माना जाता था। पराजितोंके राज्य अपने राज्यमें मिला लेनेकी प्रवृत्ति हमारे प्राचीन राजाओंमें नहीं थी। पराजित राजा स्वाधीनता-पूर्वक अपने राज्यका प्रबन्ध कर सकता था। उसे केवल सम्राट्का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता था और काम आ पड़ने पर उसको सहायता करनी पड़ती थी। अस्तु, वल्लभ-राजकी सेना अवसर विशेषपर ही तैयार नहीं की जाती थी, किन्तु आधुनिक रीतिके अनुसार, सदा प्रस्तुत रहती थी और उसे राज्यकी ओरसे ठीक समयपर वेतन भी मिलता था। अरबी सेनाका भी उस समय ऐसा ही प्रबन्ध था। "वल्लभराजकी सेनामें गजसेना और अश्वसेनाकी अधिकता थी। उसके राज्यमें तातारिया दीनार चलते थे, उनपर वही संवत् छपा रहता था, जिस संवत्में वल्लभराजके पूर्वजोंको गद्दी मिली थी। अरबोंकी तरह वे किसी अन्य सन्-संवत्को

नहीं मानते थे।"—लेखकका यह वर्णन विचित्र प्रतीत होता है क्योंकि राष्ट्रकूटोंके लेखोंमें शकमान-पद्धतिका प्रयोग किया गया है। सिक्कोंपर राज्यारोहणका संवत् होना सम्भव है।—"बल्हारोंके राज्यमें अरबोंका आदर है और वहांके प्रजाजन अरबोंके साथ मित्रताका भाव रखते हैं। 'बल्हार' वहांके राजवंशकी उपाधि है।"

"जुर्ज़के राजाओंके साथ बल्हारा राजाकी बराबर स्पर्धा चलती है।" इससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटोंकी तरह उस समय कन्नौजका भी बड़ा महत्व था। जुर्ज़ ही गुर्जर – कन्नौजके गुर्जर—थे। 'कन्नौजकी सेनामें उत्तम घुड़सवारोंकी संख्या अधिक होती है। वैसे अच्छे घुड़सवार अन्य सेनामें नहीं देख पड़ते। घोड़े भी बड़े सुन्दर होते हैं। सेनामें उष्ट्रदल भी विपुल है। यह सब होते हुए कन्नौजपति अरबोंसे मित्रता नहीं रखता। उसके राज्यका आकार तिकोना (जिह्वाग्रके समान) है।" इससे ज्ञात होता है कि कन्नौजका राज्य काठियावाड़ तक फैला हुआ था। "उस देशमें लेनदेन सोने-चांदीके टुकड़ोंसे (सिक्कोंसे नहीं) होता है।" भोजराजने 'आदिवराह द्रम्म' सिक्के पहिले पहिल चलाये, यह पहिले कहा जा चुका है। "इस देशमें चोर-डाकुओंका बिलकुल भय नहीं है।" इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान अंग्रेजी शासनकालमें ग्वालियर, बुन्देलखण्ड आदि प्रान्तोंमें जिस प्रकार चोरों, लुटेरों आदिका भय है, उस प्रकार एक हजार वर्ष पूर्व—जब उक्त प्रान्त कन्नौजके अधीन थे—नहीं था। सर्वत्र शान्ति और समृद्धिका साम्राज्य था।

सुलेमानने 'ताफिक' राज्यका उल्लेख किया है। वह कहता है—"इस राज्यका विस्तार अधिक नहीं है; किन्तु वहां जैसी

गोरी और सुन्दरी स्त्रियाँ हिन्दुस्थानमें अन्यत्र नहीं देख पड़तीं।" ताफिक राज्य कहां था, यह नहीं कहा जा सकता। ईलियटके मतसे वह राज्य औरङ्गाबादमें था। परन्तु यह मत ठीक नहीं जँचता, क्योंकि एक दूसरा अरबी प्रवासी लिखता है कि वह राज्य पर्वत-श्रेणियोंमें बसा हुआ है। हमारी समझमें वह हिमालयके आसपास कहीं रहा होगा। यह भी समझमें नहीं आता कि ताफिक शब्द किस हिन्दुस्थानी नामका अपभ्रंश है। हो सकता है कि वह पंजाबका कोई राज्य हो अथवा तक्क या जालन्धरका राज्य हो। औरङ्गाबाद परगनेकी स्त्रियाँ गोरी और सुन्दरी नहीं होतीं, यह तो सबको विदित ही है।

इसके पश्चात् रहमीके राज्यका वर्णन है। दुर्भाग्यवश इस राज्यके सम्बन्धमें भी कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। "तीनों राज्य जुर्ज़के आसपासके प्रदेशमें हैं और उनका जुर्ज़के राज्यसे सदा वैरभाव बना रहता है।" इस वाक्यसे अनुमान होता है कि रहमीका राज्य बङ्गालका राज्य होगा। अन्य लेखकोंने भी लिखा है कि इस राज्यका विस्तार बङ्गालके उपसागरतक था। रहमी शब्द किस शब्द-का अपभ्रंश है, इसका भी पता नहीं चलता। "रहमीके राजाके पास पचास हज़ार गजदल था।" इस अत्युक्तिपूर्ण वर्णनसे भी यही अनुमान दृढ़ होता है कि वह बङ्गालका ही राज्य था, क्योंकि उस समय मगध और गौड़में विपुल हाथी पाये जाते थे। "इस देशमें इतना नरम और महीन एक प्रकारका वस्त्र बुना जाता है कि वैसा अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता। उसका बना अंगा अंगूठीसे पार किया जा सकता है। यह वस्त्र कपासका ही होता है और हमने स्वयं देखा है।" इस वर्णनसे

प्रतीत होता है कि उस समय भी वङ्गाल (ढाके) के मलमलकी बहुत प्रसिद्धि थी।

इसके बाद भारतके सीमाप्रान्तके तीन राज्योंका वर्णन देख पड़ता है, यथा–१–'कशबिन' का राज्य। "यहांके लोग गोरे होते हैं।" इस वर्णनसे ज्ञात होता है कि यह राज्य हिमालयमें कहीं था। २—'किरंज' का राज्य और ३—'सेरन्दीब' (सिंहलद्वीप) का राज्य। सुलेमानने अपना प्रवास-वृत्तान्त ई० स० ८५० (वि० ९०७) में लिखा और इसमें सन्देह नहीं कि उसमें तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिस्थितिका यथार्थ वर्णन किया गया है। पहिले कहा जा चुका है कि उस समय राष्ट्रकूट, प्रतिहार और पाल ये तीनों क्रमशः दक्षिण, मध्यदेश और बङ्गालके वैभवसम्पन्न राजा थे। सुलेमानके प्रवास-वर्णनमें तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिका भी दिग्दर्शन किया गया है। उसका विचार स्वतन्त्र प्रकरणमें किया जायगा।

इब्न खुर्दादबा नामक प्रवासीने भी इसी समयको लक्ष्य-कर अपना प्रवास-वर्णन लिखा है। पता चलता है कि इब्न खुर्दादबाका देहान्त ई० स० ९१२ (वि० ९६९) के आसपास हुआ। वह लिखता है–"हिन्दुस्थानमें सर्वश्रेष्ठ राज्य बल्हाराका है। जाबाल (जावा), ताफन, जुर्ज़, रहमी, कामरून (कामरूप) आदि और भी अनेक राज्य हैं। अन्य प्रान्तोंके साथ रहमी राज्यका व्यापारिक लेनदेन जहाजों द्वारा होता है। उस राज्यमें पचास हज़ार हाथी हैं और वहां कपास, कपड़ा तथा अलोवुड (एक प्रकारकी सुगन्धित लकड़ी) बहुत होता है।" इस वर्णनसे भी रहमीका राज्य बंगालका ही राज्य सिद्ध होता है। उक्त लेखकने भारतकी सात जातियोंका वर्णन किया है। उनका विचार स्वतन्त्र प्रकरणमें किया जायगा।

अल-मसूदी नामक प्रवासीके ई० स० ९५३ (वि० १०१०) में लिखे प्रवास-वृत्तान्तमें भारतका बहुत सूक्ष्म वर्णन मिलता है। अपने समयसे पहिलेकी भारतीय इतिहाससम्बन्धी दन्तकथाओंका वर्णन कर वह लिखता है—"कोरेश राजा (श्रीहर्ष) के पश्चात् साम्राज्यका संघटन टूट गया। सिन्ध, कन्नौज और काश्मीर अलग अलग हो गये और उनकी रीति-नीति, समाज-व्यवस्था तथा शासन-प्रणालीमें बहुत अन्तर पड़ गया। मानकिरमें वल्हारा राज्य करने लगा। सर्वत्र भिन्न भिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं और उन राज्योंमें परस्पर युद्ध भी हुआ करते हैं। वल्हारा राजा सबमें श्रेष्ठ है। काश्मीर, ताफन जैसे राज्य समुद्रसे बहुत दूर पर्वतश्रेणियोंमें स्थित हैं। वल्हाराके पास पैदल सेना अधिक है; क्योंकि उसकी राजधानी पहाड़ी प्रदेशमें है। उसके पास गजसेना भी है, किन्तु पैदल सेनाकी संख्या अगणित है। समुद्रसे सुदूर प्रान्तमें बसा हुआ विख्यात 'बाउरा'का राज्य है और उसका स्वामी कन्नौजका भी अधिपति है। कन्नौजके सभी राजाओंको 'बाउरा' कहते हैं और उसकी सेना पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और उत्तरमें सदा सन्नद्ध रहती है।"

'बाउरा' शब्द किस शब्दका अपभ्रंश है, समझमें नहीं आता। विदेशी लोग इस देशके शब्दोंको तोड़-मरोड़कर विलक्षण रूप दे देते हैं। उनके मूल रूपका पता लगाना बड़ा कठिन है। बीजापुरके 'आदिलशाह' को पोर्तुगीज 'इदिलकाव' कहते थे, परन्तु इस शब्दसे 'आदिलशाह' का अर्थ निकालना ज़रा कठिन ही है। अस्तु, अन्य अरब लेखकोंने भी अपने लेखोंमें 'बाउरा' का उल्लेख किया है। हमारी समझमें 'बाउरा' कन्नौजके प्रतिहार ही थे। 'वल्हारा' (वल्लभराय) इस

शब्दसे स्पष्ट है कि, 'रा'—'राय'-वाचक शब्द है। 'वाउरा' शब्द को 'प्रतिहार' का अपभ्रंश माननेसे ही उसकी चरितार्थता हो सकती है और उससे प्रतिहार राय (पडिहार रा) शब्द वन सकता है।

"मिहिरान नदी (सिन्धु) सिन्ध प्रान्तके उत्तरके ऊँचे भूभागसे निकल कर कन्नौज, काश्मीर, कन्दहार और ताफन राज्यमें प्रवाहित होती है।" इससे जान पड़ता है कि कन्नौज साम्राज्यका विस्तार पंजाबतक हो गया था और ताफनका राज्य हिमालयके ही आसपास कहीं था।

"कन्दहारके राजाको 'हाहज' कहते हैं। वास्तवमें सभी राजाओंकी उपाधि 'हाहज' है। कन्दहार रहवूदों (राजपूतों) का देश कहा जाता है। काश्मीरके राजाकी उपाधि 'राय' है और वह सिन्ध प्रान्तका ही एक भाग है।" 'हाहज' क्या है, कहा नहीं जा सकता। परन्तु इस अवतरणसे सिद्ध होता है कि उस समय कन्दहारमें राजपूतोंका राज्य था। 'काश्मीर सिन्ध प्रान्तका हो एक भाग है,' लेखकके इस कथनसे उसकी अनभिज्ञता प्रकट होती है। सम्भव है, सिन्ध प्रान्तपर अधिकार कर लेने पर अरबोंने काश्मीरके लोभसे उसकी ओर रुख फेरा हो।

"कन्नौजके राजाकी विशाल सेना चारों दिशाओंमें सदा सन्नद्ध रहती है। हर एक दिशामें कमसे कम सातसे आठ लाखतक सेना रहती है। उत्तरकी सेना मुलतानके राजा और सीमाप्रान्तके मुसलमानोंसे तथा दक्षिणकी सेना मानकिरके बल्हारा राजासे साम्राज्यकी रक्षा करती है।" इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि कन्नौजकी धाक सब राज्योंपर जमी हुई थी। कन्नौज जबतक वैभवके शिखरपर था, तबतक उसने अपने

साम्राज्यपर किसीका प्रभाव जमने नहीं दिया। अरबोंसे दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी मित्रता थी और दोनों मिलकर कन्नौज-पर चढ़ाइयाँ किया करते थे; किन्तु कन्नौजकी समृद्धिके समय-में उसके आगे किसीकी दाल नहीं गली। उक्त प्रवासीके वर्णन-से उस समयके हिन्दुओंकी मूर्खता और भोलेपनकी भी कल्पना हो जाती है। वह लिखता है—"धर्मभ्रष्ट मूर्तिपूजक जब मुलतानपर चढ़ाई करनेकी तैयारी करते हैं और मुलतानी लोग उनसे लड़ना नहीं चाहते; तब वे मूर्तिपूजकोंको सूर्य देवताकी मूर्ति तोड़ डालनेकी धमकी देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मूर्तिपूजक अपनी सेनाको लौटा ले जाते हैं!" हिन्दुओंके भोलेपनका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या मिल सकता है?

अल-मसूदीने अन्तमें रहमी राज्यका वर्णन किया है। "रहमी राज्यका विस्तार समुद्रके तटतक है। रहमी राज्यका सीमाप्रान्तके जुर्ज़ और बल्हारा राजासे सदा युद्ध होता रहता है। इस राज्यकी दूसरी सीमापर कामन राज्य है; वहांके प्रजाजन बहुत ही सुन्दर हैं; उनमें कानोंको छेदनेकी चाल है।" 'कामन' राज्य कामरूप अर्थात् आसामका राज्य समझना चाहिये। इस राज्यके सब निवासी धार्मिक हिन्दू ही हैं।

अलइस्ताखरी नामक प्रवासी ई० स० ९५१ (वि० १००८) के लगभग हिन्दुस्तानमें आया था। उसने अपने प्रवासवर्णनमें लिखा है—"कमबाया (खम्बायत) से सेमूर (चेऊल) तक बल्हाराका राज्य फैला हुआ है।" इससे ज्ञात होता है कि दक्षिण-मध्य गुजरात और कोंकण प्रान्तका अधिकांश राष्ट्र-कूटोंके अधिकारमें था। "बल्हारा राजाके बहुतसे सामन्त हैं।" अर्थात् बल्हाराके सम्राट् होनेपर भी मांडलिकोंके राज्य

उन्हींके शासनमें रहते थे, साम्राज्यमें मिला नहीं लिये जाते थे। इन माण्डलिकोंमें लाट अर्थात् गुजरातके माण्डलिककी भी गणना होती है। "यहांके लोग काफिर हैं; किन्तु राज्यके एक भागमें मुसलमान भी बसे हैं और उनपर बल्हाराकी ओरसे मुसलमान ही शासन करते हैं। वहां उन्होंने मसजिदें भी बनवा ली हैं।" इससे प्रतीत होता है कि दक्षिणके हिन्दू कन्नौज और मध्यभारतके हिन्दुओंकी अपेक्षा अधिक परमत-सहिष्णु थे अर्थात् वे कट्टर हिन्दू नहीं थे।

इब्न हौकलके प्रवास-वृत्तान्तका समय ई० स० ९७६ (वि० १०३३) है। वह लिखता है—"कंवायत (खंवायत) से सैमूर (चोल) तक बल्हारा राज्यका विस्तार है और उसमें अनेक माण्डलिक राजा राज्य करते हैं। बल्हाराकी राजधानी मानकिर है; कंवायतसे सैमूरतक सिलसिलेवार ग्राम बसे हैं और काफी जमीनमें खेती होती है।" इस वर्णनसे स्पष्ट है कि राष्ट्रकूटोंके समयमें गुजरात और कोंकण प्रान्त पूर्ण समृद्ध थे।

पाँचवीं पुस्तक ।

साधारण परिस्थिति ।

तेरहवा प्रकरण।

भाषा।

अरबी प्रवासियोंने लिख रखा है कि भारतीय इतिहासके मध्ययुगीन कालमें भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें अनेक भाषाएँ प्रचलित थीं। तदनुसार स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वे कौन कौनसी थीं? महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाचीसे क्रमशः मराठी, हिन्दी, बंगाली और पञ्जाबी भाषा बनी है। ये भाषाएँ दक्षिण, मध्यदेश, पूर्व और वायव्य प्रान्तमें प्रचलित भी थीं। शिलालेखोंसे पता चलता है कि ई० स० ८००–१००० (वि० ८५७-१०५७) के आस पास महाराष्ट्री आदि भाषाओंका लोप होकर उनके मराठी आदि विकृत रूप प्रचलित हो गये थे। ई० स० ८०० से १००० (वि० ८५७-१०५७) के बीचमें ही ये भाषाएँ बनी हैं। ई० स० ८०० से पूर्वके इन भाषाओंके लेख भी नहीं मिलते अतः इस कालसे पहिले ये भाषाएँ प्रचलित थीं, ऐसा नहीं माना जा सकता। इन आर्य भाषाओंके अतिरिक्त दक्षिण भारतमें तामिल, मलियालम्, कानड़ी, तेलगू आदि अनार्य भाषाएँ प्रचलित थीं। तामिल भाषा इनमें सबसे पुरानी है, उसीसे ये सभी भाषाएँ निकली हैं। हमारी समझमें ई० स० ८०० से १००० (वि० ८५७ से १०५७) के बीच ही तामिल भाषाकी उक्त शाखाएँ निकली थीं और उनके तथा मराठी आदि भाषाओंके प्रादुर्भावका कारण एक ही था। इस प्रकरणमें दक्षिणकी भाषाओंका विस्तृत विचार होना असम्भव है।

बौद्ध धर्मके उच्छेद और आर्य धर्मकी पुनः स्थापनासे भारतकी धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितिमें अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न होगयी। बौद्ध धर्मका प्रसार प्रायः विदेशियोंमें ही अधिक हुआ, भारतवासियोंमें नहीं। वर्तमान समयमें भी बौद्ध धर्मके अनुयायी विदेशी ही अधिक हैं। इसका कारण यह है कि सनातन आर्य धर्म वेदादि ग्रन्थोंको प्रमाण मानता है, बौद्ध धर्म नहीं मानता। आर्य धर्ममें अन्य किसीका समावेश नहीं हो सकता, बौद्ध धर्ममें हो सकता है। आर्य धर्म प्राचीन परम्पराका आदर करता है, बौद्ध धर्म नहीं करता। अस्तु, इसी समय (ई० सन् ८००–१०००) के आसपास आर्य धर्मकी पुनः स्थापना होनेपर पहिलेके क्षत्रिय राजवंशोंको जनताकी ओरसे पुनः सम्मान मिलने लगा और लोकमत उनके अनुकूल होनेके कारण विदेशी राजकुलोंकी तरह इस देशके वैश्य और शूद्र राजकुल भी अस्तङ्गत होने लगे। राज्य-सूत्र क्षत्रिय राजाओंके हाथ आनेपर उन्होंने संस्कृतको पुनरुज्जीवित किया। साथ ही बौद्ध और जैन धर्मका ह्रास होनेके कारण प्राकृत भाषाएँ भी नष्ट हो चलीं। संस्कृत भाषाके पुनरुज्जीवित होनेसे लोगोंकी व्यवहारकी भाषापर उसका बहुत कुछ प्रभाव पड़ा और प्राकृत भाषाकी ढिलाई नष्ट होकर वह वर्तमान समयमें प्रचलित भाषाओंके रूपमें ओजस्वी बनती गयी। आर्य धर्म-ग्रन्थोंका पठन-पाठन आरम्भ होनेसे संस्कृत भाषाका सर्वत्र प्रचार हुआ। इसी समय संस्कृत भाषाके प्रचारमें शांकर मतकी विजयसे विशेष सहायता पहुँची। शंकराचार्यका उत्कर्ष ईसाकी आठवीं सदी (वि० ७५८-८५४) के आस-पास हुआ। उनके मतकी छाप सब मतोंके लोगोंपर अच्छी पड़ी। उस मतका प्रसार संस्कृत भाषाके द्वारा ही

होनेके कारण सर्वसाधारणकी भाषामें बहुतसे संस्कृत शब्द आगये और धीरे धीरे संस्कृत भाषासे ही मराठी आदि संस्कृत-प्रचुर भाषाएँ निर्मित हुई। तामिल भाषासे निकली हुई भाषाओंका इतिहास भी ऐसा ही है। अब यह देखना चाहिये कि नवीन प्रचलित भाषाएँ कौन कौन सी थीं।

अलमसूदी नामक प्रवासीके प्रवास-वृत्तान्तमें ई० स० ९४३ (वि० १०००) के आस-पासके समयकी पूर्व और पश्चिम प्रान्तकी लोकस्थितिका वर्णन मिलता है। वह लिखता है—"बल्हाराकी राजधानी मानकिरके लोग 'कीरिया' भाषा बोलते हैं। 'कीरिया' नाम कीर गांवसे प्रचलित हुआ है। पश्चिमी तटके लोगोंमें—अर्थात् सैमुर, सुपारा, थाना आदि प्रान्तोंमें—'लारीय' भाषा प्रचलित है। पश्चिमी तटके समुद्रका ही नाम 'लारीय' है।"—(ईलियट भा० १) इस वर्णनमें उस समयकी प्रचलित—विशेषतया थाना, सोपारा और पश्चिम घाटमें प्रचलित—मराठी और गुजराती भाषाओंका उल्लेख नहीं है। दक्षिण गुजरात (लाड अथवा लाट प्रान्त) में किसी समय 'लाडो' भाषा प्रचलित थी जो वर्तमान गुजराती भाषाके रूपमें परिणत या परिवर्तित हो गयी है। पर 'कीरिया' भाषाका अर्थ महाराष्ट्र (मराठी) भाषा ही किया जाना चाहिये; क्योंकि इस भाषाके सम्बन्धमें केवल 'कीर देशकी भाषा' इतना ही लिखा है। भारतीय भाषाओंके नामोंके अरबी उच्चारण विचित्र होते हैं। बहुतसे ऐसे शब्द हैं, जो भारतकी ही किसी भाषाके अपभ्रंश होनेपर भी उनका मूल खोजना कठिन हो जाता है। वल्लभरायका अपभ्रंश बल्हारा और मान्यखेटका मानकिर है। 'मानकिर' के ही उत्तरार्द्ध 'किर' से अरबोंने भाषाका नाम कीरिया रखा होगा। 'कीरिया' में

'न' कार न होनेसे कानड़ी भाषासे उसका सम्बन्ध नहीं दिखता। फिर मान्यखेटमें कानड़ीका प्रचार पहिले नहीं था, पीछे हुआ है। 'कीरिया' भाषा मराठी ही है; परन्तु उसका रूप निश्चित नहीं हुआ था, वह प्रारंभिक अवस्थामें थी। यही नहीं, उसका नामकरण भी नहीं हुआ था। वर्तमान कालकी तरह वह नियमबद्ध और एकरूप नहीं थी। प्रान्तभेदानुसार उसके उच्चारण और वाक्यरचनामें बहुत विषमता थी। उस समय विभिन्न प्रान्तोंमें आजकलकी तरह यातायातके सुलभ साधन न होनेसे उसमें एकरूपता नहीं देख पड़ती थी। इसीसे अरबी प्रवासियोंको उत्तर कोंकण (थाना आदि) से पश्चिमघाट (मान्यखेट) की भाषा भिन्न जान पड़ी। अब मराठी भाषा व्याकरणसे नियमबद्ध हो गयी है और लोगोंका आना-जाना भी बढ़ गया है। इस कारण पश्चिमीघाट, खानदेश, कोंकण, बड़ोदा, बरार और नागपुरके शिक्षित-समुदायकी भाषा एक-रूप हो गयी है। फिर भी निम्न श्रेणीके लोगोंकी भाषा प्रान्त-भेदानुसार शिक्षितोंकी भाषासे भिन्न ही है। कल्याण, भिव-एडीके मुसलमान मराठी भाषा बोलते हैं, परन्तु वह शिक्षितों और अशिक्षित ग्रामीणोंकी भाषासे भिन्न है। उत्तर कोंकण और दक्षिण कोंकणके मुसलमानोंकी भाषा और बोलनेकी रीतिमें भी बड़ा अन्तर है। गोवाकी मराठी भाषा अपने ढङ्गकी निराली ही है। मराठी भाषाके विभिन्न रूपोंका सूक्ष्म परीक्षण करने पर प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृतसे वर्तमान मराठी भाषा संस्कृतकी सहायता पाकर कैसे बनी, इसका निश्चय शास्त्रीय ढंगसे किया जा सकता है।

संस्कृतकी तरह सभी प्राकृत भाषाएँ किसी समय व्यव-हारमें थीं। संस्कृत नाट्यशास्त्रका एक नियम यह है कि नाट-

कमें स्त्रियाँ, सेवक आदि प्राकृतमें ही बोलें। नाटकके पद्य, प्रगल्भ विचार आदि महाराष्ट्रीमें हों और स्त्रियाँ शौरसेनीमें बातचीत करें। सेवकोंकी भाषा मागधी और चोर-लुटेरोंकी पैशाची रहे। इससे जान पड़ता है कि उस समय जिस प्रकार विभिन्न प्रान्तोंकी भाषामें भिन्नता थी, उसी प्रकार धन्धोंमें भी पार्थक्य था। आजकलकी तरह प्राचीन समयमें भी महाराष्ट्रमें विद्वानोंकी बहुलता थी और नौकर-चाकर पुरबिये हुआ करते थे। चोर-लुटेरे तथा सैनिक सीमाप्रान्तको ओरसे आते थे। इन सबकी भाषाओंमें भिन्नता होनेके कारण नाटकों-में पात्रानुसार उन उन प्रान्तोंकी भाषाओंके उपयोगका नियम बनाना पड़ा। प्राकृत भाषाओंका ईसाकी आठवीं या नवीं शताब्दीमें लोप हो गया और उनके स्थानमें मराठी आदि भाषाएँ प्रचलित हुईं। संस्कृतकी तरह प्राकृत भाषाएँ भी व्यवहारसे उठ गयीं और उन्हें कृत्रिम तथा अस्वाभाविक रूप प्राप्त हो गया। सुप्रसिद्ध कवि राजशेखरने मराठीमें एक नाटक लिखा है, उसका अभिनय भी उस समय कन्नौजमें हुआ था। परन्तु हमारी समझमें शिक्षित लोग ही उसे समझ सके होंगे। क्योंकि राजशेखरका महाराष्ट्रीमें लिखा हुआ वह नाटक वर्तमान मराठी भाषाभिज्ञ समझ नहीं सकते। राजशेखरकी महाराष्ट्री और वर्तमान मराठीमें कितना अन्तर है, यह उक्त ग्रंथके अवलोकनसे स्पष्ट हो जायगा।

उक्त नाटककी महाराष्ट्री भाषाका प्रत्येक शब्द संस्कृतका ही सौम्य रूप है। परन्तु वर्तमान मराठीमें संस्कृतसे बने अर्थात् तद्भव शब्द उतने नहीं, जितने महाराष्ट्रीमें हैं। वर्तमान मराठीमें ठीक संस्कृत जैसे शब्द हैं, किन्तु उनके रूप संस्कृतसे भिन्न नियमोंके अनुसार बनते हैं। वर्तमान समयकी प्रचलित

भाषाएँ संस्कृतसे ही बनी हैं। उनमें संस्कृतके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं; केवल उनकी विभक्तियाँ और क्रियाएँ संस्कृत-से भिन्न नियमोंके अनुसार बना ली गयी हैं। आर्य भाषाओं-की तरह अनार्य भाषाओंपर भी उस समय (सन् ८००-१०००) संस्कृतका बहुत प्रभाव पड़ा। उन भाषाओंमें भी संस्कृतके बहुतसे शब्द आगये। केवल नामोंकी विभक्तियाँ आदि संस्कृतके अनुसार न रहकर भाषाप्रचारके अनुसार बन गयीं। कानड़ी भाषाका भी उस समय इसी प्रकार उदय हुआ था। वर्तमान समयमें कानड़ी भाषा जिस प्रान्तमें प्रचलित है और पहिले थी, वह प्रान्त महाराष्ट्रके ही अन्तर्गत है। उसे अबतक दक्षिण महाराष्ट्र कहते भी हैं। परन्तु वहाँ कर्नाटकी भाषाका प्रचार क्यों और कैसे हुआ, इसका पता नहीं चलता। इस ग्रन्थकी पहिली पुस्तकमें लिखा गया है कि ईसाकी आठवीं शताब्दी (वि० ७५८-८५७) के पूर्व उक्त प्रान्तमें महाराष्ट्री ही प्रचलित थी। ईसाकी चौथी शताब्दी (वि० ३५८-४५७) के उपलब्ध लेखोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय वहाँ महाराष्ट्री भाषा उत्तान रूपसे प्रचलित थी; परन्तु ईसाकी आठवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें कर्नाटकी भाषाका असा-धारण प्रचार हो गया। युवराज गोविन्द (द्वितीय) के अलास ताम्रपटमें लिखा है कि दन्तिदुर्गने छोटीसी सेनाकी सहायतासे कांची, केरल, चोल, पांड्य, श्रीहर्ष, वज्रट आदिको पराजित करनेवाले कर्नाटकके राजाको हरा दिया (एपि० इंडिका-भाग ६, पृष्ठ २६०)। इसीका अनुवाद गोविन्दराजके ई० स० ७९४ (वि० ८५१) में लिखे पैंठनके लेखमें किया गया है। कृष्णराजके दानपत्र (ई० स० ७७२ = वि० ८२९) में भी इसका उल्लेख है। इन प्रमाणोंसे प्रतीत होता है कि ईसा-

की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें बदामीके चालुक्योंका राज्य कर्नाटकके अन्तर्गत माना जाता था और उत्तरके राष्ट्रकूट मराठा या रट्ट कहलाते थे। परन्तु ईसाकी आठवीं शताब्दीके पूर्व बदामीके चालुक्योंकी गणना महाराष्ट्रमें ही होती थी। क्योंकि हुएनत्संगने अपने ई० स० ६४० (वि० ६९७) के प्रवास-वृत्तान्तमें लिख रखा है कि बदामीका पुलकेशी महाराष्ट्रका राजा था। उस समय महाराष्ट्रकी सीमा नर्मदासे तुङ्गभद्रातक थी। परन्तु इससे डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् कानड़ी भाषाके अधिक प्रचारसे बदामी राज्यकी गणना कर्नाटक प्रान्तमें होने लगी। ईसाकी आठवीं शताब्दीमें कानड़ी भाषाका उत्तरकी गौड़ीय भाषाओंकी तरह उदय होकर कृष्णानदीतक उसका प्रसार भी हुआ।

तेलगू भाषाका भी इसी समय उदय हुआ। पूर्वकी ओर वेंगीमें बदामीके चालुक्योंकी एक शाखाका राज्य था। इस शाखाके लोगोंको आन्ध्र या तेलगू कहते हैं। आन्ध्र अथवा तेलगू आर्य चालुक्य ही हैं। उन्होंने इसी समय (ईसाकी आठवीं शताब्दीमें) तेलगू भाषाका अङ्गीकार किया। आन्ध्र-लोग बदामीके चालुक्योंका सार्वभौमत्व मानते थे, पर आगे चलकर कर्नाटक (बदामी) के चालुक्योंका राष्ट्रकूटोंने पराभव किया; तबसे महाराष्ट्रके सार्वभौम राष्ट्रकूट बने। प्रथम तेलगू चालुक्योंने राष्ट्रकूटोंको नहीं माना; पर पीछे उनकी शक्तिसे पराभूत होकर मानना पड़ा। अलास ताम्रपटमें राष्ट्रकूटोंके चालुक्योंसे हुए युद्धका वर्णन है। इसके बादके दानपत्रोंमें चालुक्योंकी यह उपशाखा 'कलिङ्ग अथवा तेलगू' कही गयी है। इसका अर्थ यह है कि पूर्व चालुक्योंके प्रान्त-भेदानुसार भाषा और आचारमें परिवर्तन हो गया। तत्मा-

न्तीय लोगोंसे उन्होंने रोटी-बेटीका सम्बन्ध करना आरम्भ किया। उनकी मूल भाषा भी बदल गयी। वे अपने लेखोंमें अपनेको 'चालुक्य' ही लिखते थे; किन्तु अन्य प्रान्तके लोग उन्हें 'कलिंग' ही कहते थे।

इसी समय मराठी आदि भाषाओंकी तरह मागधी भाषासे बङ्गालीकी सृष्टि हुई। पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी भाषाका अभ्यास करने पर भी यही साम्य देख पड़ेगा। परन्तु भाषाशास्त्रका विषय होनेके कारण इसका यहाँ विस्तार न कर केवल दिग्दर्शन किया गया है। सारांश, भारतकी प्रचलित देशी भाषाओंका उदय ई० स० ८०० से १००० (वि० ८५७-१०५७) के बीचमें ही हुआ। इसकी पुष्टिके लिए डाकृर ग्रियर्सनके लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया * नामक ग्रन्थसे कुछ अवतरण परिशिष्टमें उद्धृत किये गये हैं।

चौदहवाँ प्रकरण।

धार्मिक परिस्थिति।

ईसवी सन् ८०० से १००० तक (वि० ८५७-१०५७) के दो शतकोंमें हिन्दुस्थानके विभिन्न प्रान्तोंके लोगोंकी कैसी धर्म-भावनाएँ थीं, उनके कैसे आचार थे, इत्यादि बातोंका थोड़ा विचार करना आवश्यक है। प्रथम तत्कालीन अरब लेखकोंने इस सम्बन्धमें क्या लिखा है, यह देख लेना चाहिये। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके अल इदरिसी नामक

* Linguistic Survey of India

प्रवासीने लिखा है—"भारतमें भिन्न भिन्न ४२ पन्थ प्रचलित हैं। कुछ लोग ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं, किन्तु पैगम्बरको नहीं मानते और कोई नास्तिक ही हैं। कुछ लोगोंका पत्थरकी गढ़ी हुई मूर्तियोंके सम्बन्धमें यह विश्वास है कि वे ही उन्हें संसारसे तार देंगी और कुछ लोग स्वयंभू पत्थरकी घृत आदिसे पूजा-अर्चा करते हैं। कुछ लोगोंकी श्रद्धा अग्निपर है और अन्तमें वे अपनी देह अग्निको अर्पण करते हैं। कुछ लोगोंकी भक्ति सूर्यपर है और वे उसीको ईश्वर तथा जगन्नियन्ता मानते हैं। कुछ लोग वृक्षादिको पूजते हैं और कुछ लोग नागोंकी सेवा करते हैं। बड़े बड़े नागोंको पकड़ कर विस्तीर्ण शालाओंमें रखते और उन्हें बाहरसे दूध आदि देते हैं! कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो इन सब बातोंको झूठ मानते हैं; उनका किसीपर विश्वास नहीं होता।" दूसरा एक प्रवासी भी लिखता है—'हिन्दुस्थानमें सब मिलाकर ४२ धर्म प्रचलित हैं।' मुसलमान एकेश्वरवादी और मूर्तिपूजाके विरोधी हैं। उन्हें हिन्दुस्थानकी उपासना-प्रणाली विपरीत देख पड़ी, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उनके ध्यानमें इस बातका आना भी असम्भव था कि एक ही महान् धर्मकी ये विभिन्न उपासना-प्रणालियाँ हैं। हिन्दू धर्म बहुशाखामय महान् वृक्ष है। इस वृक्षका जीवनरस वेदमय है। सब शाखाओंका पोषण इस एक ही जीवन-रससे होता है। परन्तु अधिकारिभेदानुसार उपासना-प्रणालियोंमें भिन्नता होनेके कारण जुदे जुदे पन्थ देख पड़ते हैं। इस धर्ममें अनेक पन्थ और परमार्थसाधनके मार्ग हैं, किन्तु सबका लक्ष्य एक ही होनेके कारण पन्थोंमें परस्पर वैर-विरोध, कलह या आग्रह-बुद्धि उस समय देख नहीं पड़ती थी। अस्तु, वास्तवमें भारतके

विभिन्न पन्थोंको इन्हीं दो शताब्दियोंमें एकरूपता प्राप्त हुई। इससे पहिले पन्थोंमें परस्पर तीव्र मतभेद था। उस समय सब पन्थोंका एकीकरण होकर शिव, विष्णु, सूर्य, देवी और गणेश, इन पाँच देवताओंकी पृथक् पृथक् उपासनाएँ प्रचलित हुईं। लोग वृक्षादिकी भी पूजा करते थे। परन्तु उपास्य देवता पृथक् होनेपर भी सबका धर्म एक ही था। सब उपासकोंका वेदोंपर अटल विश्वास था और सबकी धारणा थी कि विविध उपास्य देव वेदसम्मत हैं। सारांश, उस समय समग्र हिन्दुस्थानमें एक ही धर्म प्रचलित था। मगधके अतिरिक्त अन्य प्रान्तोंसे बौद्ध धर्म उठ ही गया था और जैन धर्मका विशेष प्रसार नहीं हुआ था। अतः यदि यह कहा जाय कि हिन्दुस्थानमें इस समय हिन्दू धर्मके अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म ही नहीं था तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी। इस धर्ममें सब उपासनाओंका महत्व समान होनेसे लोग अग्निहोत्रकी तरह वृक्ष-पाषाणोंकी भी पूजा करते थे और शिव, विष्णु, सूर्य, देवी तथा गणेशकी उपासनाएँ तो सर्वमान्य हो ही चुकी थीं।

उक्त पंचायतनमेंसे किसी एक देवताका महत्व पुराणोंमें वर्णित रहता है। मूल पुराणोंमें उन देवताओंका वर्णन किया गया है या नहीं, इसमें सन्देह है। इस समय पुस्तकोंके जिस प्रकार परिमार्जित और संवर्धित संस्करण निकलते हैं, उस प्रकार उस समय पुराणोंके भी नये नये संस्करण निकला करते थे। आज कलके उपलब्ध पुराण उस समयके परिमार्जित और संवर्धित संस्करण हैं। पुराणोंकी तथा उनके श्लोकोंकी संख्यावृद्धि उसी समय हुई, क्योंकि पंचायतनके देवताओंका महत्व उसी समय बढ़ा था। पञ्चायतनके देवताओंमेंसे

राजकुलोंमें शिवजीका विशेष महत्व था। तो भी पिता-पुत्रके उपास्य भिन्न हो सकते थे। प्रतिहार घरानेकी वंशावलीमें विभिन्न राजपुरुषोंके विभिन्न उपास्यदेव होनेका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पिता परम वैष्णव है, तो पुत्र परम माहेश्वर। पौत्र परम भगवतीभक्त है, तो प्रपौत्र परम आदित्यभक्त। यह सब होते हुए भो उपासकोंमें कभी परस्पर वैर-विरोध नहीं रहता था।

उस समयके राजा, रानियाँ, मन्त्री, सेठ, साहूकार आदि सभी अपने अपने उपास्य देवोंके मन्दिर बनानेमें अपनेको कृतकृत्य मानते थे। देवस्थानोंकी सेवापूजामें जो व्यय किया जाता था, उसकी गणना ही नहीं की जा सकती। इससे सारा देश भव्य और विशाल देवालयोंसे मण्डित हो रहा था। पूजामें मिला हुआ द्रव्य भी इन देवालयोंमें काफी इकट्ठा होगया, इससे इनपर विदेशियोंकी लोभदृष्टि पड़ने लगी। कहा जाता है कि यद्यपि मुलतान मुसलमानोंके अधिकारमें था, तथापि उन्होंने वहाँके सूर्य मन्दिरको किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचायी; क्योंकि उस मन्दिरकी वार्षिक यात्रामें समस्त भारतवर्षसे लाखों यात्री आते थे और उनकी भेंटसे मन्दिरमें अटूट सम्पत्ति एकत्र होती थी। मुलतानका सूर्यमन्दिर बड़ा प्रसिद्ध था। प्रतापशाली प्रतिहार अनायास मुलतानपर अधिकार कर लेते; क्योंकि वह कन्नौजके बहुत ही निकट है। परन्तु हिन्दुओंकी कट्टर धर्मभावनाओंके कारण प्रतिहार उसपर अधिकार न कर सके। जब जब कन्नौजके राजा मुलतानपर चढ़ाई करते, तब तब वहाँके मुसलमान सूर्यमन्दिरको गिरा देनेकी धमकियाँ देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि हिन्दूसेना विना लड़े ही

लौट जाती थी। इससे उस समयके हिन्दुओंकी अन्ध धर्म-श्रद्धाका अच्छा परिचय मिलता है।

अस्तु, इस प्रकार भिन्न भिन्न देवताओंके अनेकानेक मन्दिर देशभरमें बन गये। मूर्ति-पूजाकी पद्धति बनानेमें आर्यों-अनार्योंने परस्पर सहायता की। साधारणतया शिव, विष्णु, और आदित्य आर्योंके तथा शक्ति और गणेश अनार्योंके उपास्य देवता थे। पञ्चायतनके अतिरिक्त टेढ़े मेढ़े पत्थरों, वृक्षों, और नागोंकी भी पूजा की जाती थी। भारत-वर्षकी दार्शनिक उन्नति देखते हुए यहाँके लोगोंकी मूर्ति-पूजापर श्रद्धा, किंबहुना अन्धश्रद्धा, कैसे जमी, इसपर आश्चर्य होता है। मूर्तियोंके द्वारा चित्त ईश्वरमें निश्चल रूपसे लगाया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं और इसी विचारसे चिन्तनमें सहायता पानेके लिए मूर्तियोंका उपयोग भी है; परन्तु इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि मूर्तियाँ साधन मात्र हैं; मुख्य उपास्य नहीं और न उनमें किसी-का भला-बुरा करनेकी अपनी निजकी शक्ति ही है। मूर्तियों द्वारा भक्ति-भाव दृढ़ किया जा सकता है। अलौकिक इच्छा शक्ति अथवा चमत्कार दिखानेकी सामर्थ्य मानवी श्रद्धा अथवा तपमें हुआ करती है मूर्तियोंमें कोई जादू नहीं भरा है। यह सब जानते हुए भी मूर्तियोंपर उस समयके लोगोंकी अपार श्रद्धा थी, जिससे कभी कभी राष्ट्रको हार भी खानी पड़ती थी। किसी मूर्तिमें मन्त्रोंद्वारा प्राणप्रतिष्ठा करनेपर ही उसे देवत्व प्राप्त होता है। बाजारसे गणेश आदिकी जो मूर्तियाँ हम ख़रीद लाते हैं, उनमें देवत्व नहीं होता। विधिपूर्वक किसी मूर्तिकी स्थापना होनेपर उसमें देवताकी भावना की जाती है। काम हो जाने या ज़रूरत पड़नेपर मूर्तिमें देवताके

आवाहनकी तरह हम उसका विसर्जन भी कर देते और मूर्तिको जलाशयमें पधरा आते हैं। सारांश, उपासनामें मूर्तिका नहीं, आवाहन-विसर्जनादि विधियोंका महत्व है। मुलतानके सूर्यदेवका विधिपूर्वक विसर्जन किया जा सकता था। फिर उस मूर्तिका साधारण पाषाण या काष्ठसे अधिक महत्व नहीं रह जाता। उसे मुसलमान तोड़ भी डालते, तो कुछ नहीं बिगड़ता था। मुलतानपर विजय पाने पर फिर नयी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कर ली जाती। परन्तु अन्ध श्रद्धाके कारण शक्तिशाली हिन्दू मुलतानपर अधिकार न कर सके। हम वर्तमान नवयुगमें बढ़ रहे हैं। हमें उस समयके हिन्दुओंकी अन्धश्रद्धापर दया आना स्वाभाविक है। मूर्तिपूजा सम्बन्धी भ्रान्त श्रद्धाके कारण हिन्दुस्थानका कैसा ह्रास हो चला, इसका इतिहास अगले भागमें दिया जायगा। अतः यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

उस समय भारतमें छोटे बड़े असंख्य मन्दिर बन गये। स्कन्दपुराणके नागर खण्ड (अध्याय १०७) में भारतके ६८ शिवलिंगोंका वर्णन है। उनमें नेपाल, कालिंजर, प्रभास और उज्जैनके शिवलिंगोंका भी समावेश हुआ है। मुलतानके सूर्य-मन्दिरके अतिरिक्त विष्णुके भी बहुतसे देवालय थे। कांगड़ाकी ज्वालामुखी देवी और मिर्जापुरकी विन्ध्यवासिनीका भी वर्णन देख पड़ता है। सब देवताओंमें काशीके विश्वनाथका मन्दिर श्रेष्ठ माना गया है। (काशीके प्रधान मन्दिरके देवताका नाम विश्वनाथ है, परन्तु स्कन्दपुराणमें 'महादेव' ही लिखा है।)

विभिन्न देवताओंके मन्दिरोंकी स्थापना होनेपर उन देवताओंकी पूजा-अर्चाकी नयी नयी पद्धतियाँ भी बनीं। भिन्न

भिन्न देवताओंके आवाहन-अर्चन आदिकी प्रणालियाँ भी भिन्न भिन्न हों, ऐसी मनुष्यकी प्रवृत्ति होती ही है और देवताओंके अधिकार भिन्न भिन्न मान लेनेपर उनकी आराधनाके फलोंका भी विभिन्न होना स्वाभाविक है। ऐसे विस्तृत ग्रन्थ भी जिनमें उपासनाप्रणालीका सांगोपांग वर्णन किया गया है, उस समय रचे जाने लगे थे। उन ग्रन्थोंको 'आगम' कहते थे और हर-एक देवताके उपासक उन्हें प्रमाण मानते थे। कभी कभी तो वेदोंसे भी उन ग्रन्थोंका प्रामाण्य अधिक महत्वका माना जाता था। आगम ग्रन्थोंसे ही आगे चल कर पन्थोंमें परस्पर दुराग्रह और दुरभिमान बढ़ने लगा। सर्वत्र आगमोंका अध्ययन आरम्भ हुआ और जो आगमोंके विशेषज्ञ होते, उनका समाज-में आदर होने लगा। ऐसे विशेषज्ञोंमें ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्र अधिक थे। आगमोंका प्रचार आरम्भ होनेपर तपस्याका भी महत्व बढ़ा। आगमानुसार आर्य और अनार्य दोनों तपस्या कर सकते थे। प्राचीन कालमें तपस्या और संन्यासका अधिकार केवल आर्योंको ही था; किन्तु बौद्ध और जैन धर्मके प्रसारके पश्चात् अनार्य भी तपस्या करने लगे। बौद्ध धर्मका ह्रास होनेके बाद भी तपस्याका प्रसार सर्वत्र हो रहा था। अन्तर इतना ही था कि अनार्य वेदानुमत संन्यास ग्रहण नहीं कर सकते थे; न तपस्या ही कर सकते थे; किन्तु विभिन्न देवताओंके आगमोंके अनुसार तपस्या करनेमें वे स्वतन्त्र थे। अनार्योंमें शिवोपासकोंकी संख्या अधिक थी। वे लोग मठोंमें रह कर कठोर तपस्या करते थे। शिवागममें अत्यन्त विकट व्रत कहे गये हैं। अनार्य लोग, शरीर सबल होनेके कारण, उनका आचरण अनायास करते थे। आर्य ब्राह्मणोंके लिए उन व्रतोंका पालन करना कष्टकर ही था। अस्तु, सारे देशमें

तपस्या करनेवाले यती दिखाई देने लगे। वे नगरों, कसबों तथा जंगलोंमें भी देख पड़ते थे। सुलेमानने मुलतानके बाजारके एक तपस्वीका वर्णन लिख रखा है। वह दिन भर सूर्यकी ओर दृष्टि कर खड़ा रहता था और सोलह वर्षसे उसका यह व्रत अखण्ड रूपसे निभ रहा था। उसे कभी सूर्यके उत्तापकी पीड़ा नहीं हुई। जंगलोंमें बसे हुए तपस्वियोंका वर्णन सुलेमान ने इस प्रकार किया है—"जंगलोंके तपस्वी अपना सारा समय गिरिकन्दराओंमें बिताते हैं। उन्हें एकान्तवास प्रिय होता है और सर्वसाधारणसे वे सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते। वे प्रायः कन्दमूल खाते हैं और कोई कोई तो नग्न अवस्थामें रहते हैं।" (इलियट भाग १)

इन तपस्वियोंमें भी विभिन्न आगमोंके अनुसार साम्प्रदायिक भेद हुआ करते थे। आगम ग्रन्थ—विशेषतया पाँच रात्र आगम–महाभारतके समयमें भी प्रचलित थे। पर उसका महत्व इसी समयमें (ई० सन् ८००-१०००) बढ़ा। पाँचरात्र आगमके पश्चात् वैष्णवागम ग्रंथोंका निर्माण हुआ। उस समय पंचायतन देवताओंके आगमोंका विशेष प्रचार था। शिवागमकी तरह सौरागम और गणेशागमकी तरह देवी आगमके भी ग्रन्थ बने। इन आगमोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर तत्कालीन धार्मिक मतोंका ज्ञान हो सकता है। परन्तु यह काम बहुत परिश्रमका है और इसका वर्णन करने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही चाहिये।

आजकल अग्निहोत्री बहुत ही थोड़े देख पड़ते हैं, परन्तु उस समय नगरों और ग्रामोंमें वे अच्छी संख्यामें थे। अग्नि-की उपासना ब्राह्मणोंकी तरह क्षत्रियोंमें भी प्रचलित थी। सुलेमानने भी अग्निहोत्रादिका वर्णन किया है; किन्तु उस

समय शिव, विष्णु आदिके अर्चनका प्रसार विशेष रूपसे हो रहा था, इस कारण अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म पिछड़ रहे थे। उनके पिछड़नेका और भी एक कारण है। शालग्राम आदिकी पूजाकी विधि जितनी सुलभ है, उतनी अग्निहोत्र की नहीं है। अग्निहोत्र कष्टकर है और अग्निहोत्रीके लिए नियम भी कड़े बनाये गये हैं। इस कारण अग्निहोत्रियोंकी संख्या घटती गयी। इसके अनन्तरके स्मृति आदि ग्रन्थोंमें तो अग्निहोत्र कलिवर्ज्य ही माना गया है।

कभी कभी यज्ञादि कर्म होते थे और उनके प्रति लोगोंका आदर भी था; किन्तु साक्षात् पशुके बदले पीठीके पशुके यज्ञ की रीति चल गयी थी। राजन्यगण किसी महत्वके अवसरपर याग कराते और ब्राह्मणोंको विपुल सम्पति प्रदान करते थे। दानपत्रादिसे ज्ञात होता है कि बड़े बड़े राजा पर्व-स्नान, शिवाराधन, यज्ञ आदिके अवसरपर ब्राह्मणोंको ग्राम आदि दानमें देते थे। कभी कभी जैन मन्दिरोंको भी धन दिया जाता था, परन्तु उस समय भी वैदिक विधियोंकी ही प्रधानता रहती थी। आश्चर्य इस बातका है कि वैदिक विधि-योंको जैन भी मानते थे। इससे प्रतीत होता है कि तब वेदोंमें सभीकी परम श्रद्धा थी, चाहे किसीके नित्यके आचार वैदिक धर्मसे कितने ही भिन्न क्यों न हों। आगम ग्रन्थोंके विशेष प्रचारसे मूर्तिपूजाका भी अत्यन्त प्रचार हुआ और घर घर शालग्राम तथा बाण (शिवलिङ्ग) पूजे जाने लगे। सन्ध्या गायत्रीकी विधि सर्वत्र प्रचलित थी; आजकलकी तरह उस का लोप नहीं हुआ था। यज्ञोपवीत, विवाह, पितृतर्पण, श्राद्ध आदि भी वेदोक्त रीतिसे ही हुआ करते थे। केवल श्राद्ध-प्रसंगमें मांस वर्ज्य माना जाने लगा था। ब्राह्मणोंके लिए तो

सभी प्रसंगोंमें मांस भक्षण निषिद्ध था। श्राद्ध प्रसंगमें क्षत्रियोंके लिए मांसका निषेध नहीं था।

अरब लेखकोंको हिन्दुओंकी पुनर्जन्मादिकी दृढ़ भावनाओंसे बड़ा आश्चर्य होता था। पुनर्जन्म तथा कर्म फल-भोगकी कल्पना किसी देशमें प्रचलित नहीं है। यह कहा जा सकता है कि भारतके तत्वज्ञानकी यह एक बड़ी विशेषता है। पुनर्जन्मकी कल्पना आर्य साहित्यमें अति प्राचीन कालसे पायी जाती है। वेदोंमें भी इस कल्पनाका परिपोष हुआ है। मरणके पश्चात् जीव अपने कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण कर कर्मफलका भोग करता है। वर्तमान जन्म पूर्व जन्मका ही परिणाम (विपाक) है और इस जन्ममें हम जैसे कर्म करेंगे, उन्हींके अनुसार मनुष्य, पशु, कीट, वृक्ष या ऐसी ही किसी अन्य योनिमें हमारा जन्म होगा। पूर्व जन्मकी कल्पनाका यही रूप है और यह कल्पना सब हिन्दू तत्वज्ञानियोंको मान्य है; चाहे वह द्वैती हो या अद्वैती। बौद्ध और जैन धर्ममें भी यह कल्पना देख पड़ती है। चार्वाक पंथी लोगोंके अतिरिक्त सब हिन्दू तत्वज्ञानियोंने इस कल्पनाके आधारपर उदात्त नीति तत्वोंका समाजमें प्रचार किया और समस्त समाजका नैतिक लक्ष्य अति उच्च बनाया। अपने दुराचारके फल आज नहीं कल, कल नहीं तो अगले जन्ममें अवश्य भोगने पड़ेंगे, इस दृढ़ भावनासे सभी लोग अपना नैतिक आचरण विशुद्ध रखनेका प्रयत्न किया करते थे। यह कहनेमें अत्युक्ति न होगी कि इसी विश्वासके कारण हिन्दुओंकी नीतिमत्ता संसारके सब लोगोंसे श्रेष्ठ थी। पहिले कहा जा चुका है कि हिन्दुओंकी सचाई और न्यायप्रियताके सम्बन्धमें अरबी व्यापारियोंकी बड़ी श्रद्धा थी।

मद्यपानका प्रचार हिन्दू समाजमें प्राचीन कालसे ही बहुत थोड़ा था। उस समयका ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे ब्राह्मणोंका मद्यपान सिद्ध किया जा सके। अति प्राचीन कालसे मद्यपानको ब्राह्मणगण महापातक समझते आये हैं और शास्त्रोंमें भी ऐसी ही आज्ञा है। (नित्यं सुरा ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मण यदि सुरापान करे, तो उसके लिए बड़ा कड़ा प्रायश्चित्त बताया गया है। वेदोंकी आज्ञा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों सुरापान न करें (तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्)। उस समय ब्राह्मणोंकी तरह सभी जातियाँ मद्यपान नहीं करती थीं, यह नहीं कहा जा सकता। क्षत्रियोंमें मद्यपानकी थोड़ी बहुत प्रथा थी। परन्तु वे बहुत ही मित पान किया करते थे। क्षत्रियोंमें भी राजन्यगण तो प्रायः मद्य नहीं पीते थे। अमित सम्पत्ति और पूर्ण सत्ता होते हुए भी विषयाधीन न होना एक प्रकारकी तपस्या है। भारतके राजा इस तपस्यामें परायण थे, यह भारतीय इतिहासके लिए गौरवकी बात है। अरबी लेखकोंने लिखा है कि मेवाड़के गुहिलोत घरानेमें सुरापान निषिद्ध माना गया है। वैश्योंमें भी मद्यपानकी प्रथा संभवतः अति अल्प मात्रामें थी। शूद्रोंमें कुछ प्रचार अवश्य था, क्योंकि शिलालेखोंमें लिखा है कि राज्यकी आय बढ़ानेमें मद्यकी आय विशेष सहायक है। परन्तु द्विजोंके आचारोंका शूद्रोंपर भी परिणाम होता था और वे मद्यको त्यागते जाते थे।

मद्यपानकी अपेक्षा मांस-भक्षणका प्रचार अधिक था। वैश्यों और शूद्रोंमें बौद्ध धर्मका अधिक प्रचार होनेके कारण उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया था। बहुतसे ब्राह्मणों और

क्षत्रियोंने भी अहिंसा सिद्धान्तके अनुसार मांस त्याग दिया था; परन्तु ऐसोंकी संख्या थोड़ी थी। वेदोंने मांस-भक्षण निषिद्ध नहीं माना है किन्तु कुछ प्राणियोंके मांसभक्षणका निषेध किया है। उस समय बौद्ध धर्म द्वारा नष्ट की गयी वेदोंके प्रति श्रद्धा फिर जागृत हुई और बौद्धजैनों द्वारा निन्दित श्राद्धादि कर्मोंका फिर प्रचार हुआ। श्राद्ध प्रसङ्गमें मांसान्न पकानेकी स्मृतिकी आज्ञा होनेके कारण उस प्रसङ्गमें पितृ-तर्पणके लिए फिर मांस पकाया जाने लगा। स्मृतियोंमें लिखा है कि श्राद्धके लिए पकाये हुए मांसका जो ब्राह्मण स्वीकार नहीं करता, उसे दुर्गति प्राप्त होती है। इसके अति-रिक्त ऐसे भी स्मृतिवचन हैं कि यज्ञके अतिरिक्त मृगया विधिसे यदि क्षत्रिय पशुवध करे, तो उसका मांस वैश्य मोल ले सकता है; किन्तु यज्ञके अतिरिक्त ब्राह्मण कदापि हिंसा न करे। सारांश, मद्यपानकी अपेक्षा मांस भक्षणका प्रचार ब्राह्मण-क्षत्रियोंमें अधिक और वैश्य आदिमें कम था। आगे चलकर कुछ ब्राह्मणोंने मांस खाना छोड़ दिया। तो भी बहुतसे ब्राह्मण मांस खाते ही थे और अब भी खाते हैं। ब्राह्मणोंमें जो अनेक भेद हो गये, उसके अनेक कारणोंमेंसे मांस भक्षणका त्याग और स्वीकार, भी एक कारण है। कुछ ब्राह्मणोंने मांस खाना एक दम छोड़ दिया, इसका कारण जैन धर्मकी वृद्धि है। उस समयसे पहिले ही जैन धर्मका उदय हो चुका था, परन्तु उसका विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ था। मध्ययुगमें दक्षिणके वैश्योंमें उसका कुछ कुछ प्रचार हो चला था। वैश्य लोग स्वभावतः हिंसा पसन्द नहीं करते, इससे उनका अहिंसा-प्रधान धर्मको स्वीकार कर लेना स्वा-भाविक है। वैश्योंकी तरह दक्षिणके खेतिहरोंमें भी जैन धर्म-

का बीजारोपण हो गया था। कुछ राष्ट्रकूट राजा भी जैन साधुओंके भक्त बन गये थे। आगे चलकर जैनाचार्य संस्कृत भाषामें ही पूर्व मीमांसकोंसे शास्त्रार्थ कर उन्हें हराने लगे। मध्ययुगके अन्तिम भाग (सन् १००० से १२००) में जैन पण्डितोंकी संस्कृत भाषाकी प्रवीणताके सम्बन्धमें विशेष प्रसिद्धि हो चली थी और उस समयका सुविख्यात जैन पण्डित हेमचन्द्र कुमारपालका राजगुरु हो गया था। मध्य-युग (ई० सन् ८००-१०००) में गुजरातमें जैनमतका प्रचार होने के प्रमाण नहीं मिलते। तत्कालीन गुजरातके लेखोंमें शिवजीका महत्व वर्णित है। हमारे मतसे जैनमतका प्रचार पहले दक्षिणमें हुआ और वहांसे ई० सन् ८०० से १२०० (वि० ८५७-१२५७) के बीचके वह गुजराततक फैला।

उस समयकी एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि तब सर्वत्र शिवकी उपासना प्रचलित थी। उस समय जो राजपूत वंश स्थापित होकर वैभवके शिखरपर आरूढ़ हुए, वे सभी परम शिवोपासक थे। गुहिलोत, चाहमान और राष्ट्रकूट वंशोंमें शिवोपासना प्रचलित थी। जैन ग्रन्थोंमें यद्यपि लिखा है कि चावड़ा वंशकी प्रवृत्ति जैन धर्मकी ओर थी, तथापि चावड़ोंमें शिवोपासनाका ही प्राबल्य था। परमार, हैहय तथा चन्देल भी शिवभक्त थे। इन्होंने ऐसे भव्य शिवमन्दिर बनवाये हैं, जिनको देखकर आज भी आश्चर्यचकित होजाना पड़ता है। बंगालके पालवंशकी बौद्ध धर्मकी ओर विशेष प्रवृत्ति थी, परन्तु पालराजाओंने शिवमन्दिरोंके लिए भी बहुत धन व्यय किया था। कन्नौजके प्रतिहार केवल शिवभक्त ही नहीं थे बल्कि उनमेंसे कोई परम शैव, तो कोई परम वैष्णव और कोई परम शाक्त था, परन्तु साधारणतया शिवोपासना

सर्वत्र प्रचलित थी, इसमें सन्देह नहीं। स्वभावतः अब यह प्रश्न उठता है कि इसका कारण क्या था? इस सम्बन्धमें यह अनुमान किया जा सकता है कि शिवोपासनामें कठोरता तथा धर्म भावनाकी तीव्रता परिपुष्ट होती होगी और इसीसे शिव-भक्तोंको मुसलमानोंसे लड़ने-झगड़नेकी शक्ति प्राप्त होती होगी।

किस देवताकी उपासनाका क्या फल है, इसका विचार करते बैठना व्यर्थ है। इतना कह देना आवश्यक है कि हिन्दुस्थानमें शिवोपासनाका महत्व अति प्राचीन कालसे है। पर उस समय शिवोपासनाका स्वरूप भिन्न था। लिङ्ग-पूजा प्राचीन कालसे प्रचलित थी। पहिले वह अनार्य लोगोंमें प्रचलित थी, फिर आर्योंमें प्रचलित हुई होगी। लिङ्गपूजा जैसी उपहासास्पद प्रणाली आर्योंमें कैसे प्रचलित हुई, यह आश्चर्यकी बात है। आर्योंने शिवोपासनाका पहिलेका घृणित रूप बदल कर उसे उदात्त बनाया। उन्होंने शिव और वेद-देवता रुद्रको एक माना। वेदोंमें रुद्र-देवताका बड़ा महत्त्व है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में तो शिवको परब्रह्म ही कहा है। महाभारत कालमें पशुपतिके महत्वदर्शक स्वतन्त्र दर्शन प्रचारमें थे। मध्ययुगमें लकुलीशके बनाये आगमका सर्वत्र प्रचार था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शंकराचार्यने ही शिवोपासना चलायी। वह अति प्राचीन कालसे प्रचलित है। शंकराचार्यको लकुलीश का मत पसन्द नहीं था और सिद्धान्तकी दृष्टिसे अन्य देवताओंकी उपासनाका भी उन्हें विशेष महत्व प्रतीत नहीं होता था। उन्होंने अपने भाष्यमें इन सब मतोंका खण्डन किया है, पर लोकमतानुसार पंचायतन पूजाका स्वीकार भी किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके पश्चात् लिङ्गपूजाका महत्त्व विशेष रूपसे बढ़ा; क्योंकि उनके सम्प्रदायमें अबतक शिवो-

पासनाको प्रधानता है। इससे जान पड़ता है कि तत्कालीन लिङ्गपूजापर शंकराचार्यके तत्वज्ञानका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। कुमारिलका कर्म-सम्प्रदाय पिछड़ ही गया था, उसका प्रभाव ही क्या पड़ता? किन्तु इससे कुमारिलके पुरुषार्थकी योग्यतामें कोई न्यूनता नहीं आती। शंकराचार्य और कुमारिल भट्टके तत्वज्ञानका यहाँ विस्तृत विवेचन करना आवश्यक था; किन्तु यह विषय इतने महत्व और उलझनका है कि इसका विचार स्वतन्त्र टिप्पणीमें ही करना उचित है।

टिप्पणी—कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य।

प्रचलित हिन्दू धर्मके आद्य प्रवर्तक और अपनी लोकोत्तर बुद्धिमत्तासे संसारके इतिहास-गगनमें सूर्यके समान दैदीप्यमान इन दो विभूतियोंके चरित्रोंका अवगाहन किये बिना मध्ययुगीन समयका इतिहास पूर्ण नहीं कहा जा सकता। आर्यधर्मपर बौद्धोंने जो प्रचण्ड आक्रमण किया था, उसे इन विभूतियोंने ही विफल किया। कुमारिलने वर्तमान हिन्दूधर्मकी नींव डाली और शंकरने उसपर सुन्दर इमारत खड़ी की। बिखरे हुए समाजको संघटित कर आर्यधर्मका अद्वितीय तत्वज्ञानके साथ मेल मिलानेका अत्यन्त विकट कार्य उक्त दोनों व्यक्तियोंने किया, इसमें किसीको सन्देह नहीं।

आश्चर्य इस बातका है कि कुमारिल और शंकराचार्यके चरित्रोंके सम्बन्धकी बहुत ही थोड़ी बातें ज्ञात हुई हैं। यहाँतक कि उनके समयका भी अबतक कुछ निश्चय नहीं किया जा सका है। कुछ ऐतिहासिक तत्वान्वेषकोंके मतसे दोनोंका जन्म ईसासे एक शताब्दी पूर्व हुआ था किन्तु हुएनसंगके यहाँ आनेके बाद ही वे हुए होंगे, यह सम्भवतः कोई भी अस्वीकार न करेगा। हुएनसंग बौद्ध धर्मका कट्टर अनुयायी और साहसी प्रचारक था। उसके यहाँ आनेसे पहिले यदि शंकराचार्य हुए होते, तो उनका उल्लेख उसने

अपने लेखमें अवश्य ही किया होता। परन्तु उसके लेखमें उनका कहीं उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्यके पश्चात् हुएनसंगकी बातें कोई न सुनता। अतः यह स्पष्ट है कि हुएनसंगके पश्चात् ही शंकराचार्यका आविर्भाव हुआ था। शंकराचार्य आदिके समय और चरित्रोंकी रूपरेखा निश्चित करना इस कारण भी कठिन हो गया है कि कुमारिल तथा शंकराचार्यके बहुविध ग्रन्थ उपलब्ध होनेपर भी उनमें उन्होंने अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। वे अपने मतके प्रतिपादन और उसकी मीमांसा करनेमें इतने रंग गये थे कि प्रतिपाद्य विषयके अतिरिक्त उनके लेखोंमें अन्य सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक परिस्थितिकी कहीं गन्ध तक नहीं मिलती। इसीसे उनके समय अथवा उस समयकी परिस्थितिका विवेचन करना कठिन हो गया है। यद्यपि शंकराचार्यने लोकमतमें कल्पनातीत क्रान्ति उत्पन्न कर दी और विद्वानोंमें उनके ग्रन्थोंकी निरन्तर चर्चा होने लगी, फिर भी उनके चरित्र-निर्देशक तत्कालीन शिलालेख आदि आज उपलब्ध नहीं हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि शंकराचार्यने समग्र भारतमें यात्रा कर तथा अनेक पण्डितोंसे विवाद कर दिग्विजय प्राप्त की, परन्तु इस बातके लिए उस समयके ग्रन्थों अथवा ताम्रपटोंका आधार नहीं है। अतः उनके चरित्र और पुरुषार्थका विश्वसनीय परिचय करा देना सभीके लिए कठिन है। फिर भी उनका पुरुषार्थ असामान्य होनेके कारण उनके जुदे जुदे ग्रन्थोंसे जो कुछ मसाला मिला, उसे एकत्र कर और उनके सम्बन्धकी दन्तकथाओंका संशोधन कर दोनों अद्वितीय महापुरुषोंकी चरित्र सम्बन्धी ऐसी बातें जो साधारणतया सत्यकी कसौटीपर कसी जा सकें, जिज्ञासु पाठकोंके निकट हम निवेदन करना चाहते हैं।

बौद्धमतका खण्डन कर वैदिक मतकी पुनः स्थापना कुमारिल भट्टने की और यही उनका सबसे महत्वका कार्य है। साधारण लोगोंकी धारणा है कि वैदिक धर्मके पुनरुज्जीवनका कार्य शंकराचार्यने किया; परन्तु इतिहासका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर यही जान पड़ेगा कि इसका श्रेय कुमारिलभट्टको दिया जाना चाहिये। शंकर दिग्विजयसे भी यही सिद्ध होता है। शांकर दिग्विजयमें शंकराचार्य और कुमारिल भट्टकी भेंटका इस

प्रकार वर्णन है कि कुमारिलने अन्त समयमें स्वयं चिता रचकर अपनी देह अग्निको समर्पण की । उसी समय उनसे शंकराचार्यकी भेंट हुई । उस समय शंकराचार्यने इन शब्दोंमें उनकी स्तुति की—

"श्रुत्यर्थधर्मविमुखान् सुगतान् निहन्तुं ।
जातं गुहं भुवि भवन्तमहं नु जाने ॥"

"वैदिक धर्मोच्छेदक पाखण्डी बौद्धोंका विनाश करनेवाले आप साक्षात् गुह (कार्तिकेय) के अवतार हैं, यह मैं जानता हूँ ।" इस स्तुतिमें भी व्याजोक्ति है । शंकराचार्य शंकर अर्थात् कार्तिकेयके पिताके अवतार माने जाते हैं । अतः कार्तिकेय (कुमारिल) के मतका खण्डन करना शंकर (शंकराचार्य) के लिए सुलभ हुआ, इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं । व्याजोक्तिको छोड़ कर इस श्लोकके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्मकी पराजय कुमारिल भट्टने ही की थी । हर्षके समयमें ही बौद्ध धर्मका ह्रास हो चला था । परन्तु हर्षके समयमें बुझते हुए दीपककी तरह बौद्ध धर्मकी ज्योति अधिक प्रकाशमान हो गयी थी । कुमारिल भट्टने यह ज्योति बुझा दी और शंकराचार्यके पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिए भूमि तैयार कर दी । वेदों और वेदोक्त श्राद्धादिक कर्मों परसे जनताकी जो श्रद्धा उठ गयी थी, वह कुमारिलने पुनः प्रस्थापित की । अतः कुमारिल भट्टका उदय हर्षके पश्चात् हुआ था और संशोधकोंके मतसे भी कुमारिलका काल ई० स० ७०० (वि० ७५७) के लगभग स्थिर हो चुका है ।

हमारे विचारसे ई० स० ७०० (वि० ७५७) कुमारिलके देहावसानका काल है । कुमारिलसे शंकराचार्यकी अन्त समयमें भेंट हुई थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । यही नहीं, कुमारिल और शंकराचार्यके समयमें एक शताब्दीका अन्तर है । कालिदास और भवभूतिकी भेंट अथवा विक्रम और शालिवाहनके युद्धकी तरह शंकराचार्य और कुमारिल भट्टका मिलन भी काल्पनिक है । ऐसा एक प्रमाण और मिलता है जिससे कुमारिलके समयका निश्चय किया जा सकता है । शंकर पाण्डुरंग पण्डितको उत्तर रामचरितकी एक प्राचीन प्रति उपलब्ध हुई है । उसके अन्तमें लिखा

है कि भवभूति कुमारिलका शिष्य था। इससे पण्डितजीने अनुमान किया है कि वह कुमारिल प्रसिद्ध कुमारिल भट्ट ही है। राजतरङ्गिणीमें लिखा है कि कन्नौजके यशोवर्माकी सभामें भवभूति कवि था। यशोवर्माका समय ई० स० ७०० (वि० ७५७) है। कुमारिल इससे कुछ वर्ष पहिले ही हुआ होगा। अतः ई० स० ७०० (वि० ७५७) कुमारिलके देहावसानका ही काल माना जा सकता है।

कुमारिलके समयका यह संक्षिप्त विचार हुआ। उनका देश कौनसा था, अब इसका विचार करना उचित होगा। कुछ लोगोंके मतसे ये आसामी ब्राह्मण और कुछ लोगोंके मतसे द्रविड-ब्राह्मण थे। हमारे मतसे वे आर्यावर्तके ही निवासी थे, क्योंकि उन्होंने अपने तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थमें आर्यावर्तके प्रति विशेष आदर प्रदर्शित किया है और अन्य प्रान्तोंके लोगोंको म्लेच्छ कह कर निन्दा की है। यदि कुमारिल आसामी या द्रविड-ब्राह्मण होते, तो वे केवल आर्यावर्तकी स्तुति और अन्य प्रान्तोंकी निन्दा न करते।* कहीं कहीं उन्होंने लिखा है कि द्राविडी भाषाके अनेक शब्द संस्कृतसे बने हैं। यथा—चोर = भात, ततर = रास्ता, वैर = पेट इत्यादि, परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे द्राविडी भाषा-भाषी थे या उस भाषाके अभिमानी थे। सम्भव है, संस्कृतके अतिरिक्त वे और भी कई भाषाएं जानते हों। द्रविड और कानडी पण्डितोंने संस्कृतसे अपनी भाषाओंकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका कई बार प्रयत्न किया है। परन्तु कुमारिलने द्राविडी भाषाकी गणना अनार्य भाषाओंमें ही की है

द्राविडी भाषाके अतिरिक्त फ़ारसी, बर्बर, यवन, रोमक आदि भाषाओंका उल्लेख भी कुमारिलने किया है। इससे प्रतीत होता है कि इनका काल ईसाकी आठवीं शताब्दी (वि० ७५७-८५८) से पूर्व है। क्योंकि ईसाकी सातवीं शताब्दीके पश्चात् भारतसे इन भाषाओं [illegible] नहीं थीं। आठवीं शताब्दी ई० से पहिले बौद्ध धर्मका विशेष अध्ययन करने के लिए अथवा यात्राके निमित्त, हुएनसंग जैसे बौद्ध धर्मानुयायी विविध

---

* हिमवद्विन्ध्यान्तरालकृष्णमृगचरणादुपलक्षित आर्यावर्तनिवासि व्यतिरिक्त बर्बरादि भाषागत म्लेच्छत्वसमानाधिकरणापशब्द। इत्यादि।

देशोंसे भारतमें आते थे। वे अपनी अपनी भाषाएं बोलते थे और यहाँ बौद्ध-भिक्षु भी बड़ी संख्यामें थे; इस कारण अनेक भाषाएँ प्रचलित हो गयी थीं। उस समय दुभाषिये भी बहुत थे, जिनका उल्लेख कुमारिलने किया है (म्लेच्छैरवगतं पश्चादार्यैं द्वैभाषिकैः क्वचित्) कुमारिलने लिखा है कि फ़ारसी भाषामें 'पीलू' शब्दका अर्थ 'हाथी' है, परन्तु संस्कृतमें 'पीलू' एक वृक्षका नाम है (यथा पील्वादि शब्दानां वृक्ष हस्त्यादि बोधने समा विप्रतिपत्तिः स्यादार्यम्लेच्छादि बोधने) कुमारिलका कथन ठीक भी है। क्योंकि फारसीमें 'फील' शब्दका अर्थ 'हाथी' ही है। इस बात से यह अवश्य ही सिद्ध होता है कि उस समय भारतमें फारसी भाषा काफी प्रचलित थी।

एक आख्यायिका प्रसिद्ध है कि कुमारिल भट्टने कपट वेष धारण कर बौद्ध भिक्षुओंसे बुद्धमतका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था और इस प्रवञ्चना अथवा छद्माचारका प्रायश्चित्त उन्होंने अपनी देह अग्निमें समर्पण कर किया था। इस आख्यायिकामें कुछ सत्यांश है और कुछ असत्यांश भी। कुमारिलने बौद्धधर्मका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन अवश्य किया होगा, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने छद्मवेश और छद्मधर्मका भी स्वीकार कर लिया था। बौद्ध धर्ममें जातिभेद नहीं माना जाता, हरएक मनुष्य बौद्ध-धर्ममें समाविष्ट हो सकता है, हिन्दू धर्ममें नहीं हो सकता। बौद्ध अथवा ईसाई धर्म स्वीकार करनेमें किसीको कोई रुकावट नहीं है। उस समय कितने ही ब्राह्मण और क्षत्रिय बौद्ध हो जाते और उन्हें बौद्धभिक्षु अपने सिद्धान्त समझा देते थे। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्णकी तरह कुमारिलने अपना धर्म छिपाकर बौद्ध गुरुसे प्रवञ्चना की थी? अतः यह मत भी भ्रमात्मक है कि प्रवञ्चनाके पातककी निष्कृतिके लिए उन्होंने अपनी देह अग्निको अर्पण कर दी थी। उस समय इस प्रकार जीर्ण देहको अग्निमें समर्पण करनेकी प्रथा प्रचलित थी। आगे चलकर यह प्रथा उठ गयी और कुमारिलके देहत्यागका लोगोंको आश्चर्य प्रतीत होने लगा। इसीसे उन्होंने अपने सन्तोषके लिए उक्त आख्यायिका गढ़ डाली। *

---

* कुमारिल और शबरने फारसीके कुछ ऐसे शब्द बताये हैं, जो

कुमारिल महाराष्ट्रीय अथवा दाक्षिणात्य नहीं थे, इसके और भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। दाक्षिणात्योंमें मामाकी बेटीसे विवाह कर लेते हैं। अन्य प्रान्तोंमें ऐसा विवाह निषिद्ध माना जाता है। मराठोंकी उत्पत्ति सोमवंशी यादवोंसे हुई है। यादवोंमें उक्त रीति प्रचलित थी, यह तो सर्व विश्रुत है। कुमारिल दाक्षिणात्य होते, तो इस रूढ़िकी निन्दा न करते। वे लिखते हैं:- "स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति।" इस श्लोकार्धमें 'तुष्यति' शब्द निन्दाव्यञ्जक है। इससे स्पष्ट है कि वे दाक्षिणात्य नहीं थे।

दक्षिणमें एक ही वस्त्र स्त्रियाँ पहिनती हैं। उत्तर भारतमें दो वस्त्र—साड़ी या लहंगा और ओढ़नी—पहिननेकी प्रथा है। इसी प्रथाके अनुसार कुमारिलने वर्णन किया है—"अन्तरीयोत्तरीये हि योषितामिव वाससी।" इससे ज्ञात होता है कि कुमारिलके देशमें स्त्रियां दो वस्त्र धारण करती थीं, अतः उन्हें दाक्षिणात्य न मान कर आर्यावर्त-निवासी मानना ही उचित है।

इसके अतिरिक्त कुमारिलके दाक्षिणात्य न होनेका एक यह भी प्रमाण है कि उनके देशमें ब्राह्मण क्षत्रिय मांस मछली खाते थे। वे लिखते हैं:—

"पशुहिंसादि सम्बन्धे यज्ञे तुष्यन्ति हि द्विजाः।
तेभ्य एवहि यज्ञेभ्य शाक्याः क्रुद्ध्यन्ति पीड़या॥"

यज्ञादि सम्बन्धी पशुहिंसासे ब्राह्मण तो सन्तुष्ट होते हैं पर बौद्ध धर्मानुयायियोंको इससे दुःख होता है और वे क्रुद्ध हो जाते हैं। इस कालसे बहुत पूर्व ही महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंने हिंसा-प्रधान यज्ञ कर्मोंका त्याग कर दिया था। यज्ञमें भी वे हिंसा नहीं करते थे। परन्तु उत्तर भारतके ब्राह्मणोंने मांस खाना नहीं छोड़ा था। अब भी दक्षिणके और उत्तरके ब्राह्मणोंके आचारोंमें यही अन्तर है। इससे भी सिद्ध है कि कुमारिल दाक्षिणात्य नहीं थे।

संस्कृतमें प्रचलित हो गये हैं। आश्चर्य है कि दोनोंके बताये हुए शब्द एक ही हैं। यथा। पिक--कोयल, नेमि--आधा, तामरस--कमल, सत--कठौता इत्यादि। इनमें नेमि शब्द फारसी है। पिक और तामरस तो मूल संस्कृत के ही जान पड़ते हैं। सत शब्द किस भाषाका है, कहा नहीं जा सकता।

कुमारिलने मीमांसा शास्त्रका जो ग्रन्थ लिखा है, उसके परीक्षणसे जितनी बातें ज्ञात हुईं, वे ऊपर लिखी गयी हैं। अधिक खोज करनेसे और भी बातें ज्ञात हो सकेंगी, किन्तु उनसे ही तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिका ज्ञान हो जाना सम्भव नहीं। कुमारिलका समय निश्चित करनेमें राजनीतिक परिस्थितिकी निदर्शक एक बात सहायक हो सकती है। 'राजा राजसूयेन यजेत' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए यह प्रश्न उठता है कि राजा किसे कहा जाय? जिसके हाथमें सत्ता (अधिकार) हो वह, या जो क्षत्रिय और सत्ताधीश दोनों ही हो? राजा शब्दसे क्षत्रिय राजा ही समझा जाना चाहिये, किन्तु कुमारिलका कथन है कि उनके समयमें चारो जातियोंके राजा राज्य करते थे (तच्च राज्यमविशेषेण चत्वारोऽपि वर्णाः कुर्वाणा दृश्यन्ते)। आर्य-परम्परानुसार पहले क्षत्रिय ही राजा हुआ करते थे। परन्तु कुमारिलके उक्त कथनसे सिद्ध है कि उनके समयमें इस परम्पराका स्पष्टतया लोप हो गया था। यह परम्परा कब नष्ट हुई? इसका उत्तर पुराण देते हैं,—'नन्दान्तं क्षत्रिय कुलम्' अर्थात् अखण्ड रूपसे नन्द ही अन्तिम क्षत्रिय राजा था। नन्दसे पहिले क्षत्रियके अतिरिक्त किसी जातिका कोई राजा नहीं हुआ था। नन्दवंशका उच्छेद होनेपर चन्द्रगुप्त राजा हुआ; जो शूद्र था। सर्वप्रथम इसीने उक्त परम्परा भंग की। इस उलटफेरका आरम्भ ई० स० पूर्व ३०० (वि० पू० २४३) से हुआ और हर्षके समयतक वैसी ही परिस्थिति बनी रही। हुएनसङ्गने हर्ष-कालीन राजनीतिक परिस्थितिका वर्णन किया है। उससे जान पड़ता है कि हर्षके समयमें सब वर्णोंके राजा यहाँ राज्य करते थे। स्वयं हर्ष वैश्य था। भिनमाल, महाराष्ट्र, कांची और वलभीके राजा क्षत्रिय थे। उज्जैन, महेश्वरपुर और चिचिटोमें ब्राह्मणोंका राज्य था तथा सिन्धका राजा शूद्र था। हम जिस समयकी बात लिख रहे हैं उस समय अर्थात् मध्ययुगीन भारतके दूसरे भागमें, सर्वत्र क्षत्रियोंका ही राज्य था और अन्य वर्णोंके राजकुल प्रायः लुप्त हो गये थे। बाप्पारावलके समयसे क्षत्रिय राजकुलोंकी स्थापना होने लगी और ई० स० ८०० (वि० ८५७) के पश्चात् पहिलेकी तरह क्षत्रियोंके हाथमें फिर राज्याधिकार आ

गया। इस विवेचनसे यह बात ध्यानमें आ सकती है कि कुमारिलका समय हुएनसंगके बादसे लेकर ई० स० ७५० (वि० ८०७) तकके बीच है, क्योंकि उन्होंने यहाँकी जिस राजनीतिक परिस्थितिका वर्णन किया है वह यहाँ वास्तवमें ई० स० ६५० से ७५० (विक्रम ७०७—८०७) तक थी।

तन्त्रवार्तिकसे एक बातका और पता चलता है। शबरने अपने भाष्य में लिखा है कि आंध्र प्रान्तमें राज्य पदारूढ़ क्षत्रियको ही नहीं, किन्तु सामान्य क्षत्रियको भी राजा कहते हैं (ननु जनपदपुररक्षणमनुपजीवत्स्वपि क्षत्रिये राजशब्दमान्ध्राः प्रयुज्यन्ते)। इसका स्पष्टीकरण कुमारिल करते हैं—"दाक्षिणात्य सामान्येनान्ध्राणामिति भाष्यकारेणोक्तम्।" सभी दक्षिणियोंको लक्ष्य कर भाष्यकारने आन्ध्र कहा है। अर्थात् कुमारिलके मतसे भाष्यकारने भूलसे 'दाक्षिणात्य' के बदले 'आन्ध्र' शब्द लिख दिया है। परन्तु कुमारिलके समयमें आन्ध्र प्रान्तमें यवनोंका राज्य था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि तब दाक्षिणात्यों और आन्ध्रोंकी प्रथाओंमें समानता थी ही। इस सम्बन्धमें अधिक विश्वसनीय प्रमाण जबतक उपलब्ध न हों, तबतक भाष्यकार और वार्तिककारका मतैक्य सिद्ध नहीं हो सकता।

तन्त्रवार्तिक आदि ग्रन्थोंसे कुमारिलके सम्बन्धमें जिन बातोंका अनुमान किया जा सका, वे ऊपर लिखी गयी हैं। कुमारिलके ग्रन्थोंका अधिक सूक्ष्म रीतिसे अध्ययन करनेपर अधिक बातें ज्ञात हो सकेंगी; परन्तु यह कार्य परिश्रम-साध्य है और इसके लिए समय भी चाहिये। सारांश, कुमारिलका समय ई० स० पूर्व २०० (वि० पू० १४३) वर्ष माना ही नहीं जा सकता। वे कालिदासके पश्चात् हुए, यह तो इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने कालिदासका—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः।' यह अवतरण अपने लेखमें उद्धृत किया है। कुछ लोगोंने कालिदासका समय ई० स० पूर्व ५७ माना है। यह समय मान लिया जाय, तो भी कुमारिलका समय ईसवी सन्के पूर्व माना नहीं जा सकता। हम लिख चुके हैं कि कुमारिलका समय ई० स० ६५०

से ७०० (वि० ७०७ से ७५७) के बीच है। उन्होंने बौद्ध धर्मका अध्ययन बुद्ध भिक्षुओंके निकट रहकर किया था और वे कई अनार्य भाषाएँ भी भली भाँति जानते थे। न्याय-मीमांसा आदि शास्त्रोंमें वे पारङ्गत थे और वृद्धावस्थामें उन्होंने अपनी जीर्ण देह अग्निको समर्पण कर दी थी। कुमारिलने बौद्ध मतका खण्डन कर वेदोंसे उचटी हुई लोगोंकी श्रद्धा फिर दृढ़मूल कर दी, यही उनके जीवनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।

कुमारिल भट्टके लगभग १०० वर्ष पश्चात् श्री शङ्कराचार्यका उदय हुआ था। कुमारिल और शङ्कराचार्यकी भेंटकी कथा काल्पनिक है। शङ्कराचार्यके सम्बन्धमें कुमारिलकी अपेक्षा अत्यधिक विश्वास योग्य बातें ज्ञात हुई हैं, जिनसे दोनोंकी भेंट असम्भव सिद्ध होती है। कुमारिलकी अपेक्षा शङ्कराचार्यका पुरुषार्थ लोगोंको अधिक जँचता है, इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कुमारिलके पुरुषार्थका महत्व कम है। उस समयके लोगोंकी अत्यन्त तीव्र आकांक्षाएँ शंकराचार्यने पूर्ण कीं, यही उनकी दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और विजयका कारण है। इस बातको कदापि न भूलना चाहिये कि लोगोंकी अत्यन्त प्रिय भावनाओंके साथ समरस हो जाना ही लोकोत्तर पुरुषोंकी विजय और जगद्व्यापिनी लोकप्रियताकी कुंजी है। शङ्कराचार्यको 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं। कदाचित् उनके मायावाद और बौद्धोंके विज्ञानवादमें साम्य होनेके कारण ही लोग ऐसा करते हैं। यहां दोनोंके तत्वज्ञानका विचार नहीं करना है। देखना यही है कि कुमारिलके द्वारा बौद्धधर्मका उच्छेद हो जानेपर बौद्धों द्वारा स्वीकृत अहिंसा और संन्यासके प्रति शंकराचार्यने सहानुभूति प्रकट की थी। ई० स० पूर्व तीन सहस्र वर्षसे ही आर्योंमें संन्यासकी विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी और वैदिकी हिंसाके प्रति बौद्धमतके प्रचारसे लोगोंमें अनादर बढ़ गया था, इस कारण उन्हें कुमारिलका मीमांसामत सर्वथा मान्य होना सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त कुमारिलकी उपासना-प्रणाली भी उस समयकी प्रचलित उपासना-प्रणालीसे भिन्न थी। उनकी उपासना-प्रणालीमें वेदोक्त अग्निहोत्र और हिंसायुक्त यज्ञादि कर्मोंकी ही प्रधानता थी। संन्याससे तो उन्हें बड़ी चिढ़ थी। संन्यासीको देखते ही

उनका माथा ठनक उठता था। वेदोंमें तो लोगोंकी श्रद्धा थी; पर उपासना-प्रणालीमें मतभेद था। पौराणिक कालसे अग्निहोत्रादि कर्मोंका प्रचलन कम हो गया था और शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य, देवी आदिकी उपासना विशेष रूपसे प्रचलित हो गयी थी। वेदोंकी तरह इन उपासनाओंमें भी लोग श्रद्धा रखते थे। हिंसात्मक यज्ञोंसे लोगोंने मुँह मोड़ लिया था। बौद्ध-जैन मतोंके चल निकलनेसे पहिले ही वेदान्तमतने आर्योंको हिंसासे विमुख कर दिया था। दक्षिणके आर्य और भी आगे थे। भला उन्हें हिंसात्मक कर्म-मार्ग क्योंकर प्रिय होने लगा? यही कारण है कि कुमारिलका मत और यज्ञमार्ग दक्षिणमें जड़ नहीं पकड़ सका। यही क्यों; हज़ारों वर्षोंसे अहिंसाव्रतका पालन किये हुए दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंमें ही कुमारिलके मतका विरोध करनेवाले एक ऐसे अद्वितीय महापुरुष उत्पन्न हुए, जिनमें वाद-विवाद करनेकी विलक्षणशक्ति, अलौकिक संस्कृत-लेखन-पटुता, व्यवहार-चातुर्य, राजनीतिक कौशल आदि गुण पूर्ण रूपसे विद्यमान थे। यह महापुरुष थे श्रीशंकराचार्य। उन्होंने वेदोंके ही प्रमाणोंसे वेदान्त सूत्रोंके आधारपर अपने अद्वैत मतका प्रतिपादन किया और अग्निहोत्रादिको गौण बता कर—ज्ञान तथा त्याग अर्थात् संन्यासका महत्व स्थापित कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिव, विष्णु, देवी आदिकी उपासनाको प्रचलित रहने देकर भी लोगोंको अपनी अनुमति दे दी। इस प्रकार उनके द्वारा वेदमार्गकी और दबे हुए वेदधर्मकी ही पुष्टि मिली; परन्तु वेदोंके प्रति श्रद्धा और यज्ञोंके प्रति आदर, बौद्धोंके इन दो मतोंका जो उन्होंने खंडन किया था और जिन्हें वह पसन्द भी नहीं करते थे, इन्होंने अपनाकर खण्डन कर डाला। शंकरने, लोगोंकी अभिरुचिके अनुसार बौद्धोंके अहिंसा-सिद्धान्तको आदर दे, कुमारिल भट्टद्वारा प्रवर्तित वेद प्रामाण्यको स्थिर कर ही अद्वैतवादको वर्तमान हिन्दू-धर्मकी विस्तृत, उदार और सरल बुनियाद रक्खी थी।

शंकराचार्यके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उनका जन्म केरल (मलाबार) कालड़ी नामकी बस्तीमें नम्बूद्री ब्राह्मणके घरमें, [illegible] ई० सन् ७८८ (शक ७१०) में हुआ था। बत्तीसवें वर्षमें ही इन [illegible]

मन्दिरके रूपमें उनका स्मारक बनाया गया है। कुछ पुराण मतवादी उनका समय ई० स० पूर्व पाँच छः सौ वर्ष और बुद्धका समय उससे भी एक-दो सौ वर्ष पूर्व मानते हैं परन्तु ऐसा मान लेनेके लिए कोई आधार नहीं है। प्राचीन इतिहासकी मोटी मोटी बातोंका समय अब प्रायः निश्चित हो चुका है। तत्कालीन ग्रीक इतिहाससे चन्द्रगुप्तका समय ई० स० पूर्व ३१२ (वि० पू० २५२) स्थिर हुआ है और चन्द्रगुप्तके समयसे ही अन्य घटनाओंके समयका निश्चय करना आवश्यक हो गया है। जो लोग शंकराचार्यका समय शक-पूर्व मानते हैं, उनके मतका इससे अधिक खण्डन करना अनावश्यक है। सभी बातोंपर विचार करनेपर शंकरका जन्मकाल सन् ७८८ (वि० ८४५) असम्भव नहीं प्रतीत होता।

शंकराचार्यका चरित्र अनेक दिग्विजयोंमें वर्णित हुआ है। उस वर्णनों पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। तो भी उनसे उनके जीवनकी साधारण रूपरेखा इस प्रकार खींची जा सकती है—शंकराचार्यके पितृदेवका देहावसान उनकी बाल्यावस्थामें ही हो जानेके कारण उनका लालन-पालन उनकी माताको करना पड़ा। ऐसी विपत्तिमें भी उन्होंने बहुत ही छोटी अवस्थामें विद्याध्ययन सफलताके साथ समाप्त किया, इसीसे उनकी तीव्र बुद्धिका परिचय मिलता है। उस समय बालविवाह प्रचलित था और शंकरकी माता अपने एकलौते पुत्रपर बहुत ही प्यार करती थी। वही उसके जीवनका आधार था। वह शंकरके विवाहका आयोजन करने लगी। परन्तु बाल्यकालमें ही शंकरने अपना लक्ष्य स्थिर कर लिया था और उसे सिद्ध करनेके उद्योगमें वे लग गये। वे गृहस्थाश्रम न पसन्द कर, संन्यास पसन्द करते थे। सम्भव है; इसका कारण उस समय मलाबार प्रान्तमें बौद्धमतकी प्रबलता हो या कुमारिलके कर्ममार्गके प्रति उनकी अरुचि हो। उन्होंने संन्यास ग्रहण करनेका अपना विचार मातासे प्रकट किया। उसे सुनकर माताके अन्तःकरणकी क्या दशा हुई होगी, यह तो सहृदय मनुष्य ही समझ सकते हैं। शंकरने बड़ी चतुरतासे यह अभिवचन देकर कि 'जब आप स्मरण करेंगी, मैं आजाऊँगा,' मातासे संन्यासकी अनुमति ले ली और गृहत्याग कर दिया।

मलावारसे चलकर सद्गुरुकी खोज करते करते शंकर विन्ध्याद्रिके निकट पहुँचे। वहाँ सांख्य कारिकाओंके सुप्रसिद्ध भाष्यकार गौड़ पादाचार्यके प्रधान शिष्य गोविन्द गुरुसे उनकी भेंट हुई। शंकरकी विलक्षण विद्वत्ता और त्यागशीलता देखकर गोविन्द गुरुने उन्हें संन्यासकी दीक्षा दी। यहाँ कुछ कालतक वेदान्त शास्त्रका अध्ययन करनेके अनन्तर वे काशी गये। विद्वत्तामें काशीके पण्डितोंकी बड़ी प्रसिद्धि थी और अब भी है। शंकरने अपनी लोकोत्तर विद्वत्ताके द्वारा काशीके पण्डितोंको चकित और पराजित किया। तबसे उनका और उनके तत्त्वज्ञानका महत्व बहुत बढ़ा और उनकी कीर्ति देशभरमें छा गयी। फिर उन्होंने प्रस्थानत्रयी (गीता, दशोपनिषद और बादरायणके वेदान्त सूत्रों) पर अति प्रथनीय और चिरन्तन भाष्य लिखा। वह इतना विख्यात और महत्वपूर्ण हुआ कि विना प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखे किसीके लिए अपना नवीन मत प्रस्थापित करना ही असम्भव हो गया। शङ्कराचार्यने काशीमें रहकर और भी कई उपग्रन्थ संस्कृतमें लिखे। उनकी भाषा बड़ी ही सरल, सुगम, मनोहर और प्रतिभायुक्त है। शारीर भाष्यकी विवेचन शैली और युक्तिवाद इतना विशद और गम्भीर है कि इस ग्रन्थकी गणना संसारके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोंमें सदा होती रहेगी।

इस प्रकार अनेक नवीन ग्रन्थ लिख कर और असाधारण बुद्धिमत्ता तथा बुद्धिवादके द्वारा काशीके पण्डितोंसे विजयपत्र प्राप्त कर शंकराचार्यने अपने मत-प्रचारार्थ समस्त भारतवर्षमें यात्रा की और हर एक प्रान्तके प्रसिद्ध विरोधी पण्डितोंको विवादमें हराकर अपना मत प्रस्थापित किया। विभिन्न ग्रन्थोंमें शंकराचार्यके विवादोंका वर्णन लिखा मिलता है। उसमें अतिशयोक्तिका होना असम्भव नहीं है; किन्तु यह निर्विवाद है कि शंकरने मण्डनमिश्रसे शास्त्रार्थ किया था और उसमें मण्डनकी हार हुई थी। मण्डन कुमारिल भट्टका कट्टर अनुयायी था; परन्तु उसे शङ्करका मत मानना पड़ा और विवादकी शर्तके अनुसार संन्यासदीक्षा ग्रहण करनी पड़ी। इस विवादमें ध्यान रखने योग्य बात यह है कि पञ्च या अध्यक्षका पद मण्डनकी पत्नीने ग्रहण किया था। इसीसे उस

समयकी महिलाओंकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अस्तु, मण्डनने शंकरकी शिष्यता स्वीकार की। मंडनका संन्यासाश्रमका नाम सुरेश्वराचार्य था। शङ्करके पश्चात् शृंगेरी पीठकी गद्दी जगद्गुरु रूपसे सर्व प्रथम सुरेश्वरको ही मिली। ईसाके चेले सेण्टपीटरकी तरह भारतमें पोप अथवा जगद्गुरु होनेका प्रथम मान शंकर शिष्य सुरेश्वराचार्यको ही प्राप्त हुआ था। शंकराचार्यने उज्जैनके पण्डितोंको भी शास्त्रार्थमें हरा दिया था। उज्जैन प्राचीन विद्यापीठ और पाशुपतादि भीषण पन्थवालोंका केन्द्र स्थान था। वहाँ महाकालेश्वरका प्रसिद्ध देवालय है। उसीके निकट पाशुपताचार्य नामक एक विख्यात पण्डित रहता था। उसे विवादमें हराकर शंकर विजयी हुए। आसाम प्रान्त भी उस समय विद्याके लिए प्रसिद्ध था। वहाँके पण्डितोंसे शास्त्रार्थ कर शंकरने जयपत्र प्राप्त किया। काश्मीरके पण्डितोंको भी आचार्यने निरुत्तर किया। वहाँ शारदा देवीका प्रसिद्ध देवालय है। उसका द्वार सदा बन्द रहता था, उसके सम्बन्धमें एक आख्यायिका प्रचलित थी कि संसारके सब पण्डितोंको जो हराकर आवेगा, वही देवालयका द्वार खोल सकेगा। शङ्कराचार्यने ही वह द्वार खोला था। उनके मठोंमें अबतक प्रधान उपास्यदेवी शारदाम्बा ही मानी जाती हैं। फिर शंकराचार्य बदरी-केदार गये। वहाँ आचार्यका एक पीठ भी है। हम कह चुके हैं कि आचार्य व्यवहार-चतुर और राजनीति-कुशल थे। उनका स्वभाव शान्त था और सबपर समान रूपसे वे प्रेम करते थे। सब जीवोंपर उनकी समत्व बुद्धि होनेके कारण उनके प्रति देशके विभिन्न मतोंके लोगोंका अत्यन्त आदर था। लोगोंने उन्हें जगद्गुरुकी पदवी दी (जैसी तिलकको लोकमान्यकी पदवी दी गयी थी) और वह सर्वमान्य हुई। वास्तवमें जगत्के पूज्य गुरु होनेके कारण यह पदवी आचार्यके सर्वथा उपयुक्त थी। लोगोंमें यह इतनी अधिक रूढ़ हुई कि शंकराचार्य एक सामान्य नाम बन गया और उसका अर्थ 'मुख्य गुरु' किया जाने लगा। इसीसे कितने ही लोग कभी कभी जैनाचार्योंके लिए जैन शंकराचार्य शब्दका प्रयोग कर बैठते हैं। अपने मतका प्रचार जारी रखने और जनतापर उसका प्रभाव बनाये रखनेके लिए कुछ स्थायी संस्थाओंका

निर्माण करना आवश्यक समझ कर शंकराचार्यने भारतकी चारों दिशाओंमें अपने चार धर्मपीठ स्थापन किये। इन पीठोंपर अबतक उनकी शिष्यपरम्परा अविश्रृङ्खल रूपसे चली आती है और पीठोंद्वारा आचार्यके तत्त्वज्ञानका प्रचार होता रहता है। यही नहीं, एक प्रकारसे इन मठों (पीठों) की धर्मसत्ता स्थापित हो गयी है और उनके द्वारा धर्मसम्बन्धी शंकाओं तथा विवादोंका निपटारा भी होता आया है। इसीसे शंकराचार्यके पुरुषार्थका महत्व ध्यानमें आ सकता है। आचार्यके चार मठोंमें दक्षिणका श्रृंगेरीमठ सर्वश्रेष्ठ है। पश्चिमका द्वारकामठ, पूर्वका पुरीमठ और उत्तरका बदरी-केदार-मठ प्रसिद्ध है।

आचार्यने अपनी माताको अन्त समयमें मिलनेका अभिवचन दिया था। तदनुसार वे माताके पास गये। इस भेंटके कुछ ही दिनोंके अनन्तर शङ्करकी माताका कैलासवास हो गया। मृतककी क्रिया आदि करनेका संन्यासीको अधिकार नहीं है, अथवा यों कहिये कि परिपाटी नहीं है। परन्तु मातृ-प्रेमके कारण शंकरने स्वयं माताका और्ध्वदेहिक कर्म करनेकी इच्छा प्रकट की। उनके बन्धु-बान्धवोंने दाहकार्यमें सहायता देनेसे मुंह मोड़ लिया; इस कारण उन्हें माताके मृत शरीरका दहन अपने घरके आँगनमें ही करना पड़ा। कालदीमें अबतक घरके आंगनमें ही शवदाह करनेकी प्रथा है। संभव है, आचार्यके पहिले भी यह प्रथा प्रचलित रही हो और इस प्रथाको विचित्र जानकर पीछेसे लोगोंने उक्त कथा गढ़ ली हो; क्योंकि शंकराचार्य जैसा विरक्त संन्यासी, मातृप्रेमके कारण ही क्यों न हो, शास्त्रमर्यादाको त्याग देगा इसपर विश्वास नहीं होता। यह भी सम्भव है कि मलाबारमें मुसलमानोंके अत्याचारके कारण शवको श्मशानमें न ले जाकर घरमें ही दहन करनेकी प्रथा प्रचलित हो गयी हो।

माताकी अन्त्येष्टिक्रिया करनेके पश्चात् शङ्कराचार्यने धर्म-प्रचारके लिए फिर एक बार समस्त भारतवर्षमें यात्रा की। आश्चर्यकी बात तो यह है कि शंकर जैसे लोकोत्तर और जगद्विख्यात महापुरुषके पुरुषार्थका तत्कालीन कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। नेपालके कुछ अर्वाचीन लेखोंसे शंकरके पुरुषार्थका साधारण पता चलता है; वह इस प्रकार है—

"नेपाली लोगोंके मुख्य आराध्य देव पशुपति हैं। नेपालमें पशुपतिनाथका विशाल देवालय है। शङ्कराचार्यसे एक सहस्र वर्ष पूर्वके शङ्कराचार्यने पशुपतिनाथकी पूजा-अर्चाके सम्बन्धमें कुछ नियम बना दिये थे। उनका यथोचित पालन होता है या नहीं, यह देखनेके लिए शङ्कराचार्य नेपाल पधारे थे। पशुपतिनाथके पुजारी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण होते थे और अब भी महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंको ही पशुपतिनाथकी पूजा करनेका अधिकार है। क्योंकि नेपाली या उत्तरभारतके ब्राह्मण मांसभोजी हैं और महाराष्ट्रीय ब्राह्मण अत्यन्त प्राचीन कालसे निरामिषाहारी हैं। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण जैसे विद्वान् और वेदपारङ्गत होते हैं वैसे उत्तर भारतके ब्राह्मण प्रायः नहीं होते। उस समय होते रहे हों, तो कहा नहीं जा सकता; इस समय तो देख नहीं पड़ते। सम्भव है, इसी विचारसे शङ्कराचार्यने नियम बना दिया हो कि पशुपतिनाथकी पूजा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ही करें। केदारनाथका सुप्रसिद्ध मन्दिर भी शङ्कराचार्यने ही बनवाया था। केदारनाथकी पूजाका अधिकार केवल केरल ब्राह्मणोंको ही है। अबतक वहाँके पुजारी केरल ब्राह्मण ही होते हैं। इन बातोंसे पता चलता है कि आचार्य अवश्य ही नेपाल गये थे।" ध्यानमें रखनेकी बात यह है कि उपर्युक्त लेख शङ्कराचार्यसे कई शताब्दियोंके पश्चात् लिखे गये हैं। यह आख्यायिका भी प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्यने अपना अवतारकार्य अल्पवयसमें, केवल ३२ वर्षकी अवस्थामें, ही समाप्त किया था। मेकडोनेल साहबके मतसे आचार्य ३२ वें वर्षमें संन्यास ग्रहण कर सांसारिक प्रपञ्चोंसे पृथक् हो गये थे। साहब बहादुर अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें लिखते हैं—"शङ्कराचार्यका जन्म ई० स० ७८८ में हुआ और ८२० में उन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की। संन्यासाश्रम स्वीकार करने पर बहुत वर्षोंतक वे जीवित थे"। मेकडोनेल साहबने अपने इस मतकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नहीं दिया। ७८८ में ३२ जोड़नेसे ८२० संख्या हो जाती है। लोग ८२० में शङ्कराचार्यका देहावसान होना मानते हैं और मेकडोनेल कहते हैं कि इस सन्में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। हमारी समझमें आचार्यने ३२ वर्षोंमें अपना अवतारकार्य समाप्त

कर शेष जीवन बदरी केदारमें एकान्तमें गुप्त रूपसे योगाभ्यास और चिन्तन आदिमें बिताया था।

शङ्कराचार्यके जीवनचरित्रके सम्बन्धमें यह संक्षिप्त विचार हुआ। अब उनके पुरुषार्थ और तत्वज्ञानके सम्बन्धमें भी कुछ विचार करना उचित होगा। भारतवर्षके धार्मिक इतिहासमें शङ्कराचार्यके पुरुषार्थको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अर्वाचीन धर्म-कल्पनाओंका विस्तार शङ्कराचार्यके तत्वज्ञानसे ही हुआ है। वर्तमान धार्मिक परिस्थितिका विचार करते हुए शङ्कराचार्यके ग्रन्थोंका अध्ययन अवश्य ही करना होगा और आगेका इतिहास लिखते समय शङ्कराचार्यके तत्वज्ञानका बारंबार सिंहावलोकन करना पड़ेगा। शङ्कराचार्यके पुरुषार्थका विचार करते हुए चित्तमें, स्वाभाविक रूपसे निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं—इसमें सन्देह नहीं कि शङ्कराचार्यका 'मायावाद' मनुष्यकी बुद्धिको चकित कर देता है और वह जगन्मान्य हो गया है। भारतीय तो सबके सब मायावादको मानते हैं। परन्तु क्या मायावादसे भारतीय जनतामें शिथिलता आगयी है? क्या भारतकी कर्तृत्वशक्ति क्षीण हुई है? संन्यास मार्गको श्रेष्ठ मान लेनेका परिणाम क्या हुआ? आचार्यने पौराणिक देवताओंकी पूज अर्चाका विशेष रूपसे प्रचार किया है। प्राचीन अग्निहोत्र आदिके बदले इस समय सर्वत्र मूर्तिपूजाका प्रचार है। शालग्राम तो घर घर विराजते हैं। क्या लोग इस प्रकारकी मूर्तिपूजाके कारण तत्त्वविचारोंसे विमुख हो कर बावले बन गये हैं? चित्तमें उठनेवाले ऐसे ऐसे अनेक प्रश्नोंका निर्णय केवल तर्कसे नहीं, वर्तमान परिस्थितिका विचार करके ही किया जा सकता है। इसका ऊहापोह अग्रिम भागमें किया जायगा।

विशेष बातें—श्रीमच्छङ्कराचार्यके समयके सम्बन्धमें सन् १९१६ (वि० १९७३) तक जितने जुदे जुदे मत ज्ञात हो सके, उनको सप्रमाण संग्रह कर श्रीयुत काशीनाथ कृष्ण लेले महाशयने 'आचार्य' नामक मासिक पत्रके तारीख १३ मई १९१६ के अंकमें प्रकाशित कराया था। आचार्यका जो समय हमने माना है, वही अर्थात् शक ७१० (ई० सन् ७८८) लेले महाशयको भी मान्य है। यह समय प्रथम प्रोफेसर पाठक

महाशयने प्रमाणों सहित लोगोंके सामने रखा था। प्रमाण इस प्रकार हैं—१–नीलकण्ठ कृत शङ्करमन्दारसौरभ २–कुडलगी मठकी परम्परामें लिखा है—"निधिनागे भवन्ह्यब्दे विभवे शङ्करोदयः अर्थात् शङ्करका जन्म कलिके ३८८९ (शक ७१०) में हुआ ३–श्रृंगेरी मठकी परम्परामें यही समय एक स्तोत्रमें ग्रथित है। ४ शङ्कराचार्यने यह (श्रृंगेरीका) मठ कलिवर्ष ३९०९ में स्थापित किया था। इसका उल्लेख मठ-परम्परा-स्तोत्रमें इस प्रकार है—

कल्यब्दे निधिखांकाग्नि शेष संवत्सरे मठम्।
संस्थाप्य भारतीपीठं सङ्गमे तुङ्ग-भद्रयोः॥

५–इसी स्तोत्रमें उक्त मठमें आचार्यका गुहाप्रवेश काल कलिवर्ष ३९२१ लिखा है। मैसोर प्रान्तके शिमोगा जिलेके कुडली मठमें ये ही परम्पराएँ मानी जाती हैं।

प्रोफेसर पाठकने उक्त बाह्य प्रमाणोंके अतिरिक्त निम्नलिखित आन्तरिक प्रमाण भी दिये हैं—१–चीनी प्रवासी इत्सिंगने अपने प्रवास-वर्णनमें व्याकरणकार भर्तृहरिके देहावसानका समय ई० स० ६५० (वि० ७०७) लिखा है। भर्तृहरिका एक वाक्य कुमारिलने अपने ग्रंथमें उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल और शंकर भर्तृहरिके पश्चात् हुए थे। २—शंकर शिष्य सुरेश्वराचार्यने अपने बृहदारण्यक वार्तिकमें बौद्ध आचार्य धर्मकीर्तिका नामोल्लेख कर उसका एक मत उद्धृत किया है। चीनी प्रवासी फाहियानके ई० स० ६९५ (वि० ७५२) में लिखे एक लेखसे पता चलता है कि धर्मकीर्ति उसका समकालीन था; अतः शंकर और सुरेश्वरका समय ई० सन् ६९५ (वि० ९५२) से अधिक दूर नहीं माना जा सकता। ३—जैन पण्डित अकलङ्क देव ईसाकी आठवीं सदीके राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग साहस तुङ्गके राजत्वकालमें हुआ था। शङ्करने अपने ग्रंथमें उसके मतका खण्डन किया है। इससे स्पष्ट है कि शंकर ईसाकी आठवीं शताब्दीमें या इसके बाद हुए थे। ४–पाणिनि सूत्रकी प्रसिद्ध टीका काशिकावृत्ति ईसाकी सातवीं शताब्दीमें लिखी गयी है। उसका एक वाक्य शंकरने अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। इन सब प्रमा-

ग्रोंसे शंकरका समय ई० स० ७०० (वि० ७५७) से पूर्व माना नहीं जा सकता। इसके विरुद्ध कामकोटि मठकी परम्परा मान्य नहीं हो सकती। विशेषतया शृंगेरी मठकी परम्पराकी तुलनामें वह ठहर नहीं सकती। कामकोटि मठने दो शंकर मानकर अपने मठके ईसवी स० के पूर्व माने हुए कालका शृंगेरी मठके कालसे मेल मिलानेका प्रयत्न किया है; परन्तु वह सन्देहास्पद है। स्वयं आचार्यने अपने ग्रन्थोंमें काशिकावृत्ति और अकलंकके वाक्य उद्धृत किये हैं; इससे तो हमारा माना हुआ काल ही ठीक सिद्ध हो जाता है।

कोचीनके राज-ज्योतिषी श्रीयुत सी० पी० ऐयरने विद्यारण्यके शांकर दिग्विजय नामक ग्रन्थमें उल्लिखित शङ्करके जन्म समयके उच्च ग्रहोंसे गणित कर उनका जन्मकाल शक ७२८ (ई० स० ८०५) सिद्ध किया है। इसी शकको सही मान कर एस० वी० वेंकटेश्वरने १९१५ के रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नलमें एक लेख लिखा है। उसमें यह भी कहा है कि आचार्यके देहावसानका समय सन् ८२० न मानकर ६० वर्ष बाद अर्थात् ८८० माना जाना चाहिये। हमारे मतसे दोनों सिद्धान्त ठीक नहीं है। आचार्य के ५०० वर्ष पश्चात् विद्यारण्यके लिखे हुए शङ्कर-जन्म-समयके ग्रह काल्पनिक जान पड़ते हैं। आचार्यका जन्म हुआ तब वे अप्रसिद्ध थे, विशेष धनिक भी नहीं थे। अतः उनके जन्मके ग्रहोंका लोगोंके ध्यानमें रहना सम्भव नहीं प्रतीत होता। यह तो सभी जानते हैं कि कोई अप्रसिद्ध पुरुष प्रबल पुरुषार्थसे जब जगत्प्रसिद्ध हो जाता है, तब उसकी जन्मपत्री उच्च ग्रहोंसे सजा दी जाती है। शृंगेरी मठ स्थापनाका परम्परागत समय उक्त समयके विरुद्ध और विश्वासयोग्य है। शंकराचार्य कृत एक स्तोत्रमें लिखा है:—'वयं पञ्चाशीते रधिकमपनीतेषु वयसि'। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि आचार्य ८५ वर्षोंसे अधिक समयतक जीवित थे। परन्तु यह अनुमान भ्रमात्मक है। शंकराचार्यकी गद्दीपर जो शिष्य विराजते हैं, वे शंकराचार्य ही कहे जाते हैं। उक्त स्तोत्र आदि शंकराचार्यका नहीं, किन्तु किसी दूसरे शंकराचार्यका रचा हुआ है। इसके अतिरिक्त १२ वर्षोंमें वेदों और १८ वर्षोंमें शास्त्रोंमें पारङ्गत होकर

३२ वर्षोंमें अलौकिक ग्रन्थ-रचना तथा जगदुद्धार करनेवाले अद्वितीय बुद्धिमान् और पुरुषार्थी लोकोत्तर पुरुषका होना असम्भव भी नहीं है। काशी आदि विद्यापीठोंके इतिहासमें बीच बीचमें ऐसे पुरुषोंके होनेका उल्लेख है । अतः शृंगेरी मठकी परम्परा मानना ही उचित है और वह इतिहासके विरुद्ध नहीं है, यही हमारा निश्चित मत है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण ।

सामाजिक स्थिति और वर्णव्यवस्था ।

इस प्रकरणमें हम ईसाकी नवीं और दसवीं सदीकी भारतकी सामाजिक परिस्थिति और उसके साथ ही वर्णव्यवस्थाकी दशाकी आलोचना करेंगे । वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था हिन्दू-समाज-शासन-पद्धतिका प्रधान आधार है। अतः वर्णाश्रमधर्मका विस्तृत विचार करनेसे उस समयके समाजकी स्थितिका ज्ञान अनायास हो सकेगा। परन्तु इस प्रकारके इतिहास-लेखनमें जिन साधनोंकी आवश्यकता होती है, वे बहुत ही थोड़े परिमाणमें उपलब्ध हैं। विदेशियोंके लिखे प्रवास-वर्णनोंपर ही प्रधानतया भरोसा रखना पड़ता है । क्योंकि अपने समाजमें प्रचलित रीति-नीतिकी विलक्षणता या बावलापन विदेशियोंके ध्यानमें जितना शीघ्र आता है, उतना देशवालोंके नहीं। पुराकालकी आलोचना करनेमें स्वदेशी ग्रन्थकारोंके ग्रंथोंका जैसा उपयोग किया गया है, वैसा इस आलोचनामें नहीं किया जा सकेगा; पूर्वकालमें बाणभट्ट जैसे विचक्षण ग्रन्थकार हुए; उनके ग्रन्थोंसे उस समयकी रीति-नीतिका साधारण पता चल

सका; किन्तु ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें जो ग्रन्थकार हुए, उनके ग्रन्थ बहुत ही थोड़े मिलते हैं। अतः विदेशियोंके प्रवासवर्णनोंका आश्रय लेनेके सिवा अन्य कोई गति नहीं है। स्मृतिग्रन्थोंसे भी उक्त दो सदियोंकी परिस्थितिका अनुमान किया जा सकता है। पर इन ग्रन्थोंके कालनिर्णयमें बड़ी अड़चन है। स्थूलमानसे ही उनका कालनिर्णय हो सकता है। प्राचीन और अर्वाचीन स्मृतिग्रन्थोंको परस्पर मिलानेसे अनेक सामाजिक अन्तर देख पड़ते हैं और वे ही अन्तर तत्कालीन परिस्थितिके द्योतक हैं। स्मृतिग्रन्थोंके सूक्ष्म अध्ययनसे सामाजिक स्थितिका इतिहास लिखा जाना सम्भव है।

उस समयके वर्णाश्रम-धर्मकी स्थितिका विचार करने पर ज्ञात होता है कि मुख्यतः चार ही वर्ण थे और उनमें आजकलकी तरह अनेक शाखा-प्रशाखाएँ नहीं निकली थीं। वर्तमान समयमें प्रान्तभेद तथा अन्य कई कारणोंसे वर्णोंमें इतने अधिक भेद हो गये हैं कि ब्राह्मण ब्राह्मणमें भी रोटीबेटीका व्यवहार नहीं हो सकता। जब गुजराती ब्राह्मण दक्षिणी ब्राह्मणके साथ बैठकर भोजन भी नहीं करता, तब दोनोंमें विवाह-सम्बन्ध होना तो असम्भव ही है। तत्कालीन लेखों और दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि उस समय ऐसे भेद नहीं थे। यदि होते, तो दानपत्रादिमें 'कान्यकुब्ज ब्राह्मण', 'द्राविड़ ब्राह्मण' आदिका उल्लेख अवश्य ही किया जाता। परन्तु उक्त दोनों शताब्दियोंके दानपत्रोंमें पूर्व शताब्दियोंके दानपत्रोंकी तरह केवल ब्राह्मणोंके गोत्रों और शाखाओंका उल्लेख है। गोत्रोंके पहिले 'स' और शाखाओंके पहिले 'सब्रह्मचारी' लिखा मिलता है। राष्ट्रकूटोंके अकालवर्ष राजाके ई० स० ९४० (वि० ९९७) में लिखे वर्धादानपत्रमें प्रतिग्रहीताका

'नन्दिवर्धन विनिर्गत भारद्वाज सगोत्र वाजिकाएव सब्रह्मचारिणे' इस प्रकार उल्लेख किया गया है। आजकलके अधिकांश ब्राह्मणोंको अपने वेदोंकी शाखा अथवा 'सब्रह्मचारित्व' का पता नहीं रहता और गोत्र ज्ञात हो भी, तो वे यह नहीं जानते कि गोत्रके पहिले 'स' प्रत्यय जोड़ना आवश्यक है। ब्राह्मणोंकी शाखाओं और गोत्रोंका उल्लेख प्रायः सब दानपत्रोंमें होनेसे उसके अधिक उदाहरण देनेका प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। शाखाओं और गोत्रोंके उल्लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय 'गुजराती ब्राह्मण', 'दक्षिणी ब्राह्मण' आदि ब्राह्मणोंके प्रान्तीय भेद नहीं थे। हाँ, प्रतिग्रहीताके जन्मस्थानका निर्देश हुआ करता था। उदाहरणार्थ, कर्कराजके दानपत्रमें 'वलभी' ग्रामका उल्लेख है (वलभी-विनिर्गत चातुर्विद्य सामान्य वात्स्यायन सगोत्र माध्यन्दिन सब्रह्मचारिणे)। काठियावाड़के अन्तर्गत वलभी ग्रामके ब्राह्मणको 'लाट ब्राह्मण' अथवा 'सौराष्ट्र ब्राह्मण' कहा जा सकता था; किन्तु ऐसा कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। सांगली दानपत्रका प्रतिग्रहीता पौण्ड्रवर्धन ग्रामका रहनेवाला है। वर्तमान प्रथाके अनुसार वह गौड़ माना जा सकता है। किन्तु दानपत्रमें केवल 'कौशिक सगोत्र वाजिकाएव सब्रह्मचारिणे' इतना ही लिखा है। इन प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उस समय ब्राह्मणोंमें उपभेद नहीं थे; सारे भारतके ब्राह्मण एक समान माने जाते थे, केवल उनके गोत्र भिन्न भिन्न हुआ करते थे। पराशरस्मृतिमें लिखा है कि अतिथिका गोत्र या अध्ययन नहीं पूछना चाहिये। 'न पृच्छेद्गोत्रचरणे न स्वाध्यायश्रुते तथा'—इस वचनसे प्रमाणित है कि तब 'गोत्र और चरण' के अतिरिक्त ब्राह्मणोंमें आन्तरिक उपभेद नहीं थे।

क्षत्रियोंमें भी ब्राह्मणोंकी तरह उपभेद नहीं थे। सब क्षत्रिय समान थे। 'खत्री', 'राजपूत', 'बैस', 'मराठा' आदि प्रान्तीय भेद नहीं माने जाते थे और सबमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ करते थे। तबके ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें एक स्थूल भेद अवश्य ही देख पड़ता है। वह यह कि पूर्वकालके क्षत्रिय दानपत्रोंमें अपने गोत्रका अभिमानपूर्वक निर्देश करते थे। दक्षिणके चालुक्य राजा अभिमानसे अपनेको 'मानव्य-सगोत्र' और काञ्चीके पल्लव राजा 'भारद्वाज सगोत्र' लिखते थे। परन्तु ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें राजकुलोंमें गोत्रोंका उच्चार बहुत ही कम होता था। मालखेड़के राष्ट्र-कूटों, कन्नौजके प्रतिहारों अथवा मेवाड़के गुहिलोतोंके लेखोंमें गोत्रोंका उल्लेख नहीं है। परमारोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें एक दन्तकथा प्रसिद्ध है; उसमें कहा गया है कि परमारोंका गोत्र वासिष्ठ है। चालुक्योंके गोत्रका भी इसी प्रकारकी दन्तकथासे पता चलता है। सम्भव है, उस समय गोत्रोंका महत्व घट-कर कुलोंका बढ़ गया हो, क्योंकि कई स्थानोंमें कुलके लिए गोत्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक शिलालेख (बुचकुला लेख, एपि० इंडि० ६, १९९) में प्रतिहार गोत्र (कुल) का उल्लेख देख पड़ता है और नरवाहन-लेखमें वप्पकको 'गुहिलगोत्र नरेन्द्रचन्द्र' लिखा है। इससे यह प्रतीत होता है कि बौद्धोंके अहिंसा मतके प्रचारसे यज्ञादि वैदिक कर्म लुप्त हो चले और पौराणिक देवताओंकी उपासना-प्रणाली विशेष रूपसे प्रचलित हुई; जिससे क्षत्रिय अपने गोत्रों और प्रवरोंको भूलने लगे। वैदिक कर्मोंमें गोत्र-प्रवरोंका जितना महत्व है, उतना पौराणिक देवताओंकी उपासनामें नहीं है। फिर भी क्षत्रिय गोत्र-प्रवरोंको सर्वथा भूल नहीं गये थे। हिंसारहित वैदिक

कर्मोंका लोगोंमें प्रचार होनेके कारण गोत्र आदिका सर्वथा भूल जाना सम्भव नहीं था।

वैश्य जातिमें भी उपभेद नहीं थे। आजकलकी तरह तब महेश्री, लाड आदि वैश्योंकी उपजातियाँ नहीं बनी थीं। बौद्धधर्मका प्रचार आरम्भसे वैश्योंमें ही अधिक होनेके कारण उन्हींको गोत्र-प्रवरोंका विस्मरण सबसे पहिले हुआ। वैश्योंमें बौद्धधर्मका प्रचार अशोकके समयसे विशेष हुआ, क्योंकि श्रौतसूत्रके प्रवराध्यायमें ब्राह्मण-क्षत्रियोंके गोत्र-प्रवरोंके साथ वैश्योंके गोत्रादिका विचार न कर, स्वतन्त्र रूपसे किया गया है और वैश्योंका एक ही गोत्र (वत्सप्री) और प्रवर माना गया है। बौद्धधर्मका ह्रास होनेपर वैश्योंका झुकाव वेदप्रतिपादित धर्मकी ओर न होकर वैष्णवधर्मकी ओर अधिक हुआ। इसके कारणका विचार समयकी दृष्टिसे अग्रिम भागमें करना उचित होगा।

ये तीन प्रधान जातियाँ थीं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ उपजातियाँ थीं; किन्तु उनकी संख्या वर्तमान समयकी तरह अनन्त नहीं थी। उपजातियोंका उल्लेख अधिक तो नहीं, कहीं कहीं देख पड़ता है। कायस्थ लोग लेखनकुशल थे, इस कारण कहीं कहीं उनका उल्लेख है; किन्तु उनमें भी उपभेद नहीं थे। अन्य उपजातियोंमें भी उपभेद नहीं थे।

अरबी प्रवासियोंके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि उस समय प्रधानतः केवल सात जातियाँ थीं। मेगस्थनीजने भी सात ही जातियोंका उल्लेख किया है। खुर्दादबाने अपनी पुस्तकमें, जो ई० स० ९०० (वि० ९५७) में लिखी गयी थी, भारतकी जातियोंका इस प्रकार वर्णन किया है—"हिन्दुस्थानियोंमें सात जातियाँ हैं, यथा—(१) सबकत्रिय-यह राजाओंकी जाति है।

इसकी गणना उच्च जातियोंमें होती है और सब जातिवाले इस जातिका आदर करते हैं। (२) ब्राह्मण—इस जातिके लोग मद्य आदि मादक पदार्थोंको बिलकुल निषिद्ध मानते हैं। (३) क्षत्रिय—इस जातिके लोगोंमें मद्यका निषेध नहीं है, किन्तु वे तीन प्यालेसे अधिक नहीं पीते। इस जातिको कुमारिकाएँ ब्राह्मणोंसे व्याही जाती हैं; किन्तु ब्राह्मण कुमारिकाओंके विवाह इस जातिके साथ नहीं होते। (४) सुदरीय—इस जातिकी जीविका खेतीसे चलती है। (५) वैसुर—इस जातिके लोग कारीगर और घर-गृहस्थीके काम करते हैं। (६) संदलिया—इस जातिके लोग बहुत निम्न श्रेणीके काम करते हैं। (७) लाहुर—इस जातिकी स्त्रियां अलङ्कारप्रिय होती हैं और पुरुष मनोरंजन तथा कौशलके खेल दिखाया करते हैं।" ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीका यह स्थूल वर्णन यथार्थ माना जा सकता है। विदेशी यात्रियोंके ध्यानमें यहाँकी रीति-नीतिका रहस्य नहीं आसका, किन्तु उसकी विलक्षणता अवश्य ही उन्हें देख पड़ी। उक्त वर्णनमें 'सवकक्षत्रिय' जाति स्वतन्त्र और ब्राह्मणोंसे भी श्रेष्ठ मानी गयी है। कदाचित् राजपूतोंके उच्च मनोभावों, शौर्यशाली तेज तथा अरबोंके लगातार प्रतिरोधसे उन्हें यह उच्चता प्राप्त हुई हो। दूसरी श्रेणी स्पष्ट ही ब्राह्मणोंकी है। तीसरी श्रेणीमें सर्वसाधारण क्षत्रिय हैं। चौथी श्रेणी शूद्रोंकी है। सम्प्रति इस श्रेणीके लोग खेती करते हैं। वास्तवमें इस श्रेणीके लोगोंका स्थान वैसुरों (वैश्यों) के नीचे होना चाहिये। गीतामें भी वैश्योंका प्रधान कर्म 'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्य' कहा है। परन्तु प्राचीन कालसे ही वैश्योंने इस धन्धेका त्याग कर दिया था और उस समय जो वैश्य खेती करते थे उनकी गणना शूद्रोंमें ही हुआ करती थी। इसका

विस्तृत विचार हम पहिले भागमें कर चुके हैं। वैश्य कारीगर और घर-गृहस्थीके काम करनेवाले कहे गये हैं; किन्तु इसका कारण समझमें नहीं आता कि उनके प्रधान धन्धे-व्यापार-का उल्लेख क्यों नहीं किया गया। मेगस्थनीजने भी व्यापारियोंका समावेश कारीगरोंमें किया है। उनके मुख्य व्यवसाय 'वाणिज्य' का वर्णन किसी लेखकने नहीं किया, यह आश्चर्य है। छठी श्रेणीमें चाण्डाल गिने जाते हैं। ये सब प्रकारके क्षुद्र कार्य करते थे। बाणके हर्षचरितमें भी लिखा है कि इनको सेनाके सईसोंका काम सौंपा गया था। सातवीं श्रेणीमें शारीरिक करतब दिखाते हुए भटकनेवाले नटों-जादूगरों-का समावेश किया जा सकता है। कहा नहीं जा सकता कि 'सबकत्रिय' और 'लाहुर' ये शब्द किन संस्कृत शब्दोंके अपभ्रंश हैं। कदाचित् 'सबकत्रिय' शब्द 'सत्क्षत्रिय' का अपभ्रंश हो।

हिन्दू धर्मशास्त्रके अनुसार हर एक जातिके व्यवसाय और विवाह सम्बन्धी कुछ निश्चित नियम हैं, किन्तु देशकालानुसार वे बदलते भी रहते हैं। अब यह देखना है कि ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें वे कितने शिथिल या दृढ़ थे। वैवाहिक रीति-नीतिके सम्बन्धमें खुर्दादबाके वर्णनसे कुछ पता चलता है। उसका आधार लेते हुए तत्कालीन स्मृतिवचनोंका विचार कर उस समयकी परिस्थितिका चित्र खींचना है। तब सवर्ण विवाह ही होते थे। परन्तु मेगस्थनीज और इब्नखुर्दादबाके वर्णनमें एक अपवाद यह देख पड़ता है कि ब्राह्मण क्षत्रिय-कन्याओंसे विवाह कर लेते थे। सम्भवतः क्षत्रिय भी वैश्य-कन्याओंसे विवाह कर लेते होंगे। उस समय या उसके पूर्व रची गयी व्यासस्मृतिमें अनुलोम विवाहके सम्बन्धमें लिखा है—

"ऊढायां हि सवर्णायामन्यां वा काममुद्वहेत्।
तस्यामुत्पादितः पुत्रो न सवर्णात्प्रहीयते॥
उद्वहेत्क्षत्रियां विप्रो वैश्यांच क्षत्रियो विशाम्।
न तु शूद्रां द्विजः कश्चिन्नाधमः पूर्ववर्णजाम्॥"

इस स्मृतिमें वर्णित स्थिति आलोच्य दो शताब्दियोंके पूर्वकी होनेपर भी एक अपवादको छोड़कर इस कालकी निदर्शक हो सकती है। मनुस्मृतिके समयमें ब्राह्मणोंको चारों वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह करनेका अधिकार था; परन्तु उक्त शताब्दियोंमें शूद्र-कन्याओंसे उच्च वर्णवाले विवाह नहीं कर सकते थे। बाणके समयमें भी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) शूद्रीसे विवाह करते थे। बाणके पारशव आदि भ्राताओंका उल्लेख हम पहिले भागमें कर चुके हैं। प्राचीन कालमें वैश्य स्वजातिकी तथा शूद्र जातिकी कन्यासे विवाह कर लेता था परन्तु उक्त दो शताब्दियोंमें शूद्री कन्या निषिद्ध हो गयी। क्षत्रिय अपनी जातिकी, वैश्यकी और शूद्रकी कन्यासे विवाह करता था; परन्तु उसके लिए भी शूद्री निषिद्ध मानी गयी। हर एक वर्णका पुरुष अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे, यह कठोर नियम था। और इसीसे असवर्ण कन्यासे विवाह करनेकी प्रथा बन्द हो गयी। असवर्ण कन्यासे विवाह करनेकी प्रथा रूढ़ होनेपर भी ऐसे सम्बन्ध श्रीमान् और सत्ताधारी ब्राह्मण ही कर सकते थे। ईसाकी दसवीं शताब्दी (वि० ६५८-१०५७) में भी ऐसे सम्बन्ध कहीं कहीं होते थे। सुप्रसिद्ध राजशेखरकी स्त्री अन्य वर्णकी थी, यह तो इतिहासके पाठकोंको विदित ही है। काबुल और सिन्धमें ब्राह्मणोंके राज्य थे और वहाँके राजपुरुषोंको ब्राह्मण कन्याओंसे विवाह करनेका अधिकार था। यों उनके आचरण क्षत्रियों जैसे ही थे। अनुलोम विवा-

हका प्रचार समाजमें एकजीवता उत्पन्न करनेमें पोषक हो हुआ करता था। वह प्रथा बन्द होने पर समाजके विभिन्न अवयव एक दूसरेसे पृथक् हो चले और उसका पर्यवसान यह हुआ कि जातियोंमें परस्पर तीव्र मत्सर उत्पन्न हो गया। असवर्ण विवाहका विचार करते हुए यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि उस समय त्रिवर्णोंके खानपानमें कोई अन्तर नहीं था।

अनुलोम विवाह होते थे सही, किन्तु समाजके आन्तरिक पार्थक्यका एक बन्धन और कारणीभूत हो रहा था। वह यह था कि अनुलोम विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान माताके वर्णकी मानी जाने लगी थी। व्यासस्मृतिके समयमें यह बन्धन नहीं था। उस समय इस प्रकारकी सन्तान पिताके वर्णकी मानी जाती थी—"तस्यामुत्पादितः पुत्रो न सवर्णात्प्रहीयते"। कुछ समयतक ऐसी सन्तानको लोग मिश्र जातिकी मानने लगे थे। इससे समाजमें अनन्त भेद उत्पन्न हो चले और कई प्रकारकी अड़चनें उत्पन्न होने लगीं। इस कारण मिश्र सन्तान माताकी जातिकी मानी जाने लगी। परन्तु इससे, जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं, समाजकी विशृंखलता बढ़ती ही गयी।

वैवाहिक बन्धनकी दृष्टिसे जातियोंका विचार करनेके अनन्तर अब हम उद्योग-धन्धोंके लिहाजसे उनका विचार करते हैं। ब्राह्मण उस समय जिस प्रकार स्वजातिके अतिरिक्त अन्य जातिकी स्त्रियोंसे विवाह कर सकते थे, उसी प्रकार अपने धन्धेके सिवा अन्य जातियोंके धन्धे भी कर सकते थे। श्रेष्ठ जातिको निम्न जातिके धन्धे करनेका अधिकार था, किन्तु निम्न जातियाँ उच्च जातियोंके धन्धे नहीं कर पाती थीं। उस

समय बहुतसे ब्राह्मणोंने क्षत्रिय-वृत्ति स्वीकार कर ली थी और वे राज्यके उच्च पदोंपर भी नियुक्त होते थे। शस्त्र और शास्त्र दोनोंमें ब्राह्मण प्रवीण थे। इब्न खुर्दादबाकी तरह सुलेमान नामक व्यापारीने भी लिखा है कि हिन्दू राज्योंके सब सरदारोंका मानों एक ही कुल जान पड़ता है। विद्वान् और वैद्य भी एक ही कुलके प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये लोग अपना धन्धा या विद्या दूसरे किसीको नहीं सिखाते (इलि० १, पृ० ६)। अबूज़ैद कहता है—"धर्म और शास्त्रोंका अध्ययन विशेषतया ब्राह्मण ही करते हैं। इनमें बहुतसे राजाश्रयप्राप्त कवि, ज्योतिषी, तत्वज्ञानी और दैवज्ञ हैं। इस श्रेणीके बहुतेरोंको भविष्यज्ञान होता है और वे ऐंद्रजालिक विद्या भी जानते हैं जिसके प्रभावसे कभी कभी वे ऐसे चमत्कार कर दिखाते हैं कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। कन्नौजके राज्यमें उनकी संख्या अधिक है।" इस वर्णनसे जान पड़ता है कि बुद्धिप्रधान नाना प्रकारके धन्धोंमें उस समयके ब्राह्मण प्रवीण थे। बाणके समयमें जिस प्रकार कन्नौज अथवा साधारणतया उत्तर भारतके ब्राह्मण सब विद्या-कलाओंमें निपुण थे, उसी प्रकार ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें भी थे। अल-मसूदीने अपने प्रवास-वर्णनमें लिखा है—"सब जातियोंमें ब्राह्मणोंका ही सबसे अधिक सम्मान और आदर होता है। राज्याधिकार किसी एक ही कुलके हाथ रहता है और प्रधान पद वंश-परम्परासे प्राप्त होता है।"

ब्राह्मणोंकी तरह क्षत्रिय भी शस्त्र-विद्याके साथ साथ शास्त्राध्ययन करते थे। ब्राह्मणोंकी मुख्य विद्या शास्त्र और क्षत्रियोंकी शस्त्र है; परन्तु उस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही इन दोनों विद्याओंमें समान रूपसे पारङ्गत थे। क्षत्रियोंको

वेद-पठनका अधिकार था और कभी कभी शास्त्रोंमें उनकी अच्छी प्रवीणता देख पड़ती थी। राजपूत राजकुलोंमें दोनों विद्याओंका समान रूपसे अध्ययन होता था और दोनों विद्याओंमें उनकी सुख्याति थी। मेवाड़के महाराज अमरसिंहने एक बार हमसे बातचीतमें कहा था—"अंग्रेजी अमलदारीसे ही क्षत्रियोंका शास्त्रतेज और शस्त्रतेज नष्ट हुआ है।" निःसन्देह महाराजका यह कथन अक्षरशः सत्य है। उस समयके राजाओंमें परमार कुलके मुञ्ज और भोजराज दोनों विद्याओंमें पारङ्गत थे। इतर कुलोंके राजा भी दोनों विद्याओंमें प्रवीण होते थे। काश्मीरका हर्ष सुप्रसिद्ध विद्वान् था। चालुक्य वंशका विनयादित्य प्रसिद्ध गणितज्ञ था। उसे 'गुणक' की यथार्थ पदवी मिली थी। लेखोंमें विद्याके सम्बन्धमें वलभी राजाओंके उल्लेख पाये जाते हैं। सारांश, उस समयके राजपूत, शस्त्रोंकी तरह, शास्त्रोंमें भी अच्छी अभिरुचि रखते थे। वेद-मन्त्रोंका उन्हें उत्तम ज्ञान होता था और वेदोंके अन्तर्गत जो अनेक शास्त्र हैं, उनमें वे पारङ्गत होते थे।

पराशरस्मृतिका काल भी इसी समयके आसपास है। उससे पता चलता है कि उस समय बहुतसे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने खेती करना आरम्भ कर दिया था। इससे पहिले वैश्य ही खेती करते थे, किन्तु अब उन्होंने यह व्यवसाय छोड़ दिया था। इस समय प्रधानतया शूद्र ही इस व्यवसायमें रह गये थे, पर अब ब्राह्मण और क्षत्रिय भी इसे करने लगे। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि बौद्धधर्मका उदय होने पर उसके अधिक अनुयायी वैश्य ही हुए। बौद्धधर्म अहिंसा-प्रधान है और कृषिकार्यमें कृमि-कीटोंकी बहुत हत्या होती है। इसी विचारसे वैश्योंने इस व्यवसायसे हाथ खींच लिया।

बौद्ध धर्मके ह्रासके अनन्तर हिन्दूधर्मकी पुनः स्थापना होने पर वैश्योंके बदले ब्राह्मण-क्षत्रियोंने जीविकाके विचारसे खेती करना आरम्भ तो किया पर उन्हें यह व्यवसाय प्रिय नहीं जँचा। प्रायश्चित्तके मिषसे इस सम्बन्धमें पराशर अपनी स्मृतिमें लिखते हैं—

अतः परं गृहस्थस्य कर्माचारं कलौ युगे।
धर्मं साधारणं शक्यं चातुर्वर्ण्यसमाश्रितम्॥
तं प्रवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशरवचो यथा।
षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्॥
क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत्।
वाहयेत् दिवसस्यार्धं पश्चात्स्नानं समाचरेत्॥
स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः।
निर्वपेत् पञ्चयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत्॥

खेतीके कार्यमें जीवहत्याका पाप होता है, इस बातको स्मृतिकार स्वीकार करते हैं—

संवत्सरेण यत्पापं मत्स्यघाती समाप्नुयात्।
अयोमुखेन काष्ठेन तदेकाहेन लाङ्गली॥

परन्तु पराशर कहते हैं कि दानादिसे इस पातककी निवृत्ति हो जाती है—

वृक्षं छित्वा महीं भित्वा हत्वा च कृमिकीटकान्।
कर्षकः खलु यज्ञेन सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

कृषिसे उत्पन्न हुई वस्तुका तीसवां भाग ब्राह्मणादिको दान करनेसे कृषिजन्य पाप नहीं लगता—

राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैकविंशकम्।
विप्राणां त्रिंशतं भागं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

हमने अपनी पहिली पुस्तकमें लिखा है कि सिन्ध प्रान्तमें कृषिका तीन-शतांश भाग ब्राह्मणोंको दान करनेकी रीति प्रचलित थी और मुसलमानोंके राजत्वकालमें महम्मद कासिमने उसी रीतिके अनुसार एक कानून बना दिया था।

सारांश, उस समय ब्राह्मणोंने कृषिकर्मका स्वीकार किया था और कुछ बन्धन रख कर स्मृतिकारोंने भी इसकी अनुमति दे दी थी।

स्मृतिवचनोंसे यह भी प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणोंकी तरह क्षत्रियादि जातियोंको भी कृषिकर्मका अधिकार था—

क्षत्रियोऽपि कृषिं कुर्यात् देवान् विप्रांश्च पूजयेत् ।
वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥

इससे यही सिद्ध होता है कि सभी वर्णोंको कृषिकर्मका अधिकार था, किन्तु प्रधानतया यह कर्म ब्राह्मण-क्षत्रिय ही किया करते थे। पर सभी क्षत्रिय खेती करते थे, यह नहीं कहा जा सकता। राजपूत क्षत्रिय खेती नहीं करते थे। उन्होंने अपने क्षात्रधर्मका बाना नहीं छोड़ा था। वे दो दलोंमें विभक्त थे—(१) केवल क्षात्रधर्मका पालन करनेवाले और (२) क्षात्रधर्मके साथ कृषिकर्म करनेवाले। इब्न खुर्दादवाके वर्णनमें दोनों भेद स्पष्ट रूपसे दिखाये गये हैं और अबतक उत्तर भारतके राजपूतोंकी तरह दक्षिण भारतके मराठोंमें ये भेद देख पड़ते हैं।

कृषिकर्म शूद्रादि करते थे। उसका अङ्गीकार जिस प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रियादिने किया, उसी प्रकार क्षात्रवृत्तिका स्वीकार क्षत्रियोंके अतिरिक्त अन्य वर्णों अर्थात् ब्राह्मण-वैश्योंने भी किया। क्षात्रधर्मके सम्बन्धमें मनुस्मृति और

वशिष्ठस्मृतिमें मतभेद है। मनुस्मृतिमें लिखा है कि धर्माचरणमें यदि बाधा होती हो, तो द्विजको शस्त्र धारण करना चाहिये (शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते)। पर वशिष्ठने इस नियमकी संकीर्णता इस प्रकार दूर कर दी है—आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्। क्षत्रियस्य तुतन्नित्यमेवरक्षणाधिकारात्। मनुस्मृतिमें 'द्विज' शब्द है, किन्तु वशिष्ठस्मृतिमें 'ब्राह्मण-वैश्य, दोनोंका स्पष्ट उल्लेख है, और केवल धर्मरक्षणके लिए ही नहीं, किन्तु आत्मरक्षाके लिए भी शस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है। सिन्ध प्रान्तके इतिहाससे ज्ञात होता है कि उस समय प्राचीन कालके नियमोंका उल्लंघन नहीं किया जाता था। चच राजाने जाटोंके शस्त्रास्त्र धारण करने और घोड़ेपर चढ़नेके अधिकार छीन लिये थे।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी नियम भी ध्यानमें रखने योग्य है। आपद्धर्म जानकर ब्राह्मण वैश्योंका धन्धा करने लगे थे, परन्तु कुछ वस्तुएँ—यथा नमक, तिल (अपने खेतमें अपने ही परिश्रमसे उत्पन्न तिल बेचनेमें दोष नहीं), शहद, शराब, मांस, गोरस और इसी प्रकारकी अन्य वस्तुएँ—ब्राह्मण नहीं बेच सकते थे। (स्मृतियोंमें गोविक्रयका भी निषेध है।) द्विज और उच्च शूद्र मद्य नहीं बेच सकते थे। द्विजोंके लिए दूध तथा दुग्धजन्य पदार्थ बेचना मना था। दूध सर्वोत्तम पदार्थ है, इसीसे उसकी बिक्री रोकी गयी होगी। उच्च शूद्र दूध और उससे बने पदार्थ बेच सकते थे, हालां कि मद्य बेचनेकी इन्हें भी मनाई थी।

बहुत प्राचीन समयसे यह धर्माज्ञा चली आती है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सूदखोरी न करें। वशिष्ठस्मृतिमें लिखा

है कि सूदमें मूलसे दूनी रकम या तिगुना धान्य लिया जाय। इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिए सूदकी क्रमशः बढ़ती हुई दर बतायी गयी है। यथा—

> द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शते स्मृतम्।
> मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः॥

अब भी यही बात देखी जाती है। इसका कारण यह हो सकता है कि समाजमें उच्च जातियोंकी साख अच्छी रहती है। एक ऐसा भी वचन मिलता है कि तीस रुपयोंपर पांच रुपये सूद लिया जाय ('पंच माषांस्तु त्रिंशद्धर्मो न हीयते)। यह नियम, चाहे शूद्रोंके लिए ही क्यों न हो, असम्भव जान पड़ता है। आजकल शूद्र अधिकसे अधिक २) सैकड़ा सूद देते हैं। हो सकता है कि ३०) पर ५) की दर मासिक न हो कर वार्षिक रही हो।

हिन्दू समाजके सम्बन्धमें अलमसूदीकी सम्मतिका उल्लेख कर विभिन्न जातियोंके परस्पर खानपान-व्यवहारका विचार करना उचित होगा। अलमसूदी कहता है—"ज़ंजी और कृष्ण वर्णकी अन्य जातियोंमें हिन्दू लोग बुद्धि, शारीरिक बल और पवित्रतामें श्रेष्ठ हैं। उनकी शासन-प्रणाली और तत्व-ज्ञानमें भी यही अन्तर देख पड़ता है।"

खान-पानका विचार करते हुए विदेशियोंको अधिकांश हिन्दुओंके मद्यमांस-त्यागपर बड़ा ही आश्चर्य होता था। अत्यन्त प्राचीन समयसे ब्राह्मण मद्यको निषिद्ध समझते ही थे, किन्तु क्षत्रिय राजा भी मद्यको वर्ज्य मानते थे, ऐसा प्रवासियोंने लिखा है। अलमसूदी कहता है—"हिन्दू लोग मद्यको छूते तक नहीं। किसी राजाका मद्यपान यदि सिद्ध

हो जाय, तो वह पदच्युत कर दिया जाता है, क्योंकि उनका विश्वास है कि शराबीका विवेक और विचार नष्ट हो जाता है" (इलियट १, २०)। इब्न खुर्दादबाका कथन इससे कुछ विचित्र है। वह कहता है—"हिन्दू लोग और हिन्दू राजा शराब बनाना पाप नहीं समझते, किन्तु शराब पीना पाप समझते हैं।" इस वाक्यका उत्तरार्ध हिन्दू जातिके लिए गौरवास्पद है। धर्मशास्त्रने क्षत्रियोंको मद्यपानका सुभीता कर दिया है, किन्तु मेवाड़के सिसोदिया राजाओं जैसे क्षत्रियोंने मद्यको निषिद्ध माना था और इस समय भी मानते हैं। सुलेमान कहता है कि क्षत्रिय लोग मद्यके तीन ही प्याले पीते थे। परन्तु सब क्षत्रियोंके लिए यह नियम लागू नहीं था। वैश्योंमें मद्यपानकी प्रथा नहीं थी, तो भी कुछ वैश्य मद्य पीते थे।

मांसाशनका निषेध बौद्ध धर्मके प्रचारके कारण विशेष रूपसे हुआ और इसके लिए बौद्धमतानुयायी राजा हर्षने बहुत परिश्रम किया। उस समय ब्राह्मणोंमें भी मांस खानेकी प्रथा लुप्त हो चली थी, परन्तु समूल नष्ट नहीं हुई थी। इद्रीसी कहता है—"वे (ब्राह्मण) लोग किसी जीवका मांस नहीं खाते।" परन्तु यह वर्णन हिन्दू, बौद्ध और जैन संन्यासियोंपर लागू हो सकता है, अन्य गृहस्थोंपर नहीं। उक्त लोगोंका वह इस प्रकार वर्णन करता है—"पुरुष और स्त्रियाँ दोनों अपनी विशिष्ट जातिका सूचक पीला वस्त्र यज्ञोपवीतकी तरह गलेमें धारण करते थे।" ब्राह्मण यज्ञोपवीत धारण करते हैं पर वह पीला नहीं होता और बौद्ध तथा जैन यति पीत वस्त्र पहिनते हैं, पर यज्ञोपवीत धारण नहीं करते। अतः उक्त वर्णन कुछ विशिष्ट ब्राह्मणोंका ही जान पड़ता है। अबतक उत्तर भारतके कुछ ब्राह्मण मांसको निषिद्ध

नहीं मानते। अर्वाचीन स्मृतिग्रन्थोंमें मांसाशनका निषेध है, परन्तु व्यासस्मृतिमें लिखा है कि श्राद्धमें निमन्त्रित हुआ ब्राह्मण अवश्य मांस भक्षण करे, नहीं तो वह पतित होता है।

नाश्नीयाद्ब्राह्मणो मांसमनियुक्तः कथंचन।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा नाश्नन्पतति वै द्विजः॥

इससे जान पड़ता है कि नैमित्तिक यज्ञादि और नित्य श्राद्धादि प्रसङ्गोंमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंके घर मांसयुक्त पदार्थ बनते थे। वैश्यके श्राद्ध-प्रसंगमें मांसाशन निषिद्ध नहीं था, यह इस श्लोकसे स्पष्ट होता है—

मृगयोपार्जितं मांसमभ्यर्च्य पितृदेवताः।
क्षत्रियो द्वादशोनं तत्क्रीत्वा वैश्योऽपि धर्मतः॥

परन्तु साधारणतः यह नियम था कि ब्राह्मण हत्या न करे और मांस भी न खाये।

द्विजो दग्ध्वा वृथा मांसं हत्वाप्य विधिना पशून्।
निरयेष्वक्षयं वासमाप्नोत्या- चन्द्र- तारकम्॥

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण गाय और भैंसको छोड़ अन्य किसी प्राणीका दूध न पीये, प्याज तथा अन्य हीन शाक न खाये इत्यादि, बहुतसे नियम रूढ़ थे। गाय तथा व्याघ्रादिके मांसका भक्षण चारों वर्णोंके लिए निषिद्ध था, किन्तु चाण्डा-लादि इस निषेधको नहीं मानते थे, इस कारण उन्हें गाँवसे बाहर रहना पड़ता था। उनका स्पर्श अशुचिकर माना जाता था। यही नहीं, ऐसे बहुतसे स्मृति-वचन हैं कि चाण्डालादि मार्गके किनारेसे चलें और इस बातकी सावधानी रखें कि उनकी छाया किसी अन्य वर्णके मनुष्यको न छू जाय।

उस समय उच्च वर्णके लोगोंमें परस्पर खानपानका व्यवहार प्रचलित था, यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखने योग्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक साथ बैठकर भोजन करते थे। यही नहीं, कुछ अच्छे शूद्रोंको भी वे साथ ले लेते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके एकत्र भोजनका कहीं निषेध नहीं है, उलटे सम्मतिसूचक विधिवाक्य ही अनेक स्मृतियोंमें पाये जाते हैं। व्यासस्मृतिमें लिखा है—

धर्मेणान्योन्य भोज्यान्ना द्विजास्तु विदितान्वयाः।

एकत्र भोजन-प्रसङ्गमें केवल इतना जान लेना आवश्यक था कि हम जिनके साथ भोजन कर रहे हैं वे द्विज हैं। वशिष्ठ-स्मृतिमें लिखा है।

नापितान्वयमित्रार्द्धसीरिणो दास गोपकाः।
शूद्राणामप्यमीषां तु भुक्त्वान्नं नैव दुष्यति॥

अर्थात् नाई, अपने कुलके मित्र, शीरी, नौकर और चरवाहा यद्यपि शूद्र हैं, तथापि उनके साथ खानपान करनेमें कोई हानि नहीं है। यह अवश्य ही ध्यानमें रखना चाहिये कि उस समय विभिन्न जातियोंके खानपानमें कोई भेद नहीं था और ब्राह्मण भी मांस खा सकते थे। अनुलोम विवाहकी तरह सहभोजके प्रचारसे उस समय समाजमें सजीवता और एकजीवता विद्यमान थी, इसमें सन्देह नहीं।

उस समयके पहनावे—वस्त्र, अलङ्कार, आभूषण आदि—का एतद्देशीय ग्रन्थोंमें विशेष वर्णन नहीं है। मूर्तियों और चित्रोंसे भी ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। केवल तत्कालीन अरबी प्रवासियोंके ग्रन्थोंसे इसका कुछ पता चलता है। उनके लेखोंसे ज्ञात होता है कि सिन्ध प्रान्त, मुलतान तथा पश्चिमके

जिन प्रान्तोंमें अरबोंका प्रभुत्व था वहाँके हिन्दुओंके पहनावेमें बहुत परिवर्त्तन हो गया था। अलइस्ताखरी लिखता है—"मनसुरा प्रान्तके हिन्दुओंका पहनावा इराक-निवासियोंकी तरह हो गया है; किन्तु वहाँके राजाका पहनावा और केशकलाप हिन्दुओं जैसा ही होता है" (इलियट १–२७) । इब्न हौकलने भी ऐसा ही वर्णन किया है। अन्तर केवल यही है कि उसने 'केशकलाप' के बदले 'पाजामा' लिखा है। बल्हारा राज्यके लोगोंके सम्बन्धमें वह लिखता है—"वहाँके हिन्दु-मुसलमानोंके पहनावेमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों दाढ़ी बढ़ाते हैं और प्रखर उष्णताके कारण मलमलके कपड़े पहनते हैं। मुलतानी लोगोंकी पोशाक भी इन्हीं लोगोंकी सी होती है।" (इलियट १–३८) मन्सूरा (सिन्ध) प्रान्त और बल्हारा राज्यके लोगोंके केवल कटिवस्त्रोंमें ही भिन्नता थी। सिन्धके लोग पाजामा पहनते और पंजाब तथा दक्षिणके लोग पहिलेकी तरह धोती ही धारण करते थे। इनकराम (परशियाके सीमा प्रान्त) के साधारण लोग चुस्त बण्डी (मिरजई) पहिनते थे; किन्तु व्यापारी लोग कुरते, अंगे और लम्बे लबादे धारण करते थे।

भारतवासियोंमें अलङ्कारोंकी अभिरुचि बहुत प्राचीन कालसे पायी जाती है। अरबी प्रवासियोंको भारतीय राजपुरुषोंके कर्णकुण्डलोंका बड़ा कौतूहल जान पड़ता था। अबूज़ैदने लिखा है—"भारतीय राजाओंमें रत्नजटित स्वर्णकुण्डल धारण करनेकी प्रथा बहुत प्राचीन समयसे चली आ रही है।" पेशवाओंके राजत्वकालतक यह प्रथा प्रचलित थी, यह नाना फड़नवीसके चित्रसे स्पष्ट हो रहा है। स्मृतियोंमें भी लिखा है कि गृहस्थाश्रमी पुरुष कुण्डलोंको धारण करे

(धारयेद्रुक्म कुण्डले—वशिष्ठः)। पंजाबमें इस प्रथाका अवशेष अवतक देख पड़ता है। वही लेखक लिखता है—"वे (भारतीय राजपुरुष) माणिक और पन्नेके कण्ठे धारण करते हैं और मोतियोंकी मालाएँ पहिननेकी उनमें विशेष अभिरुचि होती है।" मुक्तामालाओंके धारणकी अभिरुचि अवतक धनाढ्य व्यापारियों और राजाओंमें देख पड़ती है। तब धनिक स्त्रियों और पुरुषोंके कण्ठोंमें मोतियोंके कण्ठे देख पड़ते थे। राजशेखरके एक नाटकमें वर्मकुलसे कन्नौज-राजके बहुमूल्य मुक्तामाल खरीदनेका उल्लेख है। सारांश, इस समय तकके ग्रन्थोंमें सुहागिन स्त्रियोंका प्रधान सौभाग्यालंकार मानी जानेवाली नथका उल्लेख नहीं है। हमारा मत तो यह है कि नथ पहिननेकी रीति हिन्दुओंने मुसलमानोंसे ग्रहण की है।

लोगोंकी यह धारणा ठीक नहीं है कि हिन्दुओंने मुसलमानोंकी देखादेखी परदेकी प्रथा चलायी है। रामायणमें लिखा है कि विवाहादि मङ्गल-कार्योंमें, यज्ञमें अथवा सङ्कटके समयमें स्त्रियाँ परदेसे बाहर रह सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे और समय परदेमें रहती थीं। मुसलमानोंमें प्राचीन समयसे परदेकी प्रथा है। उनकी स्त्रियाँ किसी समय परदेसे बाहर नहीं आ सकतीं। किन्तु हिन्दुओंमें यह प्रथा इतनी कड़ी कभी नहीं थी। इस सम्बन्धमें अबू ज़ैदका मत कुछ विचित्रसा जान पड़ता है। वह लिखता है—"भारतीय राजाओंकी सभाओंमें राजस्त्रियाँ अपने और पराये लोगोंके सामने स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करती (आती जाती) थीं।" (इलियट) मलाबार प्रान्त और दक्षिणके कुछ भागकी राज-सभाओंमें स्त्रियोंको ऐसी स्वतन्त्रता रही होगी; क्योंकि वहाँ यह प्रथा कभी थी ही नहीं; किन्तु उक्त वर्णन उत्तर भारतकी राज-सभाओंके लिए

लागू नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ परदेकी प्रथा बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है। अबू ज़ैदने सम्भवतः भारतीय राज-सभाओंकी स्त्री-सेविकाओंको देखकर ऐसा वर्णन किया है। बाणभट्टने हर्षकी राज-सभाकी स्त्री-सेविकाओंका मनोरञ्जक वर्णन किया है; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय पटरानियाँ भी परदा त्याग कर राज-सभाओंमें आती जाती थीं। उत्तर भारतकी तरह महाराष्ट्रमें भी परदा-प्रथा पुरानी है। परन्तु वह क्षत्रियोंमें ही विशेष रूपसे प्रचलित है, अन्य जातियोंमें नहीं।

बालविवाहकी प्रथाके सम्बन्धमें भी ऐसा ही भ्रम फैला हुआ है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि जब मुसलमान भारतमें आये, तब वे हिन्दू कुमारिकाओंका बलपूर्वक अपहरण कर उनसे निकाह करने लगे; इसका प्रतिकार करनेके लिए ही बालविवाहकी प्रथा इस देशमें प्रचलित हुई; परन्तु इस धारणामें, हमारी समझमें, सत्यांश बहुत ही कम है। जेता जातिकी पाप-वासनाओंकी रोक विजित जातिकी स्त्रियोंके शीघ्र विवाहसे कैसे हो सकेगी? कामी पुरुष जिस स्त्रीपर आसक्त होता है उसके सम्बन्धमें यह विचार नहीं करता कि उसका विवाह हुआ है या नहीं। यह भी सम्भव नहीं कि जिस स्त्रीका बचपनमें विवाह हो गया हो उसका कोई बला-त्कारसे हरण कर ही नहीं सकता। हमारी समझमें बाल-विवाहका कारण कुछ और है। यह प्रथा मुसलमानी राज्यके समयसे नहीं किन्तु उससे बहुत पूर्व कालसे प्रचलित थी। बाणभट्टने राज्यश्रीके विवाहका जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि उसके समयमें प्रौढ़विवाह प्रचलित था। परन्तु पराशर और व्यासकी स्मृतियोंमें, जो इसी समय

लिखी गयीं, वालविवाहका समर्थन किया गया है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वाणभट्टके पश्चात् और मुसलमानी राजत्वकालसे पहिले वालविवाहकी प्रथा प्रचलित हुई। पराशर और व्यासस्मृतिमें कन्याके विवाहकी वयोमर्यादा आठसे दस वर्षतककी बतायी है। "विवाहयेदष्टवर्षामेवं धर्मो न हीयते"—यह पराशर स्मृतिका वचन है। व्यासके मतसे जवतक कन्या पूरी साड़ी न पहिनती हो, केवल लहँगा पहनती हो, तभी उसका विवाह कर देना चाहिये। "धृताधोवसनां गौरी" यह 'गौरी' शब्दका व्यासकृत अर्थ है। पराशरके मतसे आठ वर्षकी कुमारी 'गौरी' कहलाती है। परन्तु अमरकोषमें जो रजस्वला न हुई हो, उस कुमारिकाको 'गौरी' कहा है। उक्त स्मृतिकारोंके समयमें ही वालविवाहकी प्रथा प्रचलित हुई, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु इसका कारण वताना कठिन है। वौद्धधर्मके विरुद्ध जो आन्दोलन खड़ा हुआ, हमारे मतसे, उसीसे इसका सम्वन्ध है। वौद्धधर्मके अनुसार अविवाहित युवती स्त्रियाँ तपस्विनी हो सकती हैं। कन्याओंका विवाह वाल्यावस्थामें ही कर देनेसे वे तपस्विनी नहीं हो सकेंगी, यही विचार कर उस समय वालविवाह रूढ़ हुआ होगा। अनार्य लोगोंमें वालविवाह वहुत प्राचीन कालसे प्रचलित था ही, समय पाकर उसी प्रथाका अनुकरण आर्योंने भी किया। अति पुरातन स्मृतियों और गृह्यसूत्रोंको वालविवाह सम्मत नहीं था। पुरानी स्मृतियों और गृह्यसूत्रोंमें कहा है कि विवाह-संस्कार होते ही गर्भाधान-संस्कार करना चाहिये। वाणभट्टने लिखा है कि राज्यश्रीका गर्भाधान-संस्कार विवाह होते ही किया गया था। सारांश, वौद्धधर्मको दवाने या उससे वचनेके लिए ही आर्योंमे वालविवाहकी प्रथा प्रच-

लित हुई। उस समयके क्षत्रियोंमें यह प्रथा थी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। बिल्हणके काव्यसे प्रतीत होता है कि क्षत्रियोंमें यह प्रथा नहीं थी, परन्तु उनमें इस प्रथाके प्रचलित होनेके अन्य प्रमाण दिये जा सकते हैं।

बालविवाहकी प्रथा उसी समय दृढ़मूल होनेके और भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। व्यासस्मृतिमें लिखा है—

"यदि सा दातृवैकल्याद्रजः पश्येत्कुमारिका।
भ्रूणहत्याश्च यावताः पतितः स्यात्तदप्रदः॥"

विवाहसे पूर्व यदि कन्या ऋतुमती हो जाय, तो उसके पिताको भ्रूणहत्याका पाप लगता है। गृह्यसूत्रोंसे यह नहीं प्रतीत होता कि पूर्वकालमें कुमारिकाओंके विवाहके लिए रजोदर्शनका प्रत्यवाय माना जाता था। कालिदासके समयमें भी स्त्रियोंके विवाह रजोदर्शनके पश्चात् ही होते थे। शकुन्तलाका विवाह प्रौढ़ अवस्थामें हुआ था, यह तो शाकुन्तल नाटकसे ही स्पष्ट है। शकुन्तला सयानी हो गयी थी, परन्तु कण्व ऋषिने कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं किया कि उसका शीघ्र विवाह न कर देनेसे भ्रूणहत्याका पातक होगा। रजोदर्शनके पश्चात् कुमारिकाका विवाह करनेसे भ्रूणहत्याका पातक होता है, यह जबसे शास्त्रकारोंने निश्चित किया तभीसे समाजसे प्रौढ़-विवाहका लोप हो चला। पराशर-स्मृतिमें रजोदर्शनकी काल्पनिक मर्यादा बतायी गयी है। कुमारिकाका दसवाँ वर्ष आरम्भ होते ही उसे रजस्वला समझ लेनेका एक नया नियम इस स्मृतिमें लिखा है

पतिके निधनके पश्चात् वैधव्य दशामें जीवन बितानेकी प्रथा हिन्दू समाजमें बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है।

आलोच्य समयमें भी इस प्रथामें परिवर्तन नहीं हुआ। उलटे इसका दीनतासूचक और घृणित स्वरूप प्रकट हुआ। वाल-विवाहकी प्रथा प्रचलित होनेसे वालविधवाओंकी भी संख्या बढ़ गयी और वर्तमान समयकी तरह उनकी दशा भी करुणा-जनक हो गयी। उक्त समयके शास्त्रकारोंने वालविधवाओंकी दशा सुधारनेका कुछ प्रयत्न किया। उन्होंने ऐसी विध-वाओंको. जो रजस्वला होनेसे पूर्व विधवा हो गयी हों, पुनः विवाह करनेकी आज्ञा दे दी। इस आज्ञासे उस समयकी वालविधवाओंकी दशा आजकलकी अपेक्षा कुछ अच्छी ही थी। पतिके साथ सती होनेकी पुरानी प्रथा भी उस समय प्रचलित रही होगी। पहिले भागमें कहा गया है कि तव राजाके विश्वस्त नौकर भी राजाके साथ भस्मीभूत हो जाते थे। इस सम्बन्धमें अबू ज़ैदने एक वड़ी ही मनोरंजक वात लिखी है। वह लिखता है—"भारतके कुछ राजवंशोंमें एक विचित्र प्रथा प्रचलित है। राजाके राज्यारोहणके अवसरपर वटके पत्तल-पर थोड़ासा भात परोसा जाता है। कुछ भात तो राजा खाता है और वाकी उसके विश्वासपात्र सेवक स्वेच्छासे खाते हैं। राजा जब मरता है, तव उसके वे सब विश्वासपात्र सेवक, जिन्होंने उक्त भात खाया है, राजाके शवके साथ अपना शरीर भी अग्निको अर्पण कर देते हैं।"

अति वृद्ध हो जानेपर किसी तीर्थक्षेत्रमें जाकर आत्मघात करनेकी प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। अरबी प्रवासियोंके ग्रन्थोंमें इसके प्रमाण मिलते हैं। एक ताम्रलेखका उल्लेख पहिले हो चुका है, जिसमें लिखा है कि चन्देल राजवंशके धंग-राजने अपनी जीर्ण देह प्रयागमें जाकर गंगामें विसर्जन की थी। अबूज़ैदने लिखा है—"स्त्रियों अथवा पुरुषोंके वृद्धावस्थाके कारण

विकल हुए शरीरोंको उनके कुटुम्बी चितामें जला देते अथवा जलमें बहा देते हैं" (इलियट १)। प्रयागके जिस वृक्षसे कूदकर बुड्ढे लोग अपना शरीर गंगामें अर्पण करते थे, उस वृक्षका वर्णन आधुनिक अरबी प्रवासियोंने भी किया है। इससे प्रतीत होता है कि ईसाकी दसवीं शताब्दी (वि० ६५८-१०५७) में भी यह प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इस प्रकार आत्मसमर्पण करनेकी घटना यदाकदा ही होती थी क्योंकि हिन्दूधर्मशास्त्रमें आत्महत्या करना पाप माना गया है।

मृत देहका दहन करने और मृतकोंके लिए शोक तथा अशौच (सूतक) मनानेकी प्रथा हिन्दू समाजमें बहुत पुरानी है। अरबी प्रवासियोंके यात्रा-वर्णनोंमें इसका उल्लेख है। "हिन्दू लोग मृत देहको जला देते हैं, दफनाते नहीं। भारतके मुसलमान शवको रात्रिमें गुप्तरूपसे गाड़ते हैं और वे हिन्दुओंकी तरह मृतकके लिए विलाप नहीं करते।"

गुजरात प्रान्तके लोगोंके आहारके सम्बन्धमें अल इद्रिसी लिखता है—"नहरवाड़के लोगोंका प्रधान आहार चावल है। कोई कोई मटर, बाजरा आदि निकृष्ट (मोटा) धान्य, खिचड़ी तथा मछली आदिपर भी निर्वाह करते हैं। कभी कभी मरे जीवोंके मांसको भी खाते हैं, परन्तु अपने आहारके लिए वे कभी किसी पशु अथवा पक्षीकी हत्या नहीं करते। गायों और बैलोंके प्रति उनमें बड़ा आदर है। मृत गाय-बैलोंको वे गाड़ देते हैं। थके बूढ़े बैलोंसे वे कभी काम नहीं लेते, अधिकन्तु उनका भलीभांति पालन करते हैं।"

अन्तमें हिन्दुओंकी सचाईके सम्बन्धमें अरबी प्रवासियोंके लिखे वर्णनोंमेंसे एक अवतरण यहां देकर यह प्रकरण समाप्त किया जायगा। अत्यन्त प्राचीन समय, अर्थात् जब ग्रीकोंका

हिन्दुस्थानसे परिचय हुआ तबसे, ई० दसवीं शताब्दीतकके सब विदेशी पर्यटकों या व्यापारियोंने हिन्दू लोगोंकी सचाई और नीतिमत्ताकी प्रशंसा ही की है। गुजरातके लोगोंके सम्बन्धमें अल इद्रिसी लिखता है—"न्याय और नीतिमत्ता (सच्चरित्रता) की ओर हिन्दुओंकी स्वाभाविक रूपसे प्रवृत्ति होनेके कारण उनके आचरणमें सचाई और विश्वासपात्रता सर्वदा देख पड़ती है। इन गुणोंमें सुविख्यात होनेसे विदेशी लोग भी उनसे सहानुभूति रखते हैं। हिन्दू लोगोंकी सचाई ही उनके वैभव और अभ्युदयका प्रधान कारण है।"

टिप्पणी—उस समयके हिन्दुओंके नाम।

हिन्दुस्थानके विभिन्न प्रान्तोंके लोगोंके नामोंकी एक निश्चित सी रीति वर्तमान समयमें बन गयी है। प्रायः सब नाम देवी-देवताओंके ही होते हैं। महाराष्ट्रमें गणेश नाम रखा जाता है, तो संयुक्त प्रान्त या पंजाबमें गणेशप्रसाद या गणेशीलाल नाम रखते हैं। बंगालके नाम देवताओंके ही होने पर भी उनमें काव्यकी छटा होती है। जैसे—श्यामसुन्दर, पार्थसारथी इत्यादि। देवी-देवताओंके नाम रखनेकी रीति दसवीं शताब्दीमें उतनी प्रचलित नहीं थी, जितनी इस समय है, किन्तु कुछ तो अवश्य ही थी। ग्वालियर और सियाडोनीके शिलालेखोंमें कुछ व्यापारियों, मालियों और तेलियोंके नाम उनके व्यवसाय सहित विस्तारपूर्वक दिये गये हैं। वे जिज्ञासु पाठकोंके सुभीतेके लिए यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

१ चन्दुक—सौगतका पुत्र—व्यापारी।

२ चन्दुक, साहल, माहप—सौगतके पुत्र—व्यापारी।

३ नागक—व्यापारी। [इसने विष्णुमंदिरके लिए कुम्हारोंसे स्थिर सहायताका प्रबन्ध कराया। वह इस प्रकार था कि सब कुम्हार फी पीपा 'अर्ध विग्रहपाल द्रम्म' (एक प्रकारका सिक्का) की शराब

विष्णुमन्दिरके लिए दें। यदि शराब न दे सकें, तो 'अर्ध विग्रहपाल द्रम्म' ही दे दें।]

४ नागक—चन्दुकका पुत्र।

५ वासुदेव।

६ केशव—तमोली, इसने अपनी बेगार दी थी।

७ शिलुक—महापामरका पुत्र।

१० नागक—चन्दुक नामक व्यापारीका पुत्र। (इसने कलवारोंको शराब बनानेके लिए १३५० 'आदिवराह द्रम्म' इस शर्तपर दिये थे कि वे फी पीपा 'अर्ध विग्रहपाल द्रम्म' अलग कर वह रकम मासके अन्तमें देवताकी सेवा-पूजाके लिए देंगे।)

११ भैलु—गोविन्द नामक व्यापारीका पुत्र।

१२ धमाक—तमोली।

१३ शवर और माधव—तमोली। [इन्होंने पानकी फी 'पलेक' (गड्डीया ढोली) १/२० द्रम्म देव-सेवाके लिए देनेका प्रबन्ध किया था।]

१४ शावस—इसने वीथी (?) दी थी।

१५ नागक—यह कोल्हूमें प्रत्येक बार पेरे जाने वाले तैल-बीजोंके पीछे एक पलिका (करछुल या पली) तेल देता था।

१६ भालुवाकादि—संगतराश या शिलावट। (यह प्रत्येक गढ़ाईके पीछे अर्धद्रम्म देता था।)

१७ महादित्य और मोहल—पप्पाके पुत्र—व्यापारी।

१८ देदैक, वाली, रुदक,—जाजूके पुत्र; चित्रक—शावका पुत्र—इन सबोंने मिलकर चतुष्कहात 'वीथी' दी।

१ वरजार— ×

२ नागरभट्ट कुमार।

३ वैल्लभट्ट।

४ कामरुक (यह अल्ल है)

५ जज्जा (स्त्रीका नाम है)

६ अल्ल (पुत्रका नाम है)

७ कन्दुक।

८ ववा (अल्लकी स्त्री)—ब्राह्मण।

९ सोमटा (अल्लकी कन्या)

१० गोग्गा (अल्लकी दूसरी स्त्री)

११ सिता (अल्लकी दूसरी स्त्री) ब्राह्मण
१२ इसटा ,, ,,
१३ वञ्चीयाक—व्यापारी।
१४ इच्छुवाक— ,,
१५ सोंगदाक—खेतिहर।
१६ दप्पक—(इच्छुवाकका पुत्र)
१७ मोचक—तेली।
१८ सर्वस्वक—(मोचकका पुत्र)
१९ शिवधारी— ,,
२० सहुल्ल ,,
२१ संगाक— तेली।
२२ गग्गीक— ,,
२३ देलवाक— ,,
२४ जज्जट— ,,
२५ वाच्छटक— ,,
२६ गोग्गाक— ,,
२७ देहक— ,,
२८ जंयीक— ,,
२९ रुद्रट— ,,
३० जंवहरी—ये सब तेली हर एक घानी (कोल्लुक) पीछे एक पली तेल देवसेवाके लिए देते थे।
३१ सिंघाक— तेली।
३२ वल्लक— ,,
३३ लोहदाक— ,,
३४ महार्गलीक— माली।
३५ तिल्लक— ,,
३६ देदुक— ,,
३७ जासक— ,,
३८ वहुलाक— ,,
३९ सिद्दुक— ,,
४० जंवूक— ,,
४१ सहदाक— ,,
४२ दन्तिक— ,,
४३ दुर्गधारी— ,,
४४ नन्नुमाक— ,,
४५ वनमाक— ,,
४६ दौंतक— ,,
४७ वंटाक— ,,

इन सब मालियोंने मिलकर फूलोंके पचास हार प्रतिदिन देवताको देना स्थिर किया था।

टिप्पणी २—अनुलोम विवाह और स्मृतिग्रन्थ।

जुदे जुदे समयमें लिखे गये स्मृतिवचनोंसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय अनुलोम विवाह कहाँतक प्रचलित थे और अनुलोम विवाहोंसे उत्पन्न सन्तानकी श्रेणियाँ कब कब किस प्रकार बदलती गयीं, इसी उद्देश्यसे स्मृतिवचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। राष्ट्रके अनेक

उलट-फेरोंका विवरण लिख रखना जिस प्रकार इतिहास-लेखकोंका प्रधान कर्तव्य है, उसी प्रकार समाजके वैवाहिक बन्धनोंमें कैसे कैसे उलट-फेर होते गये, इसका ऊहापोह करना समाजशास्त्रज्ञोंका कर्तव्य है । परन्तु यहाँ समाजशास्त्रज्ञके नाते नहीं, केवल इतिहासकी दृष्टिसे स्मृतिवचनोंकी आलोचना की जाती है । इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू समाजमें अनुलोम विवाह प्रचलित थे । प्रतिलोम विवाहोंको सभी स्मृतिकारोंने निन्द्य माना है, इस कारण उनका विचार यहाँ नहीं किया गया । अनुलोम विवाहकी इस आलोचनासे पाठक समझ जायँगे कि यह प्रथा समाजसे किस प्रकार धीरे धीरे उठ गयी ।

अनुलोम विवाहके सम्बन्धमें मनुस्मृतिमें लिखा है—

स्त्रीष्वनन्तर जातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६–१०
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥ ७–१०
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठोनाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥८–१०

"पतिके वर्णके निकटकी जातिकी पत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तान (मातृ-पक्षकी ओरसे कुछ हीनता आजानेपर भी) पतिकी जातिकी ही मानी जानी चाहिये । यही रीति अनादिकालसे प्रचलित है । पति श्रेष्ठ जातिका हो और पत्नीका उससे एक या दो जातियों (वर्णों) का अन्तर हो, तो उसके लिए निम्न लिखित नियम हैं । ब्राह्मण पति और वैश्य पत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तानको अम्बष्ठ और ब्राह्मण पति तथा शूद्रा पत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तानको निषाद या पारशव समझना चाहिये ।" मिश्र विवाहकी यह प्रथा हिन्दू समाजमें ईसवी सन्‌के आरम्भतक प्रचलित थी । अब देखना चाहिये कि इसमें कैसे कैसे परिवर्तन होता गया ।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें शूद्रासे विवाह करनेका निषेध नहीं है, किन्तु याज्ञवल्क्यका अपना यही मत था कि श्रेष्ठ जातिके लोग शूद्रासे विवाह न

करें। पारशव बाणभट्टके भ्राता थे, इससे प्रतीत होता है कि ई० स० ६०० (वि० ६५७) तक शूद्रासे विवाह करनेकी प्रथा बन्द नहीं हुई थी। इसके बाद जो स्मृतियाँ बनीं, उनमें शूद्रासे विवाह करनेका स्पष्ट निषेध है। उदाहरणार्थ, व्यासस्मृतिमें लिखा है—

"उद्वहेत् क्षत्रियां विप्रो वैश्यां च क्षत्रियो विशाम्।
न तु शूद्रां द्विजः कश्चिन्नाधमः पूर्ववर्णजाम्॥"

द्विज यदि शूद्राको ब्याह ले, तो उसे वृषलीपति कहते थे और उसकी अनेक स्मृतियोंमें घोर निन्दा की गयी है। पराशरस्मृतिमें तो यहांतक लिखा है कि उससे न कोई भाषण करे, न अन्नोदक-व्यवहार ही करे— "असंभाष्योऽह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः।"

राजशेखर कविके विवाहसे स्पष्ट है कि क्षत्रिय-कुमारिकाओंके साथ ब्राह्मणोंके विवाह ईसाकी दसवीं सदी (वि० १०५७) तक होते थे। राजशेखरने स्वयं लिखा है कि उसकी पत्नी चाहमान क्षत्रिय कुलकी थी। मनुके समयमें ब्राह्मण पति और क्षत्रिय पत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तान ब्राह्मण मानी जाती थी। याज्ञवल्क्य इससे सहमत नहीं हैं। उन्हें 'एकान्तर' अथवा 'अन्यतर' स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्ततिका भेद मान्य नहीं है। ऐसी सन्ततिको उन्होंने एक नयी संज्ञा दी है। उनका कहना है— "सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।" सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तान ही अपने वर्णकी होती है। क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न हुई ब्राह्मण सन्तति 'मूर्धावसिक्त', वैश्य स्त्रीसे उत्पन्न हुई 'अम्बष्ट' और शूद्रोंसे उत्पन्न हुई 'निषाद' अथवा 'पारशव' कहाती है।

"विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम्।
अम्बष्टो शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि सः॥"

व्यासने इस मतमें थोड़ा ही परिवर्तन किया है। वे कहते हैं—

"विप्रवद्विप्रविप्रासु क्षत्रविप्रासु क्षत्रवत्।
वैश्यासु विप्रक्षत्राभ्यां ततः शूद्रासु शूद्रवत्॥"

इस श्लोकका ठीक अर्थ समझमें नहीं आता। परन्तु तीसरे चरणसे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-क्षत्रियसे उत्पन्न हुई वैश्य स्त्रीकी सन्तति वैश्य जातिकी समझी जाती थी। इससे यह भी अनुमान होता है कि ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तान क्षत्रिय मानी जाती थी। याज्ञवल्क्यने उसकी 'मूर्धावसिक्त' नामसे जो पृथक् श्रेणी बनायी है, वह नहीं बनी थी और उसे मनुके मतानुसार ब्राह्मण जातिके अधिकार भी नहीं थे। परन्तु उसी स्मृतिमें यह भी लिखा है कि ब्राह्मणों अथवा अन्य-वर्णके लोगोंने प्रथम सवर्णा स्त्रीसे विवाह कर, फिर यदि अन्य जातिकी स्त्रीसे विवाह किया हो और उससे यदि सन्तान उत्पन्न हो, तो उसे सवर्ण ही मानना चाहिये।

"ऊढायां हि सवर्णायामन्यां वा काममुद्वहेत्"।

यह वचन पूर्वोक्त वचनके कुछ विरुद्ध है। अस्तु, औपनस स्मृतिमें तो यह स्पष्टरूपसे कहा गया है कि ब्राह्मणकी क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान क्षत्रिय ही समझी जानी चाहिये।

"नृपायां विधिना जातो विप्रान्नृप इति स्मृतः।"

व्यासस्मृतिकी तरह इस स्मृतिमें भी कुछ परस्पर विरुद्ध वचन हैं। इसमें यह भी लिखा है कि क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न ब्राह्मणकी सन्तान 'सुवर्ण ब्राह्मण'के नामसे अभिहित होती है। परन्तु इस प्रकारके ब्रह्म-क्षत्र-विवाह-प्रसङ्गमें कुछ विधि यथोचित रूपसे कर लेनी चाहिये। परन्तु इसी स्मृतिमें सुवर्ण ब्राह्मणोंके जो धर्म बताये हैं, वे क्षत्रियोंके ही विशिष्ट धर्म हैं। यथा—

"अश्वं रथं हस्तिनं च वाहयेत् वा नृपाज्ञया।
सेनापत्यं च भैषज्यं कुर्याज्जीवेच्च वृत्तिषु॥"

इससे स्पष्ट है कि इस प्रकारकी सन्तति क्षत्रिय ही कहलाती थी। निम्नलिखित वचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न हुई ब्राह्मण-सन्तान जिस प्रकार क्षत्रिय समझी जाती थी उसी प्रकार वैश्य स्त्रीसे उत्पन्न हुई क्षत्रिय-सन्तान वैश्य ही मानी जाती थी।

" नृपाज्जातोऽथ वैश्यायां गृह्यायां विधिना सुतः।
वैश्यवृत्या हि जीवेत क्षत्रधर्मं न कारयेत् " ॥

यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि असवर्ण स्त्रीसे विवाह करना केवल श्रीमान् क्षत्रियों अथवा अति विद्वान् या सत्ताधारी ब्राह्मणोंके लिए ही सम्भव था; साधारण लोग असवर्ण विवाह क्वचित् कर पाते थे।

क्षत्रियोंमें वैश्य स्त्रियोंसे विवाह कर लेनेकी प्रथा प्रायः प्रचलित थी। व्यासस्मृतिमें लिखा है कि "प्रथम सवर्ण स्त्रीसे विवाह कर लेना चाहिये; फिर यदि इच्छा हो, तो हीन जातिकी स्त्रीके साथ भी विवाह कर लिया जा सकता है।" इस वचनका पालन प्रायः क्षत्रिय ही किया करते थे। उनकी पहिली स्त्री क्षत्रिया और दूसरी वैश्य हुआ करती थी। जयपुरमें हमने सुना था कि इस प्रकारकी क्षत्रियकी व्याहता वैश्य भार्याको "गूजरी" कहते हैं। सम्भवतः ऐसी परिणीता स्त्रियां सशक्त और सुडौल जाट अथवा गूजर जातिकी होती होंगी। हमने अपना यह तर्क पहिले ही प्रकट कर दिया है कि जाट अथवा गूजर पहिले वैश्य थे और प्राचीन कालसे वे कृषि और गोरक्षाका कर्म करते थे।

सोलहवाँ प्रकरण।

राजनीतिक परिस्थिति।

राजनीतिक कल्पनाओंकी उत्क्रान्ति और अभिवृद्धि पाश्चात्य और पौर्वात्य देशोंमें भिन्न रीतिसे क्यों और कैसे हुई और भारतवर्षमें स्वराज्यनिष्ठाका उदय तथा विकास किन विशिष्ट कारणोंसे हुआ, इसका सविस्तर विवेचन हमने इस ग्रन्थके प्रथम भागके सातवें प्रकरणमें किया ही

है। प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्रका घटकावयव है और उसपर राष्ट्रहितको जवाबदेही है, ऐसी कल्पना भारतमें कभी दृढ़-मूल नहीं हुई। प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे राष्ट्रको शासन-प्रणाली स्थिर करनेकी भी कल्पना नहीं थी। हाँ, अत्यन्त प्राचीन कालमें यह धारणा अवश्य ही रूढ़ थी कि राष्ट्र जनता-का है। इस देशमें प्रजासत्तात्मक राज्यकी कल्पना कभी पूर्णा-वस्थाको प्राप्त नहीं हुई। यह कल्पना भी आरम्भमें उदित नहीं हुई थी कि राजाका ही राज्य होता है। हर एक देश वहाँके राजाके नहीं बल्कि वहाँके निवासियोंके नामसे ही प्रसिद्ध था। आगे चलकर राष्ट्रमें शूद्रोंकी भरमार हुई, जिनका राष्ट्रकी शासन-प्रणालीमें कुछ भी हाथ नहीं था। इसीसे राज्यशा-सनके अधिकार विशिष्ट कुलोंके ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके ही हाथमें रहे और अन्तमें वे पूर्णरूपसे क्षत्रिय राजकुलोंके ही हाथ-में आ गये। इस प्रकार आरम्भमें राजशासनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होते हुए भी राष्ट्रमें शूद्रोंका समावेश होनेके कारण वह बहुत संकुचित और अनियन्त्रित हो गया। प्रारम्भमें लोगों-की यह धारणा थी कि उन्होंने अपनी रक्षाके लिए अपनी अनु-मतिसे राजाको शासनाधिकार दिये हैं; उसे प्रजाके कल्याणके लिए उनका उचित उपयोग करना चाहिये। पर आलोच्य समयमें यह धारणा बदल गयी और लोग यह समझने लगे कि पूर्वजन्मकी कठोर तपस्यासे ही इस जन्ममें मनुष्यको राजपद प्राप्त होता है। राजा विष्णुका अंश होता है, देवता-ओंकी कृपासे ही उसे राजपद मिलता है और उसके अधिकार अनियन्त्रित होते हैं। ऐसी धारणाएँ ज्यों ज्यों दृढ़मूल होती जाती हैं, त्यों त्यों लोगोंका राष्ट्रप्रेम और देशाभिमान क्षीण होता जाता है; क्योंकि ऐसी ही धारणाओंसे स्वामिभक्तिका

परिपोष होता है। परिणामतः एक ओर तो विशिष्ट कुलके प्रति कुछ लोगोंका आदर बढ़ता जाता है और दूसरी ओर गुप्त रीतिसे कुछ लोगोंमें मत्सरबुद्धि, अराजकता तथा स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षाकी अभिवृद्धि होती जाती है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस कहावतके अनुसार महत्वाकांक्षासे प्रेरित होकर जो आगे बढ़ता था, कुछ विश्वासघाती उसके साथी बन जाते थे और विजयी होनेपर वह राजा कहा जाने लगता था, क्योंकि राजाके चुनावमें प्रजाकी सम्मति अपेक्षित होती है, यह भावना बिलकुल नष्ट हो चुकी थी और राजद्रोही अधिकारियोंके विश्वासघातसे नये नये राजवंशोंकी स्थापना होती जाती थी। यह निश्चित है कि कोई भी राजवंश क्यों न हो, सौ दो सौ वर्षोंमें उसकी कर्तृत्व-शक्ति नष्ट हो जाती है। संसारकी अन्य वस्तुओंकी तरह राजवंशोंके लिए भी जीर्णता और मृत्यु अपरिहार्य है। अतः यदि कोई जीर्ण वृक्षोंको उखाड़ कर उनके स्थानमें नये वृक्षोंका बीजारोपण करे, तो इसमें अनुचित क्या है? समय समयपर नये पुरुषार्थशील राजवंशोंकी स्थापना लाभजनक ही होती है। ईसाकी नवीं शताब्दी (वि० ८५८-९१७) के आरम्भमें भारतमें पुराने राजवंश उच्छिन्न और नये कर्तृत्वशालीवंश स्थापित हुए, यह अच्छा ही हुआ। उस समय जो नये राजपूतवंश स्थापित हुए, वे पूर्ण स्वतन्त्र और एकसत्तात्मक ही थे। उन्होंने अपनी सत्ता लोगोंकी सम्मतिसे नहीं, किन्तु तलवार, पुरुषार्थ और भाई-बन्दोंकी सहायतासे स्थापित की थी। कुलके जो लोग इस प्रकारकी राजसत्ताके आधारस्तम्भ होते हैं, उन्हें राजपूत लोग 'भाई-बन्द' कहते हैं। अंग्रेजीमें उन्हें 'क्लान्समन' कह सकते हैं। अस्तु, उस समय भारतमें जो राजकीय सत्ता-

के सिद्धान्त प्रचलित थे, उनके अनुसार चाहे जो राजकुल स्थापित हो सकता था। केवल उस कुलका प्रतापी और भाग्य-सम्पन्न होना ही अपेक्षित था। फिर भी, जैसा कि अरबी प्रवासियोंने वर्णन किया है, लोगोंमें कुछ राजसत्ता अब भी अवशिष्ट थी और किसी नये राजकुलके प्रति राजभक्तिकी शपथ लेते समय अथवा उसकी सत्ता स्वीकार करते समय वे उसका उपयोग करते थे। सारांश, लोगोंमें अब भी कुछ जान रह गयी थी।

ये सब प्रमाण अरबी प्रवासियोंके प्रवासवर्णनसे ही मिलते हैं और प्रायः सभी प्रवासी किसी एक मूललेखकी ही नकल करते हैं। सबसे पुराना प्रवासी सुलेमान लिखता है—"हिन्दुस्थानके राजा दूसरे देशोंको जीतनेकी इच्छासे कभी कभी युद्ध करते हैं; पर ऐसे अवसर बहुत कम होते हैं। मैंने ऐसा कभी नहीं देखा कि किसी एक देशके लोगोंने दूसरे देशके लोगोंपर आधिपत्य जमाया हो। मिरी देशके निकट मलाबार देश अपवाद स्वरूप है। जब एक देशका राजा दूसरे देशके राजाको जीत लेता है, तब विजित राजाके किसी सम्बन्धीको ही वह गद्दीपर बैठा देता है और नया राजा जेता राजाके अधीन हो कर राजकाज करता है। "इसके विरुद्ध कोई व्यवस्था वहाँके लोग चलने नहीं देंगे।" (इलियट भाग १, पृष्ठ ७) हम कईबार लिख चुके हैं कि प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतमें साम्राज्य-स्थापनाके लिए कोई किसी राज्यको जीतकर अपने राज्यमें मिला नहीं लेता था। जेता सम्राट् विजित राजा अथवा उसके सम्बन्धीको गद्दी देकर उससे कुछ निश्चित कर भर ग्रहण करता था। राज्य-प्रबन्ध यथापूर्व चलता था। कन्नौजके प्रतिहारोंका साम्राज्य इसी प्रकारका था। उस

विपत्तिका प्रमुख कारण है, फिर चाहे वे पराये लोग स्वदेशी हों या विदेशी। संसारके इतिहासका अवलोकन करने पर एक यही सिद्धान्त अवाधित रूपसे निकलता है कि जिस देशपर किसी दूसरे देशके लोगोंका, किसी रूपमें, अधिकार हो जाता है उस देशकी सम्पत्ति क्षीण हो जाती है। फिर वह देश या तो धीरे धीरे दुर्दशाग्रस्त हो जाता है या एक वार ही नष्ट हो जाता है। पराये लोग देशका धन केवल कर या राजस्वके ही रूपमें नहीं ले जाते; वड़े वड़े पुष्ट वेतनके पद उन्हींके हाथमें होनेके कारण वे सधन होकर व्यापार तथा अन्य उपायोंसे भी विजित राष्ट्रको निःसत्व और निर्धन वना डालते हैं। परायी सत्ता देशकी सम्पत्तिको नाना तरहसे धो वहाती है। इस वातको विस्तारसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। एक ही देशके परप्रान्तीय लोगोंकी सत्तासे भी कुछ हानि होती ही है। उत्तरके मौर्य दक्षिणमें शासन करें अथवा दक्षिणके आन्ध्रभृत्य उत्तरमें शासन करें, तो दोनोंका परिणाम समान रूपसे हानिकारक ही होगा। परन्तु जिस समयका हम विचार कर रहे हैं, उस समय सिन्ध प्रान्तके अतिरिक्त भारतके किसी भागमें ऐसा अन्याय नहीं था। उत्तर, दक्षिण और पूर्वमें स्वतन्त्र राज्य थे। कन्नौज, मालखेड़ और मुंगेरके साम्राज्य स्थानीय वंशोंके ही अधिकारमें होनेके कारण उन प्रान्तोंके हितसंवर्धक थे। मराठोंका प्रभुत्व वंगालपर अथवा वंगालका प्रभुत्व आसामपर नहीं था। काठियावाड़ और उत्तर गुजरात कन्नौजके अधिकारमें था, किन्तु अन्तमें गुजरातमें "चावड़ा" राजपूत घरानेकी स्वतन्त्र स्थापना होनेपर काठियावाड़ गुजरातका भी स्वाधीन राज्य हो गया। कन्नौजका प्रभुत्व अन्यत्र

भी निकटवर्ती स्थानोंपर था, पर उसे कोई पराया नहीं समझता था। दक्षिणके राज्योंकी भी यही अवस्था थी। दक्षिणमें राष्ट्रकूटोंका सम्राट्-कुल था और उसका प्रभुत्व समस्त दक्षिण प्रान्तपर था। उसकी छत्रच्छायामें अनेक माण्डलिक राजा थे पर वे आन्तरिक राज्य-प्रबन्धमें पूर्णतः स्वतन्त्र थे। उन्हें केवल विशेष अवसरपर सम्राट्के दरबारमें उपस्थित होना और युद्धके समय सम्राट्की सहायता करनी पड़ती थी। एक अरबी प्रवासीने तो यहाँतक लिखा है कि भारतके प्रत्येक प्रान्तमें उस प्रान्तके राजा ही राज्य करते हैं। स्वर्गीय दादाभाई नौरोजीने विदेशी शासनसे होनेवाले देशकी सम्पत्तिके ह्रासका जैसा मार्मिक वर्णन किया है, वैसी अवस्था किसी राज्यमें नहीं थी। सब राज्य समृद्धिशाली थे। अरबी प्रवासियोंने उसका दिग्दर्शन यह कहकर कराया है कि देश धन-धान्यसे पूर्ण है और देशके लोग अत्यन्त सन्तुष्ट हैं।

देश भरमें जिस प्रकार परायी सत्ताका कहीं बन्धन नहीं था, उसी प्रकार जनताको क्लेशमें डालनेवाली अव्यवस्थित राज्यप्रणाली भी नहीं थी। इसका प्रधान कारण उस समयकी कर-ग्रहणकी सुन्दर रीति है। आजकल कर एक बार निश्चित कर दिया जाता है और वह नक़द वसूल किया जाता है। अवर्षण होने पर यह निश्चित नहीं रहता कि छूट मिलेगी ही, इससे कृषक दोहरे कष्ट पाते हैं। तब यह दशा नहीं थी। कृषक उत्पन्न हुए धान्यका छठाँ भाग सरकारको देते थे और फसल तैयार होनेपर सरकारी अधिकारी उसे वसूल करते थे। अवर्षण आदिके कारण यदि पैदावार कम हुई, तो सरकारको भी उसी हिसाबसे अन्न मिलता था। नक़द कर-वसूलीमें सरकारको सुभीता रहता है, किन्तु धान्यके रूपमें

कर देना किसानोंको नहीं अखरता और वे नंगे-भूखे नहीं रहने पाते। उस समय कृषिके अतिरिक्त अन्य कोई कर नहीं था। यह हम कह चुके हैं कि जङ्गल या आबकारीका विभाग तब नहीं बना था। अन्य करोंके न होनेसे जनता कर-भारके तले दबी नहीं थी। उस समय बेगारकी प्रथा अवश्य थी, किन्तु उससे कृषकोंको कोई कष्ट नहीं था। अरबी प्रवासियोंके वर्णनोंसे सबसे महत्वकी बात यह मालूम होती है कि राज्यके अन्तस्थ शत्रु चोर-डाकुओंका देशमें बिलकुल भय नहीं था। कन्नौज राज्यमें इनको कड़े दण्ड दिये जाते थे। अतः वह राज्य इन उपद्रवियोंसे बिलकुल निश्चिन्त था। इनके उपद्रवसे बचनेका प्रबन्ध पूर्व और दक्षिणके राजाओंने भी कन्नौजके अनुकरणपर ही किया था।

देशके अनर्थका सबसे प्रबल कारण उसपर होनेवाला विदेशियोंका आक्रमण है। भारतवर्षपर अनादि कालसे आजतक बराबर विदेशियोंके आक्रमण होते आये हैं। प्राचीन कालमें ग्रीक, शक, कुशान, हुण्ड और आधुनिक कालमें तिब्बती, हूण तथा अरब लोगोंने क्रमशः भारतपर आक्रमण कर इसे जर्जर कर डाला। इधर तुर्क, मोगल, पारसी और अफगान लोगोंने हिन्दुओंके नाकों दम कर दिया था। परन्तु ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीकी विशेषता यह है कि इन दोनों शताब्दियोंमें किसी भी विदेशीने भारतपर चढ़ाई नहीं की। अरबोंने सिन्ध प्रान्त अपने अधिकारमें कर लिया था, परन्तु वे आगे नहीं बढ़ सके; क्योंकि उनकी शक्ति आपही क्षीण हो चली थी। तब तुर्क मध्य एशियामें ही थे; उन्हें भारतकी अटूट सम्पत्तिका पता नहीं था। परचक्रोंसे उस समय भारत बिलकुल बचा हुआ था। यदि कोई यह आक्षेप करे कि देशके अन्दर तो युद्ध

होते ही थे; गुर्ज और बल्हारा, राष्ट्रकूट और पाल, इनमें चिरन्तन वैर-विरोध था; फिर कैसे कहा जा सकता है कि उस समय युद्ध शान्त थे? इसपर हमारा यह उत्तर है कि आपसकी चढ़ाइयों या लड़ाइयोंसे विदेशियोंके आक्रमणों जैसी कभी हानि नहीं होती और न लोगोंको ही विशेष पीड़ा पहुँचती है। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धमें दोनों दलोंके लोग एक ही धर्म और जातिके होते हैं और दोनोंकी संस्कृति एक ही होनेके कारण उनमें परस्पर कुछ तो सहानुभूति रहती ही है। विधर्मियों और विदेशियोंके आक्रमण बड़े ही भयानक और उपद्रवकारक होते हैं, क्योंकि दोनों दलोंमें किसी प्रकारकी सहानुभूति नहीं होती, उलटे तीव्र द्वेष ही होता है। विदेशी आक्रमणकारी केवल यही नहीं चाहते कि प्रतिपक्षीका पराभव हो, बल्कि वे उसका सर्वनाश करनेकी बुद्धिसे प्रेरित हो जाते हैं। राष्ट्रकूट अथवा पालोंके बीच जो युद्ध या आक्रमण हुए, उनमें किसीका यह उद्देश्य नहीं था कि विपक्षीका राज्य ही हड़प लिया जाय अथवा प्रजाको पीड़ा पहुँचायी जाय; वे एक दूसरेपर केवल अपना प्रभुत्व स्थापन करना चाहते थे। एक दल जब हार स्वीकार कर लेता तो युद्ध उसी समय बन्द होजाता था। यूरोपमें ईसाकी पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें इंग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी और स्पेनमें अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए जैसे युद्ध हुए, ठीक वैसे ही युद्ध भारतमें नवीं और दसवीं शताब्दीमें हुए थे। यूरोपपर तुर्कों द्वारा किये गये आक्रमणोंकी तरह उनका भी यह अभिप्राय नहीं था कि किसीके प्रान्त हड़प लिये जायँ; वे उनपर अपना प्रभुत्व जमाना चहते थे। यह बात नहीं कि प्राचीन युद्ध-नीतिका कभी उच्छेद नहीं होता था। कभी कभी होता भी था। कृषिको

समयके शिलालेखोंसे प्रतीत होता है कि कन्नौज साम्राज्यके अन्तर्गत कितने ही माण्डलिक थे। उदाहरणार्थ, वढ़वानके चावोटक या भारणके चालुक्योंने शिलालेखोंमें अपनेको कन्नौजका माण्डलिक ही कहा है। इसी तरह राष्ट्रकूटोंके साम्राज्यमें भी बहुतसे माण्डलिक राज्य थे। अरबी प्रवासियोंने भी यह बात लिखी है; पर सुलेमानके इस वाक्यसे कि इसके विरुद्ध कोई व्यवस्था वहाँके लोग चलने नहीं देंगे, यह अनुमान होता है कि अबतक लोगोंमें कुछ तेज बच रहा था; अपने हाथमें भी कुछ सत्ता है, यह भावना उनमें जागरित थी। सुलेमानने अपवाद स्वरूप मिरी देशके निकटके लोगोंका उल्लेख किया है। अर्थात् मलावारके आस पासके चोल, पाण्ड्य, केरल आदि देशके लोग चाहे जिस राजाके अधीन रह सकते थे। उनका यह हठ नहीं था कि राजा स्वदेशी ही हो। यह मत आश्चर्यजनक है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि दक्षिणके अनार्य द्रविड़ोंके राज्यकी प्रजामें थोड़ी भी स्वराष्ट्र-भावना अथवा "नेशनेलिटी" बच नहीं रही थी। हमारी समझमें आर्योंमें स्वराष्ट्र-भावना सबसे अधिक और उनके बाद मंगोलियनोंमें होती है। सम्प्रति ये ही दो मनुष्यवंश संसारमें अग्रगण्य हैं। द्रविड़ और नीग्रो वंशके लोगोंकी संस्कृति इतनी पिछड़ी हुई है कि उक्त मनोभावना उनमें अबतक उत्पन्न नहीं हुई है। विदेशियोंके शासनके प्रति अबतक उनमें उतना तिरस्कार-भाव नहीं देख पड़ता, जितना आर्यों अथवा पीतवर्णके लोगोंके स्वभावमें देख पड़ता है। दक्षिण-उत्तर भारतमें आर्यों और अनार्योंका मिश्रण हो जानेसे उनमें स्वराष्ट्र-भावनाकी केवल क्षीण ज्योति बच रही है और यही प्रधान कारण है कि हिन्दुस्थान सदाके लिए पराधीन हो

गया। 'इसके विरुद्ध कोई व्यवस्था वहाँके लोग चलने नहीं देंगे'—सुलेमानके इस छोटेसे वाक्यमें जो थोड़ीसी राष्ट्र-भावनाकी झलक देख पड़ती है, वह भी उस समय नष्ट हो गयी थी जब महम्मद गोरीने उत्तर भारतको पादाक्रान्त किया था।

अस्तु, प्राचीन कालकी तरह मध्ययुगमें भी भारतमें बहुत-से राज्य थे। इनमें कुछ बड़े साम्राज्य भी थे जिनकी अधीनतामें कितने ही छोटे माण्डलिक राज्य थे। बड़े साम्राज्योंमें बार बार लड़ाइयाँ होती थीं। इसलिए नहीं कि कोई अपने साम्राज्यका विस्तार करना चाहता था, बल्कि इसलिए कि कोई किसीके राज्यका अपहरण न करे। उस समयके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि मालखेड़के राष्ट्रकूटों, कन्नौजके प्रतिहारों और बंगालके पालोंमें इसी उद्देश्यसे युद्ध हुए थे। तीनों साम्राज्योंके अधीश्वर राजपूत ही थे, क्योंकि राज्य करनेका अधिकार क्षत्रियोंको ही है, यह प्राचीन समय-का वर्णधर्म इस समय जागरित हो गया था। सब लोगोंकी यही भावना थी कि क्षत्रियोंको ही राज्य करनेका अधिकार ईश्वरने दिया है। जनता किसी नवीन क्षत्रिय राजवंशके संस्थापकको राजा बना लेती अथवा उसको राजा स्वीकार कर लेती थी। मौर्यवंश जब सन्तानहीन और तेजोहीन हो गया, तब चित्तौड़में जनताने ही वाप्पारावलको अपना राजा बना लिया। इसी तरह बंगालमें मात्स्यन्याय बन्द करनेके विचारसे जनताने गोपालराजको अपना राजा बनाया था।

लोगोंकी यह धारणा थी कि केवल राज्य-संस्थापकोंके वंशजोंको ही राज्य करनेका अधिकार होता है। उस समय और उसके पश्चात् यूरोपमें भी लोगोंकी यही मनःप्रवृत्ति

थी। यूरोपके लोग भी यही मानते थे कि राजवंशोंको पीढ़ी दर पीढ़ी राज्य करनेका अधिकार ईश्वरदत्त है। भारतमें यदि यही भावना रूढ़ हो गयी हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

पाश्चात्य और प्राच्य देशोंमें एक अन्तर अवश्य था। पाश्चात्य देशोंके लोग अपनी प्रतिनिधि-सभाओंके द्वारा राजनीतिक उलट-फेरोंपर दृष्टि रखते थे और उनका नियन्त्रण करते थे। भारतवर्षमें ऐसी संस्थाएँ कभी स्थापित नहीं हुईं। राजा मान लेने अथवा नया राजा चुननेका यहाँके लोगोंको जो आधा-तिहाई अधिकार था, उसे वे किस प्रकार काममें लाते थे, यह एक महत्वपूर्ण जटिल प्रश्न है। सुलेमानके इन वाक्योंसे यह समस्या हल हो सकती है—"हिन्दुस्थानके राजाओंके पास बड़ी सेना होती है, किन्तु उसे सरकारसे वेतन नहीं मिलता। जब कभी धर्मके लिए युद्ध होता है, तो सेना बुलायी जाती है। राजा उसे निमंत्रित करता है, किन्तु उसे अपना व्ययभार आप उठाना पड़ता है।" (इलियट भा० १, पृ० ७) भारतवर्षकी यह परिस्थिति उस समयकी यूरोपकी परिस्थितिके सदृश ही थी। उस समय भारतवर्षमें अथवा यूरोपमें वैतनिक सेनाएँ नहीं थीं। हर एक राज्यमें कुछ लड़ाके सेनानी और राजाके भाई-बन्द (जिन्हें कुलपुत्र कहते थे) रहा करते थे, जो काम पड़नेपर दलबल सहित इकट्ठे हो जाते थे। कभी वे अपना खर्च आप सहते और कभी लूटपाटसे काम चलाते थे। इसी शर्तपर उन्हें भूमि अथवा ग्राम दिये जाते थे। इस प्रकारकी भूमि अथवा ग्रामोंका उपभोग करनेवाली और सरकारसे वेतन न लेनेवाली सेनाका अधिकार नये राजवंशकी स्थापनाके समय बहुत होता

था। नये राजाको मानना न मानना उसके अधिकारमें था। इससे सुलेमानके इस कथनकी, कि लोग यह आग्रह कर सकते थे कि हमारा अमुक ही राजा हो, सत्यता सिद्ध होती और मीमांसा भी हो जाती है।

भारतवर्षमें सरकारसे वेतन पानेवाली सेनाएँ नहीं थीं, इस साधारण स्थितिके कुछ स्थूल अपवाद भी हैं जिनका अरब लेखकोंने ही उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—"बल्हारा अर्थात् राष्ट्रकूटोंके पास स्थायी सेना थी और उसे नियमित रूपसे वेतन मिलता था।" ईसवी अठारहवीं सदीके मराठोंके लिए जो बात असाध्य थी (सेनाको नियमित रूपसे वेतन देना) वह ईसवी नवीं सदीके उनके पूर्वजोंको सुसाध्य थी, अरबी प्रवासियोंके इस प्रशस्तिपत्रको पढ़कर सचमुच आनन्द होता है। यह भी प्रमाणित होता है कि कन्नौजके प्रतिहारों और बंगालके पालोंकी सेनाओंको भी नियमित रूपसे वेतन मिलता था। ये तीनों साम्राज्य थे और इनके अधीन कितने ही माण्डलिक राजा थे। कन्नौजके विषयमें अरबोंने लिखा है कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरमें उसकी चार सेनाएँ सदा प्रस्तुत रहती थीं, किन्तु पश्चिमकी सेना विशेष सुसज्जित थी। इसका कारण यह था कि उक्त राज्यकी पश्चिमी सीमा अरबोंके मुलतान राज्यसे मिली हुई थी और अरब हिन्दपर (सिन्धके अतिरिक्त शेष हिन्दुस्थानको अरब 'हिन्द' कहते थे) आक्रमण करनेको सदा तत्पर रहते थे। दक्षिणकी सेना बल्हारा (वल्लभराय राष्ट्रकूट)से सामना करनेके लिए सन्नद्ध रहती थी, क्योंकि वह अरबोंका मित्र और सहायक था। पूर्व और उत्तरकी सेनाओंको अधिक काम नहीं था। दोनों दिशाओंसे—बंगालके पाल और काश्मीरके राज्यसे—भी भय था,

किन्तु अरब लेखक लिखते हैं कि ये सेनाएँ इधर उधर भी जाया करती थीं। उनके वर्णनसे यह भी पता चलता है कि कन्नौजकी प्रधान सेना घुड़सवारोंकी थी। दक्षिणियोंकी सेनामें पदाति, अश्वदल और गजदल तीनों थे। बंगालकी सेनामें हाथी अधिक थे; क्योंकि हिमालय और विन्ध्याचलमें हाथी बहुत होते हैं। अरब लेखकोंने बंगालकी सेनाके हाथियोंकी संख्या पचास हजार लिखी है, परन्तु यह अधिक जान पड़ती है।

इन सब बातोंका उस समयके शिलालेखोंमें उल्लेख न मिलना स्वाभाविक है; क्योंकि शिलालेख प्रायः ब्राह्मणों और देवालयोंके दानके लिए ही लिखे गये हैं। अतः अरब लेखकोंके लेखोंपर ही अधिक भरोसा रखना पड़ता है। फिर भी भागलपुरके शिलालेखमें लिखा है कि वंग सेनामें खस, मालव, हूण, कर्णाट, लाट आदि देशोंके सैनिक थे। (इं० एं० भा० १५, पृ० ३०५)

यहां यह लिखना अनुचित न होगा कि विदेशियोंकी सेनासे राजसत्ताके स्थैर्यमें सदा भय रहता है। जब किसी देशके लोग आत्मरक्षा और परराज्यपर चढ़ाई करनेका भार विदेशियोंको सौंपते हैं, तब वे अपनी शूरतासे हाथ धो बैठते हैं और क्रमशः दास्यमें फँसते जाते हैं। इसके अतिरिक्त वहांका राजकुल परायी सेनाके हाथकी कठपुतली बन जाता है और उसके नामपर परायी सेना लोगोंपर घोर अत्याचार करती और उन्हें लूटनेका भी साहस कर बैठती है। इसका अनुभव आधुनिक पूनाके इतिहासमें, दिल्लीके मोगलोंके इतिहासमें और कुस्तुन्तुनियांके तुर्कोंके इतिहासमें प्राप्त हो चुका है। प्राचीन इतिहासमें रोमके रोमनों और मध्यकालीन इतिहासमें बगदादके अरबोंको भी यही अनुभव प्राप्त हुआ है। अतः उस समय

भारतवर्षकी विभिन्न सेनाएँ किस प्रकारकी थीं, इसका विचार करना महत्वका विषय है। राष्ट्रकूटोंकी सेनामें प्रायः मराठोंकी और कन्नौजके प्रतिहारोंकी सेनामें मारवाड़ी राजपूतोंकी संख्या अधिक थी। बंगालकी सेनामें विदेशी अधिक थे, यह उपर्युक्त शिलालेखसे प्रतीत होता है। उसमें भारतवर्षकी प्रसिद्ध युद्ध-निपुण जातियोंके सैनिकोंका समावेश हुआ था। बंगालके राजा बौद्ध थे और अधिकांश प्रजा भी, जिसने हालमें ही हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) स्वीकार किया था, पहले बौद्ध ही थी।

बंगालमें बौद्ध धर्मका अधिक दिनोंतक प्राबल्य रहा और इस संबन्धमें उसका अनिष्ट प्रभाव इस समय भी वहाँ पड़ रहा था। संभवतः इसीसे वहाँके लोगोंमें सामान्यतः क्षात्र-तेजकी कमी हुई। तथापि इतिहास बता रहा है कि प्राचीन हिन्दू राजाओंके समय मगध अपनी ही सेनाके भरोसे लग-भग ८०० वर्षतक अर्थात् चन्द्रगुप्तके समयसे (ई० सन् के ३०० वर्ष पूर्व) बुधगुप्तके समयतक (ई० सन् ५००) सारे भारतपर अपना साम्राज्य कायम रख सका।

उस समय भारतके सब राज्य पूर्णतया एकतंत्र होते हुए भी उनमें एक गुण था। भारतीय राजशास्त्रके अनुसार राजा-को नये कानून बनानेका अधिकार नहीं था। लोगोंका विश्वास था कि राज्यके लिए जिन कानूनोंकी आवश्यकता होती है वे सब स्मृतिमें बना दिये गये हैं तथा किसी भी मानवी संस्थाको ईश्वरनिर्मित स्मृतिके कानून बदलनेका अधिकार नहीं है। हम भारतीयोंका विश्वास है कि सृष्टिके आरंभमें ब्रह्माने मनुष्योंके व्यवहारके लिए कानून बनाकर मनुको दिये जो मन्वादि स्मृतियोंमें ग्रथित हैं तथा उनमें परिवर्तन या परिवर्धन करनेका किसीको अधिकार नहीं है। ऐसा

विश्वास करना हमारी भूल हो सकती है, पर यह मानना पड़ेगा कि राजाओंके अनियंत्रित शासनके लिए ईश्वर-निर्मित कानूनोंका प्रतिबंध होना आवश्यक ही था। राजाओंको स्वेच्छानुसार कानून बनानेका अधिकार मिल जानेपर अनियंत्रित शासनके अत्याचार और भी बढ़ जाते, पर इस प्रतिबंधसे वैसा न होने पाता था। स्मृत्युक्त कानून अनेक बातोंमें अधूरे या अयोग्य हो सकते हैं पर वे सदसद्विवेक-बुद्धि और अनुभवके आधारपर बनाये गये हैं। इस कारण वे सामान्यतः समाजके लिए हितकर ही हैं। इसी प्रकार उस समय राज्यका खर्च भी बहुत कम था जिससे किसी राज्य या राजाको स्मृत्युक्त करोंसे, अर्थात् जमीनकी उपजके छठवें भाग और व्यापारके लाभके पचासवें भागसे, अधिक कर वसूल करनेकी आवश्यकता ही न प्रतीत होती थी। राजाके लिए इतना ही बस था कि वह चोरी रोकनेका पूरा प्रबन्ध कर दे (और यही राजाका मुख्य कर्तव्य हुआ करता था जैसा कि प्रतिहारोंके राज्यमें लोग स्वीकार करते थे)। अतः अनियंत्रित शासकोंके अधीन होते हुए भी भारतीय राज्य सुव्यवस्थित और सुखी थे।

भारतके ये राज्य प्रायः आपसमें लड़ा करते थे। उनका कभी कोई संघ न बना और न वे किसी एक सम्राट्की अधीनतामें ही आये। बहुतोंका खयाल है कि ऐसा न होनेसे तथा छोटे छोटे राज्योंमें आपसमें युद्ध होते रहनेके कारण मुसलमानोंने भारतको पददलित किया। पर इस संबंधमें हमारा मत भिन्न है। पहले भागमें हम अपने विरुद्ध मतपर विस्तारके साथ विचार कर चुके हैं इसलिये यहाँ कुछ और बातें देनेके सिवा इस विषयपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। सदा

युद्ध होते रहना अनिष्टकर है पर बीच बीचमें युद्ध हो जाना समाजके लिए हितकर ही होता है और इससे समस्त मानवजातिकी उन्नति होती है। युद्धसे लोगोंमें क्षात्रतेज बना रहता है, इतना ही नहीं, समाजकी बौद्धिक प्रगति भी होती है। बीच बीचमें होनेवाले इन्हीं युद्धोंके कारण आज यूरोपकी उन्नति हो रही है, यह हम देख ही रहे हैं। इसी प्रकार प्रासंगिक युद्धोंसे भारतके मध्ययुगीन राज्योंका उत्कर्ष हुआ। राष्ट्रकूटोंने प्रतिहारोंके विरुद्ध युद्धमें कभी कभी विदेशी अरबोंकी सहायता ली तो भी कुछ न बिगड़ा अर्थात् प्रतिहारों या देशकी इससे कोई हानि नहीं हुई।

भाग १, प्रकरण ७ में हम कह चुके हैं कि फ्रान्सके राजा प्रथम फ्रान्सिसने जर्मन युद्धके समय तुर्कोंसे सहायता ली थी। जर्मन उसके धर्मबन्धु और तुर्क धर्मशत्रु थे। इसी तरह राष्ट्रकूटोंने अरबोंसे सहायता ली थी। इसमें कोई आश्चर्य या हानि नहीं है। अन्तर इतना ही है कि फ्रान्स अथवा जर्मनीको तुर्क या अरब पादाक्रान्त न कर सके; किन्तु राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों तथा उनके वंशजोंको मुसलमानोंने पादाक्रान्त कर डाला। यूरोपीय राष्ट्र अबतक अरबों (सेरासनों) अथवा तुर्कोंके मुकाबलेमें वैसे ही, किंबहुना अधिक, प्रबल हैं, किन्तु हिन्दुस्थानी दुर्बल हो गये। इसका कारण यह है कि यूरोपीय राष्ट्रोंके लोगोंमें राष्ट्रीय भावना (नेशनेलिटी) अत्यन्त तीव्रतासे जागरित है। अरब लेखकोंके वर्णनोंसे विदित होता है कि भारतके मध्ययुगीन राष्ट्र यद्यपि आपसमें लड़ा-झगड़ा करते और कभी कभी अरबोंसे सहायता भी लेते थे, तथापि उनमें कुछ राष्ट्रीय भावना अवश्य ही जीवित थी। इसीसे वे राष्ट्र बलसम्पन्न थे।

हमारी समझमें हिन्दुस्थानकी साधारणतया स्वाभाविक परिस्थिति ही ऐसी है कि हर एक प्रान्तमें जुदा जुदा ही राज्य रहे। अशोक अथवा हर्षके समयमें समस्त देशमें एकछत्री राज्य रहा, पर वह भारतकी अस्वाभाविक स्थिति थी। हर एक प्रान्तके लोकस्वभाव, भाषा, जलवायु, प्राचीन इतिहास-परम्परा, मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ आदि सभी भिन्न होनेके कारण यहां प्रति प्रान्तका एक राष्ट्र होना ही अपरिहार्य है। आजकल समग्र भारतवर्ष एक देश है और उसकी दृढ़ सुरक्षित चतुःसीमाएँ भी हैं। परन्तु राष्ट्रगठनके लिए नैसर्गिक भौगोलिक सीमाओंकी विशेष आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ हालैण्ड और जर्मनीके बीचकी सीमा एक धागेसे अधिक दृढ़ नहीं है। बेलजियम और फ्रान्सके बीचकी सीमाकी भी यही अवस्था है। परन्तु हालैंड और बेलजियमने अपनी स्वतन्त्रता प्रबल जर्मनों और फ्रेंचोंसे अनेक युद्ध कर सहस्र वर्षोंसे अबतक सुरक्षित रखी है। भारतमें सिन्ध, पंजाब, अवध, राजपूताना, संयुक्त प्रान्त और बंगालकी सीमाएँ विशेष सुदृढ़ नहीं हैं। इन प्रान्तोंमें मध्ययुगीन समयमें विभिन्न बलवान् राज्य थे। यदि उनमें बलवती राष्ट्रीय भावना भी जागरित रहकर वृद्धिगत होती रहती, तो निःसन्देह वे राज्य आज भी जीवित दशामें देख पड़ते।

वर्तमान समयमें समस्त भारतवर्षमें ब्रिटिश लोगोंका साम्राज्य है। इस कारण भारतवासियोंमें एक-राष्ट्रीयताकी भावना जागरित हो रही है। इस भावनाने प्रान्तीय सीमाओंका उल्लङ्घन कर दिया है। इससे भारतका एक राष्ट्र अथवा अमेरिकाकी तरह समस्त प्रान्तोंका संयुक्त राष्ट्र यहां स्थापित होना सम्भव है। अनेक प्रान्त मिलकर एक राष्ट्र होनेके लिए

जो आवश्यक गुण होते हैं, वे भी यहां उत्पन्न हो रहे हैं। परन्तु ये गुण मध्ययुगीन समयमें नहीं थे। "होली रोमन एम्पायर" के समयसें यूरोपकी जैसी स्थिति थी, अधिकांश और महत्व-पूर्ण बातोंमें मध्ययुगीन समयमें हिन्दुस्थानकी भी वैसी ही थी। यूरोपियन लोग मानववंशकी दृष्टिसे एक ही वंशके अर्थात् आर्य हैं। भारतवासी भी उसी अर्थात् आर्य अथवा आर्य-द्रविड़-वंशके हैं। यूरोपकी तरह भारतके हर एक प्रान्तकी पृथक् भाषा थी। यूरोपमें जिस प्रकार धर्मसम्बन्धी एक ही लेटिन भाषा थी, उसी प्रकार हिन्दुस्थानमें भी संस्कृत भाषा सब प्रान्तोंमें प्रचलित थी। उसे सब प्रान्तोंके पण्डित जानते और बोल सकते थे। यूरोपमें धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' सर्वमान्य था। भारतमें सभी लोग वेदानुयायी थे। यूरोपमें रोमन कैथो-लिक धर्मके कारण मेरी, ईसा आदिकी मूर्तियां पूज्य मानी जाती थीं। भारतमें भी वेदानुयायी शिव-विष्णुको मूर्तियोंको पूज्य मानते थे। भारतमें सब लोग एक ही धर्मशास्त्र (कानून) –मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों–को प्रमाण मानते थे। यूरोपमें भी सब राष्ट्रोंको 'रोमन होली एम्पायर" के कानून मान्य थे। भारतमें विभिन्न राष्ट्रोंकी सीमाएं यूरोपके राष्ट्रोंकी तरह प्रायः कल्पित और अस्थिर थीं। दोनों ओर ऐसे राष्ट्रोंकी संख्या कम नहीं थी। इस प्रकारकी समान परिस्थितिमें भी यूरोपमें "पवित्र रोमन साम्राज्य" के नामपर जैसे एक राष्ट्र निर्माण न हो सका, उसी प्रकार भारतके मध्ययुगीन राष्ट्रोंका भी एक राष्ट्र नहीं बन सका। इसका कारण यह है कि प्रान्तीय अभि-मान और भिन्न राष्ट्रीय भावनाएं उस समय इतनी तीव्र थीं कि एक-राष्ट्रीयत्वकी भावनाका सुपरिणाम उनके मस्तिष्कमें पैठ ही नहीं सकता था। इसीसे अनेक राष्ट्रोंका एकीकरण

उस समय असम्भव था। इसमें खेद करनेकी अथवा दोषास्पद कोई बात दोनों राष्ट्रों (पूर्व-पश्चिम) के लिए नहीं थी। यूरोप और हिन्दुस्थानके राष्ट्र एक दूसरेसे परस्पर भिन्न ही थे। परन्तु यूरोपमें राष्ट्रीयत्वकी भावना जैसी दृढ़मूल होती गयी, वैसी यदि भारतमें भी होती गयी होती, तो आज यूरोप और भारतकी स्थिति भिन्न न होती। तीसरे भागमें हम यह सिद्ध करेंगे कि आगेके (१००० ई० स० के बादके) समयमें विभिन्न प्रान्तोंके लोगोंकी राष्ट्रीय भावना शिथिल हो चली और ईसाकी बारहवीं सदीके अन्तमें सभी राष्ट्र अफगान और तुर्कोंके आक्रमणोंके सामने ठहर न सके। कुछ यह बात नहीं है कि परायी सत्ता और पराये धर्मके विरुद्ध इन भारतीय राष्ट्रोंने संघटन करनेका प्रयत्न न किया हो। इन्होंने दो बार अरबों और तुर्कोंके विरुद्ध उतना ही प्रयत्न किया जितना यूरोपने किया था; परन्तु राष्ट्रीय भावना प्रबल होनेके कारण जहाँ यूरोपको सुयश मिला वहाँ भारतको उसके अभावके कारण अपमानित होकर अपयशभाजन बनना पड़ा। दोनों ओर संघटनके द्वारा और एक यत्न सफल हुआ। हिन्दुस्थानके सभी राष्ट्र राजपूतोंकी सत्ता मानते थे। अरबोंके वर्णनानुसार तब राजपूतोंकी एक स्वतन्त्र जाति ही बन गयी थी। काबुलसे कामरूप और काश्मीरसे कोंकणतक सब देश राजपूतोंके अधिकारमें था। इन्हींके ३६ कुलोंका उल्लेख चन्दके ग्रन्थमें है और उससे पहिले इनका उल्लेख राजतरङ्गिणीमें हो चुका है। इन ३६ कुलोंमें विवाह-सम्बन्ध होते थे। यह परिस्थिति यूरोप जैसी ही है। वहांके भिन्न राष्ट्रोंके राजवंश समान-धर्मी और समान-वंशीय होनेसे उनमें विवाह-सम्बन्ध होते थे। दोनों ओर भिन्न-धर्मी और भिन्न-वंशीय मुसलमानों-

के विरुद्ध संघटन करनेमें कोई बाधा नहीं थी। इस प्रकारका संघटन होनेपर भी राष्ट्रीय भावनाके अभावसे हिन्दुस्थानका पतन हुआ। यह शोचनीय घटना कैसे घटी, इसका विचार तीसरे भागमें किया जायगा।

सत्रहवाँ प्रकरण।

मुल्की और फौजी व्यवस्था।

(अ) मुल्की व्यवस्था

ईसाकी सातवीं और आठवीं शताब्दी (वि० ६५८-८५७) में भारतके विविध प्रान्तोंमें मुल्की और फ़ौजी व्यवस्था कैसी थी, इसका सविस्तर वर्णन हम पहिले भागमें कर चुके हैं। नवीं और दसवीं शताब्दी (वि० ८५८-१०५७) की व्यवस्था भी प्रायः वैसी ही थी। तत्कालीन शिलालेखों, अर्थात् देवस्थानों और ब्राह्मणोंको दिये गये दानपत्रोंके आधारपर उस समयके राज्य-प्रबन्धका थोड़ा-बहुत अनुमान किया जा सकता है। पूर्वशतकोंके इतिहासकी खोजमें जिस प्रकार हुएनसङ्गके लेखोंसे सहायता मिलती है, उसी प्रकार नवीं और दसवीं शताब्दीकी परिस्थिति जाननेमें अरबी प्रवासियोंके लेखोंसे मिलती है। इस प्रकरणमें हम ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीकी मुल्की और फ़ौजी व्यवस्थाका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

समग्र भारतवर्षमें सब मिलाकर लगभग पचास राज्य थे। प्रत्येक राज्य देश कहा जाता था और वहाँ अनियन्त्रित

राजसत्ता प्रस्थापित थी। प्राचीन परिभाषाके अनुसार कुछ राज्य साम्राज्य कहलाते थे। इनके अन्तर्गत कुछ राज्य होते थे, जो स्वतन्त्र होनेपर भी सम्राट्का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। इस प्रकारके साम्राज्य दो या तीन थे—पहिला उत्तर भारतमें कन्नौजका, दूसरा दक्षिणमें मालखेड़का और तीसरा पूर्वमें मुंगेरके पालोंका। इन साम्राज्योंमें अनियन्त्रित राज्यसत्ता अवश्य थी, किन्तु राज्यप्रबन्ध उत्तम था। पहिले भागमें हम कह चुके हैं कि हिन्दू राजनीति राजाओंको कानून बनानेका अधिकार नहीं देती। इससे कोई राजा मनमाने और हानिकर कानून नहीं बना सकता था। ऐसे कानूनोंसे राज्य-प्रबन्धमें अव्यवस्था उत्पन्न होती है। यहाँ कानून ईश्वरनिर्मित समझे जाते थे और राजाको केवल उन्हें काममें लानेभरका अधिकार था। जो राजा ईश्वरनिर्मित कानूनोंका उल्लंघन करता, उसपर जनता और धर्मगुरु रुष्ट हो जाते थे; जिससे उसका राज्य अधिक दिनोंतक टिक नहीं सकता था। अपवादस्वरूप काश्मीरके शङ्करवर्मा जैसे राजा भी थे, किन्तु अधिकांश राजा धर्मके भयसे स्मृतिप्रणीत कानूनोंका यथार्थ रूपसे पालन करते थे। इस प्रकार भारतीय राज्योंमें अनि-यन्त्रित राजसत्तात्मक राज्यप्रणाली होनेपर भी वे राज्य सुव्यवस्थित और सुखी थे।

स्मृतिप्रणीत कानूनके अनुसार भूमिकी उपजका छठाँ भाग और व्यापारसे होनेवाले लाभका पचासवाँ भाग राजा करके रूपमें लोगोंसे ग्रहण करता और उसके बदलेमें विदेशि-योंके आक्रमणों और चोरों तथा लुटेरोंसे जनताका संरक्षण करता था। कन्नौजके प्रतिहार राजा अपना यह कर्तव्य किस खूबीसे पालन करते थे इसका वर्णन अरब यात्रियोंने अपने

लेखोंमें किया है, जिनके अवतरण हम पहिले दे चुके हैं। उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि तव गुर्जर देशमें चोरों और डाकुओंका भय विलकुल नहीं था। कन्नौजकी तरह अन्य देश भी उनके उपद्रवसे वचे हुए थे।

तत्कालीन दानपत्रोंसे यह भी प्रतीत होता है कि आलोच्य शताब्दियोंमें मुल्की और फौजी प्रबन्धके लिए भुक्ति (जिला) और विषय (तहसील) की योजना की गयी थी। उदाहरणार्थ, महेन्द्रपालके (विक्रम शक ८५१ के) दिघ्वादुवौलीके प्रतिहार साम्राज्यके दानपत्रमें इस प्रकारका उल्लेख है— "श्रावस्तिभुक्तौ श्रावस्ति-मण्डलान्तः पाति वालयिक विषय-सम्बद्ध पाणियक ग्रामः।" अर्थात् पाणियक नामक गाँव श्रावस्तिमण्डलके अन्तर्गत तहसील वालयिक जिला श्रावस्तीमें है (इं० ऐं० १५, पृ० ११३)। इसमें भुक्ति और विषयके बीच मण्डल नामक एक विभागका उल्लेख है, जिसे हम 'सव-डिविजन' कह सकते हैं। मण्डल शब्द दक्षिणमें भुक्तिके अर्थमें पहिलेसे प्रचलित था। ईसाकी नवीं-दसवीं शताब्दीमें वह उत्तरमें भी प्रचलित हो गया। मण्डलपति अथवा मण्डलोई शब्द मालवामें अब तक प्रचलित है।

विभिन्न राज्योंके दानपत्रोंसे देश-विभागोंके नामोंमें भी कुछ अन्तर जान पड़ता है। महाराष्ट्रके राजा राष्ट्रकूट अपने दान-पत्रोंमें केवल देश-विभाग-सूचक 'विषय' का ही उल्लेख करते थे। उदाहरणार्थ, शक ६९२ (सन् ७७०) के द्वितीय गोविन्द-राजके 'आलास' दानपत्रमें भुक्तिका नहीं, केवल विषयका ही उल्लेख है। अधिकारियों और ग्रामकी आयका विवरण उसमें नहीं है। कोंकण और कर्णाटकके दानपत्रोंमें विषय, भुक्ति या मण्डलके वदले केवल ग्रामोंकी संख्या लिखी गयी है। उदाह-

रणार्थ, वरेंगलके ध्रुवराजाके दानपत्रमें वनवासीका उल्लेख 'द्वादश सहस्र वनवासी' (एपि० इंडि० ६ पृ० १६१) इस प्रकार किया गया है। इसी तरह गुजरातके दन्तिवर्माके दानपत्रमें लाट देशके बयालीस गाँवोंमेंसे एक, निलगुण्डके दानपत्र-में वेलवल त्रिशती तथा उसके उपविभाग मूलगुन्द द्वादश (ए० इं० ६, पृ० २८७ और १०७) का निर्देश है। कर्णाटक, लाट, कोंकण और दक्षिण प्रान्तमें संख्या-सूचक नामोल्लेखोंकी विशेषता पायी जाती है और षट्षष्टि अर्थात् साष्टी आदिके रूपमें वह अबतक विद्यमान है। राधनपुरके तृतीय गोविन्द-राजके दानपत्रमें (ए० इं० पृष्ठ २४५) केवल भुक्तिका ही उल्लेख है (रासीयन भुक्त्यन्तर्गत रट्टजत नामग्राम)। इस दानपत्रका सम्बन्ध गुजरातके एक गाँवसे है। इसी तरह सन् ७९४ (वि० ८५१) के राष्ट्रकूटोंके पैठणके दानपत्रमें केवल प्रतिष्ठान भुक्तिका ही उल्लेख है (ए० इं० ३, पृ० १०८)।

राज्यप्रबन्धके स्वरूप और बहुतसे अधिकारियोंके नामोंका बड़ा ही मनोरंजक उल्लेख कुछ दानपत्रोंमें है। पहिले कहे अनुसार कन्नौजके दानपत्र हर्षके समयसे लिखे गये हैं। उनके शब्द गिने गिनाये और आवश्यकतासे अधिक नहीं हैं। अधि-कारियोंके नामनिर्देश भी अस्पष्ट हैं (सर्वानेव यथास्थान-नियुक्तान्)। परन्तु नारायणपालके भागलपुर-दानपत्रमें,—बाणद्वारा उल्लिखित बंगालकी शब्दाडम्बर-प्रवृत्तिके कारण,—बहुत सी उपयुक्त बातें अवगत होती हैं। उसमें गाँवके दानका जिन अधिकारियोंसे सम्बन्ध है, उनकी गणना इस प्रकार की गयी है (अधिकारियोंके पदोंका भाषान्तर इं० ए० १५ में नहीं किया गया है, किन्तु हम इसका साहस करते हैं)—

१—राजराजानक (माण्डलिक)

२—राजपुत्र (राजाके आप्त क्षत्रिय योधा)
३—राजामात्य (प्रधान मंत्री)
४—महासान्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध-विभागका मन्त्री)
५—महाक्षपटलिक (प्रधान मुल्की अधिकारी)
६—महासामन्त (सरदारोंका अधिकारी)
७—महासेनाधिपति (सेनाधिपति) उ० सरलश्कर
८—महाप्रतिहार (मुख्य द्वाराधिपति, अ० ए. डी. काँग
९—महाकर्ताकृतिक (?)
१०—महादौसाध्य-साधनिक (किलेपर कब्जा करनेवाला)
११—महादण्डनायक (प्रधान न्यायाधीश)
१२—महा कुमारामात्य (राजकुमारोंका मुख्याधिकारी)

ये राज्यके मुख्याधिकारी हुए। जिलोंमें इनके प्रतिनिधि इस प्रकार थे—

१३—राजस्थानीयोपरिक (जिलाधीश)
१४—दशापराधिक (दस अपराधोंका दण्ड देनेवाला मजिस्ट्रेट)
१५—चौरोद्धरणिक (चोरोंका पता लगानेवाला पुलीस अधिकारी)
१६—दाण्डिक (जेलका अधिकारी)
१७—दण्डपाशिक (दण्डाज्ञाको अमलमें लानेवाला)
१८—शौल्किक (कर-विभागका अधिकारी)
१९—गौल्मिक (पुलीस चौकियोंका अधिकारी)
२०—क्षेत्रप (कृषि-विभागका अधिकारी)
२१—प्रान्तपाल (जिलेकी सीमाका संरक्षक)
२२—कोट्टपाल (क़िलोंका संरक्षक)

२३—खण्डरक्षक (?)

२४—आयुक्तक—नियुक्तक (प्रतिनिधि और कारकून)

इसके बाद फौजी अधिकारियोंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

२५—हाथियों, घोड़ों, किलों और नौकाओंका अधिकारी।

२६—गाय, बैल, भेड़ आदिका अधिकारी

२७—दूत प्रेषणिक (जासूस)

२८—गमागमिक (?)

२९—अभित्वरमान (?)

३०—तहसीलका प्रधान अधिकारी

३१—ग्रामाधिकारी (पटेल = पटवारी)

३२—पुलीस सिपाही (चाटभट)

ये सभी अधिकारी लाट, कर्णाट, कुलिक, हूण, खश, मालव और गौड़ देशके हैं। शिलालेखके लेखकने उक्त अधिकारियोंकी सूची देकर भी लिखा है—"इनके अतिरिक्त अनुल्लिखित अन्य अधिकारी!"

दानपत्रका इन अधिकारियोंसे क्या सम्बन्ध है, इसकी कल्पना की जा सकती है। वर्तमान राज्यप्रणालीमें गजट द्वारा जिस प्रकार राजाज्ञा सब अधिकारियोंतक पहुँचायी जाती है, उसी प्रकार दानपत्रों द्वारा उस समय राजाज्ञा घोषित की जाती थी। उदाहरणार्थ किसी दानपत्रमें यह आज्ञा हो कि अमुक गाँवमें पुलीस या सिपाही प्रवेश न करें, तो इसका फौजी अधिकारियों तथा पुलीस और न्याय-विभागके अधिकारियोंको विदित हो जाना आवश्यक है। अधिकारियोंकी इस सूचीसे प्रतीत होता है कि हिन्दुस्थानकी मुल्की और फौजी व्यवस्था उस समय पूर्णताको प्राप्त हो चुकी थी और वर्तमान समुन्नत राज्यप्रणालीके सब विभाग तथा अङ्ग उसमें समा-

विष्ट थे। अधिकारियोंके नाम बंगालके राज्यके हैं, किन्तु थोड़े फेर-फारके साथ वे अन्य सब राज्योंमें भी प्रचलित थे। पहिले भागमें हमने वलभी शासनकालके गुजरातके अधिकारियोंके नाम दिये हैं। उनसे उक्त नामोंमें बहुत भेद नहीं है।

विभिन्न राज्योंके दानपत्रोंके नमूने भिन्न होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सब राज्योंकी राज्यप्रणाली भी भिन्न भिन्न थी। देश-भेदके कारण जो थोड़ा भेद है, उसका उल्लेख कर देना उचित होगा। राष्ट्रकूटोंके दानपत्र राष्ट्रपति, विषयपति, ग्रामकूट, आयुक्तक, नियुक्तक और महत्तरको लक्ष्य कर लिखे गये हैं। राष्ट्रपति दक्षिणापथका विशिष्ट अधिकारी होता था। हम कई बार कह चुके हैं कि देशविभाग-सूचक राष्ट्र शब्द महाराष्ट्रमें ही बरता जाता था। मुसलमानी राजत्वकालमें इस विभागका अधिकारी सूबा और उसके मातहत तहसीलदार हुआ करता था (ए० इं० ६ पृष्ठ २४५)। महत्तर पटेलको कहते थे। कोंकणमें 'म्हातरे' के रूपमें अब तक यह शब्द प्रचलित है। गुजरातके दन्तिवर्माके दानपत्रमें उपर्युक्त नामोंके अतिरिक्त 'वासापक' शब्द भी आया है। उसका किसीने भाषान्तर नहीं किया और उसका समझना भी कठिन है। सन् ९३३ (वि० ९९०) के सांगली दानपत्रमें (इं० एँ० भा० १२) 'राष्ट्रपति विषयपति ग्रामकूट महत्तर आयुक्त नियुक्तकाधिकारान्' ये ही चिर परिचित शब्द हैं। कर्णाटकमें सामपुरी गाँव होनेसे 'सात सौमें-से एक' ऐसा उसका वर्णन किया गया है। सन् ९७२ (वि० १०२९) के कर्डा-दानपत्रमें भी इन्हीं अधिकारियोंके नाम हैं और लिखा गया है कि यह गाँव तीन सौमेंसे एक है। (इं० एँ० भा० १२, पृष्ठ २६३)।

दानपत्रोंमें ग्रामवासियोंका वर्णन विभिन्न प्रकारका है। बंगालके ताम्रपटका वर्णन अधिक सविस्तर है। गाँवके लोगोंमें ब्राह्मण (महत्तम), व्यापारी (उत्तम), पुरोधसे लेकर मेद, चाण्डाल, भंगी, डोम तकके नाम हैं (इं० एं० भा० १५, पृ० ३०६)। राष्ट्रकूटोंके दानपत्रोंमें केवल "महत्तर आदि" इतना ही लिखा है। महत्तर शब्द कोंकणमें अबतक प्रच-लित है, किन्तु दक्षिणी घाटमें कहीं सुनाई नहीं देता। वाक्पति और भोजके समयमें परमारोंके दिये मालवाके दानपत्रमें "प्रतिवासिनः पट्ट किलजनपदादींश्च बोधयति" शब्द हैं। इनका अर्थ है—"निवासी, पट्टकिल और गाँवके अन्य मनुष्यों-को राजा सूचित करता है।" सन् १००० (वि० १०५७) के लगभग मालवाके दानपत्रमें पट्टकिल शब्द सर्वप्रथम लिखा गया, परन्तु अब वह देशभरमें प्रचलित हो गया है। पंचाय-से महाराष्ट्रतक यह शब्द 'पटेल'के रूपमें गाँवके मुख्या-धिकारीके लिए बरता जा रहा है। पट्टकिल शब्द कहाँसे आया और उसका अर्थ क्या है? हमारी समझमें हर्षके समय-में प्रयुक्त हुए 'अक्षपटलिक' शब्दका यह संक्षिप्त रूप है। पट्टलिकसे पट्टकिल और फिर उसका अपभ्रंश पटेल बन गया है। गाँवोंका दान करते हुए—" सोद्रंग सपरिकर सद-शापराध सभूत वाटप्रत्यायसोत्पद्यमानविष्टिक सधान्य हिर-ण्यादेय अचाटभट प्रवेश सर्वराजकीयानाम हस्तप्रक्षेपणीय" इत्यादि शब्द पिछली शताब्दियोंके दानपत्रोंकी तरह इन शताब्दियोंके दानपत्रोंमें भी लिखे गये हैं। इनसे गाँवकी आयके सम्बन्धमें दानरूपमें गाँव पानेवालोंके अधिकार सिद्ध हो जाते हैं। दोनों समयोंके वर्णन प्रायः समानार्थक हैं। उद्रंगका अर्थ है—कर स्वरूप भूमिकी उपजका षष्ठांश।

कभी कभी उद्रंगके स्थानपर भोग शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। हिरण्यका अर्थ है—व्यापारसे हुए लाभका पचासवां भाग। अन्य विशेषण हर एक गाँव और उसके स्वामीके अधिकार-निदर्शक हैं; जैसे उस गाँवमें पुलीस या सिपाही प्रवेश न करें, इत्यादि। अपनी सीमामें चौपायोंके चराने, आम तोड़ने (साभ्रकी जगह 'साम्र' समझना चाहिये), मधूक अर्थात् महुवेका उपयोग करनेका अधिकार ग्रामके स्वामीको था। गुजरातकी तरह बंगालमें भी तब महुवा एक आमदनीका जरिया था। सारांश, जंगल-विभागके अधिकारीको दान किये गाँवोंमें घुसने अथवा चरीकी भूमि संरक्षित रखनेका अधिकार नहीं था। गाँवके साथ 'तल और गर्ताधर' अर्थात् ऊबड़-खावड़ भूमि भी दी जाती थी। बंगालमें ऐसी भूमि बहुत है और खालसामें वह सरकारके अधिकारमें होगी। इसी तरह आम और महुवेके पेड़ किसीने रोपे हों, परन्तु उसकी अपनी भूमिमें न हों, तो वे सरकारी माने जाते हैं, ग्रामके स्वामीके नहीं। यह भी कह देना उचित है कि उस समय सरकार किसी ग्रामसे एक निश्चित सीमातक बेगार ले सकती थी। अर्थात् वर्षमें कुछ निश्चित दिनतक ही सरकार मजूरोंसे काम ले सकती थी और बेगारके सब अधिकार दान पाये हुए ग्रामोंके स्वामियोंके ही हुआ करते थे। यही कारण है कि अधिकतर दानपत्रोंमें "सोत्पद्य मानविष्टिक" ये शब्द मिलते हैं। मालवाके दानपत्रोंमें भी इसी प्रकारका अर्थात् "स्वसीमातृणकाष्ठगोचर पर्यन्तः सवृक्षमालाकुलः सहिरण्य भागभोगः सोपरिकरः सर्वादायसमेतः" इन शब्दोंमें वर्णन मिलता है। गोचरके साथ काष्ठ अर्थात् जलानेकी लकड़ी देने वाले वृक्ष तथा अन्य मूल्यवान् या अल्प मूल्यके वृक्ष देनेका भी

दानपत्रोंमें उल्लेख है। "देव तथा ब्राह्मणको पहलेसे ही दिये गये दानके अतिरिक्त" ये शब्द भी दानपत्रोंमें प्रायः रहते हैं। यह अपवाद आजकलकी सनदोंमें भी रखा हुआ दिखाई देता है। इस कालके तथा प्राचीन कालके दानपत्रोंमें दान की हुई वस्तुओंकी सूचीमें "भूतवाटप्रत्यादये" ये शब्द प्रायः मिलते हैं पर इनका अर्थ लगाना कठिन है।

ग्रामोंके मुल्की अधिकारी वंशानुगत हुआ करते थे पर इसमें सन्देह नहीं कि तहसील तथा भुक्ति अर्थात् जिलेके (परमारोंके मालवाके दानपत्रोंमें भुक्तिके स्थानपर "पथक" शब्द प्रयुक्त हुआ है और उसमें दक्षिणी, पूर्वी आदि उपविभाग किये गये हैं) अधिकारियोंको राजा जब चाहते नियुक्त करते और जब चाहते निकाल देते। शिला-लेखोंमें इस प्रकारकी नियुक्तियोंके उल्लेख हैं। उदाहरणार्थ सियाडोनीके दानलेखसे (ए० इं० भा० १) हमें यह ज्ञात होता है कि वह प्रान्त ई० सन् ६१२ (वि० ६६६) में महाराज दुर्लभके और ई० सन् ६६० (वि० १०१७) में महा-राज निष्कलंकके अधिकारमें था। ग्वालियरके वल्लभ स्वामीके शिलालेखमें (ए० इं० भा० १, पृ० ६५७) यह उल्लेख है कि आदिवराह अर्थात् कन्नौजके भोज राजाने गुजरातके आनन्दपुर नगरके नागर ब्राह्मण अल्लके गुणोंको देखकर उसे ग्वालियरका किलेदार नियुक्त किया (श्री मदादिवराहेण त्रैलोक्यविजिगीषुणा। तद्गुणान्यः परिज्ञाय कृतो गोपाद्रि पालने॥)। अल्लका बाप राजा भोजके पिता रामभद्रके शासनकालमें एक अधिकारी था। इससे हमें यह बात मालूम होती है कि गुजरात और ग्वालियर दोनोंपर कन्नौजके राजा-ओंका अधिकार था, इतना ही नहीं गुजरातका निवासी

ग्वालियरमें अधिकारी भी नियुक्त किया जा सकता था। कन्नौजके लोगोंको गुजरातमें अधिकारी नियुक्त करनेकी बात भी शिलालेखोंमे आयी है। इसी प्रकार राष्ट्रकूटोंके राज्य-कालमें कर्णाटकमें (उदाहरणार्थ वहोली स्थानमें) बाहरी लोग अधिकारी नियुक्त होते थे। इन्हें सब प्रकारके अधिकार होते थे। ये एक प्रकारसे अपने जिलेके छोटे मोटे राजा ही होते थे। इन्हें पंच महाशब्दोंका अर्थात् शंख, नगाड़े आदिका प्रयोग करनेका अधिकार मिलता था (समधिगत पंच महाशब्दः)। जान पड़ता है कि मुगल तथा मराठी रियासतोंके सूबेदारोंकी तरह इन्हें धार्मिक दानोंकी मंजूरी देनेका भी अधिकार था। ये अधिकारी वंशानुगत नहीं होते थे पर बहुधा ये सामंत बनकर वंशानुगत अधिकारी हो जाते थे। इनके वेतनका क्या प्रबंध था, यह बात शिलालेखोंसे स्पष्ट नहीं होती। संभव है कि किसी पूरे नगर या तहसीलकी आय इन्हें वेतन स्वरूप देनेका मनुकालीन नियम इस समय भी प्रचलित हो। कुछ भी हो, वे धनवान् अवश्य होते थे क्योंकि शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ग्वालियरमें पत्नीके नामसे मन्दिर बनवा कर उसके खर्चके लिए निश्चित व्यवस्था कर देनेकी हैसियत अल्ल नामके अधिकारीकी थी। जिलाधीशके बहुतसे अधिकार होते थे पर सेना उसके अधिकारमें न रहती थी, उसपर एक स्वतंत्र अधिकारी होता था। उदाहरणार्थ, ग्वालियरके शिलालेखमें (ए० इं० भा० १, पृ० १५६) किलेदारके पदपर अलकी नियुक्तिका उल्लेख है पर सैनिक अधिकारीके स्थानपर दूसरे व्यक्तिका नाम है। इस निजी शिलालेखका एतद्विषयक अंश यहाँ उद्धृत करने योग्य है जो इस प्रकार है—"परमेश्वर श्री

भोजदेवे तदधिकृत—कोट्टपाल अल्ले बलाधिकृत तत्तके (तत्तक सैनिक अधिकारी था) स्थानाधिकृत श्रेष्ठिवाकियके (वाकियक नामका व्यापारी नगरका अधिकारी था।)" आदि।

उद्धरणके अन्तिम अंशसे पता चलता है कि नगरके माननीय लोग नगरके (म्युनिसिपल) अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। संभवतः इनका एक स्थानीय अधिकारी-मण्डल होता था जो नगरका प्रबन्ध किया करता था। ये महाजन कहाते थे और ग्वालियरके वाकियककी तरह अपना मुख्य अधिकारी नियुक्त करते थे। शिलालेखोंमें नया बाजार खोलकर उसपर नये महाजनकी नियुक्ति करनेके उल्लेख मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि नगरके बाजार महाजनोंके अधिकारमें होते थे।

नगरोंकी ये म्युनिसिपलिटियाँ तथा बाजार प्रायः विशिष्ट कर बैठाते और यह आय मन्दिरोंको धर्मार्थ दी जाती थी। स्वेच्छासे लगाये गये ऐसे करोंका अनेक शिलालेखोंमें उल्लेख है। इस सम्बन्धका अत्यन्त महत्वपूर्ण शिलालेख वह है जो ग्वालियरकी सीमामें ललितपुरके समीप मिला है। यह शिलालेख स्वतंत्र रूपसे अध्ययन करने योग्य है (ए० इं० भा० १ पृ० १७४)। इसमें ऐसे अनेक कर लगाकर उनकी आय एक विष्णुमन्दिरको, जो किसी व्यापारी तथा एक और मनुष्यका बनवाया हुआ था, कई वर्षोंतक देनेका उल्लेख है। ऐसा इसी उद्देश्यसे किया जाता था कि अक्षयनीमिका अर्थात् स्थायी आय मन्दिरको मिला करे। इस प्रकार अनेक वीथिकाएँ मन्दिरको दी गयी थीं। वीथिकाका अर्थ भलीभाँति समझमें नहीं आता। संभवतः इसका अर्थ बाजारकी एक दूकान होगा

जिसका किराया मन्दिरको दिया जाता था। इसी प्रकार घर भी मन्दिरोंको दिये जाते थे। पर इसमें विशेष आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। हाँ, यह देखकर आश्चर्य अवश्य होता है कि दो स्थानोंपर शराब बेचनेवालोंने आधा द्रम्म या रुपया प्रति-मद्यपात्रके हिसाबसे अपने ऊपर कर बैठा लिया था। इस सम्बन्धमें शिलालेखके शब्द इस प्रकार हैं—"समस्त कल्लपालानां मध्ये यस्य यस्य सत्क मद्य भांडं निष्पद्यते विक्रयं याति स चाचंद्रार्कं यावद् विग्रहपाल सत्कद्रम्मार्धिका ताली दातव्या।" (अर्थात् कलारोंकी दूकानोंमें बिकनेवाली शराब पर आधा द्रम्म प्रति मद्यपात्र मिलनेवाला कर मन्दिरको देनेकी व्यवस्था तबतकके लिए की जाती है जबतक सूर्य-चन्द्रका अस्तित्व है)। संभवतः कुछ वर्षोंतक इस शिला-लेखके अनुसार व्यवस्था रहती है और फिर सदियों अज्ञात अवस्थामें पड़े रहनेके बाद यह पत्थर एक यूरोपियन अन्वेषक द्वारा संसारके सम्मुख लाया जाता है। मानवी इच्छाकी व्यर्थताका यह कैसा अच्छा उदाहरण है! आज न वह मन्दिर है, न वह कर है। पर इस शिलालेखसे इन बातोंका अवश्य पता लगा है कि कलार शब्दकी व्युत्पत्ति कल्लपाल शब्दसे हुई है दसवीं सदीमें भारतमें शराब बनती थी तथा एक विष्णुमन्दिरके खर्चके लिए शराबपर स्वेच्छासे कर लगाया गया था। इस प्रकारके करके उल्लेखके आधारपर, अर्थ करनेमें गलती होनेके कारण, यह मान लिया गया है कि विष्णुके मन्दिरको करके रूपमें शराब दी जाती थी। पर यह सरासर भूल है। शराबकी बिक्रीसे होनेवाली आयपर कर लगानेमें उस समय भी किसीको आपत्ति न हुई होगी। आज भी तो शराबसे होनेवाली आय शिक्षा-विभागको दी

जाती है। उस समय ऐसा कर वसूल भी किया जाता था। कुम्हारको भी कर देना पड़ता था। पेहेवा (पंजाब) के एक शिलालेखमें उल्लेख है कि कन्नौजके तीन तथा पेहेवा या पृथूदकके सरस्वती-तटवर्ती एक मन्दिरके खर्चके लिए घोड़ोंकी बिक्रीपर कर लिया जाता था और उसका एक निश्चित भाग प्रत्येक मन्दिरको मिलता था।

मन्दिरोंको मुख्यतया दो चीजें आवश्यक होती हैं—तेल और फूल। जिस समय बिजली या किरासन तेल नहीं था उस समय तेलियोंका भी बड़ा महत्त्व था। भारतके प्रत्येक नगर और ग्राममें तेलियोंकी गणना प्रतिष्ठित आदमियोंमें होती थी और वे पूँजी अमानतमें रखकर उसके लाभसे रोज घान पीछे कुछ तेल देना स्वीकार करते थे। इस प्रकार मन्दिरोंके रोजके खर्चके लिए तेल मिलनेका कई शिलालेखोंमें उल्लेख है। इस सम्बन्धमें उपर्युक्त सियाडोनी शिलालेखके अतिरिक्त चेदीका बिलहौरी शिलालेख भी (ए० इं० भा० १, पृ० २६२) देखने योग्य है। इसके एतत्सम्बन्धी वाक्यका ठीक तरहसे अर्थ नहीं लगता। वह इस प्रकार है—"पत्तनमण्डपिकायां लवणस्य खण्डिकायां पोडशिकयाणके च पोडशिका। तैलस्य मासि मासि दिनमनु च युगे युगे च पौर।" इस वाक्यका मण्डपिका शब्द अन्य शिलालेखोंमें भी आया है और जान पड़ता है कि इसका अर्थ नगरका चुंगीका नाका है। नमकके बाजारोंमें तथा तेलकी घानोंपर पोडशिका नामका कर लिया जाता था। तेली यह कर स्वेच्छासे देते थे तथापि समस्त तेली जातिसे यह कर दिलानेवाली एक संस्था भी मौजूद थी। यही क्या, प्रत्येक व्यवसायका एक मण्डल था और मण्डलके विरुद्ध चलनेवालेको दण्ड दिया जाता था।

माली भी ग्रामका एक महत्वपूर्ण व्यक्ति हुआ करता था और वह देवालयोंको फूल दिया करता था। फूलोंके लिए भक्त लोग मन्दिरोंको जमीन भी देते थे (सियाडोनी तथा ग्वालियर शिलालेख)। देव-ब्राह्मणोंको मिलनेवाला यह दान व्यापारियोंतक ही परिमित नहीं था। समाजका अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग अर्थात् कृषकवर्ग भी उनके साथ था। अब तक मिले हुए शिलालेखोंमें इस सम्बन्धका उल्लेख नहीं मिलता पर कलियुगसे सम्बन्ध रखनेवाली पराशरस्मृतिमें एक श्लोक इस प्रकार है—"राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैक विंशकम्। विप्राणां त्रिंशकं भागं सर्वं पापैः प्रमुच्यते॥" अर्थात् राजाको आयका छठाँ भाग, देवताको इक्कीसवाँ भाग तथा ब्राह्मणको तीसवाँ भाग देनेवाला कृषक सब पापोंसे मुक्त होता है। आयका तीसवाँ भाग ब्राह्मणको देनेके इस नियमके कार्यान्वित होनेका पता सिंध प्रान्तमें प्रचलित प्रथासे लगता है। दाहिरके समयमें कृषकोंकी आयका तीन शतांश ब्राह्मणोंको मिलता था। मुसलमानोंके राज्य-कालमें भी महम्मद कासिमने यह प्रथा जारी रखी थी। सिंध प्रान्तमें इस करके स्वेच्छासे लगाये जानेका कारण तबतक हमारी समझमें न आया था जबतक हमारा ध्यान पराशरस्मृतिके इस श्लोककी ओर न गया था और यही दिखानेके लिए कि उस समय लोग यह कर स्वेच्छासे देते थे हमने पाठकोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है।

उस समय वसूली विभागकी व्यवस्था दूरदर्शितापूर्ण थी और उसका कड़ाईसे पालन होता था। इसका प्रमाण कन्नौजके प्रतिहार राजा भोजके दौलतपुरवाले दानपत्रमें मिलता है। इस दानपत्रमें कहा गया है कि "भोजके पितामह

वत्सराजने इस समय दान लेनेवाले व्यक्तिके पितामह वासुदेव भट्टको अग्रहार दिया था जिसका वह उपभोग करता था। वासुदेव भट्टने उसका षष्ठांश दानपत्र करके भट्ट विष्णुको दिया जिसके लिए महाराज नागभट्टने मंजूरी दी थी। मूल दानपत्र तथा सरकारकी मंजूरीका पत्र खो जानेके कारण मूल पत्र, भोगबन्धक तथा उसकी मंजूरीके बारेमें इतमीनान कर यह नयी आज्ञा दी गयी है।" इस मजमूनके आधारपर कहा जा सकता है कि लोग दानमें मिले गाँव बेचा करते थे, सरकारसे इसकी मंजूरी मिलती थी, सरकारी दफ़्तरमें इसकी चाहे जब जाँच की जा सकती थी तथा कानूनी कारवाई होते समय ये प्रमाणपत्र तथा दखलीके आवश्यक कागज़ या सबूत देखे जाते थे। ऐसी अवस्थामें कहा जा सकता है कि वसूली विभागके दफ़्तरमें बड़ी व्यवस्था थी और कन्नौज साम्राज्यमें कानून तथा वसूली विभागके सामान्य परिष्कृत सिद्धान्त विचारपूर्वक बारीकीसे पाले जाते थे।

यह देखना भी मनोरञ्जक होगा कि ये प्रमाण कागजपर लिख रखे जाते थे या कोई दूसरा पदार्थ इस काममें लाया जाता था। उपर्युक्त लेखमें बार बार 'पत्र' शब्दका प्रयोग किया गया है जिससे यह अनुमान होता है कि अवश्य कोई न कोई कागज ही इस काममें लाया जाता होगा। उत्तरमें संभवतः भुर्जपत्र तथा दक्षिणमें ताड़पत्रका प्रयोग किया जाता था। सनदें प्रायः ऐसे ही पत्रोंपर लिखी जाती थीं और उनकी नकलें टिकाऊ होनेकी दृष्टिसे ताम्रपत्र-पर दी जाती थीं। शिलाहारोंके शक सं० ६३० (ई० सन् १००८) के एक दानपत्रमें निम्नलिखित श्लोक है जिससे ज्ञात हो जायगा कि वसूली विभाग कैसा व्यवस्थित

था । श्लोक इस प्रकार है—"मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिन्हकम् । राजस्व हस्तशुद्धं च शुद्धि मायाति शासनम् ।" अर्थात् सरकारी आज्ञापत्रपर उचित मुद्रा (मोहर) होकर, तदनुसार चिन्ह लगकर कब्जा मिला हो और राजाके हाथके हस्ताक्षर उसपर हों तब उसे शुद्ध समझना चाहिये । अन्तिम शर्तके कारण आज्ञापत्रका किसी कागज या पत्तेपर लिखा जाना आवश्यक है । इस समयके (गुप्त राजाओंके कार्यकालके नहीं) ताम्रपत्रोंकी शुद्धता उपर्युक्त नियमोंके अनुसार ही देखी जाती है और इन ताम्रपत्रोंपर दान देनेवाले राजाका चिन्ह और किनारेकी ओर उसकी मुद्रा तथा हस्ताक्षर सदा मिलते हैं । कब्जा स्थानीय अधिकारी दिलाया करता था । (चिन्ह शब्दका यथार्थ अर्थ समझमें नहीं आता ।)

उस समय जमीनकी पैमाइश हुआ करती थी, जैसा हम पहले भागमें कह आये हैं, और इसके लिए सरकारी माप थी । इस मापका नाम निर्वतन था । (यह माप डंडोंसे की जाती थी ।) जमीनके छोटे टुकड़े हाथसे नापे जाते थे। ग्वालियरके एक दूसरे शिलालेखमें (ए० इं० भा० १, पृ० १५६) ऐसी मापोंका उल्लेख है । उसमें "परमेश्वरीय हस्त" अर्थात् सरकारी हाथकी चर्चा है (लम्बाई २७०, चौड़ाई १८७)। आगे चलकर दो जमीनोंकी पैमाइश नहीं दी है, प्रत्युत कहा है कि इतनी जमीन जिसमें ग्यारह दोना बीज बोया जा सके। (ब्रिटिश राज्यके आरंभतक कोंकणमें इस प्रकार जमीनकी माप बतानेकी प्रथा थी ।) खेतोंके प्रायः विशिष्ट नाम हुआ करते थे । दानपत्रोंमें खेतोंके नाम और उनकी चतुःसीमाका (सीमाके अर्थमें आधार शब्दका प्रयोग किया गया है) उल्लेख होता था । ग्रामोंको भी चतुःसीमा दी जाती थी

जो निश्चित हुआ करती थी। दीवानी झगड़ोंमें सीमा संबन्धी बहसको विशेष महत्व दिया जाता था।

कर मुख्यतया धान्यके रूपमें वसूल होता था। यह धान्य सरकारी गोदामोंमें जमा होता था। मुल्की कर्मचारियों तथा सैनिकोंका वेतन मुख्यतः धान्यके तथा अंशतः द्रव्यके रूपमें दिया जाता था। व्यापार सम्बन्धी करोंसे द्रव्य एकत्र होता था। ऐसी अवस्थामें यह बात साफ ध्यानमें आने योग्य है कि सरकारी खजानेमें रोकड़ बहुत कम रहती होगी और व्यापार भी अधिकतर वस्तु-विनिमय द्वारा होता होगा। विनिमयका साधन साधारणतः धान्य ही रखा जाता होगा। हम पहले भागमें काश्मीरके सम्बन्धमें यह बात दिखा चुके हैं। ब्रिटिश राज्यके आरम्भतक भारतके प्रत्येक भागमें यही प्रथा प्रचलित थी।

सिक्कोंकी अधिक आवश्यकता न होनेसे भारतमें स्वभावतः बहुत कम टकसालें थीं और उनमें सिक्के भी बहुत कम बनते थे। इस सम्बन्धमें शिलालेखोंसे अधिक जानकारी नहीं मिलती तथापि जो थोड़ी बहुत बातें हमें उनसे मालूम होती हैं वे यहाँ दी जाती हैं। सियाडोनी शिलालेखमें (ए० इं० भाग १) कई सिक्कोंके नाम आये हैं, जिनका उल्लेख करना उचित होगा। उनमें मुख्य सिक्का द्रम्म है। यह शब्द निःसन्देह विदेशी है। द्रम्म भी दो प्रकारका बताया गया है-श्रीमदादिवराह द्रम्म और विग्रहपालीय द्रम्म। यह आदिवराह अवश्य ही कन्नौजका प्रसिद्ध प्रतिहार राजा भोज है। उसका सिक्का उसके पुत्र और पौत्रके राज्यकालमें चलता था। हर्षचरितमें बाणके उल्लेखसे जान पड़ता है कि प्रत्येक राजा राज्याभिषेकके समय अपने नामके सिक्के जारी करता था और यह

प्रथा काश्मीरमें भी प्रचलित थी। संभव है कि ऐसे अवसरों-पर नाम मात्रके लिए कुछ सिक्के ढालकर रस्म अदा कर ली जाती हो और इतने सिक्के न निकलते हों कि जनतामें प्रचलित हो सकें। आदिवराह द्रम्म सौ वर्षतक प्रचलित था। उपर्युक्त शिलालेखमें जिस विग्रहपाल राजाके द्रम्मका बार बार उल्लेख आया है वह विग्रहपाल कौन है, यह बताना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि विदेशी सिक्कोंके चलनेमें कहीं कोई रुकावट नहीं थी। विदेशी तथा अन्य भारतीय राज्योंके सिक्के इधरके राज्योंमें चलते थे। सियाडोनीके आस पास विग्रहपालीय द्रम्म बहुत चलता था। पेशवाओंके समयमें भी महाराष्ट्रमें विभिन्न सिक्के प्रचलित थे और पेशवाओं या मराठोंका कोई अपना सिक्का नहीं था। वहाँ चांदवड तथा हल्ली सिक्कोंका बहुत प्रचार था पर उनके साथ ही दूसरे सिक्के भी चलते थे।

अब हम थोड़ा विषयान्तर करते हैं। सिक्के बनानेकी कला विदेशी मालूम होती है। निश्चय ही यह कला भारतीयोंने अत्यन्त प्राचीन कालमें अर्थात् अलेक्जेण्डरके समय या उसके भी बहुत पूर्व यूनानियोंसे सीखी। चन्द्रगुप्तके समयके कौटिलीय अर्थशास्त्रमें टकसालके सम्बन्धमें खास तौरसे अलग नियम दिये हैं। यूनानियों तथा शकोंके राज्यकालमें लोग सिक्केका पुराना संस्कृत नाम "निष्क" भूल गये और "दीनार" यह नया शब्द प्रचलित हुआ। यह शब्द निश्चय ही विदेशी है। आगे चलकर हिन्दुओंके राज्यकालमें "द्रम्म" शब्द प्रचलित हुआ। यह शब्द भी विदेशी है। इस शताब्दीमें भी कहीं "रुपया" शब्दका पता नहीं लगता पर यह शब्द भी विदेशी ही है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि सिक्के

बनानेकी कला विदेशोंसे ली गयी है। इस कलाका रसायन-शास्त्रसे सम्बन्ध है और भारतमें स्पष्ट पदार्थविषयक शास्त्रोंका विशेष अध्ययन नहीं होता था। सिक्कोंपर लेख या चित्र अंकित करना तथा उनके किनारे काटना कठिन होता है। पेशवाओंके हल्ली सिक्कों और मुसलमानोंके सिक्कोंमें बहुत कम अन्तर था। मुसलमानोंके सिक्कोंमें अपने राज्यका निदर्शक एक अक्षर बढ़ा कर पेशवाओंको सन्तोष करना पड़ा था।

इनके अलावा जिन छोटे सिक्कोंका उल्लेख आया है वे अर्ध-द्रम्म, विंशोपिका (अर्थात् द्रम्मका बीसवाँ भाग), कपर्दिका, काकिनी तथा वराटका हैं। इनमेंसे अन्तिम तीनों-का द्रम्मसे क्या सम्बन्ध था, इसका पता नहीं चलता। रुपये-को सोलह भागोंमें विभक्त करनेकी प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी और द्रम्मके बीस भाग किये गये थे। मुसलमानोंके राज्यकालमें भी इस प्रकार मुख्य सिक्केके बीस भाग करनेकी प्रथा थी। कपर्दिका सम्भवतः सबसे छोटा या कम कीमत-का सिक्का रही होगी।

(ब) फौजी व्यवस्था।

अब आइये उस कालकी सैनिक व्यवस्थापर विचार किया जाय। उस समय प्रायः राजा लोग स्थायी सेना नहीं रखते थे, सरदार तथा अन्य धनवान या अधिकारप्राप्त व्यक्तियोंके नौकर-चाकरों या अधीनस्थ लोगोंमेंसे समयपर सैनिक भरती कर सेना तैयार कर ली जाती थी। अरबी यात्रियोंके वर्णनोंसे मालूम होता है कि बल्हारा राज्यको छोड़कर और किसी भी राज्यमें स्थायी सेना रखने तथा सैनिकोंको मासिक वेतन देनेकी प्रथा नहीं थी। इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि इस कालके बाद फिर कभी बल्हारा राज्यमें

स्थायी सेना नहीं रखी गयी। हाँ, शिवाजीने यह प्रथा पुनः चलायी पर वह अन्ततक न चल सकी। हमारा खयाल है कि बल्हारोंके अलावा बङ्गालके पाल राजाओंके या कन्नौजके प्रतिहार राजाओंके पास भी स्थायी सेना रही होगी।

इन सेनाओंके तीन मुख्य अङ्ग हुआ करते थे—पैदल, घुड़सवार तथा हाथी। मालुम होता है कि प्राचीन कालकी चतुरंगिणी सेनाके चतुर्थ अंग रथका इसके पहले ही लोप हो चुका था। पर भागलपुरके शिलालेखसे विदित होता है कि कमसे कम बङ्गाल प्रांतमें सेनाके चतुर्थ अंगकी यह कमी जंगी जहाजोंने पूरी कर दी थी। बंगाल प्रांतमें बहुतसी नदियाँ होनेके कारण वहाँ नावों द्वारा आसानीसे व्यापार हो सकता था। ऐसी अवस्थामें वहाँ व्यापारी तथा जंगी जहाजोंका होना संभव जान पड़ता है। कमसे कम नाविक डाकुओंसे व्यापारकी रक्षा करनेके लिए ही सरकारी जंगी बेड़ा रखना जरूरी था।

उस समयके तीनों साम्राज्योंमें सेनाके इन तीन अंगोंमेंसे किसी एक अंगकी विशेष रूपसे उन्नति हुई थी। कन्नौजकी सेना अश्वदलके लिए प्रसिद्ध थी, तो बंगालकी सेना गजदलके लिए प्रसिद्ध थी। महाराष्ट्रीय सेनामें पैदल सैनिकोंकी ही प्रधानता थी। एक अरबी यात्रीने इसका यह कारण बताया है कि महाराष्ट्र प्रांत पहाड़ी होनेके कारण इस प्रांतमें पैदल सेनाका होना अत्यावश्यक था। पर आजकलकी तरह उस समय भी पैदल सेनाका विशेष महत्व न होनेके कारण राष्ट्रकूटोंकी शक्ति विशेष कर पैदल सेनापर ही निर्भर रही होगी, ऐसा नहीं मालूम होता। राष्ट्रकूटोंकी सेनामें अश्वदल और गजदल भी काफी बड़ा रहा होगा।

दूसरी बात यह कि दक्षिणमें मलाबार प्रदेशके जंगलोंमें, कारवार प्रान्त और अपरान्त अर्थात् थाना जिलेमें हाथी बहुतायतसे होनेके कारण राष्ट्रकूटोंके लिए गजदल रखना बहुत कठिन नहीं था। महाभारतमें भी इस आशयका उल्लेख मिलता है कि अपरान्त प्रान्तमें अच्छे हाथी पैदा होते हैं। बंगालके राज्यको विंध्य पर्वत तथा महेन्द्र पर्वतके आस पासके प्रदेशसे बहुत हाथी मिलते थे। पर बंगाल राज्यमें अश्वदलकी सदा ही कमी रहती थी, क्योंकि इस प्रान्तमें घोड़े शायद ही कभी मिलते थे। भागलपुरके शिलालेखमें तो ऐसा वर्णन है कि उत्तरके राजाओंसे उपहारस्वरूप मिले हुए घोड़ोंसे बंगालके राजाओंकी सेनाका अश्वदल तैयार किया जाता था। दक्षिणमें, और उसी प्रकार मारवाड़ प्रदेशमें, ऐसे घोड़े बहुत मिलते थे जो अश्वदल बनाने योग्य हों। पञ्जाब तथा अफगानिस्तानके घोड़े तो प्रसिद्ध ही हैं। यही कारण है कि राष्ट्रकूट तथा प्रतिहार राजाओंके लिए सदा अश्वदल तैयार रखना संभव था। विदेशी वस्तुओंके संबन्धमें लोगोंके मनमें सदा ही कुतूहल रहता है, इसलिए अरबी तथा ईरानी घोड़ोंकी बड़ी तारीफ होती थी, और यह मानना पड़ेगा कि अरबी घोड़ोंमें वैसे गुण होते भी हैं। अरबसे आनेवाले घोड़े संभवतः समुद्रके मार्गसे ही आते होंगे। भारतमें इन घोड़ोंका बहुत बड़ा व्यापार चलता था और यही कारण है कि अधिकांश राजदरबारोंमें अरबी व्यापारियोंको महत्व प्राप्त हुआ था।

सेनामें आत्मीय जनोंकी अधिकता होनेसे शत्रुका बहुत भय नहीं रहता। कारण, उनके शत्रुसे मिल जाने या लड़नेसे जी चुरानेकी बहुत कम संभावना रहती है। इसके अलावा

उनमें स्वदेशप्रेम तथा स्वामिनिष्ठा भी अधिक दिखाई देती है। वेतनभोगी सेनामें विदेशियोंके भर जानेकी अधिक संभावना होती है और ये किरायेके टट्टू कब विश्वासघात करदें, इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। इस संबंधमें हम पिछले भागमें विचार कर ही चुके हैं। प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट राजाओंकी सेनामें आत्मीय जनोंकी ही अधिकता रहती थी। राजपूत तथा मराठे पहलेसे ही सैनिक प्रकृतिके लिए प्रसिद्ध हैं और उन दिनों उन्हें अपनी उस प्रकृतिका परिचय देनेके मौके अकसर आते थे। बंगालके राज्यमें बिलकुल उलटी स्थिति थी। भागलपुरके शिलालेखसे तो ऐसा मालूम होता है कि बंगालकी सेनामें गौड़के अतिरिक्त खस, मालव, हूण, कुलंक, कर्नाट, लाट आदि विभिन्न जातियोंके सैनिकोंकी भरमार थी।

इस सूचीमें राजपूतों या मराठोंका नाम नहीं है, और यह ठीक भी है। कारण, इन वीरोंको अपने ही देशमें काफी काम था। इस सूचीमें वर्णित सभी देशोंके सैनिक वीरताके लिए प्रसिद्ध रहे हों, यह बात नहीं थी। उदाहरणार्थ, मालवा तथा लाट अर्थात् दक्षिण गुजरातके लोग वीरताके लिए कभी प्रसिद्ध नहीं हुए। संभव है कि लेख लिखनेवालेने सेनाका गौरव बढ़ानेके विचारसे ये नाम भी सूचीमें जोड़ दिये हों। यह भी संभव है कि उस कालमें ये लोग वीरताके लिए प्रसिद्ध भी रहे हों और आगे चलकर मुसलमानोंके राज्यकालमें उनकी वीरश्री नष्ट हो गयी हो। विभिन्न राष्ट्रोंका इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि कभी कभी विदेशियोंके अत्याचारसे देशके मूल निवासियोंका स्वभाव तक बदल जाता है। इस शिलालेखसे बंगालके लोगोंमें क्षात्र-तेज होनेकी बात नहीं दिखाई देती। पर आज कलके परिवर्तन-

कालमें बंगालियोंने गुप्तरूपसे वास करनेवाली अपनी वीरताका परिचय दिया है। प्रत्येक सेनामें नियमित पदाधिकारियोंके अतिरिक्त एक सेनाधिपति होता था। भागलपुरवाले दानपत्रमें 'महासेनापति' के नामसे उसका स्वतंत्र रूपसे उल्लेख किया गया है। सारी सेनाका वही अधिनायक होता था और राजाके साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता था। उसकी अधीनतामें कितने ही अधिकारी होते थे। प्रधान सेनापति महासेनापतिके अधीन रहता था। राजा युद्ध-सम्बन्धी नीति महासेनापतिके परामर्शसे ही निश्चित करता था। 'दौःसाध्यसाधनिक' नामक एक और अधिकारी होता था। उसका यथार्थ काम क्या था, समझमें नहीं आता; परन्तु साधारणतया यही जान पड़ता है कि शत्रुओंके घेरोंको तोड़ने, बारूदसे उनके आश्रय-स्थानोंको उड़ा देने और यदि शत्रु किसी किलेमें पहुँच गये हों, तो उनमें आतङ्क फैलाने जैसे काम ही उसे सौंपे जाते थे। सैनिकोंको सरकारी कोषसे नियमित वृत्ति और कोठारसे अनाज मिलता था। सेनाध्यक्ष और सेनाके अन्य अधिकारियोंको नक़द वार्षिक वेतन दिया जाता था या आयका कुछ अंश दिया जाता था, तत्कालीन लिखित प्रमाणके अभावसे इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः मनुस्मृतिमें वर्णित वेतन और पुरस्कारकी प्रथा ही इस समयमें भी प्रचलित थी।

सैनिकोंको सैनिक सामग्री पहुँचाने, सेनाके कूच करनेपर उसके लिए भोज्याद्य और जलका प्रबन्ध करने, जानवरोंके लिए घासकी व्यवस्था करने, दूत भेजने, शत्रुके शिविरमें जाकर गुप्त बातें जानने आदिके लिए भी अनेक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जिससे लश्करका प्रबन्ध सुश्रृंखल रहे। भाग-

लपुरके लेखमें वर्णित अधिकारियोंकी सूचीमें इस प्रकारके एक अधिकारीका उल्लेख है। काश्मीरके इतिहासमें भी 'महासाधनिक' नामक एक ऐसे अधिकारीका वर्णन है। इसका प्रधान काम अच्छी नसलके घोड़ोंका पैदा करना और उनका चुनाव करना था। इसी इतिहासमें दूतोंके अधिकारीका नाम 'दूतप्रेषणिक' लिखा है। भागलपुरके लेखमें 'गमागमिक' और 'अभिप्रतप' नामक दो अधिकारियोंका भी उल्लेख है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे किस कार्यपर नियुक्त किये जाते थे।

उस समय आज कलकी तरह राजा सेनाके पीछे नहीं, किन्तु आगे रहा करता था और अपनी शूरता तथा दृढ़ताका उदाहरण सैनिकोंके सामने उपस्थित करता था। युद्धमें सबसे आगे रहना इस देशमें राजाका कर्तव्य समझा जाता है। अन्तिम पेशवा बाजीरावके अतिरिक्त अन्य सभी पेशवाओंने हर एक युद्धमें आगे रहकर कैसा पराक्रम प्रकट किया था, यह इतिहासप्रसिद्ध ही है। आजकलकी सेनाका स्वरूप एक यंत्रके समान होनेके कारण प्रधान सेनापतिको सूत्रधारकी तरह पीछे ही रहना पड़ता है। तबके युद्ध कैसे होते थे, इसकी अब कल्पना भी नहीं की जा सकती। तोपों, आकाशयानों, पनडुब्बियों आदिने आजकल युद्धका स्वरूप बिलकुल बदल दिया है। तोपोंके अभावसे उस समय प्रायः बाणयुद्ध ही हुआ करते थे। गजदलका युद्ध सबसे भयंकर होता था। राजा हथिनीपर सवार होकर युद्ध करता था। विभिन्न लेखोंमें राजाके पराक्रम और कौशलके काव्यमय वर्णन मिलते हैं। इन्द्र जिस प्रकार कृष्णवर्ण मेघोंसे जलकी मूसलधार वर्षा करता है, उसी प्रकार यह भूतलका राजेन्द्र मेघोंके समान

हाथियोंके गण्डस्थलोंसे मानो मोतियोंकी वर्षा कर रहा है'– ऐसे अनेक वर्णन हैं और उनसे प्रतीत होता है कि आजकल यूरोपमें तोपखानोंका जैसा महत्व है, वैसा ही उस समय यहाँ गजदलका था। इस देशमें गजदल द्वारा गजदलसे जूझने-की कला पूर्णावस्थाको पहुँच गयी थी, इसमें सन्देह नहीं। उस समयसे पहिले ही तोपोंका प्रयोग लोगोंने जान लिया था, किन्तु हिन्दुस्थानमें उसका अवलम्बन क्यों नहीं किया गया, इसका सखेद आश्चर्य होता है। इस सम्बन्धमें तीसरे भागमें विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

इस देशके युद्धोंमें विलक्षणता यह थी कि राजा अथवा प्रधान सेनापतिके आहत या हत होनेपर सेना निरुत्साह होकर इधर उधर भागने लगती थी। ऐसी अवस्थामें शत्रुदल यदि उसके धुर्रे उड़ा दे, तो आश्चर्य ही क्या है? इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सेनाके काम यथायोग्य व्यक्तियों-के सिपुर्द नहीं किये जाते थे अथवा राजाके अतिरिक्त कोई जवाबदेह नहीं रहता था। बात यह थी कि सेना स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर लड़ती थी, राष्ट्रप्रेमके कारण नहीं। प्रारम्भसे ही हमारे देशमें यदि किसी बातकी न्यूनता रही है तो वह राष्ट्रप्रेमकी है। राष्ट्रके संबन्धमें अपना कुछ दायित्व है, यह विचार यहांके लोगोंके मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। 'राज्य राजाका है, उसके मरनेपर किसके लिए लड़ें?'—यह भावना ऐसी दृढ़मूल हो गयी थी कि जिससे इस देशके लोगोंके पराक्रमका तेज लुप्त होजाता और शत्रुको विजय प्राप्त होती थी। राष्ट्रप्रेमके अभावसे भारत पराक्रम, वैभव और विद्यामें पूर्ण होते हुए भी आजतक पराधीनताके पंकमें सड़ रहा है।

अठारहवाँ प्रकरण ।

भारतके इतिहासमें अत्यन्त सुखसमृद्धिका समय ।

ई० स० ८००—१००० (वि० ८५७–१०५७)

(समालोचन)

भारतके आजतकके इतिहासमें इन दो शताब्दियों जैसा वैभवसम्पन्न, समृद्ध और सुखका काल किसी अन्य शताब्दीमें देख नहीं पड़ता। इन शताब्दियोंमें भारत पूर्ण स्वतंत्र था और देशभरमें समृद्धि और शान्तिका साम्राज्य था। धार्मिक परिस्थिति निर्दोष थी। समग्र देशमें एक ही धर्म प्रचलित होनेसे जनतामें वैमनस्यका अभाव और एकता देख पड़ती थी। विभिन्न जातियोंमें भेदभाव न होनेके कारण विरोधकी गुंजाइश नहीं थी। सेनाका प्रबन्ध उत्तम था, इस कारण विदेशी आक्रमणका भय नहीं था और राज्यव्यवस्था भी प्रजाके लिए सुखकर थी। ऐसा समृद्धि और शान्तिका समय कदाचित् वैदिक युग अथवा बुद्धके पूर्व रहा हो। परन्तु बौद्ध कालसे लेकर आजतकके बीचमें इस प्रकारके सुवर्ण-कालका पता नहीं चलता।

इस सर्वाङ्गसुन्दर समयके हर एक पहलूपर विचार करना आवश्यक है। इस समयकी सबसे अधिक महत्वकी बात यह है कि समग्र देशमें एक ही धर्मका प्रभाव था। किसी एक देशमें यदि अनेक धर्मोंके लोग बसे हों, तो वहाँ शान्ति रहना अधिक सम्भव नहीं है और यह भी निश्चय नहीं किया जा सकता कि वहाँके लोग राष्ट्रके लिए मिलकर काम करेंगे ही। आगे चलकर यह अवस्था न रह सकी।

अबतक मुसलमानोंका प्रवेश सिन्धमें ही हुआ था, अन्य प्रान्तोंमें उनका पता नहीं था। इस कारण धार्मिक कलह अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक अस्वस्थताको अवकाश ही नहीं था। ज्यों ज्यों मुसलमान हिन्दुस्थानमें फैलने लगे, त्यों त्यों अन्धाधुन्धी और अराजकता बढ़ने लगी। आज बड़े बड़े नगरोंमें ही नहीं, छोटे छोटे ग्रामोंमें भी क्षुद्र कारणोंको लेकर दोनों धर्मोंके लोग परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं और कभी कभी उन झगड़ोंका स्वरूप अत्यन्त उग्र होजाता है। उस समय मुसलमानोंकी मसजिदें हिन्दुओंके देवालयोंके शिखरोंसे स्पर्धा नहीं करती थीं; क्योंकि उनका अस्तित्व ही नहीं था। परन्तु आगे चलकर हिन्दुओंके मन्दिरोंकी तरह देशभरमें मसजिदें बन गयीं और उनके ऊँचे धरहरे हिन्दुओंके मन्दिरोंके उच्च शिखरोंसे स्पर्धा करने लगे! तभीसे हिन्दू-मुलमानोंके वैमनस्यका मानों झण्डा खड़ा कर दिया गया। उस समय जिस प्रकार इस्लामका उदय इस देशमें नहीं हुआ था, उसी प्रकार बौद्ध धर्मका अत्यन्त ह्रास हो जानेके कारण उस ओरसे भी धार्मिक फूट होनेका भय नहीं रह गया था। कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्यने वैदिक धर्मका (वैदिक विधि और वैदिक तत्वज्ञान दोनोंका) पुनरुज्जीवन कर दिया था। इस नवीन धर्ममतमें साम्प्रदायिक मतभेद भी उत्पन्न नहीं हुए थे। इससे समस्त जनताकी एक ही वैदिक धर्ममें अटल श्रद्धा थी। वह इस हद्दतक पहुँच गयी थी कि देशमें कहीं बौद्ध देवालय नहीं देख पड़ते थे। हुएनसंग जिस समय भारतमें आया, उस समय सर्वत्र उसे बौद्ध मन्दिर और स्तूप देख पड़े, परन्तु अब परिस्थिति इतनी बदल गयी थी कि बौद्ध धर्मावलम्बियोंके कारकार्यों तथा मूर्तियोंको

देखनेके लिए लोगोंको निर्जन गिरिकन्दराओंमें जाना पड़ता था। आश्चर्य इस बातका है कि अनगिनती बौद्ध मन्दिर अल्पावधिमें ही एकाएक कैसे लुप्त हो गये, क्योंकि हिन्दू लोग परमत-सहिष्णु थे; मुसलमानोंकी तरह मूर्तिभंजक नहीं थे। मुसलमानोंने हिन्दुस्थानमें आकर जो असंख्य देवालय नष्ट किये और कहीं कहीं उनके स्थानमें मसजिदें भी बनवायीं, वे सब देवालय हिन्दुओंके थे। सम्भव है कि बौद्धधर्मका पतन होनेपर बौद्धमन्दिरोंके जीर्णोद्धारकी ओर किसीने ध्यान न दिया हो और वे आप ही धीरे धीरे उध्वस्त हो गये हों अथवा मुसलमानोंने जिस प्रकार हिन्दू देवालयोंको मसजिदोंके रूपमें परिणत किया, उसी प्रकार हिन्दुओंने बौद्धमंदिरोंका हिन्दू-मंदिरोंमें रूपान्तर कर दिया हो। अस्तु, बौद्धधर्मकी तरह जैन धर्मका पूरा पतन नहीं हुआ था। इस कारण उसका प्रभाव कहीं कहीं देख पड़ता था। गुजरात, दक्षिण महाराष्ट्र, पंजाब अथवा राजपूतानेमें प्रचार न होनेसे उसका कोई महत्व नहीं था। सारांश, उस समय भारतवर्षभरमें एक ही धर्मका—वैदिक धर्मका—प्रभाव था। साम्प्रदायिक पन्थ, मतभेद या कलह उत्पन्न नहीं हुआ था। शङ्कराचार्यका अद्वैतमत सर्व-मान्य था और समाजमें यद्यपि शिव, विष्णु, भगवती, आदित्य अथवा गणपतिकी विभिन्न उपासनाएँ प्रचलित थीं, तथापि विभिन्न देवताओंके उपासकोंमें द्वेष-बुद्धि अथवा अपने ही उपास्य देवके विषयमें हठ या दुराग्रह उत्पन्न नहीं हुआ था।

इसका कारण यह है कि बौद्धधर्मका पतन होनेके पश्चात् हिन्दूधर्मके पुनरुज्जीवनकी जो लहर उठी वह देशभरमें फैल गयी, लोगोंको उसीपर इतराते रहनेमें नवजीवनके आनन्दका

अनुभव होने लगा। उस आनन्दमें उन्हें गौण भेदोंका भान ही नहीं रहा। कालान्तरमें उस प्रचण्ड तरङ्गके सम्बन्धमें लोगोंकी विस्मय-बुद्धि शिथिल पड़ गयी और व्यक्ति-माहात्म्य बढ़ चला। वेदान्त मतमें द्वैत-भाव उत्पन्न होनेपर रामानुज और मध्वने सगुणोपासनाका विशेष प्रचार किया। जब सगुणोपासना ही लोगोंका लक्ष्य बन गयी, तब उपास्योंके सम्बन्धमें दुराग्रह होने लगा। कोई तो कट्टर शिवोपासक और कोई कट्टर विष्णु-उपासक बन गया। साम्प्रदायिक अभिमानसे परस्पर विद्वेष बढ़ने लगा और देशमें सुख और शान्तिकी रक्षा होना असम्भव हो गया। इसी परिस्थितिमें मुसलमानोंका प्रभाव बढ़ जानेसे लोग 'त्राहि भगवन्!' पुकारने लगे। ग्राम-ग्राम, नगर-नगरमें, धार्मिक दुराग्रहके कारण लड़ाई-झगड़े और मारपीट होने लगी। अत्याचारोंकी वृद्धि हुई और समग्र भारतवर्षमें धर्मरणकी दुंदुभि बजने लगी। परन्तु जिस समय-का हम विचार कर रहे हैं, उस समय इस प्रकारके लड़ाई-झगड़ोंका उदय ही नहीं हुआ था। यही नहीं, लोगोंका धार्मिक विषयमें बुद्धिभेद नहीं था और सब एक ही धर्मसूत्रमें आबद्ध थे। इस कारण सर्वत्र धार्मिक शान्तिका साम्राज्य विद्य-मान था।

इस परिस्थितिके सम्बन्धमें यह आक्षेप किया जा सकता है कि तत्कालीन हिन्दू धर्मका स्वरूप परिष्कृत और पूर्ण नहीं था। उसमें ज्ञानियोंसे लेकर परम मूर्खों तकका समावेश हुआ था। तर्कशास्त्र और शास्त्रीय विचारोंकी कसौटीपर उसकी उचित परीक्षा नहीं हुई थी। यदि हुई होती, तो विद्वानोंमें अवश्य ही मतभेद होता अथवा उस समयके धर्ममतोंको पंगु जानकर उनकी ओर विद्वज्जन दृष्टिपात ही न करते। इस

आक्षेपमें कुछ तथ्यांश हो सकता है। संसारके सब धर्मोंका तात्विक विचार एक साथ करनेपर जो सर्वसामान्य सिद्धान्त निष्पन्न होता है उसके अनुसार तत्कालीन हिन्दू धर्मके तत्त्वोंमें विश्रृङ्खलता देख पड़े, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। परन्तु हमारी तो दृढ़ धारणा है कि संसारके सब धर्मोंके मूलमें एक ही अबाधित तत्व भरा हुआ है। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार भिन्न भिन्न धर्मोंके स्वरूप भिन्न भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सब धर्मानुयायियोंकी 'आन्तरिक' वृत्ति एक सी ही होती है, इसीसे विभिन्न धर्मोंके बहिरंग परीक्षण-की उलझनमें हम पड़ना नहीं चाहते। सभी धर्मोंका अन्तरङ्ग तो उत्तम होता है किन्तु उनके बहिरङ्गमें बहुतसी ना-समझीकी बातें भी होती हैं धर्मोंके बहिरङ्गोंकी विचित्रताके कारण ही हर एक धर्ममें दुराग्रहको उत्तेजना मिलती है और कलहाग्निमें इन्धन डाला जाता है। बहिरङ्गके इन गौण दोषोंकी उपेक्षा करनेसे यह अवश्य ही निश्चय हो जाता है कि तत्कालीन हिन्दू एक ही धर्मकी छत्रच्छायामें थे, चाहे उस धर्मका स्वरूप कैसा ही क्यों न रहा हो। इसमें सन्देह नहीं कि उस समयका धार्मिक वातावरण शान्तिमय था और इसीसे देश सुखी था। उस समयके वैभवका यही प्रबल कारण था।

इस प्रकार उक्त आक्षेपका निराकरण हो जाता है। अब तत्कालीन हिन्दुओंकी धार्मिक परिस्थितिके गुणस्थलोंका भी दिग्दर्शन करा देना उचित होगा। हिन्दूधर्मकी वर्तमान और तत्कालीन परिस्थितिमें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भेद है, जिसके कारण तत्कालीन लोग हमारी अपेक्षा अधिक सुखी थे। हिन्दू धर्मकी सामाजिक इमारत बहुत प्राचीन कालसे

वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी भित्तिपर खड़ी की गयी है। परन्तु उस व्यवस्थाका स्वरूप इस समय बहुत अव्यवस्थित और उद्वेगजनक हो गया है। वास्तवमें मूल जातियाँ चार ही हैं, किन्तु इस समय भारतमें उनकी दो हजारसे अधिक उप-जातियाँ बन गयी हैं, जो अत्यन्त हानिकर हैं। सभी उपजातियाँ संकुचित हैं और उनके निर्बन्ध कठोर तथा समाजका शरीर जर्जर कर देनेवाले हैं। समाज-पुरुषके सब अवयव छोटे-बड़े पाशोंसे ऐसे जकड़ दिये गये हैं कि उसे हिलना-डोलना कठिन हो गया है और उसकी नाड़ियोंका रुधिराभिसरण रुक गया है। उस समय ब्राह्मणों-ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों-क्षत्रियोंमें कोई भेद-भाव नहीं था। वैश्योंमें भी भेदभाव उत्पन्न नहीं हुआ था। हम पहिले बता चुके हैं कि उत्तर भारतके राजपूत क्षत्रियों और दक्षिणके महाराष्ट्रीय क्षत्रियोंमें बराबर रोटी-बेटीका व्यवहार प्रचलित था। यही नहीं, तब राजपूतोंके ३६ कुलोंकी गिनती तक नहीं हुई थी। जातियोंमें भेदभाव न होने और उनकी अनेक उपजातियां न बननेसे उस समय देशमें सुख-शान्ति विद्यमान थी। तब ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी कि कनौजिया ब्राह्मण श्रीमाली ब्राह्मणोंसे झगड़ा करें और दोनों मिलकर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंपर धावा बोल दें अथवा कर्नाटकी और दक्षिणियोंमें घोर विद्वेष होते हुए भी दोनों तामिलोंको निगल जानेपर उतारू हो जायँ। उस समय एकताका भाव जागरित था। इस कारण विदेशी आक्रमणोंका अनायास निवारण हो जाता था और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंकी गति भी किसी प्रान्तपर नाम मात्रके लिए अधिकार कर लेनेसे आगे नहीं बढ़ती थी। सब क्षत्रियोंमें ऐक्य होनेके

कारण विदेशियोंको देशमें फूट डालनेका अवसर ही नहीं मिलता था ।

उपजातियोंके न बननेसे हर एक जातिमें परस्पर सौहार्द और प्रेमभाव बना रहता था । हम कह चुके हैं कि उस समय उत्तरके क्षत्रियों और दक्षिणके क्षत्रियोंमें अनबन होनेका कोई कारण ही नहीं था । यह आपत्ति हो सकती है कि एक ही जातिमें कलहका कोई कारण न होने पर भी यह कैसे मान लिया जा सकता है कि ब्राह्मण-क्षत्रियों अथवा वैश्य-क्षत्रियों-में परस्पर अनबन नहीं थी ? इसका समाधान यह है कि तब ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें अनुलोम विवाह प्रचलित थे। इससे पारस्परिक प्रेम-वृद्धिमें सहायता मिलती थी । प्राचीन सम-यमें तो शूद्रोंके साथ भी त्रिवर्ण अनुलोम विवाह करते थे; किन्तु जिस समयकी हम आलोचना करते हैं, उस समय ऐसे विवाह बन्द हो गये थे । हमारे विचारसे यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि शूद्र लोग मूल द्रविड़ अनार्य और त्रिवर्णके लोग आर्य हैं । आर्यों और अनार्योंके वंश सम्मिश्र हो जाने पर किसी वर्णकी शुद्धता नहीं रह सकती । आर्यों-आर्योंमें सम्बन्ध होनेसे यह भय नहीं रहता । अतः ऋषियोंने जो शूद्रोंके साथ अनुलोम विवाह करनेका निषेध किया, वह उचित ही था । अस्तु, उस समय ब्राह्मणगण क्षत्रिय-वैश्यों और क्षत्रियगण वैश्योंकी बेटी ब्याह सकते थे। अनुलोम विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान माताके वर्णकी समझी जाती थी, उसकी कोई स्वतन्त्र जाति नहीं बनी थी । यदि ऐसी जातियाँ बनतीं, तो उसी समय कितनी ही उपजातियां हो जातीं । कहीं कहीं तो एक ही विप्रकी ब्राह्मणी, क्षत्राणी और वैश्य जातिकी स्त्रियाँ और उनकी तीनों वर्णोंकी सन्तान देख पड़ती थी। सब

सन्तान एकत्र लालित-पालित होनेसे उनमें भेद भाव नहीं उत्पन्न होता था। सब कुटुम्बी एक साथ बैठ कर भोजन करते थे। मांस-भक्षणका निषेध न होनेसे सबका आहार एक था। एक ही पात्रसे सब पानी पीते थे, अतः स्पर्शा-स्पर्शका भी विचार नहीं था। सब सन्तानके व्रतबन्ध आदि संस्कार एकत्र और समान रूपसे होते और सब वेदाध्ययन करते थे। तब लोगोंकी यह धारणा नहीं थी कि वेदाध्ययनका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है। आजकल ब्राह्मणोंके छुआछूत, वेदाधिकार आदिके हठसे क्षत्रियादि उनसे भीतर ही भीतर विद्वेष रखते हैं, चाहे ऊपरसे भले ही आदर प्रकट करते हों। तब ऐसी दशा नहीं थी। तब तीनों जातियोंको वेदाधिकार था, तीनोंका खानपान एक था, अनुलोम विवाह प्रचलित थे और छुआछूतका आडम्बर नहीं था। इससे वैर-विरोधके लिए कहीं अवकाश ही नहीं रह गया था और समाजके प्रेम-बन्धन सुदृढ़ तथा सुस्थिर थे।

उस समय शूद्रोंके साथ सामान्यतः विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध होने पर भी कुछ शूद्रोंके साथ त्रिवर्णोंका खान-पान-सम्बन्ध था। शूद्र बहिष्कृत नहीं समझे जाते थे। आज-कल पवित्र ब्राह्मण शूद्रको छाया भी स्पर्श नहीं करता, खान-पानको तो बात ही दूर है। तब यह बात नहीं थी। पञ्चम अथवा अतिशूद्रोंको छोड़, अन्य शूद्रोंके साथ,—जिनका कृषि-कर्मादिके अवसरपर निकट सम्बन्ध आता था,—तीनों वर्णोंके लोग खान-पानादि व्यवहार करते थे। हमारा यह मत विचित्र सा जान पड़ेगा, परन्तु किया क्या जाय? इस मतकी पुष्टिके लिए शिलालेखादिका प्रमाण न होनेपर भी अर्वाचीन स्मृति-ग्रन्थोंसे अनेक प्रमाण दिये जा

सकते हैं। स्मृतियोंके अनेक विषयोंका हमने सूक्ष्म परिशीलन किया, तो उससे, समाजकी रीतिनीतिमें किस प्रकार धीरे धीरे परिवर्तन होता गया, यह बात हमारे ध्यानमें आगयी। बड़ी कठिनाई तो स्मृति-ग्रंथोंके रचनाकालका निश्चय करनेमें है। वह यदि सुलझ जाय, तो समाजके छोटे-मोटे परिवर्तन आदर्शभूत स्मृति-ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं। स्मृति-ग्रन्थोंके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ विशिष्ट शूद्रोंके साथ बहुत प्राचीन समयसे त्रिवर्ण अन्न-पानादि व्यवहार करते थे। अब इस सम्बन्धमें बड़े कड़े सामाजिक नियम बन गये हैं। इस समय यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्रके साथ खान-पान करे, तो वह जातिच्युत हो जायगा। पहिले ऐसे कड़े नियम नहीं थे; यह बात परिशिष्टकी टिप्पणीमें दिये वचनोंसे स्पष्ट हो जायगी। उक्त टिप्पणीमें विभिन्न स्मृतियोंके विशिष्ट वचन एकत्र किये गये हैं। उनसे यह ज्ञात हो सकता है कि पहले अन्नोदक-सम्बन्धका रूप क्या था और उसमें कैसे कैसे परिवर्तन होता गया। हमारी समझमें 'व्यास-स्मृति' अत्यन्त आधुनिक स्मृति है। उसमें लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण नाई, अपने कुलका मङ्गलाकांक्षी, कुलागत मित्र, खेतीमें सहायता करनेवाला, सेवक और ग्वाला इनके साथ,—इनके शूद्र होते हुए भी,—अन्नोदक-व्यवहार करे, तो उसे पाप नहीं लगता। * यह मानी हुई बात है कि ब्राह्मणोंके व्यवसायमें उक्त प्रकारके शूद्रोंका काम पड़ता ही है। साथ ही इस वचनसे तत्कालीन ब्राह्मणोंके व्यवसायका भी पता चल जाता है। पराशर-स्मृति कलियुगके आचारोंके सम्बन्धमें

* नापितान्वयमित्रार्द्धसीरिणो दासगोपकाः।
शूद्राणामप्यमीषान्तु भुक्त्वान्नं नैव दुष्यति॥

प्रमाण मानी जाती है। उसमें लिखा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने आचारोंका पालन करते हुए जीविका-निर्वाहके लिए खेती कर सकते हैं। उत्तर भारतके कृषकोंमें जो अधिकांश ब्राह्मण-क्षत्रिय और दक्षिण भारतके कृषकोंमें अधिकांश मराठा क्षत्रिय देख पड़ते हैं, इसका कारण यही है। ब्राह्मण-क्षत्रिय खेती करें, तो शूद्रोंका उनसे सम्पर्क होगा ही और जब सम्पर्क होगा, तब थोड़ा-बहुत उनसे खान-पान-व्यवहार हुए बिना कैसा रहेगा? इस प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रियोंका शूद्रोंसे निकट सम्बन्ध होनेके कारण परस्पर प्रेमभाव बना रहता था। ब्राह्मण-क्षत्रियोंसे पहिले वैश्य खेती करते ही थे। परन्तु बौद्ध-कालमें खेतीका धन्धा गौण माना जाने लगा। तबसे खेती करनेवाले वैश्योंकी गणना शूद्रोंमें होने लगी। सम्भवतः वैश्योंके समावेशसे ही शूद्रोंमें 'उच्च-नीच' का भाव उत्पन्न हुआ है। अत्रिस्मृतिमें स्पष्ट लिखा है कि कुछ विशिष्ट शूद्र श्राद्धादि कर्मके अधिकारी हैं और उनका पौरोहित्य ब्राह्मण कर सकते हैं। शूद्रोंके साथ अन्नपानादि व्यवहार करनेमें उन्हें कोई रुकावट नहीं है। इसी स्मृतिमें शूद्रोंके दो भेद बताये गये हैं—१. श्राद्धके अधिकारी और २. श्राद्धके अनधिकारी।* इससे भी वर्तमान और तत्कालीन परिस्थितिका अन्तर साफ समझमें आजायगा। वर्तमान समयमें यदि कोई ब्राह्मण शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रियसे भी जल ग्रहण करे—अन्न-ग्रहणकी तो बात ही दूर है—तो वह निन्द्य समझा जाता है। ब्राह्मणोंके इस नये संकुचित बर्तावसे यदि जातियोंमें परस्पर प्रेमभाव घटता जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जब ब्राह्मण-क्षत्रिय,

---

* शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्धी चैवेतरस्तथा।
श्राद्धी भोज्यस्तयोरुक्तो ह्यभोज्यस्त्वितरः स्मृतः॥

वैश्य और शूद्रोंमें खान-पान-व्यवहार प्रचलित था, तब सामाजिक कलहके लिए अवकाश ही नहीं था।

आगे चलकर अन्नपानादिके सम्बन्धमें बड़े कठोर नियम बने। क्यों बने ? इसका विचार अग्रिम भागमें किया जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणोंकी शुचिता भले ही सुरक्षित रही हो, पर उनका सामाजिक गौरव घट गया। सम्प्रति क्षत्रिय-वैश्य आदि ब्राह्मणोंसे पानी भराने, रसोई बनवाने जैसे काम करा लिया करते हैं। ब्राह्मण शब्द विशिष्ट अधिकार-वाचक है, परन्तु इस समय रसोइया, पनभरा और भिखारीके अर्थमें वह रूढ़ हो चला है। 'पीर-बबरची-भिश्तीखर' यह कहावत ब्राह्मणोंको लक्ष्य करके ही बनी है। ब्राह्मण रसोइया वैश्य आदिके घर रसोई बनाता है, किन्तु उसके घरके लोगोंसे अपना स्पर्श नहीं होने देता। इसी छुआछूतकी कल्पनामें वह अपनी प्रतिष्ठा और पवित्रता समझता है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है ?

जिस समयका हम विचार कर रहे हैं, उस समय भिक्षावृत्तिसे जीविका-निर्वाह करनेवालोंका अभाव था। क्या यह उस समयकी सुस्थितिका निदर्शक नहीं है ? बौद्ध-धर्मके उदयसे देशमें जो भली-बुरी प्रथाएं प्रचलित हुईं, उनमें सबसे बुरी प्रथा भिक्षावृत्तिकी थी। बौद्ध धर्मसे इस वृत्तिका उदय हुआ, यह कहनेकी अपेक्षा, बौद्धधर्मने इस वृत्तिको अकारण उत्तेजन दिया, यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। हर एक वर्णके मनुष्य बौद्ध धर्मकी दीक्षा ले सकते थे। उनके निवासके लिए बड़े बड़े विहार बने हुए थे। इससे लाभ उठाकर सभी आलसी बौद्धधर्मकी दीक्षा ग्रहण करने लगे। ऐसे धर्मान्तर करनेवालोंमें तत्वान्वेषी और धर्मपरायण लोग

बहुत ही कम थे, पेटार्थी लोगोंकी ही संख्या अधिक थी। बौद्ध धर्मके ह्रासका यह एक विशेष कारण है। यूरोपमें "मोनास्टरियों" की जो दशा हुई, ठीक वही दशा "विहारों" और बौद्ध भिक्षुओंकी हुई। बौद्ध धर्मके उत्कर्ष-कालमें बौद्ध विहारोंमें हजारों भिक्षु बसते और गांवोंमें भिक्षा माँग कर उदर-पूर्ति करते थे। बौद्धोंके समयमें जहाँ तहाँ भिखारियों की भरमार हो गयी थी। आरम्भमें भिक्षुओंके प्रति लोगोंका कुछ आदर होनेके कारण प्रायः भिक्षुओंसे कोई उकताता नहीं था। पर आगे चल कर जब बौद्ध भिक्षुओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी और वे लोगोंको भिक्षाके लिए सताने लगे, तब लोगोंका भी उनके प्रति आदर घट गया। इन बौद्ध भिक्षुओंमें ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी अपेक्षा शूद्रादिकोंकी ही संख्या अधिक होनेसे भी लोगोंकी इनपर श्रद्धा नहीं रही। ब्राह्मण-क्षत्रिय तो प्रायः मठाधिकारकी आकांक्षासे ही बौद्ध धर्ममें प्रवेश करते थे। अस्तु काल-प्रभावसे बौद्ध धर्मका ह्रास होने पर भिक्षुओंकी संख्या कम हुई और उनसे होनेवाले लोगोंके कष्ट कम तो हो गये पर एकबार ही नष्ट नहीं हुए। बौद्ध भिक्षुओंका पन्थ नष्ट हुए एक दो शताब्दियाँ भी नहीं बीती थीं कि शैव और वैष्णव गुसाइयों तथा वैरागियोंके पन्थोंका उदय हुआ। ये लोग भी बौद्ध भिक्षुओंकी तरह अविवाहित रहकर मठों और मन्दिरोंमें निवास करते और भिक्षा-वृत्तिसे जीविका-निर्वाह करते थे। विचारणीय समयमें इन पन्थोंका दौर-दौरा नहीं था और बौद्ध भिक्षुओंका अस्त हो गया था। इस कारण देशमें भिक्षाचर्यका उपद्रव बहुत ही कम था।

प्राचीन समयसे भिक्षा-वृत्ति निन्दनीय मानी गयी है। कुछ विशिष्ट ब्राह्मणोंको ही भिक्षाका अधिकार दिया गया

था, किन्तु उनकी भी धार्मिक वृत्ति देखी जाती थी। सब ब्राह्मण भिक्षा नहीं माँग सकते थे। अधर्मी या अशिक्षित ब्राह्मण भिक्षा माँगनेके अधिकारी नहीं थे। एक स्मृतिमें ऐसे ब्राह्मणोंको भिक्षा देनेवाले ग्रामको दण्ड देनेकी व्यवस्था है, क्योंकि इस प्रकारकी भिक्षा या दानसे चोरोंका समर्थन होता है ("तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः")। जब ब्राह्मणोंके लिए इतना कड़ा नियम था, तब अन्य वर्णोंके लिए तो कहना ही क्या है। भिक्षावृत्तिके सम्बन्धमें इतना कड़ा बन्धन होनेके कारण ही सब वर्णोंके लोग अपने पूर्वपरम्परागत धन्धोंसे ही जीविका-निर्वाह करते थे; उन्हें अन्य कोई उपाय नहीं था। ब्राह्मण प्रायः धर्माचरणमें ही अपना कालक्षेप करते थे, नहीं तो छात्रवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करते और विवश होकर ही खेती करते थे। अस्तु, उस समय भिक्षावृत्ति निषिद्ध मानी जानेके कारण कोई निकम्मा नहीं रहने पाता था। जिस देशमें निरुद्योगियोंका आदर कम होता है, उस देशके उत्कर्षमें सन्देह ही क्या रह जाता है?

बौद्धधर्मसे हिन्दू समाजको लाभ भी कम नहीं हुए हैं। हिन्दू धर्मके ही कुछ मूल सिद्धान्तोंपर बौद्धधर्मने इतना अधिक जोर दिया कि लोग उन्हें बौद्ध सिद्धान्त ही समझने लगे। बहुत प्राचीन कालसे हिन्दूतत्वज्ञानमें पुनर्जन्म और कर्मवादके सिद्धान्त रूढ़ हैं। बौद्धधर्मने दोनोंका ऐसा सुन्दर और प्रभावशाली मेल मिलाया कि यह नीतिके संवर्धनमें बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। इन दो तत्वोंकी ही नींवपर बौद्धधर्मने नीतिका भव्य मन्दिर निर्माण किया, जिससे हिन्दू-समाज नीतिके अत्युच्च शिखरपर विराजमान है। तत्कालीन विदेशी व्यापारियों और प्रवासियोंने हिन्दुओंकी ईमानदारीकी

भूरि भूरि प्रशंसा की है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सर्वसाधारण लोगोंकी उत्तम नीतिमत्ता ही समाजका बहुमूल्य सद्गुण समझी जाती है।

बौद्धधर्मने हिंसायुक्त याग-यज्ञोंका निषेध किया, यह उसका दूसरा चिरंतन और अनुकूल परिणाम है। बौद्धधर्मका अन्त होगया, परन्तु उसके अहिंसा-धर्मका लोगोंपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि अब हिंसायुक्त याग-यज्ञोंका पुनः प्रचार होना असम्भव हो गया है। बौद्धधर्मने वेदोंके सम्बन्धमें लोगोंकी श्रद्धा शिथिल की थी, वह मीमांसकोंने फिर दृढ़मूल कर दी, परन्तु उनसे वेदप्रणीत हिंसायुक्त याग-यज्ञोंका पुनरुज्जीवन करते न बना। हमारे कथनका यह तात्पर्य नहीं कि अग्निहोत्र सहित सभी यज्ञादि कर्म लुप्त हो गये थे। हमारे कथनका आशय यह है कि हिंसाप्रधान वैदिक कर्मोंका बौद्धोंके समयमें जो ह्रास हुआ, उसका फिर उदय न हो सका। अग्निहोत्रादि कर्मोंका व्यक्तिसे सम्बन्ध रहता है, समाजके लिए उनका कुछ भी महत्व नहीं। किन्तु बड़े बड़े यज्ञोंके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। बड़े यज्ञोंका बड़ा आडम्बर होता है। उनमें शक्ति और धनका बहुत व्यय होता है। उनकी क्रियाएँ (विधियाँ) भी बहुत पेचीली होती हैं। केवल धनी लोग ही यथासाङ्ग याग-यज्ञ कर सकते हैं। अश्वमेध, राजसूय जैसे यज्ञ राजाओंके सिवा कोई कर ही नहीं सकता। इन यज्ञोंके लिए संग्राम भी हो जाते और समाजमें अकारण अशान्ति उत्पन्न होती है। परलोकमें इन यज्ञोंसे जितना पुण्य-लाभ होना संभव है, उससे कहीं अधिक लोगोंकी प्राण-हानि यहाँ हो जाती है। ऐसे याग-यज्ञोंके बन्द होनेसे देशका निरर्थक धन-व्यय और हिंसा-

कर्म रुक गया और इससे देशमें सुख-समृद्धिकी वृद्धि हुई। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि उस समयके नये राजपूत राजाओंने अश्वमेधादि यज्ञ नहीं किये थे।

ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीकी धार्मिक परिस्थिति सामाजिक उन्नतिमें किस प्रकार कारणीभूत हुई, इसका विवेचन अबतक किया गया है। इसका सारांश यह है कि समस्त समाजका एक ही धर्म होने और पन्थों तथा सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति न होनेके कारण धार्मिक फूटके लिए अवकाश नहीं था। जाति-बन्धन वर्तमान कालके समान अधिक कठोर न होनेके कारण उस समय जाति-द्वेष इतना तीव्र नहीं था। समाजका शोषण करनेवाला निरुद्योगियोंका दल नष्ट हो जाने और समाजकी नीतिमत्ता उच्च श्रेणीकी होनेके कारण समाजकी परिस्थिति सब तरहसे विभवानुकूल थी और राजसूय-अश्वमेधादि झगड़ेवाले यज्ञोंके बन्द हो जानेके कारण देशमें अकारण युद्ध नहीं होते थे। धार्मिक परिस्थितिकी आलोचना करनेके पश्चात् अब देशकी आर्थिक दशापर दृष्टिपात करना उचित होगा।

तत्कालीन समाजकी आर्थिक अवस्था भी सन्तोष-जनक थी। उस समयके वैभवका वर्णन करनेके बदले यदि वैभव-घातक बातोंके अभावका वर्णन किया जाय, तो वर्तमान समयमें वैभव नष्ट करनेवाली कौन सी बातें प्रचलित हैं, इसका ज्ञान पाठकोंको हो जायगा। उद्योग-धन्धोंकी अभिवृद्धि और स्वराज्य-साधनसे ही हर एक देश समुन्नत होता है। उद्योग-धन्धोंकी न्यूनतासे देशकी उतनी हानि नहीं होती, जितनी देशका धन-धान्य विदेश चले जानेसे होती है। पराये लोगोंका राज्य अथवा सत्ताधिकार ही स्वदेशकी

हानि होती ही थी और कभी कभी कदाचित् विजित प्रदेश भी उध्वस्त हो जाते थे। परन्तु ग्रीकोंके आक्रमणोंके पश्चात् ही यहां ऐसी बातें हुई थीं। बहुत प्राचीनकालसे भारतीय युद्धोंमें अनीतिका बर्ताव अपवादके रूपमें ही होता था। शत्रुको जर्जर करना, उसके प्रान्तोंको उध्वस्त कर उसकी शक्ति नष्ट कर देना आदि बातें भारतवासियोंने ग्रीकोंसे सीखी थीं। राष्ट्रकूटोंके गोविन्दराजने कन्नौजको ऐसा उध्वस्त किया कि वहांके सुन्दर प्रासादोंके स्थानपर घासका जंगल होगया और उसका कुशस्थली नाम सार्थक (अन्वर्थक) होगया। ध्यानमें रखने योग्य बात यही है कि ऐसी घटनाएँ पहिले नहीं, मुसलमानोंके आक्रमणोंके पश्चात ही हुईं।

युद्धोंसे अनेक हानियां हैं, परन्तु इस बातको भी न भूलना चाहिये कि मर्यादित युद्ध राष्ट्रके अभ्युदय और उन्नतिके कारण होते हैं। छोटे मोटे युद्धोंसे जनतामें शौर्यस्फूर्ति बनी रहती और शौर्यवृत्ति जागरित रहती है। लोगोंमें धैर्यादि गुणों और कल्पनाशक्तिकी वृद्धि होती है। परन्तु युद्धमें अनुदारता अथवा क्रूरता न होनी चाहिये। ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीमें इस प्रकारके (अनुदार और क्रूर) युद्ध विशेष नहीं हुए, इस कारण हम इन दोनों शताब्दियोंका काल तेजस्वी और बलशाली मान सकते हैं।

अत्यन्त समृद्धिके इस समयमें भी हिन्दुओंका एक राष्ट्र क्यों न बन सका और शीघ्र ही उनका उत्कर्ष क्यों नष्ट गया, ये प्रश्न बड़े ही विकट हैं और इनके सुलझानेके लिए परवर्ती इतिहासका ज्ञान आवश्यक है। अतः इनका विचार हम आगे करेंगे।

परिशिष्ट ।

(१) सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी आर्योंका वेदोंमें उल्लेख ।

हमने अपनी पुस्तक ३, प्रकरण ३, में लिखा है कि सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियोंका उल्लेख उतना ही प्राचीन है, जितना वैदिक साहित्य । इसका विस्तृत रूपसे समर्थन करना आवश्यक जानकर हम यह टिप्पणी लिख रहे हैं । इस विषयका एक निबन्ध हमने सन् १९१४ में रायल एशियाटिक सोसाइटीकी बम्बईकी शाखामें पढ़ा था । उसके कुछ मुख्य सिद्धान्त हम यहाँ लिखेंगे । वह निबन्ध इस पुस्तकमें उद्धृत करना एक प्रकारसे ठीक भी होगा । क्योंकि वैदिक आर्योंका सम्बन्ध ईसाकी आठवीं और नवीं शताब्दीके ब्राह्मण-क्षत्रियोंसे है और यदि मान भी लिया जाय कि सूर्य-शशिवंश कविकल्पित हैं, तो भी ऐतिहासिक छान-बीनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह कल्पना बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है ।

रायल एशियाटिक सोसाइटीके जर्नलकी अप्रैल सन् १९१४ की संख्यामें मिस्टर पार्गिटरने एक लेख लिखा है । उसमें उन्होंने यह भली भाँति बताया है कि पुराणोंसे क्षत्रियोंके वंशक्रम कैसे सिद्ध और निश्चित होते हैं । आरम्भमें यह कह देना अनुचित न होगा कि उस लेखमें ग्रथित पार्गिटर साहबके एक दो मत भ्रमात्मक हैं । उनका यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि सूर्यवंशी क्षत्रिय द्रविड़ वंशके हैं और चन्द्रवंशी क्षत्रियोंका आदि निवास-स्थान प्रयाग (इलाहाबाद) है । इतिहास यह मत स्वीकार नहीं करता । इन भूलोंका कारण यह है कि उन्होंने पुराणोंपर ही अधिक भरोसा रखा और अपने लेखमें रामायण-महाभारतके ही वचन विशेष रूपसे संगृहीत किये हैं; वेदों और पुराणोंके वचनोंका मेल उन्होंने नहीं मिलाया । हमने अपने लेखमें वैदिक साहित्यमें प्राप्त होनेवाली बातोंका संग्रह किया है ।

वैदिक साहित्यका हमने पूर्ण परिशीलन नहीं किया है। मैक्डानलके "वैदिक इण्डेक्स" से हमारा कार्य सुकर हुआ है। जहां हमारा और मैक्डानलका मतभेद है, वहाँ उसका हमने उल्लेख कर दिया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानोंने अन्वेषक बुद्धिसे वैदिक साहित्यका जो अनुशीलन किया है, उसके लिए उनको धन्यवाद देना हम आवश्यक समझते हैं।

पार्गिटर साहब कहते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित ज्ञानकी अपेक्षा क्षत्रियों द्वारा सुरक्षित परम्परा अधिक विश्वास-योग्य है। हमारी समझमें पार्गिटर साहबकी यह विचारसरणी भ्रान्त है। पुराणोंकी वंशावलियोंको वे 'यत्नपूर्वक सुरक्षित क्षत्रिय-परम्परा' समझते हैं और इसीसे अपने लेख-में उन्होंने पुराणोंका ही आधार लिया है। वास्तवमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों-की परम्पराएं भिन्न नहीं हैं और उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि एक अधिक विश्वसनीय है और दूसरी कम। प्राचीन कालमें यद्यपि कभी कभी ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विरोध हो जाता था, पर प्रायः वे परस्पर मित्र और सहायकके ही रूपमें रहे हैं। पौराणिक वंशावलियों-से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि दोनों आर्यवंशके और एक ही कुटुम्बके थे। जर्मन इतिहासमें यह बात पायी जाती है कि वहांके सर-दार कुटुम्बका बड़ा पुत्र 'प्रिन्स' अर्थात् सरदार और छोटा 'प्रेलेट' अर्थात् धर्माध्यक्ष होता था। प्राचीन समयमें भारतवर्षके ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी भी यही अवस्था थी। पौराणिक वंशावलियोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि कई क्षत्रिय राजपुत्र ब्राह्मण हो गये थे। यह स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति करनेमें दोनोंका स्वार्थ था। क्षत्रिय ब्राह्मणोंके तपकी और ब्राह्मण क्षत्रियों-की शूरता और उदारताकी प्रशंसा किया करते थे। अतः यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि क्षत्रिय-परम्परा अधिक विश्वास-योग्य है और ब्राह्मण-परम्परा कम। मनुष्य-स्वभावकी विश्वसनीयताकी कसौटीपर दोनों ही परम्पराओंकी परीक्षा करनी चाहिये और अन्य मानव समाजोंकी परम्पराओंकी ही दृष्टिसे इन परम्पराओंको भी देखना चाहिये; क्योंकि प्रायः सभी और प्राचीन कथाओंमें अतिशयोक्ति होती है और सब देशों-की पुरानी दन्तकथाओंमें अति-रञ्जना भरी रहती है। इन्हींमेंसे वास्तव-

बाधक प्रमाणों और मानवी सम्भवनीयताका विचार कर ऐतिहासिक सत्य खोज निकालना पड़ता है। यदि दोनों परम्पराओंमें भेद ही करना हो, तो ब्राह्मण-परम्परा अधिक विश्वसनीय माननी पड़ेगी; क्योंकि हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषियोंने सूक्तों अथवा 'ब्राह्मण'-ग्रन्थोंमें जो कुछ लिख रखा है, ब्राह्मणोंने आजतक उसका जतन किया है। वैदिक साहित्यमें प्रक्षिप्त कुछ भी नहीं है। सूक्तों अथवा 'ब्राह्मण' ग्रन्थोंमें प्रारम्भमें ऋषियोंने ही चाहे जो अतिशयोक्ति अथवा कविकल्पना की हो; उसमें किसीने अपना लेख नहीं मिलाया है। सारांश, प्राचीन भारतीय आर्योंकी कल्पना और विचारोंको ब्राह्मणोंने धैर्यकी मुहरबन्द थैलीमें रख कर आजतक जतनसे रख छोड़ा है। इसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय, थोड़ा होगा। यहाँ उल्लेख करने योग्य एक बात यह है कि वैदिक ग्रन्थोंकी तरह पुराण ग्रन्थ भी प्राचीन हैं और उनकी सुरक्षाकी व्यवस्था आर्योंकी पुरानी समाज-व्यवस्थामें पायी जाती है। वेद कण्ठाग्र कर उनको जीवित रखनेका दायित्व जिस प्रकार ब्राह्मणोंपर था, उसी प्रकार पुराण अर्थात् वंशावली और राजकथाओंकी सुरक्षाका भार सूतोंपर था। लोमहर्षण आदिकी कथाओंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन कालमें भी पुराणकथन करने और वंशावलियोंको सुरक्षित रखनेवाले सूत थे। उन्हीं सूतोंके वंशज वर्तमान भाट हैं, जो आजकल वंशावलियोंकी रक्षा करते हैं। भारतमें सूतोंने ही इतिहास-पुराणोंका ग्रन्थसमूह वेदोंकी तरह बिना क्षेपकके हजारों वर्षोंसे सुरक्षित रखा है। मिश्र, शैल्डिया अथवा फीलस्तीन जैसे प्राचीन देशोंने जिस प्रकार वंशावलियोंको सुरक्षित रखा था, उसी प्रकार भारतवासियोंने भी उन्हें सावधानीपूर्वक बचा रखा। इतिहास-पुराण तो सूतोंके नित्य अभ्यासका विषय था। उपनिषदोंसे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी इस विषयको सीखते थे। इतिहास-पुराणोंका यह अविच्छिन्न प्रवाह बौद्ध धर्मकी प्रबलतासे विच्छिन्न हो गया। बौद्धोंके समयमें जातिव्यवस्था ढीली पड़ गयी और क्षत्रिय राजाओंका नाश होकर म्लेच्छ और शूद्र राजाओंका प्रभाव भारतपर जमा। उन्हें भला प्राचीन क्षत्रिय वंशावलीका अभिमान क्यों कर हो?

किंबहुना इन्होंने इन वंशावलियोंको नष्ट कर दिया होगा। इसीसे चन्द्रगुप्तके समयमें मेगस्थनीज़को जो वंशावलियाँ मिलीं उनसे वर्तमान पुराणोंकी वंशावलियोंका मिलान करने पर बहुत अन्तर देख पड़ता है। ई० स० ३०० के पश्चात् गुप्त राजाओंके राजत्वकालमें पुराणोंके जो नये परिवर्द्धित संस्करण तैयार हुए, उनमें अटकलसे ही विच्छिन्न वंशावलियोंकी परम्परा पूरी कर दी गयी है। हरि (हिराक्लिज) से लेकर उस समय तकका काल ६४५१ वर्ष और ३ महीना मेगस्थनीज़ने बताया है और यह भी लिखा है कि इस अवधिमें १३८ पीढ़ियां हुईं। पुराणोंमें परीक्षितसे लेकर नन्द तककी ५२ पीढ़ियाँ और एक सहस्र वर्ष ही मोटे तौरसे लिखे गये हैं। नन्दके पश्चात्की पीढ़ियाँ बौद्धोंने निश्चित की हैं, इस कारण वे प्रामाणिक हो सकती हैं, किन्तु पुराणोंमें लिखी पीढ़ियां विश्वास-योग्य नहीं हैं। हमारा मत है कि पुराणोंकी प्राचीन राजवंशावलियाँ विच्छिन्न और काल्पनिक हैं, किन्तु ब्राह्मणोंकी यत्नपूर्वक रखी हुई परम्परा सर्वथा विश्वसनीय है।

पार्गिटर और हमारे दृष्टिकोणमें एक और महदन्तर है, उसका भी यहां उल्लेख कर देना उचित होगा। हमारे विचारसे प्रमाणके लिहाजसे पुराणोंका मूल्य बहुत कम है; क्योंकि पुराणोंकी परम्पराएं विच्छिन्न, बनावटी और आधुनिक कल्पनाओंसे मिलती-जुलती बना ली गयी हैं। यवन-प्रमाणादिसे पहिलेकी ऐतिहासिक घटनाओंके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रामाण्यका क्रम विश्वसनीय माना जा सकता है। व्याकरणशास्त्रकी भाषामें कहा जा सकता है कि यही पूर्वप्रामाण्य है।

(१) ऋग्वेद सबसे प्राचीन और अविकृत ग्रन्थ है। इसका प्रामाण्य सर्वश्रेष्ठ है।

(२) कालक्रमसे इसके बाद यजुर्वेद और सामवेदका प्रामाण्य माना जा सकता है। (अथर्ववेदका इसी सिलसिलेमें विचार नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसका काल अनिश्चित है।)

(३) तीनों वेदोंकी मन्त्र-संहिताओंके पश्चात् उनके 'ब्राह्मण'-ग्रन्थोंका, प्रामाण्यकी दृष्टिसे, विशेष महत्त्व है, क्योंकि जिन ऋषियोंने मन्त्र बनाये,

उनकी कल्पनाओंसे ब्राह्मण-ग्रन्थोंके रचयिता अधिक परिचित थे। अतः आधुनिक लेखकों अथवा ग्रन्थकारोंके मतोंकी अपेक्षा 'ब्राह्मण'-ग्रन्थोंके मतोंका महत्व अधिक है।

(४) वेदाङ्ग इसके बादके हैं। वेदाङ्गोंके रचना-कालमें संहिताएं और 'ब्राह्मण'-ग्रन्थ बहुत पुराने हो गये थे। आजकलके विद्वानोंकी तरह वेदाङ्गोंके रचयिता भी वेदोंके अर्थ समझनेमें चक्करमें आजाते थे। परन्तु जिस समय वेदाङ्ग रचे गये, उस समयके ऐतिहासिक प्रामाण्यके लिए उनका महत्त्व सबसे बढ़कर है। सब वेदाङ्ग बुद्धके पू`कालीन हैं। इनमें ज्योतिष, निरुक्त, कल्पसूत्र और व्याकरणका समावेश होता है।

(५) गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ बादके हैं।

(६) इसके बाद कालक्रमानुसार प्रामाण्य ग्रन्थ अलेग्ज़ण्डरके साथ आये हुए एरायन आदि ग्रीक ग्रन्थकारों और मेगस्थनीजके हैं। उन्होंने स्वयं देखी और भलीभाँति सुनी हुई जो बातें अपने ग्रन्थोंमें लिखी हैं, उनके समयके लिए वे अत्यन्त विश्वसनीय हैं।

(७) इसके बाद महाभारतका प्रामाण्य है। यह ग्रन्थ ईसवी सन्‌के लगभग २५० वर्ष पूर्व अर्थात् अशोकके समयमें लिखा गया है। उस समयके लिए यह ग्रन्थ प्रामाणिक है।

(८) इसी समयके बौद्धों और जैनोंके प्राचीन धर्मग्रन्थ त्रिपीटक आदि हैं। इनके प्रमाण भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(९) इसके बाद अर्थात् ईसवी सन्‌के १०० वर्ष पूर्व वाल्मीकि-रामायण, पातञ्जल महाभाष्य, बादरायण सूत्र और हरिवंश—ये ग्रन्थ लिखे गये हैं। ये चारों समकालीन हैं और इनमें उस समयके प्रमाण मिलते हैं।

(१०) ज्योतिष-ग्रन्थ और बौद्ध-जैनोंके ग्रन्थोंके बादके अर्थात् ईसवी सन्‌के प्रारम्भके ग्रीक लोगोंके लिखे भारतीय राज्य-सम्बन्धी इतिहास हैं।

(११) सबसे पीछे पुराण लिखे गये हैं। इस समय जो पुराण उपलब्ध हैं, वे ईसवी सन् २०० से ९०० तकके लिखे जान पड़ते हैं। अतः

इनका प्रामाण्य ऊपर उल्लेख किये हुए ग्रन्थोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणी-का है।

इन सब ग्रन्थोंसे जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हों, उनका संग्रह करना आवश्यक है; किन्तु प्रामाण्यके विचारसे ग्रन्थोंका क्रम उक्त प्रकारसे ही रखना होगा। यदि विभिन्न ग्रन्थोंमें मतभेद हो, तो पूर्वप्रामाण्य मानना ही उचित है।

प्रमाणोंकी सूची यहीं समाप्त नहीं होती। सम्प्रति दो महत्वपूर्ण शास्त्रोंका उदय हुआ है। १—शीर्षमापनशास्त्र (कपालशास्त्र) और २—भाषाविज्ञान। ग्रन्थोंके परस्पर मतभेदका निर्णय करते समय इन शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका भी ध्यान रखना होगा। मानव-जातिके विभिन्न वंशों और इतिहासोंके सम्बन्धमें मनुष्योंके चेहरों (मुखोंके आकारों) और भाषाओंकी तुलना करनेसे जो अनुमान निष्पन्न होते हैं, वे बहुत ही महत्त्वके और प्रायः अबाधित होते हैं। इधर तो ये शास्त्र बहुत कुछ उन्नत अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं और इनकी सहायतासे पाश्चात्य विद्वानोंने भारतवासियोंकी भाषाओं और चेहरोंका सूक्ष्म परीक्षण किया है। इन विद्वानोंने भारतवासियोंके वंशोंके सम्बन्धमें जो अनुमान स्थिर किये हैं, उन्हें स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है।

हमारी समझमें प्रस्तुत विषयके प्रतिपादनमें एक उपमान प्रमाणका भी उपयोग हो सकता है। भारतका प्राचीन इतिहास अमेरिकाके अर्वाचीन (उसका पता लगा तबसे लेकर उसके बस जाने तकके समयतक) इतिहाससे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। प्राचीन कालमें भारतवर्ष भी अमेरिकाकी तरह निबिड़ वनोंसे भरा हुआ एक विस्तृत भूखण्ड था। यहाँ हीन संस्कृतिके अविद्ध लोग छिट-फुट बसे हुए थे। यूरोपीय आर्योंके अमेरिका जानेके समय अमेरिकाकी जैसी स्थिति थी; भारतीय आर्योंके यहाँ आनेके समय भारतकी भी स्थिति ठीक वैसी ही थी। 'वेंदिदाद' नामक पारसी पुराण-ग्रन्थमें लिखा है कि आर्य लोग उत्तरकी ओरसे विभिन्न दक्षिणी देशोंमें आये हैं। जब वे सप्तसिन्धुमें आये, तब अंग्र-मैन्युने उस देशको सर्दी और अत्यन्त उष्णतासे ध्वस्त कर डाला। इन

कारण आर्य वहाँसे लौटकर ईरान चले गये। वहीं उन्हें बसने योग्य उत्तम स्थान मिला। इस कथाके आधारपर लोकमान्य तिलकने भी अपने 'आर्कटिक होम' नामक ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि आर्यलोग उत्तरकी ओरसे ही आरम्भमें भारतवर्षमें अर्थात् पंजाबमें आये थे। इसके बाद हिन्दुस्थानमें आर्योंके बस जानेका इतिहास अमेरिकामें उनके बस जानेके इतिहासके सदृश ही है। जैसे अमेरिकाके कुछ आदिम निवासी जंगली और नरमांस-भक्षक भी थे, वैसे हिन्दुस्थानमें भी थे। इन लोगोंके साथ आर्योंके भयानक युद्ध हुए थे। कुछ लोग शान्त प्रकृतिके भी थे, जिन्होंने आर्योंको सहायता दी। इसके अतिरिक्त इन देशोंमें बसनेके लिए आयी हुई आर्योंकी विभिन्न शाखाओंमें भी लड़ाई-झगड़े हो जाना स्वाभाविक था। अमेरिकामें पहिले स्पेनिश और फ्रेंच तथा पीछे इंग्लिश और डच पहुँचे थे। आरम्भमें दोनों दलोंमें अनेक युद्ध हुए। भारतके प्राचीन इतिहासमें भी ऐसे युद्धोंका होना प्रमाणित होता है। सारांश, दोनों देशोंके इतिहासोंमें बहुत कुछ साम्य है।

इस प्रकार हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासका स्वरूप निश्चित करनेमें किन किन प्रमाणोंका उपयोग हो सकता है और उनका क्रम कैसे स्थिर किया जाना चाहिये, इसका विचार हो गया। अब ऋग्वेदसे हम यह निश्चित करेंगे कि सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी आर्योंके भारतमें प्रवेश करनेका इतिहास कैसा है।

पहिली बात तो यह है कि आर्य लोगोंके दो दल जुदे जुदे समयमें और जुदे जुदे मार्गोंसे हिन्दुस्थानमें आये थे। उनके दो नामों अथवा माने हुए दो वंशोंसे यही बात सिद्ध होती है। ऐतिहासिक परम्परा, शीर्ष-मापनशास्त्र और भाषाविज्ञानके प्रमाणोंसे भी इस बातकी पुष्टि होती है। आर्योंके दो दलोंके आनेका सिद्धान्त प्रथम डाक्टर होर्नलने संसारके सामने रखा और डाक्टर ग्रियर्सनने भारतकी संस्कृतोत्पन्न भाषाओंकी तुलना कर उसे मान्य किया (देखो-इम्पीरियल गजेटियर भाग १, पृष्ठ ३५८)। सन् १९११ की सेन्सस रिपोर्टका यह अवतरण महत्वपूर्ण है—"ये (हिन्दु-स्थानकी संस्कृतोत्पन्न) भाषाएँ, डाक्टर होर्नलके मतसे, आर्योंकी दो

टोलियों द्वारा हिन्दुस्थानमें आयी हैं। उत्तर भारतकी समतल भूमि (गंगोत्तर) में आर्योंकी पहिली टोली आकर जब बस गयी, तब आर्योंकी दूसरी टोली आयी और पहिली बसी हुई टोलीके प्रदेशके बीचमेंसे रास्ता बना कर तथा वहांकी पुरानी भाषाको दबाकर अम्बालेसे चली हुई दक्षिणमें जबलपुरतक और नैर्ऋत्यमें काठियावाड़में ईशानमें नैपालतक फैल गयी। दूसरी टोलीकी भाषाका वर्तमान रूपान्तर पश्चिमी हिन्दी और पहिली टोलीकी भाषाका रूपान्तर वर्तमान राजस्थानी, पंजाबी, पहाड़ी और पूर्वी हिन्दी है।" (सेन्सस रिपोर्ट १९११, पृष्ठ ३२१)

वर्तमान संस्कृतोत्पन्न प्रचलित भाषाओंकी तुलनासे सिद्ध होनेवाला यह सिद्धान्त शीर्षमापनशास्त्रसे सिद्ध होनेवाले सिद्धान्तसे मिलता-जुलता है। सन् १९०१ (वि० १९५७) की मनुष्यगणनाके समय सर एच० रिस्लेने अनेक स्थानोंमें लोगोंके सिर नापकर यह निश्चय किया कि पंजाब और राजस्थानके लोग निःसन्देह आर्य हैं। उनके सिर लम्बे और नासिकाएं ऊंची उठी हुई तथा सरल हैं। संयुक्त प्रान्तके लोगोंका सिर मध्यम और नाक मध्यम ऊंचाईकी है। इससे रिस्लेने अनुमान किया है कि ये आर्य-द्रविड़-मिश्रित लोग हैं। परन्तु रिस्ले साहबने यह जो मान लिया है कि पहिलेके आर्य लम्बे सिरके थे, यह उनकी भूल है; क्योंकि द्रविड़ लोगोंके सिर भी लम्बे ही होते हैं, यह सिद्ध हो चुका है। आर्यों और द्रविड़ोंकी मुखाकृतिमें प्रधान अन्तर यह है कि द्रविड़ोंकी नासिकाएं चिपटी और आर्योंकी उठी हुई होती हैं। नासिकाओं और सिरोंके परिमाणसे संयुक्त प्रान्तके जिन आर्योंको आर्य-द्रविड़-मिश्रित सिद्ध किया जा रहा है, वे वास्तवमें पंजाब-राजस्थानके आर्योंकी शाखासे भिन्न शाखाके आर्य ही हैं। उनके सिर मध्यम परिमाणके हैं। पंजाब-राजस्थानके लोगोंके सिर लम्बे और नासिकाएं ऊंची तथा सरल हैं। ये लोग आर्योंकी पहिली टोलीके हैं। यहां यह भी ध्यान देना चाहिये कि यूरोपमें भी लम्बे और चौड़े सिरोंके लोग हैं और दोनोंकी नासिकाएं ऊंची उठी हुई हैं। इंग्लिश, जर्मन, स्कॅंडिनेवियन आदि ट्यूटानिक लोग लम्बे सिरके और आयरिश, फ्रेंच आदि केल्ट लोग चौड़े सिरके हैं। हिन्दुस्थानमें भी दोनों

प्रकारके सिरोंके लोग हों, तो आश्चर्य क्या है? संयुक्त प्रान्त, गुजरात, काठियावाड़ और महाराष्ट्रके लोग ऊंची नासिका और चौड़े सिरके हैं। सारांश, शीर्षमापन-शास्त्र और भाषाविज्ञानसे यही ऐतिहासिक अनुमान निष्पन्न होता है कि लम्बे सिर वाले आर्योंकी पहली टोलीके पंजाबसे लेकर मिथिलातक बस जाने पर चौड़े सिरके आर्योंकी दूसरी टोली गंगापार कर सरस्वतीके तटसे होती हुई अम्बालेसे लेकर दक्षिणतक फैली। यह आर्य-शाखा आदि द्रविड़ोंसे मिश्रित हुई और संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, बरार, महाराष्ट्र, गुजरात तथा काठियावाड़में बस गयी। इसके मध्यम सिर और मध्यम ऊँची नासिकाएँ होती हैं।

शीर्षमापन-शास्त्र और भाषाविज्ञानसे निष्पन्न होनेवाले अनुमान हिन्दुस्थानकी पौराणिक परम्परासे अधिक पुष्ट होते हैं। महाभारत, हरिवंश तथा अन्य पुराण-ग्रन्थोंमें, जिनमें पुरानी दन्तकथाएँ संकलित हुई हैं, सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दो प्रकारके क्षत्रियोंका उल्लेख है। हमारे विचारसे जुदे जुदे समयमें आये हुए ये ही दो आर्यवंश हैं। महाभारतमें श्रीकृष्णने अपने भाषणमें इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। सभापर्वमें श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर पूछते हैं—"मैं राजसूय यज्ञ करूँ या न करूँ?" श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—ऐल और ऐक्ष्वाक अथवा चन्द्र और सूर्यवंशसे उत्पन्न क्षत्रियोंके इस समय आर्यावर्तमें एकसौ-एक कुल हैं। उनमें भोज-कुल सबसे अधिक फैला हुआ है और मध्य देशमें बसा है।" इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत-कालमें क्षत्रियोंके दो वंश माने जाते थे। उनमें चन्द्रवंश अधिक अग्रसर था और मध्य देशमें उसका राज्य था। पहिले आये हुए और विशेषतया पञ्जाबमें बसे हुए आर्य सूर्यवंशी तथा कुरु, पञ्चाल-चेदि आदि यमुनातट-प्रान्तमें राज्य करनेवाले आर्य चन्द्रवंशी माने जाते थे। अयोध्या, मिथिला आदि गंगोत्तर प्रान्तमें राज्य करनेवाले सूर्यवंशी ही माने जाते थे किन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं रहा था। अब देखना चाहिये कि ऋग्वेदके प्रमाणोंसे इस मतको किस प्रकार पुष्टि मिलती है?

ऋग्वेदमें जिन आर्योंका बार बार उल्लेख हुआ है, उन्हें 'भरत' कहा है। इस नाम (भरत) के सम्बन्धमें प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानोंको भ्रम

हुआ है। भ्रम होना स्वाभाविक भी है। साधारणतया लोग भरत शब्दसे दुष्यन्त-पुत्र भरत अथवा उसके वंशजोंका ही अर्थ ग्रहण करते हैं। महाभारती युद्ध और भारती ग्रन्थके दृढ़ परिचयसे यह भ्रम हुआ है। जब हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि पुरुवंशके अर्थात् चन्द्रवंशके लोग कुरुक्षेत्रमें बसने पर यमुनातटके प्रान्तोंमें धीरे धीरे फैल गये, तब पंजाबमें बसे हुए लोगोंका ही ऋग्वेदमें भरत शब्दसे क्यों कर उल्लेख हुआ? मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानोंने इस बातका विचार न कर महाभारतके भरतको ही भरत मान लिया। परन्तु पुराणोंके वचनोंसे ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनका मत भ्रान्त है। कितने ही पुराणोंमें लिखा है कि दुष्यन्त-पुत्र भरतसे भिन्न एक भरत राजा मनुके कुलमें उत्पन्न हुआ था। उदाहरणार्थ भागवत-एकादश स्कन्धके दूसरे अध्यायमें लिखा है—

"प्रियव्रतो नाम सुतः मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्म विवक्षया।
अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम्।
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्॥"

भागवत—पंचम स्कन्धके ७ वें अध्यायमें भी लिखा है—"अज-नाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।" इससे स्पष्ट है कि हिन्दुस्थान जिस भरतके कारण भारतवर्ष कहा जाने लगा, वह भरत प्रथम (स्वायम्भुव) मनुका प्रपौत्र था। वायुपुराणमें भी यही परम्परा लिखी है। प्रियव्रतने सप्तद्वीपा वसुन्धरा अपने सात पुत्रोंमें बाँट दी। उनमेंसे अग्नीध्रको जम्बूद्वीप मिला। उन्होंने इसे अपने पुत्रोंको दे डाला। उनमें नाभिको जो भूभाग मिला, वह उनके पुत्र ऋषभने अपने पुत्रोंमें बाँट दिया। तब भरतके हिस्सेमें हिमालयके दक्षिणका देश आया। इसी पुराणके ३३ वें अध्यायमें लिखा है—

हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तं भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥५२॥

पुराणोंकी परम्परासे तो यही जान पड़ता है कि जिस भरतके कारण हिन्दुस्थान भारतवर्ष कहा जाने लगा, वह दुष्यन्त-पुत्र नहीं, किन्तु स्वायम्भुव मनुका प्रपौत्र था ।

वायुपुराणमें भारतवर्ष शब्दकी एक और व्युत्पत्ति लिखी है, जिसमें भरतको ही मनु कहा है । यथा—

"वर्षोऽयं भारतो नाम यत्रेयं भारती प्रजा ।
भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ॥
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम् ॥"
(श्लोक ७६, अध्याय ४५)

मत्स्यपुराणमें यही कल्पना और शब्दशः ये ही श्लोक हैं। मनु ही भरत कहा जाता था और निरुक्तमें यही लिखा है। पुराण-परम्परा बता रही है कि हिन्दुस्थानका भारतवर्ष नाम जिस भरतके कारण पड़ा, वह दुष्यन्त-पुत्र भरत नहीं, किन्तु उससे सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ मनुका प्रपौत्र अथवा साक्षात् मनु ही था। वायु और मत्स्य पुराणोंमें निरुक्तका जो हवाला दिया है, वह साधार है । यास्कने भरतका अर्थ आदित्य किया है । भारती शब्दका अर्थ बताते हुए "भरतः आदित्यस्तस्य भा भारती" इस प्रकार उसने निरुक्ति की है । निरुक्त और पुराणोंकी यह कल्पना ऋग्वेदसे चली आ रही है । ऋग्वेदमें जिन भरतोंका बार बार उल्लेख है, वे उक्त भरतके ही वंशज हैं, दुष्यन्त-पुत्र भरतके नहीं; यह बात आगेके विवेचनसे ध्यानमें आ जायगी ।

यहाँ उपमान स्वरूप अमेरिकाके इतिहासका तुलनात्मक विचार कर लेना उचित होगा । हिन्दुस्थानकी तरह अमेरिकामें भी पाश्चात्य आर्योंकी दो टोलियाँ भिन्न भिन्न समयमें जाकर बसी हैं । स्पेनिश, पोर्तुगीज़, इटालियन और फ्रेंच पहिले पहुँचे । ये चारों लातिन (लैटिन) वंशके हैं । इनके बाद गये हुए डच और इंग्लिश लोग हैं, जो जर्मन वंशके

है। सर्वप्रथम अमेरिगो नामक एक इटालियन दक्षिण अमेरिकामें उतरा। यह कोलम्बसका समकालीन था। कोलम्बसको एक टापूका ही पता लगा था, अमेरिका खण्डका नहीं। इस कारण कोलम्बसके नामसे नहीं, किन्तु अमेरिगोके नामसे ही समग्र खण्ड सर्वानुमतिसे प्रसिद्ध हुआ। यही बात हिन्दुस्थानकी है। हिन्दुस्थानमें सबसे प्रथम आये हुए भरत राजाके कारण ही इस देशका नाम भारतवर्ष हुआ। पुराणोंमें जिन सूर्यवंशी क्षत्रियोंका उल्लेख है, ये इसी भरतके वंशज थे और पंजाबसे मिथिलातक फैल गये थे। ऋग्वेदसे भी यही सिद्ध होता है।

मैकडानल्डने अपने 'वैदिक इण्डेक्स' नामक ग्रन्थमें भरत शब्दके सम्बन्धमें लिखा है—"भरत नाम एक महत्वपूर्ण विशिष्ट श्रेणीके लोगोंका है। यह नाम ऋग्वेदके तीसरे और सातवें मण्डलमें बार बार आता है। इन मण्डलोंमें सुदास और त्रित्सुके सम्बन्धमें यह नाम आया है और छठे मण्डलमें इनका सम्बन्ध दिवोदास राजासे बताया गया है।" (भाग २ पृष्ठ ९५) इस उल्लेखके ऋग्वेदस्थल हमने देखे। उनसे यह बात साफ जान पड़ी कि भरतोंके पुरोहित वसिष्ठ थे। पुराण-परम्पराके अनुसार वसिष्ठ सूर्यवंशी क्षत्रियोंके पुरोहित थे, चन्द्रवंशियोंके नहीं। इससे सिद्ध है कि प्रथम आये हुए आर्योंके पुरोहित वसिष्ठ थे और उन आर्योंको ऋग्वेदमें भरत और पुराणमें सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा है। बहुवचनात्मक वसिष्ठ शब्द वसिष्ठ-कुलोत्पन्न-वाचक है और उसीको ऋग्वेदमें त्रित्सु कहा है। ऋग्वेदके सातवें मण्डलमें सभी सूक्त वसिष्ठकुल ऋषियोंके हैं। अतः स्वाभाविक रीतिसे ही उसमें बार बार भरतोंका उल्लेख हुआ है। इस मण्डलका ३३ वाँ सूक्त विशेष महत्वका है। उसमें दाशराज्ञ युद्धका इस प्रकार वर्णन है—

"दण्डा इवेद्गो अजनास आसन्
परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां
विशो अप्रथन्त ॥"

भरतोंका पराभव होनेसे वे छितरी हुई लकड़ियोंकी तरह तितर बितर हो गये। तब वसिष्ठने इन्द्रकी स्तुति कर उन्हें विजयी किया। इसी इसकी

एक वर्णन यह है कि मैत्रावरुण नामक दो देवताओं द्वारा उर्वशीके गर्भसे वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। इससे ज्ञात होता है कि इस सूक्तके रचना-कालमें वसिष्ठ देवपरम्परामें गिने जाते थे। ऋग्वेदके कितने ही सूक्तोंमें भरतकी अग्निका वर्णन है। ऋग्वेदसे यह भी जान पड़ता है कि भरत अर्थात् आर्यलोग अग्निपूजक थे और दास अर्थात् भारतके आदिनिवासी इसके विरोधी थे। अनेक राजाओं द्वारा पूजित और संवर्धित अग्नियोंका उल्लेख भी ऋग्वेदमें है। इससे यही लक्षित होता है कि भरतोंकी अग्नि ही आर्योंकी धर्म-सूचक थी। ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ८ में इस प्रकारकी अग्नि और भरत राजाका स्पष्ट निर्देश है। यथा—"प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे अभियः पूरुं पृतनासु तस्थौ।" अर्थात् भरतकी यह वही अग्नि है जिसने पूरुका पराभव किया था। पूरु कौन था? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। पूरु शब्दका विचार करते हुए मैक्डानलने उक्त सूक्तका उल्लेख किया है और सूचित किया है कि यह पूरु संभवतः दुष्यन्तके पूर्वज ययातिका पुत्र था। पूरुका उल्लेख बहुतसे ऋग्वेदसूक्तोंमें बहुवचनमें हुआ है। वहाँ 'पूरु' से तात्पर्य पूरुवंशी लोगोंसे है। परन्तु शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि इस सूक्तमें उल्लिखित पूरु एक असुर था। इस सम्बन्धमें मैक्डानल कहते हैं—"शतपथ ब्राह्मणके समयमें लोग पूरुको इतने भूल गये थे कि उन्होंने उसे असुरमें परिणत कर लिया। मैक्डानलका यह मत बिलकुल गलत है। हम कह चुके हैं कि ऋग्वेदके बाद ब्राह्मण-ग्रन्थ ही प्रमाणभूत हैं। अतः मैक्-डानलकी कल्पनाकी अपेक्षा शतपथका मत ही अधिक विश्वसनीय और मान्य है। शतपथ-कर्ता याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंको ऋग्वेदसूक्तोंका जितना यथार्थ अर्थ अवगत था, क्या उतना अर्थ जाननेका हम कभी गर्व कर सकते हैं? फिर जिस पूरुका पराभव भरतने किया, अवश्य ही वह कोई असुर अर्थात् द्रविड़वंशी दास राजा रहा होगा। वह ययातिका पुत्र और दुष्यन्तका पूर्वज हो नहीं सकता। क्योंकि भरत पहिले आये हुए सूर्यवंशी क्षत्रियोंका राजा था, वह पूरुका समकालीन नहीं हो सकता। पर इस उक्तिसे यही प्रमाणित होता है कि यह भरत दुष्यन्तका पुत्र नहीं था। यदि होता, तो दुष्यन्त-पुत्र भरतके कितनी ही पीढ़ियों पहिलेके

पूर्वज पूरुसे उसका लड़ना कैसे सम्भव होता ? पूरुका पराभव करनेवाला सूर्यवंशी प्राचीन भरत राजा था और उसीकी अग्निकी प्रशंसा उक्त सूक्तमें की गयी है। यह थोड़ा विषयान्तर अवश्य हुआ है, परन्तु इससे ज्ञात हो सकता है कि केवल नाम-सादृश्यके कारण पाश्चात्य विद्वान् कभी कभी ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी भी परवाह न कर कैसा अन्धेर कर बैठते हैं। पहिले और दूसरे भरत और पूरुका मेल मिलाकर भारतके वेदकालीन इतिहासमें पाश्चात्य विद्वानोंने बड़ी बड़ी भूलें की हैं।

उक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो गया कि ऋग्वेद मंडल ७, सूक्त ३३ और ८ में भरतोंका उल्लेख है और उनके पुरोहित वसिष्ठ थे। भरत प्राचीन आदि-राजा था, अग्नि-पूजक था और उसके वंशज भरत कहे जाते थे। उसने इस देशके आदिम निवासियोंके राजा पूरुका पराभव कर यहां अपना राज्य स्थापन किया था। उसके वंशजों अर्थात् भरतोंसे एक घोर दाशराज्ञ युद्ध हुआ। उसमें भरत हार रहे थे, किन्तु वसिष्ठने इन्द्रकी स्तुति कर उन्हें विजयी किया। दाशराज्ञ युद्ध परुष्णी नदीके तटपर पंजाबमें हुआ था। भरतोंके सुदास नामक राजासे दस राजा लड़नेको आये थे। उनसे लड़ते हुए हार कर सुदास और भरत परुष्णी नदी लाँघ गये, तब उन्हें नदीने रास्ता दिया। परन्तु उनका पीछा करनेवाले दसों राजा नदी पार न कर सके। नदीके प्रवाहमें दसों राजाओंकी सेना छितरा कर बह गयी। अन्तमें सुदास राजा विजयी हुआ और उसे लूटमें बहुतसा धन मिला। यह मनोरंजक कथा ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ३३ में है। "यदङ्ग त्वा भरताः सन्तरेयुः गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूत।"—आदि ऋचाएँ देखने योग्य हैं। भरतसे लड़नेवाले दस राजा कौन थे, इसका विचार आगे चलकर किया जायगा। भरतोंका उल्लेख करनेवाला तीसरे मण्डलका ५३ वां सूक्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्णन है कि विश्वामित्रने (किसी अन्य प्रसङ्गमें) इन्द्रकी स्तुति कर सुदासकी सहायता की थी। यथा—"विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्र।" इस सूक्तकी—"विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।" यह ऋचा बहुत महत्त्वकी है। 'विश्वामित्रका यह ब्रह्म (ईशस्तोत्र) भारतोंका

रक्षण करता है' इस वाक्यसे तीन चार अनुमान किये जा सकते हैं। प्रथमत; उस समय भरतकी सन्तान बहुत फैल गयी थी और उसे भारतजन कहते थे। यहाँ भारतवर्षका स्मरण हो आता है। द्वितीयतः, भारतोंका राजा सुदास था और विश्वामित्रने ईश-स्तुतिसे उसे बचाया था। विश्वामित्रके कुलको कुशिक कहते थे। वसिष्ठ और विश्वामित्रकी पौराणिक कथाके झगड़ेका यहाँ मूल सूत्र देख पड़ता है। वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों सुदासके हितैषी और देवताओंकी स्तुति करनेवाले पुरोहित थे। अतः वे आपसमें कभी कभी झगड़ते भी होंगे। रामायणमें वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनोंको रघुकुलके हितैषी बताया है। सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी कथाओंमें सुदास, राम, दशरथ और हरिश्चन्द्रके साथ वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनोंका सम्बन्ध है। हरिश्चन्द्रने अपना पुत्र वरुणको अर्पण करनेकी प्रतिज्ञा की थी; परन्तु वह प्रतिज्ञा पालन न कर सका, इस कारण उसे उदर-रोग हुआ। आगे चलकर शुनःशेफ नामक ब्राह्मण-पुत्रको ख़रीद कर अपने पुत्र (रोहित) के बदले उसे वरुणके प्रीत्यर्थ वलि देनेके विचारसे उसने यज्ञ आरम्भ किया। तब शुनःशेफने वरुणसे प्रार्थना कर अपना छुटकारा कर लिया और विश्वामित्रने उसे अपना पुत्र मानकर अपने कुलमें उसे देवरात नामसे सम्मिलित कर लिया। यह कथा ब्राह्मण-ग्रन्थ और पुराणोंमें प्रसिद्ध है। शुनःशेफका वरुण-स्तोत्र ऋग्वेद मण्डल १ में है। सारांश, वेदमें विश्वामित्र भरतोंका और पुराणोंमें सूर्यवंशियोंका एक ऋषि माना गया है। सुदास-कल्माषपादकी कथा रामायण-उत्तरकाण्ड, अध्याय ६५ में है। वाल्मीकिने यह कथा शत्रुघ्नसे कही है। इस कथामें कहा है कि सुदास शत्रुघ्नका पूर्वज था। कुलगुरु वसिष्ठसे भिड़ जानेके कारण उनके शापसे वह कल्माषपाद हुआ और विश्वामित्रकी सहायतासे उसे छुटकारा मिला। पुराणोंकी तरह ऋग्वेद-सूक्तोंमें भी वसिष्ठ-विश्वामित्रकी स्पर्धा देख पड़ती है। दाशराज्ञ युद्धमें वसिष्ठने सुदासकी सहायता की थी। इसी तरह पूर्वकी विपाशा और शतद्रु नदियोंको लाँघते समय विश्वामित्रने भी सुदासकी सहायता की थी। पुराणोंमें सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी कथाओंमें वसिष्ठ-विश्वामित्रका उल्लेख है,

परन्तु चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी कथाओंमें नहीं है। सारांश, ऋग्वेद मण्डल ७।३ का भरत सूर्यवंशी आर्य था, यह मत साधार और दृढ़ है। (तीसरा मण्डल विश्वामित्रका है।)

भरतोंका छठे मण्डलमें भी उल्लेख है। इस मण्डलमें भरद्वाज और तत्कुलोत्पन्न ऋषियोंके सूक्तोंका संग्रह किया गया है। बार्हस्पत्य भरद्वाजका मुख्य सूक्त १६ वाँ है। यह बहुत बड़ा सूक्त है। इसमें भरत राजा, भारतजन, भरतकी अग्नि और दिवोदास राजाका कई बार उल्लेख हुआ है। पूर्वके सूक्तमें जैसा वसिष्ठका उल्लेख है, वैसा इस सूक्तमें भरद्वाजका है। यथा—

त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते।
भरद्वाजाय दाशुषे॥
अग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः।
दिवोदासस्य सत्पतिः॥
प्रदेवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्।
आस्वे यो नौ निषीदतु॥

इस सूक्तमें दिवोदास और भरद्वाज तथा पूर्वोक्त मण्डलोंमें दिवोदासके पुत्र सुदास और वसिष्ट-विश्वामित्रका सम्बन्ध देखकर पाश्चात्य विद्वान् आश्चर्य करते हैं। परन्तु आश्चर्यका कोई कारण नहीं है। पुराणों और ऋग्वेदसे यह स्पष्ट है कि भरतोंके पुरोहित वसिष्ठ थे। परन्तु इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि भरतोंका अन्य ऋषियोंसे सम्बन्ध नहीं था ? विश्वामित्रका जिस प्रकार सुदाससे सम्बन्ध था, वैसा ही भरद्वाजका दिवोदाससे था। रामायणमें भी विश्वामित्रकी तरह भरद्वाजसे भी दशरथ और रामका सम्बन्ध बताया है। राम और भरतकी भरद्वाजने सहायता की थी। एक स्थानपर भरद्वाजने यह भी कहा है कि मैं दशरथका मित्र हूँ। सारांश, इस मण्डलके सूक्तोंसे यही प्रतीत होता है कि भरत सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।

पुराणों और ऋग्वेदकी कथाओंसे स्पष्ट है कि पुराणोंके सूर्यवंशी क्षत्रिय और ऋग्वेदके भरत एक ही थे। ये ही प्रथम हिन्दुस्थानमें आये

और सिन्धुनदीसे लेकर सरयूनदी तक फैल गये। ऋग्वेदके सूक्तोंमें सरयू-का उल्लेख है। भरतोंके ऋषि वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाज थे। उनका राजा अर्थात् पूर्वज भरत, फिर दिवोदास और अनन्तर सुदास था। देवश्रवा और देववात तथा पुरुकुत्स और त्रसदस्युका उल्लेख ऋग्वेदमें है। इक्ष्वाकुका तो है ही, किन्तु हमारे मतसे दसवें मण्डलमें रामका भी उल्लेख है। निरुक्त भरतको सूर्य और पुराण मनु कहते हैं। परन्तु साधारणतया पुराणोंके मतसे भरत मनुका पौत्र था, जिसे हिस्सेमें हिन्दुस्थान देश मिला था। ऋग्वेद और पुराणोंसे स्थूलमानसे यह एक बात अवश्य सिद्ध हो जाती है कि हिन्दुस्थानमें सबसे पहिले आया हुआ आर्य राजा भरत था। रामायणमें लिखी हुई सूर्यवंशकी वंशावलीमें सुदासका नाम है और यह भी कहा गया है कि सौदास कल्माषपाद था। पुराणोंने दिवोदासको सुदासका पिता नहीं माना है; किन्तु ऋग्वेदसे बढ़कर पुराणोंका प्रामाण्य माना नहीं जा सकता। दिवोदासका नाम सूर्यवंशमें है और चन्द्रवंशमें भी। ऋग्वेदमें दिवोदासके पिताका नाम पिजवन लिखा है। दिवोदासको पैजवन भी कहा है। पैजवन नाम अब तक सूर्यवंशी कछवाहोंमें पैजवनसिंह (पज्जूनसिंग) के रूपमें पाया जाता है। पुरुकुत्स और त्रसदस्युके नाम सूर्यवंशमें पुराणोंने सन्निविष्ट किये हैं, चन्द्रवंशमें नहीं। शतपथ ब्राह्मणके वचनोंसे भी इस मतकी पुष्टि होती है। शतपथमें लिखा है कि पुरुकुत्स और त्रसदस्यु इक्ष्वाकुके वंशज थे। (देखो—वैदिक इण्डेक्स) ब्राह्मणमें हरिश्चन्द्रको भी इक्ष्वाकुका वंशज कहा है। पुराणोंने उसे सूर्यवंशी माना है। सारांश, वैदिक साहित्यमें भरतोंके जो राजा और उनके ऋषि उल्लिखित हैं, वे और रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें लिखे हुए सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा और उनके ऋषि एक ही हैं। भरत ऋग्वेदके समयसे ही पंजाबसे लेकर सरयू* तक फैल गये थे। इसीसे ऋग्वेदमें रामका उल्लेख है। मिथिलाके जनकका

* सरयूका उल्लेख ऋग्वेदके तीन सूक्तोंमें है। मैक्डानलके मतसे वह अयोध्याकी ही नदी है। कितने ही वेदवेत्ता पाश्चात्य विद्वान् उसे क्रमु मानते हैं। परन्तु ऋग्वेदमें क्रमुका स्वतन्त्र उल्लेख है। इसके अतिरिक्त

उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है, किन्तु उसके पुरोहित गौतमका है । रामायणमें लिखा है कि यही गौतम अहल्याका पति था । अहल्याका उल्लेख ऋग्वेद-में हैं । गौतम ऋषि सूक्तोंका कर्ता था । यहां तक हिन्दुस्थानमें प्रथम आये हुए आर्यों अर्थात् भरतों अथवा सूर्यवंशी क्षत्रियोंका इतिहास ऋग्वेदमें पाया जाता है ।

इससे यह सिद्ध है कि जिसके नामसे यह देश (भारतवर्ष) प्रसिद्ध हुआ, वह भरत सूर्यवंशी क्षत्रियोंका मूल राजा था। उसके बाद दिवोदास, सुदास, पुरुकुत्स और त्रसदस्यु राजा हुए। इन राजाओंके ऋषि वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज और गौतम थे। अब चन्द्रवंशी क्षत्रियों अथवा पीछेसे इस देशमें आयी हुई आर्योंकी शाखाके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें क्या लिखा है, यह भी देख लेना चाहिये। चन्द्रवंशियोंका उल्लेख ऋग्वेदमें है और उस उल्लेखसे स्पष्ट होता है कि वे पीछेसे आये थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे आर्यवंश और आर्य धर्मके ही लोग थे और आर्य भाषा बोलते थे। उनका इतिहास अमेरिकामें पीछेसे जाकर बसे हुए इंग्लिश और डच लोगोंके इतिहास जैसा ही है। अमेरिकामें पहिले जाकर बसे हुए फ्रेंच और स्पेनिश लोगोंकी तरह इंग्लिश और डच वहांके आदिम निवासियोंसे लड़े नहीं, किन्तु मिलजुल कर रहे। इंग्लिश और डच लोगोंने उनसे सुलह कर ली थी। इन्हें उत्तर अमेरिकाके इतिहासमें पंचजन* कहा है। परन्तु पहिले जाकर बसे हुए फ्रेंच और स्पेनिशोंके साथ इंग्लिश और डचोंने भयंकर संग्राम किये थे। उस समय इंग्लिश और डचोंको वहांके आदिम निवासियोंसे बहुत कुछ सहायता मिली और अन्तमें फ्रेञ्च-स्पेनिशोंका पराभव कर इंग्लिश-डचोंने उत्तर अमेरिकामें अपनी सत्ता प्रस्थापित की। इस समय उत्तर अमेरिका ब्यूटानिक है, मध्य अमेरिका स्पेनिश है और दक्षिण अमेरिका पोर्तुगीज है। यह भूभाग लैटिन अमेरिकाके नामसे प्रसिद्ध है। दोनोंका धर्म (ईसाई) एक होने पर भी दोनोंमें कुछ साधारण

आ० ६४ में सरस्वती और सिन्धुके साथ उसका उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि वह एक महानदी है।

* Five Nations.

अन्तर भी है। अमेरिकाका यह अर्वाचीन इतिहास आँखोंके सामने रखने पर भारतके प्राचीन इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और कितने ही उलझनके प्रश्न हल हो जाते हैं।

हिन्दुस्थानकी भाषाओंका विचार कर यह सिद्ध किया जा चुका है कि ऋग्वेदके भरत और पुराणोंके सूर्यवंशी क्षत्रिय एक ही थे और इन्हींकी टोली पहिले इस देशमें आयी थी। पश्चिमी हिन्दी बोलनेवालाके पूर्वज आर्य पुराणोक्त चन्द्रवंशी थे और उन्हींकी टोली पहिली टोलीके पश्चात् यहाँ आयी थी, यह अब सिद्ध करना है। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि पुराणोंमें वर्णित ययातिके यदु, तुर्वसु, अनु, द्रुह्यु और पूरु नामक पाँचों पुत्रोंका ऋग्वेदमें एक साथ एक स्थानपर उल्लेख है। भिन्न भिन्न स्थलोंमें भी उल्लेख है, किन्तु यदु-तुर्वसुओंका एक साथ उल्लेख कई स्थानोंपर हुआ है। यह निर्विवाद है कि पाँचों एक ही वंशके थे। उनमें भी यदु और तुर्वसु अति निकटके सम्बन्धी थे। कहीं इनका निर्देश एक-वचनमें और कहीं बहुवचनमें किया गया है। इससे सिद्ध है कि ये जातियाँ थीं और मूलपुरुषके नामसे विख्यात हुई थीं। महाभारत और रामायणमें वर्णित ययातिकी कथाका ऋग्वेदमें आधार मिलता है। ऋग्वेदमें कहा है कि ययातिके देवयानीसे यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठासे अनु, द्रुह्यु और पूरु नामक पुत्र हुए थे। ऋग्वेदमें तुर्वश और पुराणोंमें तुर्वसु लिखा है। यही दोनोंमें अन्तर है। विशेष ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि ऋग्वेदसूक्तोंमें यदु-तुर्वशोंका कहीं तो प्रेम और सम्मान-युक्त और कहीं तिरस्कारयुक्त उल्लेख हुआ है। कुछ वैदिक ऋषि तो भग-वान्‌से उनका मङ्गल मनाते और कुछ उनका नाश चाहते हैं। इससे स्पष्ट है कि पीछेसे आये हुए इन आर्योंको पहिले आये हुए आर्योंके साथ स्पर्धायुक्त शत्रुत्व करना पड़ा था। परन्तु अन्तमें विजयी होकर जब वे यहाँ बस गये, तब एक वंशी एक धर्मी और एक भाषाभाषी होनेके कारण सबके प्रिय हो गये। इस अनुमानको अनेक पौराणिक कथाओंका भी आधार है। पुराणोंमें सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें परस्पर युद्ध होनेके अनेक वर्णन हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यमुनाके दक्षिण तटपर

चन्द्रवंशियोंने अपने राज्य प्रस्थापित किये थे। स्थूलमानसे यही चन्द्र-वंशियोंका इतिहास है। अब ऋग्वेदके उन प्रमाणोंको देखना है, जिनसे आर्योंके इस देशमें प्रवेश होनेसे लेकर यमुनातटपर राज्य स्थापन करने तकके इतिहासका पता लगे।

पुराणोंमें लिखा है कि चन्द्रवंशियोंका आदिपुरुष पुरूरवा था। उसका उल्लेख ऋग्वेदमें है। ऋग्वेदने उसे बहुत प्राचीन माना है। वह हिमालय-में रहता था। उसे उर्वशीसे ययाति नामक पुत्र हुआ और ययातिका पुत्र नहुष था। दोनोंका उल्लेख ऋग्वेदमें है। ब्राह्मणमें लिखा है कि पुरू-रवाने गन्धर्वोंसे अग्निको उत्पन्न करना सीखा था। इससे स्पष्ट है कि वह वैदिक धर्मी अग्निपूजक था और उत्तर कुरु अर्थात् गंगा-यमुनाके उत्तर—तिब्बत—में रहता था। आयु, नहुष और ययातिका निवास-स्थान भी वहीं था। ययातिका उल्लेख ऋग्वेदमें है। उसकी एक पत्नी शुक्राचार्यकी कन्या देवयानी और दूसरी असुरराज वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठा थी। असुर-सम्बन्धसे भी प्रतीत होता है कि उसका निवास हिमालयके उत्तर ही था। उसके पुत्र और वंशज पीछेसे हिन्दुस्थानमें गंगाकी दरीसे होते हुए सरस्वती-तटपर कुरु देशमें आ बसे, जहाँ पहिलेके आर्य बस गये थे। पुराणोंमें कथा है कि ययातिका राज्य समग्र भारतवर्षमें था। प्रयागमें उसकी राजधानी थी। जब उसने भारतवर्ष अपने पाँचों पुत्रोंको बाँट दिया, तब मध्यदेश अर्थात् प्रयाग प्रिय पुत्र पुरुको मिला। यह कथा आधुनिक परिस्थितिसे मिलती जुलती पीछेसे गढ़ी हुई जान पड़ती है। पार्गिटरने इसपर अधिक विश्वास किया है। परन्तु हम पहिले कह चुके हैं कि ऋग्वेदसे जिन पौराणिक कथाओंका मेल हो, वे ही अधिक विश्वास-योग्य हैं। जहाँ दोनोंमें विरोध हो, वहाँ ऋग्वेदका ही प्रामाण्य माना जाना चाहिये। ऋग्वेदमें स्पष्ट उल्लेख है कि पुरुका सरस्वतीके दोनों तटोंपर राज्य था। (ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ९६) पुरुको मध्यदेश अर्थात् प्रयाग मिला, यह कल्पना पीछे की गयी है। पुराणोंके मतसे सरस्वतीका प्रदेश किसी दूसरेको ही मिला था। वहाँ पुरुका राज्य नहीं था। पुराणोंके समयमें लोग इस बातको भूल गये थे कि आर्य लोग हिन्दुस्थानमें बाहरसे

आकर बसे हैं। मनुके समयसे सूर्यवंशी क्षत्रियोंका मूलस्थान जैसे अयोध्या माना गया है, वैसेही ययातिके समयसे चन्द्रवंशियोंका मूल-स्थान प्रयाग माना गया है। चन्द्रगुप्तसे पहिले हिन्दुस्थानमें प्रधान परा-क्रमी राजा पौरव वंशका उदयन था और उसका राज्य कौशाम्बी अर्थात् प्रयागके आस-पासके भूभागमें था। इसीसे पुराणोंने स्थिर किया कि चन्द्रवंशी इसी देशके आदिम निवासी हैं। ययातिने पाँच पुत्रोंमें भारतवर्ष-का बँटवारा किया, यह पौराणिक वर्णन प्राचीन इतिहासके विरुद्ध है। पार्गिटर साहबने भी इस बातको स्वीकार किया है। पुराणोंकी रचना ईसवी सन् पूर्व ५०० (वि० पू० ४४३) वर्षोंसे अरम्भ हुई और उनके नये संस्करण, जो इस समय उपलब्ध हैं, ईसवी सन् ३०० (वि० ३५७) के लगभग तैयार हुए। उस समय लोग बुद्धपूर्वकालीन बातोंको भूल गये थे। महाभारतमें एकाध स्थानपर उल्लेख है कि प्रयाग प्रान्तमें उदयन पौरव राजा राज्य करता था। यदुको नैऋत्यका भाग मिला और मथुरासे काठि-यावाड़ तक यादवोंका ही राज्य था। तुर्वशोंको आग्नेयका भाग मिला। पुराणोंने आग्नेयके पाण्ड्य समेत सब द्रविड़ राजाओंको तुर्वशु आर्य बना डाला। द्रुह्युको पश्चिम और अनुको उत्तरके भूभाग मिले। द्रुह्यु सैन्धवोंका पूर्वज माना गया है और आनवक्षत्रिय अबतक पंजाबमें कहीं कहीं हैं। पार्गिटरके मतसे यह बँटवारा पिछली परिस्थितिके अनु-कूल है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। पिछली परिस्थितिको देखकर पुराण-कारोंने वैदिककालीन ययातिके राज्यका बँटवारा किया है। नये पुराण-कारोंको यह कल्पना ही नहीं थी कि आर्य पंजाबसे होते हुए दक्षिणमें फैले हैं। फिर भी प्राचीन पुराण-परम्परा बता रही है कि पुरूरवा हिमा-लयके उत्तर गन्धमादन पर्वतपर रहता था। अस्तु, ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेपर ऋग्वेदके प्रमाणोंसे यही प्रतीत होता है कि ययातिपुत्र भारतमें गंगाकी दरीसे होकर आये और पुरुने प्रथम सरस्वती-तटपर राज्य स्थापन किया। फिर धीरे धीरे वे दक्षिणमें फैल गये। इन्हींकी भाषा वर्तमान पश्चिमी हिन्दी है। डाक्टर ग्रियर्सनके मतसे यह भाषा अवधी, पंजाबी और राजस्थानी भाषासे भिन्न है।

ऋग्वेद मंडल ७, सूक्त ९६ से यह सिद्ध है कि पूरुने प्रथम अपना राज्य सरस्वती-तटपर स्थापन किया था। वहीं दुबारा आये हुए आर्योंका उत्कर्ष हुआ। कुरुक्षेत्र उनका प्रधान और पवित्र स्थान था। वैदिक धर्मकी वहीं उन्नति हुई और वहीं बोली जानेवाली संस्कृत भाषा टकसाल मानी गयी। ब्राह्मणमें लिखा है कि उत्तर कुरु और कुरुपांचालोंकी भाषा एक ही थी। इसी आधारपर हमने कहा है कि दूसरी आर्योंकी टोली वायव्यके खैबर घाटसे नहीं, किन्तु गिलजिट-चित्रालके रास्ते गंगाकी खाईसे होकर इस देशमें आयी थी (वैदिक इण्डेक्समें कुरु शब्द देखिये)। अब भी डाक्टर ग्रियर्सनका कथन है कि गिलजिट और चित्रालमें प्रचलित भाषाके कितने ही शब्दोंके रूप ठीक वैदिक सूक्तोंके शब्दोंके समान हैं। भारतकी समतल भूमिमें प्रचलित भाषाओंमें वैसे शब्द नहीं सुन पड़ते। (इम्पीरियल गजेटियर भा० १, पृ० ३५६) सारांश, वैदिक सूक्तों, ब्राह्मणवचनों और गिलजिट आदि प्रान्तोंकी भाषासे यही अनुमान होता है कि चन्द्रवंशी आर्य इसी रास्तेसे सरस्वती-तटपर आये थे। दूसरी टोलीके ये आर्य प्रथम सरहिन्द, अम्बाला आदि प्रान्तोंमें बसे और धीरे धीरे दक्षिणमें फैल गये। अब ऋग्वेद-सूक्तोंसे इसकी छानबीन करना उचित होगा।

पहिली महत्वकी ऋग्वेदकी ऋचा वह है, जिसमें यदु आदि पाँचोंका एक साथ उल्लेख हुआ है। इन्द्राग्नि देवताओंकी स्तुति करनेवाली वह ऋचा इस प्रकार है—

"यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु
यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।
अतः परिवृषणावाहि यातमथा
सोमस्य पिबतं सुतस्य॥" मं. १ सू. १०८

अर्थात् "आप यदि यदुतुर्वशों, द्रुह्युओं, अनुओं, पूरुओंके यहां हों, तो भी मेरे यहां आवें और मेरे इस सोमरसका पान करें।" इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेदके समयमें यदुतुर्वशों आदिके कुल वर्तमान गुहिलोतों, राठोरों आदिकी तरह बन गये थे। उनका धर्म इन्द्राग्निकी पूजा करना था

और इन्द्राग्नि उनसे बहुत सन्तुष्ट थे । इस सूक्तके ऋषि कुत्स आंगिरस हैं। इसका महत्व आगे चलकर बताया जायगा ।

पहले जो भरत आर्य इस देशमें आकर बसे थे, उनके साथ उनके बाद आये हुए चन्द्रवंशी आर्योंका झगड़ा भी हुआ था। पहले पहल भरतोंके दिवोदास राजासे हुआ। दिवोदास बड़ा ही दानशूर था। उसे ऋग्वेदमें अतिथिग्व भी कहा है। अर्थात् उसके यहाँसे अतिथि आनन्दपूर्वक लौटते थे । दिवोदास और यदुतुर्वशोंके युद्धका वर्णन करनेवाली ऋग्वेद मण्डल ६१, सूक्त २ की ९ वीं ऋचा महत्वकी है । इसमें ऋषि कहते हैं—

"पुरत्सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम् ।
अधत्यं तु शं यदुम् ॥"

अर्थात् "दिवोदासके लिए इन्द्रने शम्बरके किलों और नगरको उद्ध्वस्त किया तथा यदुतुर्वशोंका नाश किया।" इस ऋचासे जान पड़ता है कि यदुतुर्वश एक साथ थे, दिवोदासके शत्रु और यहाँके आदिम निवासी शम्बरादिके मित्र थे। दूसरा उल्लेख भरतों और यदुतुर्वशोंके युद्धका मण्डल ४, सूक्त ३० में इस प्रकार है—

"उत त्या तुर्वशायदु आस्नांतारा शचीपतिः ।
इन्द्रो विद्वां अपारयत् ॥
उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः ।
अर्णाचित्ररथावधीः ॥"

यह युद्ध सरयू-तटपर हुआ था। इससे स्पष्ट है कि यदु-तुर्वश पूर्वमें सरयू-तटतक फैल गये थे। सबसे महत्वका पूर्वोल्लिखित दाशराज्ञ युद्ध हुआ था । इस युद्धका उल्लेख ऋग्वेद मण्डल ७ के वसिष्ठके तीन सूक्तोंमें हुआ है । यह युद्ध भरतोंके राजा सुदास (पुरोहित वसिष्ठ सहित) और पाँच आर्य तथा पाँच अनार्योंके बीच हुआ था । पाँच आर्य राजाओंमें यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पूरु थे । अर्थात् यह युद्ध अमेरिकामें फ्रेंच-अंग्रेजोंके युद्धके समान सूर्यवंशियों और चन्द्रवंशियोंमें हुआ था। पहिले कहा जा चुका है कि यह युद्ध परुष्णी नदीके तटपर हुआ था। परुष्णी वर्त-

मान रावी (ऐरावती) नदी है । पहिला सूक्त, ७ वें मण्डलका १८ वाँ है । यहाँ ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि वैदिक सूक्त देवताओंकी स्तुतिमें बनाये गये हैं, ऐतिहासिक बातोंके संग्रहके लिए नहीं । वैदिक ऋषियोंने प्रवाह-रूपसे जहाँ तहाँ अपने समयकी और उससे पहिलेकी बातोंका उल्लेख कर दिया है । उन्हींसे हम अत्यन्त प्राचीन इतिहासका कुछ पता लगा सकते हैं । १९ वाँ सरस सूक्त वसिष्ठका है और उसमें दाशराज्ञ युद्धका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है । परुष्णीके तटपर सुदासका प्रायः पराभव हो ही चुका था, किन्तु वसिष्ठने इन्द्रकी स्तुति की, जिससे नदीने सुदासको तो पार कर दिया, और यदु-तुर्वशोंको डुबा दिया । इस कथासे अनुमान किया जा सकता है कि सुदास और उसके पुरोहितको ज्ञात था कि नदीका पानी कहाँ कम है और कहाँसे नदी पार करनेमें सुभीता होगा । इसीसे वे विजयी हुए । उनके शत्रु इस देशमें नये थे । उन्होंने असुविधाके स्थानसे नदी पार करनेका प्रयत्न किया । परिणामतः वे हारे और डूब गये । इस सूक्तमें यह भी लिखा है कि सुदासके शत्रु नदीका प्रवाह रोककर पार होनेके प्रयत्नमें लगे थे । अर्थात् चन्द्रवंशी आर्य युद्धशास्त्र तथा संस्कृतिमें बहुत कुछ अग्रसर हो चुके थे । परन्तु इस प्रयत्नमें वे यशस्वी नहीं हुए । सुदासको वे लूटना चाहते थे, किन्तु सुदासने ही उन्हें लूट लिया । इस सूक्तमें यह भी कहा गया है कि पशुओंको लूटकर ले जाते हुए छः हजार अनु और द्रुह्यु धराशायी होगये थे । अस्तु, पाँच आर्य राजाओंमें अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पूरु थे । यदुका स्पष्ट उल्लेख इस सूक्तमें नहीं है, किन्तु तुर्वशोंके साथ वे सदा रहा करते थे । अनार्य पंचजनोंमें पक्थ, भलान, भनन्तलिन, विषाणि और शिवके नाम आये हैं । इन नामोंसे विद्वान् संशोधक नाना प्रकारके अनुमान निकालते हैं । डाक्टर ग्रियर्सन कहते हैं कि 'पश्तु' शब्दका उच्चारण अबतक वायव्य सीमाप्रान्तके लोग 'पक्थ' की तरह करते हैं । इससे ज्ञात होता है कि सीमाप्रान्तके पहाड़ी अफगान ही 'पक्थ' थे । 'शिव' शब्दसे भी कुछ अनुमान किये जा सकते हैं, किन्तु ये नाम पीछेसे आर्योंके रखे प्रतीत होते हैं । अमेरिकाके रेडइण्डियन लोग कृत्रिम सींग,

सिरमें बाँधते थे, इसी तरह यहाँके लोग भी बाँधते हों और उनका नाम आर्योंने 'विपाणि' रख दिया हो ! इसमें सन्देह नहीं कि ये नाम अनार्योंके हैं ।

"ये पक्वासो भलानसो भनन्तालिनासो विपाणिनः शिवासः ।"

इस ऋचाका अर्थ भी सरल है । जो हो, इस युद्धमें पाँच आर्य और पाँच अनार्य राजा सुदासके विरुद्ध थे, यह निश्चित है । मण्डल ७, सूक्त ८३ में इसका स्पष्ट निर्देश है। वह भी वसिष्ठका ही सूक्त है । उसमें लिखा है—

"दासा च वृत्रा हतमार्याणि च ।
सुदास मिन्द्रावरुणावसावतम् ॥"

अर्थात् दास और आर्योंने मिलकर जब सुदासपर चढ़ाई की, तब इन्द्र और वरुणने उसकी सहायता की थी । इसी सूक्तमें दस राजाओंके आक्रमणका भी उल्लेख इस प्रकार है—

"यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितम् ।
प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥"

अर्थात् पाँच आर्य और पाँच अनार्य राजा इस युद्धमें सुदासके विरुद्ध थे। नये आर्यों अर्थात् चन्द्रवंशियोंने एतद्देशीयोंकी सहायतासे पहिले आकर बसे हुए सूर्यवंशियोंसे सरस्वती-तटपर—पंजाबमें—युद्ध कर उन्हें हरानेका प्रबल प्रयत्न किया था, किन्तु वह सफल न हो सका। अमेरिकाके युद्धमें फ्रेंचोंके विरुद्ध वहाँके पञ्चजनों ने अंग्रेजोंकी जैसी सहायता की थी, वैसी ही सूर्य 'शियोंके विरुद्ध चन्द्रवंशियोंकी यहाँके पाँच अनार्य राजाओंने सहायता की। अमेरिका और हिन्दुस्थानके इतिहासका यह सादृश्य देखकर आश्चर्य होता है। अमेरिकामें अंग्रेज जैसे विजयी हुए, वैसे यहाँके चन्द्र 'शी प्रारम्भमें विजयी नहीं हो सके, तो भी आगे चल कर भारतीय युद्धमें उत्तर अमेरिकाकी तरह चन्द्रवंशी पूर्ण विजयी हुए और पंजाबमें उनकी सत्ता प्रस्थापित हो गयी। फिर भी पञ्जाबमें पहिले आये हुए आर्य ही अधिकांश बसे हुए थे।

ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त १९ में वसिष्ठने पूरुके अनुकूल कुछ कहा है सही, किन्तु यह भी कहा है कि दिवोदासने यदुतुर्वशोंका पराभव कर दिया। कुछ वैदिक विद्वान् इस सूक्तसे यह सिद्ध करते हैं कि राजा पुरुकुत्स पूरुकुलमें उत्पन्न हुआ था। अतः तत्सम्बन्धी ऋचाओंका यहाँ अधिक विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

"त्वं धृष्णोधृषता वीतहव्यं प्रावो
विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्रपौरुकुत्सिं त्रस दस्युमावः
क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥"

"हे इन्द्र! आपने अपनी समस्त रक्षा-शक्तियोंके द्वारा वीतहव्य, सुदास और त्रसदस्यु पुरुकुत्सके पुत्र तथा पूरुकी वृत्रके साथ हुए युद्धोंमें सुरक्षा की है।" यहाँ त्रसदस्युको ही पूरु न समझ कर दोनोंको पृथक् मानना चाहिये। पूरु शब्दको पुरुकुत्सका विशेषण मान लेने पर ब्राह्मण-वचनसे विरोध हो जाता है। क्योंकि ब्राह्मणमें पुरुकुत्सको स्पष्टतया ऐक्ष्वाक कहा है। पुराणोंमें भी ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है कि त्रसदस्यु और पुरुकुत्स चन्द्रवंशमें थे। भरतोंकी तरह यह नाम दो राजाओंका नहीं है। अतः पुरुकुत्स पूरुवंशी माना नहीं जा सकता। इसी सूक्तमें अन्य आर्य राजाओंकी वृत्र अर्थात् दासोंके विरुद्ध सहायता करनेके कारण इन्द्रकी स्तुति की गयी है। उ, चुमुरि और धुनि दासोंके विरुद्ध कुत्स और दभीतिकी तथा अतिथिग्व दिवोदासकी यदु-तुर्वशोंके विरुद्ध सहायता करनेका इसमें उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि पूरुवंशके चन्द्रवंशी क्षत्रिय धीरे धीरे कुरुक्षेत्रमें भली भाँति बस गये थे और प्राचीन आर्य ऋषि उन्हें मानने भी लगे थे। परन्तु यदु-तुर्वशोंको बसने योग्य अच्छा स्थान न मिलनेसे वे सूर्यवंशियोंको सताया करते थे। आगे चलकर दक्षिणमें यमुना-तटपर वे फैल गये। 'भारत-उपसंहार' में हमने कहा है कि भारती युद्ध-प्रसङ्गमें पूरुकुलके चन्द्रवंशी क्षत्रिय और यदु-पाण्डु-पांचालादि अन्य चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें अनबन हो जानेके कारण पूरुकुलके दुर्योधनके पक्षमें सूर्यवंशी क्षत्रिय ही अधिक थे। सारांश, यद्यपि इस

सूक्तमें वसिष्ठने कहा है—"नितुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यत्।" तथापि उनका पूरुके सम्बन्धमें अनुकूल कहना भी असम्भव नहीं है। उक्त ऋचाका पूरु शब्द पृथक् माननेसे ब्राह्मण-ग्रन्थके विरुद्ध न होगा।

पूरु सरस्वतीके तटपर और यदु-तुर्वशादि यमुना-तटपर जब भली भाँति वस गये, तब ऋषिगण भी उनके अनुकूल हो गये; क्योंकि वे आर्य ही थे। ऋग्वेदके कितने ही सूक्तोंमें उन्हें आशीर्वाद दिये गये हैं। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसे वचन ८ वें अर्थात् कण्वके मण्डलमें हैं। 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखानुसार आठवें मण्डलके ये सूक्त ४, ७, ९, १० और ४५ हैं। इनमेंसे पहिला अर्थात् चौथा सूक्त देवातिथि काण्वका है। इस सूक्तमें कण्व ऋषि और यदु-तुर्वश दोनोंका उल्लेख है। एक तुर्वश राजासे कण्वको छः हजार गायें दानमें मिली थीं, ऐसी दान-स्तुति इस सूक्तमें है। ७ वाँ सूक्त पुनर्वत्स काण्वका है। इसमें यदुतुर्वशों और कण्वपर कृपा करनेके कारण मारुतोंकी स्तुति की गयी है। यथा—

"येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्।
राये सुतस्य धीमहि॥"

नवम सूक्तमें शशकर्ण काण्व अश्विनोंसे यदुतुर्वश और कण्वपर कृपा करनेकी याचना करता है। यथा—

"इमेसोमासो अधितुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ॥१४॥

दशम सूक्तमें प्रगाथ काण्व अश्विनोंसे विभिन्न दिशाओंमें अनु, द्रुह्यु, यदु और तुर्वशोंपर कृपा करनेकी प्रार्थना करता है। अन्तिम ४५ वें सूक्तमें त्रिशोक काण्व इन्द्राग्निकी स्तुति करता हुआ कहता है—"आपने यदु-तुर्वशोंको अनिर्वचनीय शक्ति प्रदान की है।" यथा—

"सत्यं तत्तुर्वशे यदौ विदानो अन्हवाय्याम्॥२७॥"

ये सभी सूक्त कण्वकुल ऋषियोंके हैं और इनमें यदुतुर्वशों, किम्बहुना, अनुद्रुह्युओंके लिए भी ईश्वरीय कृपाकी याचना की गयी है। इससे प्रतीत

होता है कि चन्द्रवंशियोंके कुल-पुरोहित काण्व थे। इसका प्रमाण पुराणोंमें भी मिलता है। दुष्यन्त, भरत आदिके कुल-गुरु कण्व थे। उनका आश्रम भी उन्हींके राज्यमें था और कण्वके ही आश्रममें दुष्यन्तको शकुन्तलाका लाभ हुआ था। सूर्यवंशियोंका जैसा वसिष्ठसे सम्बन्ध है, वैसा ही यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु आदि चन्द्रवंशियोंका कण्वसे है। पुराण-वंशावलीसे तो सिद्ध होता है कि कण्व भी चन्द्रवंशी थे। इस सम्बन्धमें पुराणों और ऋग्वेदमें मतभेद नहीं है। एक प्रमाण पहिले मण्डलके ३६ वें सूक्तमें मिलता है। इसमें घोर ऋषिने यदुतुर्वश और कण्वका कई बार उल्लेख किया है। यथा—

"अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्।
अग्निः प्रावन्मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्थितम् ॥१७॥
अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे ॥१८॥

इससे हमारा अनुमान अधिक पुष्ट होता है। हरिवंशमें पूरुकुलमें उत्पन्न हुए भरतके चौथे पूर्वज मतिनारसे कण्वकी उत्पत्ति बतायी है।

प्रथम मण्डलके ५४ वें सूक्तमें भी यदुतुर्वशोंके अनुकूल लेख है। यदुतुर्वशोंकी इन्द्रने सुरक्षा की, इसलिये सव्य आंगिरस इस सूक्तमें इन्द्रकी स्तुति करता है। यथा—

"त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।"

१०८ वें सूक्तका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। उसमें कुत्स आंगिरसने यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पूरु इन पाँचोंके नाम ग्रथित किये हैं। हमने यह भी कहा था कि कुत्स आंगिरस सूक्तकर्ता था, इसका महत्व आगे चलकर बताया जायगा। अतः इस प्रसङ्गमें उसका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। कण्वकुल ऋषियोंकी तरह आंगिरसकुल ऋषियोंका भी चन्द्रवंशियोंके साथ सम्बन्ध था। मण्डल १, सूक्त ३६ का ऋषि घोर और आगेके सूक्तका ऋषि घोर काण्व है। इससे पहिला घोर आंगिरस जान पड़ता है। मं० १, सू० ५४ का ऋषि सव्य आंगिरस और मं० १, सू० १०८ का कुत्स आंगिरस है। छान्दोग्योपनिषद्में वर्णन है कि देवकी-पुत्र

कृष्णको घोर आंगिरसने एक उपनिषद् विद्या सिखायी थी। यह निर्विवाद है कि यह देवकी-पुत्र कृष्ण महाभारतमें गीताका उपदेश देनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं। सारांश, काण्वोंकी तरह आंगिरस भी यदु-तुर्वशादि चन्द्र-वंशियोंके ऋषि थे।

'वैदिक इण्डेक्स' के लेखानुसार और भी निम्नलिखित सूक्त हैं, जिनमें यदु-तुर्वशोंका उल्लेख है। अगस्त्यका इन्द्रसूक्त १-१७४, वामदेवका सूक्त ४-३०, अवस्यु आत्रेयोंका सूक्त ५-३१, शंयु बार्हस्पत्यका सूक्त ६-४५ और इन्द्रवैकुण्ठका सूक्त १०-४९, अन्तिम सूक्तमें नहुष और यदु-तुर्वशोंका एक साथ उल्लेख हुआ है। यथा—

"अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशयदुम्" ॥ ८ ॥

यहाँ पहिले अर्थात् १-१७४ सूक्तका अधिक विचार करना आवश्यक है। क्योंकि इसमें यदु-तुर्वशोंके साथ समुद्रका उल्लेख है। यथा—

"त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्रयत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति ॥९॥"

इसका यदि यह अर्थ हो कि यदु-तुर्वशोंको इन्द्र सुरक्षित समुद्रके पार ले जावें, तो मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद-प्रसिद्ध अश्विनोंके प्रिय राजा भुज्युकी तरह यदु-तुर्वश भी समुद्रमें संचार करने लगे थे। भुज्युके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें कई बार ऐसा वर्णन किया गया है कि समुद्रमें जब वह डूबने लगा, तब अश्विन उसे सोनेकी नौकामें बैठाकर पार ले गये। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि ऋग्वेदके समयमें भारतीय आर्य पश्चिमी समुद्रतक पहुँच गये थे। समुद्रका उल्लेख ऋग्वेदमें कई बार हुआ है और यदु-तुर्वश दक्षिणकी ओर बढ़ते हुए काठियावाड़तक फैल गये थे। परन्तु इस सूक्तके समुद्र शब्दका अर्थ आकाश किया गया है। ऋग्वेदीय ऋषियोंकी कल्पना थी कि आकाशमें दिव्य जल भरे हुए हैं। अस्तु, सूक्त ५-३१ में वर्णन है कि यदु-तुर्वशोंके लिए इन्द्रने सुदुघाकी बाढ़ रोक दी थी। यथा—

"त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः सुदुघाः पार इंद्र।"

सारांश, धीरे धीरे यदु-तुर्वश आर्य ऋषियोंको मान्य और प्रिय हुए तथा अनेक नदियोंको पार कर समुद्रतक फैल गये।

अबतक यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पूरुका समष्टि-रूपसे विचार किया गया; अब प्रत्येकके कुलका पृथक् पृथक् विचार किया जायगा। 'वैदिक इण्डेक्स' में लिखा है कि यजु और सामवेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें यदुओंका उल्लेख नहीं है। (हमने समग्र वैदिक साहित्यका प्रत्यक्ष रूपसे अध्ययन नहीं किया है।) पंजाबमें उनका पराभव होने पर वे दक्षिणकी ओर बढ़े और शूरसेन (मथुरा) से काठियावाड़ तक दक्षिण नैर्ऋत्य दिशामें बस गये। महाभारतके समयमें भी वे इसी प्रान्तमें बसे थे। इस प्रान्तमें बसने योग्य बहुत भूमि थी। क्योंकि पहिलेके सूर्यवंशी आर्य पञ्जाबमें और पूर्वकी ओर हिमालयकी तरहटीमें मिथिलातक बस गये थे। यदुओंके स्वतन्त्र राज्य स्थापित नहीं हुए थे। मथुरामें वे भोजकी अधीनतामें ही रहते थे। इसीसे कथा रची गयी कि ययातिके शापके कारण यदुओंको राज्याधिकार नहीं है। पौराणिक कथाओंमें लिखा है कि मथुरा मधु नामक दैत्यके अधिकारमें थी। उसका पराभव कर शत्रुघ्नने उसपर अधिकार किया और शत्रुघ्नका वंश निर्मूल होने पर यादव-भोज वहाँ जाकर बस गये। पार्गिटरके मतसे मधु नामक दैत्य नहीं, किन्तु यादव था। उसीके वंशज आगे चलकर माधव कहलाये। परन्तु यह भूल है। रामायण और पुराणोंकी कथाएँ इतिहाससे सम्बद्ध हैं। प्रथम यमुनातट राक्षसों अर्थात् हिन्दुस्थानके आदिम निवासियोंके अधिकारमें था। फिर गंगाके उत्तर प्रान्तमें बसे हुए सूर्यवंशी आर्योंने वहाँ बसनेका यत्न किया और अन्तमें आर्योंकी दूसरी टोली अर्थात् चन्द्रवंशियोंने उसपर अधिकार कर लिया। यह अनुमान अस्वाभाविक या इतिहासके विरुद्ध नहीं है। अबतक यादव पशुपालोंकी स्थितिमें ही थे। आगे चलकर श्रीकृष्णके अतुल बुद्धि-कौशल और शौर्यसे उन्हें चिरस्थायी तेज और यश प्राप्त हुआ। ऐसा न हुआ होता तो पुराणोंमें कोई उनके गुणोंका वर्णन न करता। पहिले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्णका उल्लेख वैदिक संहितामें न होने पर भी छान्दोग्योपनिषद्में है।

यह हुई यदुओंकी बात। अब तुर्वशोंके सम्बन्धमें विचार करें। ऋग्वेद-में यदुके साथ और स्वतन्त्र रूपसे भी इनका उल्लेख है, किन्तु महाभारत

अथवा पुराणोंमें कहीं उल्लेख नहीं है। सम्भवतः यह कुल नष्ट हो गया था। शतपथ ब्राह्मणमें भी लिखा है कि यह कुल नष्ट होकर पाञ्चालोंमें विलीन हो गया। हरिवंश अध्याय ६२ में लिखा है कि दक्षिणके चोल, पाण्ड्य आदि राजा तुर्वश-कुलके थे। परन्तु पुराणोंकी यह नयी उपज जान पड़ती है। चोल, पाण्ड्य, केरल आदि राजा आदि-द्रविड़वंशी थे। आगे जब सभी हिन्दू राजा सूर्य-चन्द्रवंशियोंसे सम्बन्ध करने लगे, तब इन्होंने भी तुर्वशोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया। पुराणोंकी कथा ब्राह्मण-ग्रन्थकी कथासे भी विरुद्ध है। पुराणोंके जिस समय (ईसवी सन् ३०० से ९०० तक) नये संस्करण बने, उस समय भारतवर्षमें जो राजवंश प्रसिद्ध थे, उनका सम्बन्ध महाभारत-रामायणके प्रसिद्ध पुरुषोंके साथ जोड़नेका उद्योग किया गया हो, तो आश्चर्य ही क्या है? अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग आदि दक्षिण-पूर्व प्रान्त पहिलेसे ही अनार्य माना गया है। इसी तरह चोल, केरल पाण्ड्य भी अनार्य ही थे।

अब अनु, द्रुह्यु और पूरुके सम्बन्धमें भी विचार कर लेना उचित होगा। पूरु तो वैदिक कालमें ही बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। इसीसे महाभारतमें पूरुको ययातिसे आशीर्वाद प्राप्त होनेका उल्लेख है। पौरवोंका भारतवर्षमें इतना अधिक विस्तार हो गया था कि उनके सम्बन्धमें यह लिखा गया कि "अपौरवा तु हि मही न कदाचिद्भविष्यति।" (चाहे सूर्य-चन्द्रसे रहित पृथ्वी हो जाय, किन्तु पौरवोंसे रहित नहीं हो सकती।) वे पहिले सरस्वतीतटपर बसे थे, यह ऋग्वेद-सूक्तोंमें भी कहा गया है। वहांसे धीरे धीरे पूर्व, दक्षिण और पश्चिममें उन्होंने अपनी सत्ता प्रस्थापित की और पाण्डवोंके समयमें वे सार्वभौम हो गये थे। पौरवोंको प्रथम यहांके आदिम निवासी राक्षसोंसे झगड़ना पड़ा था। इसका उल्लेख ऋग्वेदके १-५९, १३१, १७४; ४-२१, २८; ६-२०; ७-५ और ८-१९ सूक्तमें है। १-५९ वाँ सूक्त नोधा गौतमका है। उसमें लिखा है—"वृत्र अथवा यहाँके आदिम निवासी जंगली अनार्योंका अग्निदेव नाश करते हैं, इसीसे पूरु उनकी पूजा करते हैं।" (यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।) १-१३१ वां सूक्त परुच्छेपका है। उसमें कहा है—"यह सामर्थ्य प्राचीन कालमें पूरुओंको

ज्ञात थी।" (विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो।) १-१७४ का यहाँ मैक्डानलने भूलसे उल्लेख किया है। इसमें पहिले कहे अनुसार यदु-तुर्वशोंका उल्लेख है, पूरुओंका नहीं। पुरुकुत्सका इसमें उल्लेख होनेसे सम्भवतः उसका निर्देश किया गया होगा; परन्तु हमारी समझमें पुरुकुत्स पूरु नहीं है; दोनोंमें अन्तर है। यह निश्चित है कि पुरुकुत्स सूर्यवंशी था। ४-२१ इन्द्रस्तुतिपूर्ण वामदेवका सूक्त है। इसमें प्रश्न है कि "पूरुके लिए वृत्रका वध कर किसने स्वातन्त्र्य प्रदान किया?" (हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।) ६-२० वें भरद्वाजके सूक्तमें कहा है—"हे इन्द्र! पूरु आपकी स्तुति करते हैं कि पुरुकुत्सके लिए आपने दासोंकी सात गढ़ियोंको ढाह दिया।" यथा—

"सनेम तोवसा नव्य इन्द्र प्रपूरवः स्तवन्त एना यज्ञैः।

सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन्दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन्,," ॥ १० ॥

७-५ वें वसिष्ठके अग्निसूक्तमें लिखा है—"हे अग्निदेव! पूरुके लिए आपने दासोंके किले ढाह दिये।" (वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः।) अन्तिम ८-१९ वें सूक्तमें (पहिले कहा भी गया है) वसिष्ठ कहते हैं—"हे इन्द्र! आपने वृत्रके युद्धमें पुरुकुत्स, त्रसदस्यु और पूरुकी रक्षा की।" (प्रपौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्।) उक्त सूक्तोंसे दो तीन बातें स्पष्टतया देख पड़ती हैं। ऋग्वेदमें वृत्र शब्द आदिमनिवासियोंके अर्थमें बार बार आया है। इन लोगोंके साथ आर्योंके बार बार युद्ध भी हुआ करते थे। उस समय आर्य लोग उनके गढ़ या सुरक्षित पुर बार बार ढाह देते थे। दोनों आर्योंको ऐसे युद्ध करने पड़े थे और पूरुने भी किये थे। ७-१९ वें सूक्तमें पूरु इन्द्रसे प्रार्थना करता है कि आपने पूर्वकालमें जैसी पुरुकुत्सकी सहायता की थी, वैसी इस समय मेरी भी करें। इससे स्पष्ट है कि पुरुकुत्स पूरुसे पहिले हुआ था। आगे चलकर पूरुओंका इतना विस्तार हुआ कि यास्कको लिखना पड़ा कि पूरु शब्दसे साधारण मनुष्यका अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कई सूक्तोंकी टीका करते समय टीकाकारोंने पूरु शब्दका अर्थ साधारण मनुष्य किया भी है। परन्तु मैक्डानलके

मतसे पूरु शब्दका अर्थ पौरव (अर्थात् दूसरी टोलीके आर्य) ही करना चाहिये । जो हो, यह निश्चित है कि प्रथम आये हुए सूर्यवंशी आर्योंका विस्तार होनेपर जिस तरह हर एक क्षत्रिय भरत अथवा भारत कहा जाने लगा, उसी तरह पश्चात् आये हुए चन्द्रवंशी आर्योंका विस्तार होनेपर पूरु शब्द साधारण मनुष्य-वाचक बन गया ।

पौरवोंने अनार्योंसे अनेक युद्ध कर विजय-लाभ किया और सरस्वती-तटपर अपना दबदबा जमा लिया । पहिले आकर पंजाबमें बसे हुए आर्यों-से लड़कर वे हारे सही, किन्तु कुरुक्षेत्रमें उनका अच्छा उत्कर्ष हुआ । पौरवोंके राजा अजमीढका उल्लेख ऋग्वेदमें है और बहुवचनमें है । इससे स्पष्ट है कि अजमीढका कुल बहुत विस्तृत हो गया था । पौरवोंका दूसरा पुराणप्रसिद्ध राजा दुष्यन्त-पुत्र भरत हुआ । उसका उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं, किन्तु शतपथ ब्राह्मणमें है और लिखा है कि उसने गंगा, यमुना और सरस्वतीके तटोंपर अनेक अश्वमेध यज्ञ किये थे । उसका राज्य पूर्व और दक्षिणमें फैल गया था । शतपथमें उसे सर्वत्र दौष्यन्ति भरत लिखा है; इससे आदि-भरत और इस भरतका पार्थक्य स्पष्ट होता है । भरतके बाद प्रसिद्ध राजा कुरु हुआ, जिसके नामसे देश प्रसिद्ध है, इसका नाम भी ऋग्वेदमें न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि भरत और कुरु वेदकालके पश्चात् हुए थे । ऋग्वेद स्तुतिग्रन्थ है । उसमें इन राजाओं-का उल्लेख होना अनिवार्य नहीं है । ब्राह्मणकालमें इनकी विशेष ख्याति हुई । ब्राह्मणमें जहां तहां कुरु-पाञ्चालोंका संयुक्त उल्लेख हुआ है । क्योंकि महाभारतके समय दोनों कुल एक हो गये थे और उसके पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी रचना हुई थी । ब्राह्मणमें जनमेजय, परीक्षित और उनके किये अश्वमेधका वर्णन कई स्थानोंमें किया गया है । यह बात सही जान पड़ती है कि कृष्णद्वैपायन व्यासने ऋग्वेदकी रचना अर्थात् संघटना की है । ऋग्वेदकी रचनाके पश्चात् भारती युद्ध हुआ और उसके बाद ब्राह्मण-ग्रन्थ बने । कालक्रमसे यह स्पष्ट ही है ।

पाञ्चालोंके सम्बन्धमें कुछ अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक है । पौराणिक वंशावलीके अनुसार पाञ्चाल पूरुवंशकी एक छोटी शाखाके लोग

थे और उनका आदि राजा सृंजय था। इसका उल्लेख ऋग्वेदमें है। ६-२७ में लिखा है कि सृंजय दैववात, अर्थात् देववातका पुत्र, था। यथा—

"स सृंजयाय तुर्वशं परादाद्वृचीवतो दैववाताय शिक्षन्।"

इस ऋचामें भरद्वाज कहते हैं कि "इन्द्रने ऋचीवतों और तुर्वशोंको दैववात सृंजयके अधीन कर दिया।" ४-१५ में सृंजयका इससे महत्वका उल्लेख है। इसमें सृंजयकी अग्निकी स्तुति की है। इससे ज्ञात होता है कि यह राजा परम आर्यधर्मी था। (अयं यः सृंजये पुरो दैववाते समिध्यते।) इस सूक्तकी अन्तिम चार ऋचाओंमें सृंजयवंशोत्पन्न सोमक साहदेव्य राजाकी दानस्तुति की गयी है और विपुल दान देनेके कारण वामदेवने उसे आशीर्वाद दिये हैं। आजकल श्रोत्रिय ब्राह्मण आशीर्वादके समय उन्हीं आशीर्वादात्मक मन्त्रोंका उच्चार करते हैं। यथा—

"एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः।
दीर्घायुरस्तु सोमकः॥
तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्।
दीर्घायुर्षं कृणोतन॥१०॥

पुराणोंकी वंशावलीके अनुसार सहदेव और उसका पुत्र सोमक सृंजयके कुलमें अर्थात् पांचालोंमें उत्पन्न हुआ था। द्रुपदका चौथा पूर्वज यही सोमक था। ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णन है कि इसने राजसूय यज्ञ कर बहुत कीर्ति सम्पादन की थी। ऋग्वेद-कालमें पांचालोंको सृंजय कहते थे। ब्राह्मण-कालमें वे पांचाल कहे जाने लगे। महाभारतमें सृंजय, सोमक और पाँचाल तीनों नाम आये हैं। इस इतिहाससे यह उलझन सुलझ जाती है कि तीनों नामोंका एक ही अर्थ क्यों है। किसी एक राजाके पाँच पुत्रोंसे पांचाल शब्दकी व्युत्पत्ति हरिवंशमें कही गयी है; परन्तु यह निरी कविकल्पना है। कदाचित पाँच जातियाँ एकत्र होकर पांचाल नामसे प्रसिद्ध हुई हों! इतिहासमें ऐसी अनेक जातियोंके मिश्रित हो जानेके प्रमाण पाये जाते हैं। एक जाति दूसरी जातिके राजाको मान लेती

अथवा एक जाति दूसरी जातिपर अधिकार जमा लेती है, तब प्रायः ऐसा हुआ करता है। आधुनिक इतिहासमें कनाडामें अंग्रेज और फ्रेंच, आस्ट्रिया-हंगरीमें जर्मन और हन अथवा ग्रेट ब्रिटेनमें अंग्रेज, स्काच और वेल्स परस्पर मिल गये हैं। इसी तरह हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासमें कुरु और पांचाल एक हो गये थे। ऋग्वेदके लेखानुसार सृंजयोंमें तुर्वश मिल गये थे और शतपथ ब्राह्मणमें क्रिवियोंके पांचालोंमें सम्मिलित होनेकी कथा है। सारांश, पाँच जातियोंके एक होनेसे ही वह समष्टि जाति पांचाल कही जाने लगी।

इस प्रकार वैदिक साहित्यके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि आर्योंकी दूसरी शाखाके पूरु बड़े ही बलाढ्य थे और उनका विस्तार बहुत हो गया था। कुरु-पांचाल उन्हींके वंशज थे और महाभारत तथा ब्राह्मणकालमें वे बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। समस्त भरतखण्डमें उन्हींका साम्राज्य था। पंजाबमें प्रथम आये हुए सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, किन्तु उनका कोई राज्य नहीं था। वहाँ भी कुरु-पांचालोंकी ही सत्ता थी। अलेग्जण्डरके समयमें पंजाबमें उसका सामना पौरव (पोरस*) राजासे ही हुआ था। इससे कोई कोई यह अनुमान करते हैं कि पूरुवंशी क्षत्रिय प्रथम वायव्यकी ओरसे पंजाबमें आये और फिर पूर्वकी ओर फैल गये। हम पहिले कह चुके हैं कि प्रामाण्यकी दृष्टिसे ग्रीक इतिहास चौथी श्रेणीका है। ऋग्वेदसे उसका विरोध हो, तो ऋग्वेदका प्रामाण्य ही माना जाना चाहिये। ऋग्वेदसे तो यही सिद्ध होता है कि पूरु उत्तरकी ओरसे अर्थात् उत्तर कुरुसे सरस्वतीके तटपर आये और वहाँसे पश्चिमकी ओर उन्होंने अपनी सत्ता प्रस्थापित की। इस ऐतिहासिक परम्पराको महाभारतका भी आधार है। महाभारतमें वर्णन है कि जनमेजयने हस्तिनापुरमें राज्यस्थापना करनेके उपरान्त पश्चिममें तक्षशिलापर विजय-लाभ किया था। रामायणमें वर्णन है कि तक्षशिलाकी स्थापना सूर्यवंशी रामचन्द्रके भ्राता भरतके पुत्र तक्षने की थी। पंजाबमें सूर्यवंशी ही पहिलेसे बसे थे। ऋग्वेदके समयमें पूरुओंने पंजाबपर चढ़ाई की, परन्तु तब वे सफल नहीं हुए, भारतीय युद्धके उप-

* Porus

रान्त हुए थे। उसके बाद ग्रीकोंके समयमें, पंजाबमें अलेग्जण्डरका पौरव राजासे मिलना स्वाभाविक ही है।

ब्राह्मणकाल और महाभारतकालमें सूर्यवंशी क्षत्रियोंके राज्य केवल पूर्वमें ही बच रहे थे, जो कोसल-विदेहके नामसे प्रसिद्ध थे। ब्राह्मणमें जिस प्रकार कुरु-पांचालोंका साभिमान बार बार उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार कोसल-विदेहका भी हुआ है। कुरुपांचालोंसे ये लोग भिन्न थे। इनमें तत्वज्ञानका अच्छा प्रचार था। परन्तु डाक्टर ग्रियर्सनने भाषाओंकी तुलना कर सिद्ध किया है कि इनकी भाषा पंजाबी लोगोंकी साधारण भाषासे मिलती-जुलती और पश्चिमी हिन्दीसे भिन्न है। मैक्डानलने यह मत स्वीकार किया है और कुरु शब्दकी टिप्पणीमें लिखा है कि कुरु-पांचालोंने कोसल-विदेहोंको पंजाबके सीमाप्रान्तसे पूर्वकी ओर खदेड़ा था। हमारा मत इससे भिन्न है। प्रथम शाखाके आर्य हिन्दुस्थानमें आकर पंजाबसे मिथिलातक अर्थात् सिन्धु नदीसे सदानीरा नदी तक हिमालयकी तरहटीमें फैल गये और दूसरी शाखाके अर्थात् चन्द्र-वंशी आर्य हिन्दुस्थानमें आकर सरस्वतीके तटसे भीतर घुसे और यमुना-तटसे होते हुए दक्षिणमें फैल गये। पंजाब और अयोध्या-मिथिला अर्थात् पूर्व और पश्चिममें बसनेका उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। अस्तु, कुरु-पांचालों और कोसल-विदेहोंमें भेद था, यह बात मैक्डानलने भी स्वीकार कर ली है। कुरु शब्दकी टिप्पणीमें उसने थोड़ी शंका प्रदर्शित की है और उसे शतपथ ब्राह्मणकी उस कथाका आधार दिया है, जिसमें लिखा है कि सरस्वती-तटसे पूर्वमें सदानीरा-तटतक आर्योंकी अग्नि पहुँचायी गयी थी। मैक्डानलने इस कथासे यह अनुमान किया है कि ये (कुरुपांचाल और कोसल-विदेह) लोग एक ही थे, दो नहीं थे। किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है। हो सकता है कि यह कथा पहिले आये हुए आर्योंके बसनेके समयकी हो। शतपथ ब्राह्मण अ० ४-१-१० में कथा यह है कि विदेहका राजा माठव्य मुँहमें अग्नि रखकर सदानीरा नदीके तटतक गया, वहाँ गोतम रहूगणके एक प्रश्न करनेके कारण उसे मुखसे अग्नि निकाल कर नीचे रखनी पड़ी। फिर वह आगे नहीं बढ़ा। तबसे कोई ब्राह्मण

सदानीरा नदी नहीं लाँघता। पुराणोंसे यह सिद्ध है कि कोसल-विदेह राजा सूर्यवंशी थे और रामायणसे प्रमाणित होता है कि मिथिलाधिपोंके पुरोहित गोतमकुलके ऋषि थे। अतः यह कथा पहिलेके आर्योंसे सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त उसमें कुरु-पांचालोंका उल्लेख नहीं है। यह भी नहीं कहा है कि माठव्य विदेह कुरुवंशी या पूरुवंशी था। कोसल-विदेहों-की भाषा और पौराणिक प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि वे सूर्यवंशी क्षत्रिय थे और पञ्जाबके क्षत्रियोंसे सम्बद्ध थे। ब्राह्मण-कथाका इस सिद्धान्तसे विरोध नहीं है। कोसल-विदेह तत्वज्ञानमें कैसे अग्रसर थे, यह उपनिषद्के याज्ञवल्क्य-जनकके संवादसे ही स्पष्ट हो जाता है। आगे चलकर बुद्ध-महावीर जैसे वेद-विरुद्ध नये मतोंके संस्थापकोंकी जन्म-भूमि और कर्मभूमि कोसल-विदेह ही रही। उलटे कुरु-पाञ्चाल-भूमि वैदिक विद्या और वेद धर्मका पालन करनेवाले कर्मठ तथा आस्तिक्य मताभिमानियोंकी भूमि थी, यह ब्राह्मण-महाभारतादि ग्रन्थोंसे सिद्ध है।

अनु और द्रुह्युके वंशोंका वृत्तान्त लिखना शेष रह गया है। द्रुह्यु-ओंका स्वतंत्र उल्लेख ऋग्वेद मण्डल ८, सूक्त १० में और पूरु तथा द्रुह्यु दोनोंका एक साथ उल्लेख ६–४६ में हुआ है। (यद्वा तृक्षौ मघवन्द्रुह्य-विजने यत्पूरौ यच्च वृष्ण्यम् ॥ ८ ॥) यह उल्लेख दोनोंके अनुकूल है। इससे प्रतीत होता है कि द्रुह्यु राजा भी पूरुओंकी तरह ऋग्वेदके ऋषि-योंको मान्य हो गये थे। ऋग्वेद अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इनका इससे अधिक कहीं उल्लेख नहीं है। महाभारतमें गान्धारोंका उल्लेख है। पुरा-णोंने गान्धारोंको द्रुह्यु-कुलोत्पन्न माना है। इस मतके मान लेनेमें कोई हानि नहीं। गान्धारोंका राज्य सिन्धु नदीके उस पार था। जब कि पञ्जाबमें धीरे धीरे चन्द्रवंशियोंके राज्य स्थापित हो गये थे, तब सिन्धु-के उस पारतक उनका फैलना असम्भव नहीं कहा जा सकता। ग्रीकोंके समयमें जैसे मद्र, केकय आदि सूर्यवंशियोंके राज्य थे, वैसे पौरव आदि कुछ चन्द्रवंशियोंके भी थे। तब कोई आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण-कालके पश्चात् द्रुह्युका वंश गान्धारमें प्रस्थापित हुआ हो। अनुका वंश ऋग्वेद-

कालमें ही प्रबल हो गया था। उसकी अग्निका ८-४६ में स्वतन्त्र उल्लेख है। यथा—

"आगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्।"

इस सूक्तका कर्ता आत्रेय ऋषि है और इसमें आर्क्षश्रुतर्वाकी दान-स्तुति की गयी है। अब देखना चाहिये कि ऋक्षपुत्र श्रुतर्वा किस वंशमें उत्पन्न हुआ था। उत्तर वैदिक साहित्यमें आनवोंका उल्लेख नहीं है। पुराणोंके वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि अनुवंशमें बहुतसे प्रसिद्ध कुल हुए हैं। शिबि औशीनरका नाम प्रसिद्ध है। महाभारतमें लिखा है कि वह १६ प्रसिद्ध अश्वमेध-कर्ताओंमेंसे एक था। यहाँतक चन्द्रवंशी क्षत्रियों अर्थात् यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पूरुके वंशोंका ऋग्वेदके आधारसे विचार किया गया है। अब उसका सिंहावलोकन कर लेना उचित जान पड़ता है।

भाषाविज्ञान और शीर्षमापन शास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार डाक्टर ग्रियर्सन और सर एच० रिस्लेने भारतवासियोंकी जो जाँच की, उससे डाक्टर होर्नलके मतको पुष्ट कर इम्पीरियल गजेटियरने यह निचोड़ निकाला कि हिन्दुस्थानमें प्राचीनकालमें आर्योंकी दो टोलियाँ जुदे जुदे रास्तोंसे जुदे जुदे समयमें आयीं और विभिन्न भूभागोंमें बस गयीं। पहिली टोलीके लोगोंके सिर लम्बे थे। वे पंजाबसे मिथिलातक फैल गये। उनके वंशज वर्तमान समयमें पंजाब, राजपूताना, अवध और बिहारमें विद्यमान हैं। पूर्वी हिन्दी, अवधी और बिहारी भाषा है, जो पंजाबी और राजस्थानी भाषासे मिलती जुलती है। पश्चिमी हिन्दी इससे भिन्न है। आर्योंकी दूसरी टोली चौड़े सिरके लोगोंकी थी। वह वायव्यसे नहीं, किन्तु उत्तरसे यहाँ आयी और प्रथम सरस्वतीके तटपर बस गयी। पश्चिम और पूर्व अर्थात् पंजाब और अवधमें बसनेका उसे अवकाश न मिलनेके कारण वह दक्षिणमें बढ़ी और यहाँके आदिम निवासी द्रविड़ोंसे अधिक मिश्रित हो गयी। वर्तमान समयमें युक्त प्रान्त और मध्य प्रान्तके लोग आर्योंके द्रविड़मिश्रित वंशज हैं। अम्बाला, काठियावाड़ और जबलपुरसे बने त्रिकोणमें वे अधिक पाये जाते हैं। उनकी भाषा पश्चिमी हिन्दी है।

पौराणिक कथाओंसे भी यही जान पड़ता है कि हिन्दुस्थानमें दो आर्य-वंश आये थे—पहिला सूर्यवंश और दूसरा चन्द्रवंश। सूर्यवंश पहिले आया और चन्द्रवंश पीछेसे। अवध-विहारके कोसल-विदेह राजा सूर्यवंशी और कुरु, पांचाल, शौरसेन, चेदि आदि सरस्वती तथा यमुनाके तटोंपर बसे हुए क्षत्रिय चन्द्रवंशी थे। पुराणोंसे भी सिद्ध है कि यहाँ पहिले सूर्यवंशी और पश्चात् चन्द्रवंशी आर्य आये थे। इस प्रकरणमें देखना यह था कि इस सिद्धान्तको ऋग्वेद और उसके बादके वैदिक साहित्यमें कहाँ तक आधार मिलता है। ठीक विचार करने पर वेदोंसे जैसा कुछ यह सिद्धान्त पुष्ट हुआ है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

ऋग्वेदमें भरत नामका वार वार उल्लेख हुआ है। ये कौन थे और आगे इनका क्या हुआ, इसका पता लगानेमें पाश्चात्य विद्वान् वैदिक चक्करमें आ गये हैं। मैक्डानलने 'वेदिक इण्डेक्स' में कुरु शब्दपर जो टिप्पणी लिखी है, उसमें बताया है कि बहुतसे लोगोंके मतसे भरत कुरु-ओंमें सम्मिलित हो गये थे। परन्तु भाषाविज्ञान, शीर्षमापन शास्त्र और पुराण-परम्परासे यही सिद्ध होता है कि यहाँ प्रथम आये हुए सूर्यवंशी क्षत्रिय आर्य ही ऋग्वेदके भरत हैं। भरत और सूर्यवंशी क्षत्रिय एक ही होनेके अनेक प्रबल प्रमाण मिलते हैं। प्रथमतः भरतोंके पुरोहित वसिष्ठ कुलके त्रित्सु थे। पुराणोंमें सूर्यवंशी क्षत्रियोंके पुरोहित वसिष्ठ-कुलोत्पन्न ही कहे गये हैं। द्वितीयतः, ऋग्वेदमें भरतोंका राजा सुदास माना है। रामायणमें रामके पूर्वजोंमें सुदास नाम है और पौराणिक सूर्यवंशावलीमें भी सुदासका नाम है। ऋग्वेदमें सुदासका पिता दिवोदास बताया है, पुराणोंमें यह बात नहीं है। ऋग्वेदमें सुदासके पूर्वजोंका क्रम सुदास पैजवन, दिवोदास और वध्यश्व इस प्रकार बताया है। जिनके नामके पीछे अश्व शब्द हो, ऐसे नाम प्रायः सूर्यवंशमें हैं। उनका 'अस्पीज' इस अर्थयुक्त पर्शियन नामोंसे सम्बन्ध है। ऋग्वेद ६-६१ और १०-१९ में वर्णित वध्यश्व सूर्यवंशी राजा था। तृतीयतः, ऋग्वेदमें विश्वामित्रको भरतोंका ऋषि कहा है और पुराणोंमें भी वह सूर्यवंशसे सम्बन्ध-युक्त है। परन्तु पुराणोंसे रामायणका विरोध है। रामायणमें कहा है

कि विश्वामित्रका पूर्वज कुशिक साक्षात् प्रजापतिका पुत्र था। कुशिकका नाम ऋग्वेदमें भी है। पुराणोंमें विश्वामित्रकी चन्द्रवंशमें दो प्रकारसे उत्पत्ति वर्णन की गयी है। पुराणोंकी यह परम्परा पीछेसे गढ़ी गयी है और रामायणसे विरुद्ध होनेके कारण त्याज्य है। चतुर्थतः, पुरुकुत्स और त्रसदस्यु भरतोंके राजा थे। ब्राह्मणमें उन्हें ऐक्ष्वाक कहा है और पुराणोंमें वे सूर्यवंशमें ही गिने गये हैं। पंचमतः, कुरुश्रवण त्रासदस्यव (त्रसदस्युका पुत्र) था। कुरु शब्दसे उसे कोई कोई कुरुवंशी मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। इन पाँच कारणोंसे ऋग्वेदके भरत और पुराणोंके क्षत्रियोंको हम एक ही समझते हैं। भरत शब्दसे बड़ा भ्रम हो जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् सूर्यवंशी भरतको महाभारतका भरत मान लेते हैं। परन्तु ब्राह्मणमें जहाँ तहाँ महाभारतके भरतको दौष्यन्ति भरत कहा है। पुराणमें भी लिखा है कि यह देश (भारतवर्ष) जिसके नामसे प्रसिद्ध हुआ, वह भरत स्वायम्भुव मनुका प्रपौत्र था। निरुक्तकारने भरतका अर्थ मनु अथवा सूर्य किया है। अतः ऋग्वेदके भरत सूर्यवंशी ही थे। आगे चलकर ये इतने फैल गये कि ऐतरेय ब्राह्मणमें भरत शब्द सामान्य वीरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकारके मतसे ऋग्वेदमें भरत शब्द कुरु शब्दकी तरह सामान्य ऋत्विज् (याजक)-वाचक है और यज्ञ-प्रसङ्गमें, कुरुके बदले भरत शब्दको रखकर भी मन्त्रोच्चार किया जा सकता है (वेदिक इण्डेक्स)। सूक्तकारके इस वचनका अर्थ मैक्डानलकी समझमें नहीं आया। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें कुरुकी तरह भरत भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दोनों भिन्न वंशोंके थे और भरत सूर्यवंशी आर्य थे।

दूसरी टोलीके आर्यों अर्थात् चन्द्रवंशियोंके सम्बन्धमें बहुत मतभेद नहीं है। उनकी यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पूरु इन पाँच प्रमुख शाखाओंका उल्लेख ऋग्वेदमें है। पूरुका आगे चलकर इतना उत्कर्ष हुआ कि भरतकी तरह पूरु शब्द भी साधारण वीर अथवा ऋत्विज्-वाचक बन गया। रामका उल्लेख ऋग्वेदके एक सूक्तमें है। * श्रीकृष्णका उल्लेख

---

* रामका नाम १० वें सूक्तमें है। मैक्डानलके मतसे यह एक अज्ञात पुरुष है। परन्तु वेन आदि राजाओंके साथ रामका उल्लेख होनेसे

छान्दोग्योपनिषद्में है। यह निर्विवाद है कि श्रीकृष्ण ऋग्वेदके पश्चात् हुए थे। भारती युद्धसे कुछ ही वर्ष पूर्व व्यासने वेदोंका संकलन किया था, यह अनुमान यथार्थ है। इसीसे भारती युद्धके प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम ऋग्वेदमें नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थोंमें आये हैं। ब्राह्मणमें कुरु-पांचाल, धृतराष्ट्र, जनमेजय, परीक्षित और श्रीकृष्णके नाम हैं। ये सभी चन्द्रवंशी थे। जब यदु, पूरु आदिका उल्लेख ऋग्वेदमें है, तब इनके पूर्वज पुरूरवा, नहुष और ययातिका भी उल्लेख हो तो आश्चर्य ही क्या है? इनका पूर्वज ययाति था, इसमें मैक्डानलको सन्देह है। (वेदिक इण्डेक्समें ययाति शब्द देखो) यह सही है कि ऋग्वेदमें कहीं स्पष्ट नहीं लिखा है कि यदु, पूरु आदि ययातिके पुत्र थे, परन्तु १-३१ सूक्तसे ऐसा सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह सूक्त हिरण्यस्तूप आंगिरसका है और आंगिरसका सम्बन्ध चन्द्र-वंशियोंसे अधिक था। इस सूक्तकी चौथी ऋचासे पुराणोंकी चन्द्र-सूर्य-वंशकी कल्पना समुचित जान पड़ती है। इसमें कहा गया है कि अग्नि प्रथम आंगिरसके निकट और फिर मनु तथा पुरूरवस्के निकट प्रकट हुई थी, यथा—"त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तर।" इससे स्पष्ट है कि मनु और पुरूरवस् प्रसिद्ध अग्निपूजक और सूर्यचन्द्रवंशीय थे। १७ वीं ऋचा अधिक महत्वकी है। उसमें पहिली ऋचाओंके सिलसिलेमें कहा है—"मनुष्वदग्ने आङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।" "हे अग्ने! आप मनुकी तरह, आङ्गिरसकी तरह, ययातिकी तरह अमुक कार्य करें।" इस कथनमें पहिलेके पुरूरवस्के स्थानपर ययातिका उल्लेख हुआ है। अर्थात् उसीके वंशका होनेसे वह योग्य है। अजमीढका नाम ऋग्वेदमें है और महाभारतमें कौरव-पाण्डवोंको आजमीढ कहा है। सारांश, ऋग्वेदमें चन्द्रवंशके सब प्राचीन प्रसिद्ध राजाओंके नाम आ गये हैं। उन्हींको पुराणोंमें चन्द्रवंशी कहा है।

ऋग्वेदमें दो वंशोंके आर्योंका तो उल्लेख है, किन्तु चन्द्रसूर्यवंशोंका नाम नहीं है। ये पुराणोंके गढ़े नाम हैं और आजतक माने जा रहे हैं।

यह निश्चित है कि वह एक राजा था। पुराणोंमें एक मात्र अयोध्याका ही राम राजा वर्णित है, अन्य नहीं।

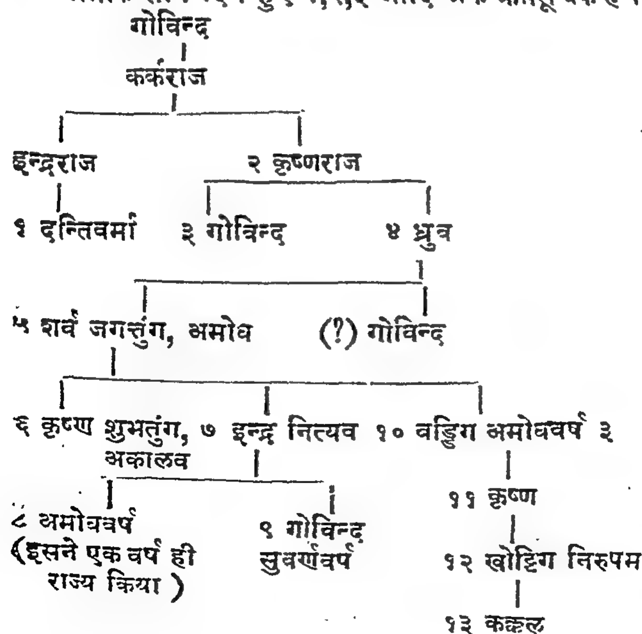
ये कैसे रूढ़ हुए, इसका थोड़ा विचार कर लेना उचित है। प्रसिद्ध वीर पुरुषोंकी उत्पत्ति देवताओंसे, विशेषतया सूर्यचन्द्रादि प्रत्यक्ष देवताओंसे हुई है, यह धारणा प्राचीन लोगोंकी, किम्बहुना अर्वाचीन लोगोंकी भी है। यह प्रसिद्ध है कि ग्रीक लोग आकिलीज आदि वीरोंकी उत्पत्ति सूर्यादि देवताओंसे मानते थे। आधुनिक समयमें अजटेक लोग स्पानिशों-को सूर्यपुत्र समझते थे। तब यदि पुराणोंने आर्योंकी दो शाखाओंको सूर्य-चन्द्रवंशी मान लिया, तो आश्चर्यकी क्या बात है? ऋग्वेदमें मनुको विवस्वान्‌का पुत्र और भरतको मनु अथवा साक्षात् सूर्य कहा है। इस वैदिक कल्पनासे सिद्ध है कि ऋग्वेदीय भरत सूर्यवंशी थे। उनके विरोधके कारण पुरूरवाके वंशज चन्द्रवंशी माने गये। दूसरी कल्पना इस प्रकार हो सकती है कि पुराणकालमें पहिली आर्य टोलीके राज्य अवध-मिथिलामें—पूर्वमें—थे, इस कारण उस टोलीके लोग पूर्व दिशाके अधिपति (सूर्य) के वंशके और दूसरी टोली उत्तरसे अथवा उत्तर कुरुसे आयी थी, इस कारण उस टोलीके लोग उत्तर दिशाके अधिपति सोम अथवा चन्द्रके वंशके माने गये। तीसरी उपपत्तिका विवरण हमने अपने 'महाभारतका उपसंहार' नामक ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक लिखा है। एक टोलीके लोग वर्षमान सौर और दूसरी टोलीके लोग चान्द्र मानते थे (भारती युद्धके आरम्भिक झगड़ेसे यह बात स्पष्ट है)। इस भेदसे भी सूर्यचन्द्रवंशोंकी कल्पना की जा सकती है। यजुर्वेदसे ज्ञात होता है कि वैदिक समय अर्थात् भारती युद्धके समयमें दोनों प्रकारके वर्षमान (३५४ दिनोंका चान्द्र और ३६५ दिनोंका सौर) भारतवर्षमें प्रचलित था। सम्प्रति भारतवर्षमें चान्द्र मान और सौर मान दोनों प्रचलित हैं। परन्तु पाण्डवोंने चान्द्र वर्षमानके अनुसार तेरह वर्षोंका वनवास पूर्ण किया था। पाण्डवोंके सब सहायक और सब चन्द्रवंशी क्षत्रिय इसी वर्षमानको मानते थे। परन्तु महाभारतसे ज्ञात होता है कि उनके शत्रु पंजाब और अवधके राजा प्रायः सौर वर्ष ही मानते थे। इससे भी अनुमान होता है कि चन्द्र-सूर्यवंशोंके नामकरणका यही कारण होगा।

---

(२) थानेके शिलाहारोंका एक नवीन ताम्रपट ।

प्रोफेसर वेलनकर (विलसन कालेज) को थानेके शिलाहारोंका—शक ९१५ अर्थात् ईसवी सन् ९९३ (वि० १०५०) का अपराजित देव राजाके समयका एक ताम्रपट मिला है, जिसे वे शीघ्र ही प्रकाशित करनेवाले हैं। इस लेखमें राष्ट्रकूटोंकी पूरी विश्वसनीय वंशावली है। थानेके शिलाहार राष्ट्रकूटोंके मांण्डलिक थे और राष्ट्रकूटोंके माण्डलिक होनेमें उन्हें अभिमान था। उन्होंने अपने सम्राट्के वंशका गुणवर्णन इस लेखमें किया हो, तो क्या आश्चर्य है? अन्तमें कक्कल राजाको हराकर तैलप चालुक्यने रट्ट राज्य नष्ट किया, इसलिये लेखमें दुःख प्रकट किया है। इस पुस्तकमें जो वंशावली हमने दी है, उससे उक्त लेखकी वंशावली भिन्न नहीं किन्तु पोपक ही है। अतः वह वंशावली हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

नामोंके साथ दिये हुए १,२,३ आदि अंक क्रमसूचक हैं।



इस प्रकार यह वंशावली है। केवल ध्रुवपुत्र गोविन्द इसमें अधिक है। शेष पूरी वंशावली इस पुस्तकमें पहिले दी हुई वंशावलीके समान ही है। ताम्रपटमें ११ वें राजा कृष्णका बहुत वर्णन है। एक श्लोकमें कहा है कि समग्र भारतवर्ष अर्थात् हिमालयसे लंकातक और पश्चिमाद्रिसे पूर्वाद्रितक इसके अधिकारमें था। उससे पहिलेके श्लोकमें यह बताया है कि उस समय भारतवर्षमें कौन कौनसे बड़े राज्य थे। हमने उस समयके राज्योंकी स्थितिका जैसा वर्णन किया है, वह इस श्लोकसे ठीक मिलता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

"चोलो लोलो भिया भूद्गजपति रपतज्जाह्नवीगह्व रान्तः।
वाजीशश्वासशेषः समभवदभवच्छैलरन्ध्रे तथान्ध्रः॥
पांड्येशःखण्डितोऽभूदनुजलधिजलं द्वीपपालाः प्रलीना।
यस्मिन्दत्तप्रयाणे सकलमपि सदा राजकं न व्यराजत्॥"

जो राजा गद्दीपर विराजमान हो, उसका अतिशयोक्तिपूर्ण गुणवर्णन तो प्रायः किया ही जाता है; किन्तु कक्कल-राज्यके नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उसके माण्डलिकने कृष्णराजका जब कि अभिमानयुक्त वर्णन किया है, तब उसमें विशेषता अवश्य ही है। श्लोकमें प्रथम पूर्वकी ओरके चोलोंका वर्णन है। उस समय चोल प्रबल थे। फिर कहा है कि गजराज जाह्नवीके गह्वरमें छिप गये। यह बंगालके पालोंको लक्ष्य कर कहा है। तब बंगालके पाल पूर्वमें प्रबल थे और उनके पास गजसेना विपुल थी, यह तो अरबी लेखकोंने भी लिखा है। फिर वाजीशों अर्थात् कन्नौजके प्रतिहारोंका वर्णन है। उनके पास अश्वदल बहुत था। वे मारवाड़की मरुभूमिके मूलनिवासी होते हुए भी उस समय उत्तरके सम्राट् थे। दक्षिणमें पाण्ड्य प्रबल थे और आन्ध्रोंका राज्य पूर्वी घाटके निकट अर्थात् वर्तमान निजाम राज्यके पूर्व भूभागमें था। सारांश, इस श्लोकमें उस समयके राज्योंकी स्थिति भली भाँति प्रतिबिम्बित हुई है। गजपति और हयपति विशेषण बंगाल और कन्नौजके हैं जो सार्थक हैं। आगे चलकर उनके ये ही विरुद् रूढ़ हो गये।

इस दानपत्रमें रट्ट राज्य मालखेड़के राष्ट्रकूटोंके राज्यके लिए लिखा गया है। वह ठीक भी है। रट्ट राज्य मराठोंका प्राचीन राज्य था और एक

सहस्र वर्ष बादके मराठी राज्यकी तरह भारतवर्ष भरमें फैल गया था। स्कन्द पुराणमें रट्ट राज्यका उल्लेख है । अन्यत्र कहीं यह शब्द नहीं देख पड़ा, केवल इसी लेखमें देख पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि यह शब्द महाराष्ट्रके लिए रूढ़ हो गया था। 'मराठाराज्य' शब्दका प्रयोग अरबोंने किया है और इस दानपत्रमें भी है। अतः स्कन्द पुराणका रट्ट राज्य यही मराठा राज्य है। एक बात और निश्चित हो जाती है कि स्कन्द पुराणका उपलब्ध संस्करण राष्ट्रकूटोंके पश्चात् अथवा उनके पतनके समय अर्थात् ईसाकी दसवीं शताब्दी (वि० ९५८—१०५७) में तैयार हुआ है। दन्तिवर्माके पूर्व अर्थात् ईसवी सन् ७५३ (वि० ८१०) से पहिले रट्ट राज्य नहीं था, न रट्ट शब्द ही रूढ़ हुआ था। इससे सिद्ध है कि स्कन्द पुराण इसके बाद बना है।

अन्तिम बात यह है कि शिलार क्षत्रिय समझे जाते थे। चन्दकी ३६ क्षत्रिय कुलोंकी सूचीमें यह नाम है। शेलार इस समय मराठोंमें हैं, राजपूतोंमें नहीं। सूचीके ३६ कुलोंमेंसे कुछ कुल—राठौर, चालुक्य आदि—मराठोंमें भी हैं; किन्तु शेलार क्षत्रिय केवल मराठोंमें ही हैं। इससे स्पष्ट है कि दसवीं सदी तक मराठा राजा क्षत्रियोंमें गिने जाते थे। देश-भेदसे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें भिन्नता और नीच-ऊँचका भाव दसवीं शताब्दीके पश्चात् उत्पन्न हुआ। पंच-द्राविड़, पंच-गौड़, राजपूत-मराठा, वैश्य-बनियां आदि भेद दसवीं शताब्दीके पश्चात् हुए हैं। उक्त लेख और अन्य लेखोंसे जान पड़ता है कि शेलार अपनेको जीमूतवाहनके वंशज मानते हैं। सूर्य-चन्द्र वंशोंसे यह एक भिन्न वंश है। परन्तु यह लेख चन्दसे तीन सौ वर्ष पहिलेका है। जीमूतवाहन नागवंशी नहीं था। नाग खानेवाले गरुड़से नागोंको छुड़ानेवाला शिवका एक गण था। इस लेखमें जिस ब्राह्मणको भूमि दान की है, उसके गोत्र और शाखाका उल्लेख है। तबतक देशस्थ, कोंकणस्थ (अथवा सरवरिया, कनौजिया) आदि भेद उत्पन्न नहीं हुए थे।

अस्तु, इतना और कह कर कि इस लेखमें पूना, खेड़ और कोंकणके चिपलूण गाँवका भी उल्लेख है, हम यह टिप्पणी समाप्त करते हैं।

---

(३) अर्वाचीन भाषाओंकी उत्पत्ति ।

भारतवर्षकी वर्तमान समयमें प्रचलित भाषाओंका साहित्य कितना पुराना है, इस सम्बन्धमें डाक्टर ग्रियर्सनने अपने लिंगुइस्टिक सर्वे आव इण्डिया * नामक ग्रन्थमें जो विवेचन किया है, उसके कुछ अवतरणोंका अनुवाद यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

कानड़ी—इस भाषाके सबसे प्राचीन ग्रन्थ १० वीं शताब्दीके हैं। जैन ग्रन्थकारोंके प्रयत्नसे कानड़ी साहित्यका प्रारम्भ हुआ। पहिलेके कानड़ी साहित्यिक ग्रन्थ संस्कृत साहित्यके अनुकरणसे रचे गये। कानड़ी साहित्यके, कालक्रमके अनुसार, तीन भाग हैं। (१) पुरानी कानड़ीके ग्रन्थ १० वीं सदीसे १३ वीं सदीतक बने। इस समयके प्रधान ग्रन्थ संस्कृत छन्दःशास्त्र और व्याकरण शास्त्रके आधारपर ही लिखे गये। वे अत्यन्त कृत्रिम भाषापद्धतिके ग्रन्थ हैं और उनमें साम्प्रदायिकता ओतप्रोत है। उनकी भाषा पुरानी कानड़ी है और उसमें संस्कार बहुत किया गया है। संस्कृतके तत्सम शब्द बहुत हैं, उच्चारण भिन्न हैं और नामोंके रूप भी वर्तमान कानड़ीसे भिन्न हैं। इस साहित्यका उत्कृष्ट उदाहरण पंपका आदिपुराण है, जो ईसवी सन् ९४१ (वि० ९९८) में लिखा गया था। (२) मध्यकालीन कानड़ी १३ से १५ वीं सदी (वि० १२५८-१५५७) तककी है। इसमें नामोंके पुराने विभक्ति-प्रत्यय और वाक्यरचनाके प्रकारको बदल कर नये प्रत्ययों और वाक्यरचनाकी योजना की गयी है। (३) वर्तमान कानड़ीके साहित्यका आरम्भ १६ वीं सदी (वि० १५५८-१६५७) से हुआ है। इसमें वैष्णव मतकी कविताओंका अधिकांश भाग मध्यकालीन कानड़ीकी प्रणालीपर लिखा गया है। इसका साहित्य प्रधानतः शैव और लिंगायतोंके मतका है।

(२) तेलगू—परम्परा बता रही है कि तेलगू भाषाका आदि ग्रन्थकार कण्व था। उसका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति जो सबसे

* Linguistic Survey of India.

पुराना ग्रन्थ मिला है, वह लगभग सन् ९०० का है। उस समय वेंगूका राजा विष्णुवर्धन उर्फ राजराज नरेन्द्र तेलगू साहित्यका बड़ा अभिमानी था। तन्न भट्ट उसके दरबारमें था, जिसने तेलगू व्याकरण लिखा है और महाभारतका तेलगूमें भाषान्तर किया है। उसके ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध हैं (देखो, जिल्द ४ पृष्ठ ५८०)। हुएनसंगका कथन है कि आन्ध्रोंकी भाषा भिन्न थी, किन्तु लिपि उत्तर भारतकी लिपिसे विशेष भिन्न नहीं थी। कुमारिलने आन्ध्रद्राविड़ी भाषाका उल्लेख किया है। (यह मत भ्रान्त जान पड़ता है, क्योंकि कुमारिलने केवल द्राविड़ी भाषाका उल्लेख किया है।)

(३) **वङ्गाली**—इसमें सन्देह नहीं कि प्राच्य मागधी भाषासे वर्तमान वङ्गाली भाषाकी उत्पत्ति हुई है। बङ्गालियोंके पूर्वज ८०० वर्ष पूर्व जिन शब्दोंका उच्चारण नहीं कर सकते थे, उनका उच्चारण वर्तमान बंगाली भी कर नहीं सकते ! 'क्ष्म' का उच्चारण पहिलेके बंगाली नहीं कर सकते थे, आजके बंगाली भी नहीं कर पाते ! 'स' का उच्चारण भी वे 'ष' करते हैं। 'ह्य' यह संयुक्त व्यंजन उन्हें चक्करमें डाल देता है। इसके बदले उनके मुखसे 'झ' उच्चारण होता है। साहित्य-क्षेत्रमें उनका आदि ग्रन्थकार चण्डीदास १४ वीं सदी (१३५८-१४५७) में हुआ। उसने कृष्णकी स्तुतिमें गीत रचे हैं। (जि० ५, पृ. १५ देखें)

(४) **पूर्वी हिन्दी**—बहुत प्राचीन कालसे अवध प्रान्त साहित्यिक उलट-फेरोंका केन्द्र है। यहाँके साहित्यका वर्णन करना असम्भव है। इसके लिए अनेक ग्रन्थोंका अभ्यास करना होगा। परन्तु तुलसीदासजीने जब अपने अमूल्य ग्रन्थकी रचना की, तबसे अवधी भाषाको स्थिरता प्राप्त हुई है। (गोस्वामीजीके देहान्तका सन् १६२३—संवत् १६८०—है) इनके बादके सभी ग्रन्थकारोंने इन्हींका अनुकरण किया है। इनसे पहिले (सन् १५४०—वि० १४९७ में) मलिक महम्मद जायसीने पद्मावत महाकाव्य लिखा था। इसमें चित्तौड़के राणा रतनसिंहके पराक्रम तथा अलाउद्दीनके चित्तौड़पर किये आक्रमण और लूटका वर्णन है। (जि० ६ पृ. १२)।

(५) पश्चिमी हिन्दी—(राजपूताना और खानदेशके भील यद्यपि द्राविड़ी वंशके हैं, तथापि उन्होंने अपनी द्राविड़ी भाषा त्याग दी है। वे एक प्रकारकी पश्चिमी हिन्दी ही बोलते हैं, जो 'भीली' कही जाती है।) राजस्थानी और मारवाड़ी भाषाका प्राचीन साहित्य बहुत है, परन्तु अबतक उसकी छानबीन अधिक नहीं हुई है। चन्द वरदाईका 'पृथ्वीराज रासो' सबसे प्राचीन ग्रन्थ समझा जाता है, परन्तु उसके सम्बन्धमें भी अभी सन्देह है। मारवाड़ी भाषाके साहित्यको डिंगल साहित्य कहते हैं। मीरा बाईकी कविता ब्रजभाषामें लिखी गयी है। यह 'पिंगल भाषा' के नामसे प्रसिद्ध है। (जि. ९ पृ. १५)

(६) मराठी—रामतर्क वागीश और क्रमदीश्वर दोनों प्राकृत ग्रन्थकारोंने 'दाक्षिणात्या' नामक महाराष्ट्र अपभ्रंशका उल्लेख किया है। परन्तु साहित्यदर्पणकारने 'दाक्षिणात्या' का अर्थ 'वैदर्भिका' किया है। वर्तमान मराठी इतनी पुरानी है कि उसीको दाक्षिणात्या और वैदर्भिका कदाचित् कहते हों। वर्तमान समयमें उपलब्ध सबसे पुराना मराठी शिला-लेख सन् १११५ का है। इससे बहुत बड़ा और पुराना मराठी लेख (सन् १२०७ का) एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द १ पृष्ठ ३४३ और जि० ९ पृ० १०९ में दिया गया है। (देखो जि० ७ पृ० १५)

---

(४) मनु और याज्ञवल्क्य इन दो स्मृतियोंके अतिरिक्त शेष महत्वपूर्ण स्मृतियोंके मध्ययुगीन समयकी सामाजिक अक्लिष्ट परिस्थितिके निदर्शक अवतरण।

अत्रि—

१ राजन्यैः श्वपचैर्वापि बलाद्विचलितो द्विजः।
पुनः कुर्वीत संस्कारं पश्चात्कृच्छ्रत्रयं चरेत्॥

२ (यतिः) चरन्माधुकरीं वृत्तिमथ म्लेच्छकुलादपि।
एकान्नं नैव भोक्तव्यं बृहस्पति समो यदि॥

३ गोकुले क्रतुशालायां तैलयन्त्रेक्षुयन्त्रयोः।
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च ॥
४ देवयात्रा विवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि र्न विद्यते ॥
५ आरनालं तथा क्षीरं कन्दुकं दधिसक्तु च।
स्नेहपक्वं च तक्रं च शूद्रस्यापि न दुष्यति ॥
६ आर्द्रमांसं घृतं तैलं स्नेहाश्च फलसम्भवाः।
अन्त्यभाण्डस्थिता ह्येते निष्क्रान्ताः शुचिमाप्नुयुः ॥

विष्णु—

१ परिणीयत्तु षण्मासान् वत्सरं वा न संविशेत्।
औदुम्बरायणो नाम ब्रह्मचारी गृहे गृहे ॥
२ शूद्रोपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्धी चैवेतरस्तथा।
श्राद्धी भोज्यस्तयोरुक्तो अभोज्यस्त्वितरो मतः ॥
३ त्रिदण्डलिङ्गमाश्रित्य जीवन्ति बहवो द्विजाः।
न तेषामपवर्गोस्ति लिङ्गमात्रोपजीविनाम् ॥

उशना—

१ विधिना ब्राह्मणः प्राप्य नृपायान्तु समन्त्रकम्।
जातः सुवर्ण इत्युक्तः सानुलोमद्विजः स्मृतः ॥
२ नृपायां विधिना विप्राज्जातो नृप इति स्मृतः ॥

आपस्तम्ब—

ब्राह्मण्यासह योश्नीया दुच्छिष्टं वा कदाचन।
न तत्र दोषं मन्यन्ते नित्यमेव मनीषिणः ॥
२ उच्छिष्टमितरस्त्रीणामश्नीयात् स्पृशतेपि वा।
प्राजापत्येन शुद्धिः स्याद्भगवानङ्गिरोऽब्रवीत् ॥
३ ब्राह्मणस्य सदा भुंक्ते क्षत्रियस्य तु पर्वणि।
वैश्यस्य यज्ञदीक्षायां शूद्रस्य न कदाचन ॥
४ आममांसं मधु घृतं धानाः क्षीरं तथैव च।
गुडस्तक्रं रसा ग्राह्या निवृत्तेनापि शूद्रतः ॥

५ शाकं मांसं मृणालानि तुम्बुरुः सक्तवस्तिलाः ।
रसाः फलानि पिण्याकं प्रतिग्राह्याहि सर्वतः ॥

संवर्त—

तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
विवाहोष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥

कात्यायन—

अजात व्यंजनालोम्नी न तया सह संविशेत् ।
अयुगूः काकवन्ध्याया जाता तां न विवाहयेत् ॥

बृहस्पति—

१ बहुभिर्वसुधा दत्ता इत्यादि
दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डान्निवर्तनम् ।
दशतान्येव विस्तारो गोचर्मैतन्महाफलम् ॥
(निवर्तन = ३०० हाथ और गोचर्म = ३००० हाथ)
२ वीरासनं वीरशय्या वीरस्थानमुपाश्रितः ।
अक्षयास्तस्य लोकाः स्युः सर्वकामगमास्तथा ॥

पराशर—

१ अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः ॥
२ षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत् ।
क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत् ॥
३ राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैव विंशकम् ।
विप्राणां त्रिंशकं भागं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
४ क्षत्रियोपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च तोषयेत् ।
वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥

व्यास—

१ ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोग्यास्तु नेतरे ॥

२ शूद्रो वर्णश्चतुर्थस्तु वर्णत्वाद्धर्ममर्हति ।
वेदमन्त्रस्वधास्वाहा वषट्कारादिभिर्विना ॥
३ वर्धकिर्नापितो गोपः आशायः कुम्भकारकः ।
वणिक्किरातकायस्थमालाकार कुटुम्बिनः भोज्यान्नाः ॥
४ ऊढायां हि सवर्णायामन्यां वा काममुद्वहेत् ।
तस्यामुत्पादितः पुत्रो न सवर्णात्प्रहीयते ॥
५ उद्वहेत्क्षत्रियां विप्रो वैश्यां च क्षत्रियो विशाम् ।
न तु शूद्रां द्विजः कश्चिन्नाधमः पूर्ववर्णजाम् ॥
३ नापितान्वयमित्रार्द्धं सीरिणो दासगोपकाः ।
शूद्राणामप्यमीषां तु भुक्त्वान्नं नैव दुष्यति ॥
४ नाश्नीयाद्ब्राह्मणो मांसमनियुक्तः कथंचन ।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा अनश्नन्पतति द्विजः ॥
५ मृगयोपार्जितं मांसमभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
क्षत्रियो द्वादशोनं तत्क्रीत्वा वैश्योपि धर्मतः ॥

शंख—

१ आपद्यपि न कर्तव्या शूद्रा भार्या कथंचन ।
तस्यां तस्य प्रसूतस्य निष्कृति र्न विधीयते ॥

दक्ष—

१ एको भिक्षुर्यथोक्तस्तु द्वौ चैव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्याता ऊर्द्ध्वं तु नगरायते ॥
२ नगरं नैव कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं तु कुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥
३ नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथार्हणः ।
स दूषयति तत्स्थानं वृद्धादीन्पीडयत्यपि ॥

गोतम—

१ व्यवहारप्रासेन सार्ववर्णिकं भिक्षाचर्यमभिशस्तं पतितवर्जम् ।
२ राज्ञे बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाश-
द्भागं विंशति भागः शुल्कः पण्ये मूले फलमधुमांसपुष्पौषधतृणेन्धनानां
षष्ठं तद्रक्षणधर्मत्वात्तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ॥

३ प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुंजीत प्रतिगृह्णीयात् ॥
४ वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रान् पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयितृपरिचारका भोज्यान्ना वणिक् चाशिल्पी ॥

वसिष्ठ—

१ आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्। क्षत्रियस्य तु नित्यमेव रक्षणाधिकारात्।
२ अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्तं वानप्रस्थस्य षोडश।
द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्य अमितं ब्रह्मचारिणः ॥
३ न मृगयोरिपुचारिणः परिवर्जमन्नम्। विज्ञायते ह्यगस्त्यो वर्षसाहस्रिके सत्रे मृगयां चचार तस्यासंस्तु रसमयाः पुरोडाशा मृगपक्षिणां प्रशस्तानामपि ह्यन्नम्।
४ राजा सह नागरैश्च कार्याणि कुर्यात्।
५ पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
साचेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति ॥

---

(५) महाराष्ट्रके मध्ययुगीन राजवंश मराठा क्षत्रिय थे।

छत्रपति श्री शिवाजी महाराजके पिता शहाजीके समकालीन जयराम पिंड्येकृत 'राधामाधवविलासचम्पू' नामक एक काव्य उपलब्ध हुआ है। उसका संशोधन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहाससंशोधक वि० का० राजवाड़ेने प्रस्तावनामें शहाजीका बहुत ही उत्कृष्ट चरित्र लिखा है। उसके अन्तमें मराठा लोग महाराष्ट्रमें क्यों और कब आये और उनकी संस्कृति हीन होनेके कारण ईसवी सन् पूर्व २५० (वि० पू० १९३) से सन् १५०० (वि० १५५७) तक उन्हें परायी सत्ताके अधीन कैसे रहना पड़ा, इसका उन्होंने विस्तारपूर्वक विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। हम राजवाड़ेजीकी बहुतसी बातोंसे सहमत नहीं हैं। विशेषतया उनके "महाराष्ट्रियोंको उत्तरके उच्च संस्कृतिके लोगोंकी अधीनतामें लगभग १६०० वर्ष पड़े रहना पड़ा" (पृष्ठ १७३) इस मतके हम विरोधी हैं और इस

पुस्तकमें इसका उत्तर देना आवश्यक समझते हैं। हमारे मतसे चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि सच्चे मराठा क्षत्रिय वंश हैं। राजवाड़ेजी उन्हे उत्तरके पराये क्षत्रिय कहते हैं और लिखते हैं कि "चालुक्य आदिको हम पराये कहते हैं, इससे पाठकोंको आश्चर्य होगा।" हमें इससे आश्चर्य ही नहीं सखेद आश्चर्य हुआ है। राजवाड़े जैसे महाराष्ट्राभिमानी, चिकित्सक, बुद्धिमान् संशोधकका यह विचित्र मत जानकर मराठी भाषाभाषि मात्रको सखेद आश्चर्य हुए विना न रहेगा। ध्यानमें रखना चाहिये कि डाक्टर भाण्डारकरने भी चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवंशोंको मराठा क्षत्रिय ही माना है। पुरानी परिपाटीके शास्त्री पण्डितोंके मतसे ये राजवंश मराठा हैं, किन्तु क्षत्रिय नहीं है। इसके विपरीत राजवाड़ेजी कहते हैं कि ये क्षत्रिय हैं, किन्तु मराठा नहीं हैं। पहिले पक्षके मतका हमने इस पुस्तकके पहिले भागमें और इस भागमें भी खण्डन किया है। दूसरे पक्षके मतका इस टिप्पणीमें खण्डन करना उचित होगा। अन्तमें पहिले पक्षके मतके खण्डनका भी उपसंहार कर दिया जायगा। यों देखा जाय तो महाराष्ट्रके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी उत्तरसे आये हुए आर्य हैं। तब चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि उत्तरके क्षत्रिय कहे जायँ, तो आक्षेपका कोई कारण नहीं है। परन्तु सब मराठे उत्तरके क्षत्रिय हैं, इसलिये उन्हें 'पराये' कैसे कहा जा सकता है? मराठा आर्योंने जेताके नाते महाराष्ट्रमें अस्थायी निवास नहीं किया है, किन्तु यहां उन्होंने स्थायी उपनिवेश स्थापन किया है। वे विदेशी नहीं, महाराष्ट्रीय ही कहे जायँगे। दूसरी बात यह है कि विदेशी राजा अपनी सेना और प्रधान अधिकारी स्वदेशसे लाते हैं और उनका अन्तिम हेतु स्वदेश लौट जानेका ही होता है। ऐसा राज्य पूर्णतः पराया ही कहा जायगा। वर्तमान अंग्रेजी राज्य इसी तरहका है। अंग्रेजोंके सैनिक और अधिकारी प्रायः उन्हींके देशके होते हैं, जो यहाँ बस जाना पसन्द नहीं करते; स्वदेश लौट जाना ही चाहते हैं। मुसलमानोंका राज्य भी पराया ही था। उनके सिपाही, सरदार और राजनीतिज्ञ अरबस्थान, सीरिया, ईरान, खुरासान और मोगल देशके हुआ करते थे। मुसलमान बादशाह और उनके बहुतसे

अधिकारी यहाँ बस गये, इस कारण उन्हें हम अंग्रेजोंकी तरह एकदम विदेशी तो नहीं कह सकते, फिर भी उनके फौजी और मुल्की अधिकारियों तथा व्यापारियोंका यहाँकी सम्पत्ति अपने देशमें ले जानेका ही लक्ष्य रहा। अतः उन्हें अधिकांशमें विदेशी मानना ही उचित है।

प्राचीन और अर्वाचीन समयमें महाराष्ट्रका मौर्य राज्य, मगधका आन्ध्रभृत्योंका राज्य अथवा दिल्ली और बंगालका मराठोंका राज्य, देश-वालोंका देशमें ही होनेपर भी, पराया ही था। उदाहरणार्थ, अर्वाचीन मराठा साम्राज्यके मुल्की और फौजी अधिकारी महाराष्ट्रके ही हुआ करते थे और उनकी दृष्टि महाराष्ट्रकी ओर ही रहा करती थी। वर्तमान गायकवाड़, होलकर, सिन्धिया आदिके गुजरात और उत्तर भारतके राज्य पराये नहीं कहे जा सकते; क्योंकि ये लोग उन्हीं देशोंमें रहते हैं, जहाँ उनके राज्य हैं। वे देश महाराष्ट्रसे बाहर हैं। उनके मुल्की और फौजी अधिकारी भी तद्देशीय ही होते हैं। उनकी दृष्टि महाराष्ट्रकी ओर कभी नहीं रहती। फिर भी उनके विवाह-सम्बन्ध महाराष्ट्रमें होते हैं, उनकी भाषा मराठी है और उनके बहुतसे सरदार और फौजी अफसर मराठा हैं। इस कारण उन्हें चौथाई पराये कहनेमें अत्युक्ति न होगी। पराये राज्यकी यही मीमांसा है। अब देखना चाहिये कि चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि राजवंश और उनके उत्तरकी ओरके राज्य पराये थे या नहीं।

उक्त मीमांसाके अनुसार चालुक्य-राष्ट्रकूट-यादवोंके राजवंश और राज्य कदापि पराये नहीं कहे जा सकते। सिन्धिया, होलकर, गायकवाड़की तरह ये चौथाई पराये भी नहीं थे। उनके फौजी और मुल्की अधिकारी महाराष्ट्रके बाहरसे नहीं आते थे। वे महाराष्ट्रमें स्थायी रूपसे रहते थे और उनकी दृष्टि कभी महाराष्ट्रके बाहर नहीं गयी। उनके विवाह-सम्बन्ध महा-राष्ट्रमें ही होते थे। कभी कभी उत्तरके क्षत्रियोंके साथ भी वे विवाह-सम्बन्ध करते थे। परन्तु हम महाराष्ट्रके नहीं, उत्तर भारतके क्षत्रिय हैं, यह भावना उनमें कभी जागरित नहीं हुई। उन्हें पराये कहना निराधार है और उन्होंने जो पुरुषार्थ प्रकट किया, वह मराठा क्षत्रियोंका ही था। यह कहा जा सकता है कि इन राजवंशोंके सब साधन और दृष्टि स्वदेशी

होनेपर भी उनकी प्रवन्ध सम्बन्धी बुद्धि विदेशी वंशकी थी। ये नया उत्साह लेकर उत्तरकी ओरसे आये हुए उच्च संस्कृतिवाले क्षत्रिय थे। इसी दृष्टिसे राजवाड़ेजीने इन्हें क्षत्रिय माना है। परन्तु हम ऐसा मान लेनेको तैयार नहीं हैं। उत्तरके आर्य ईसवी सन् पूर्व लगभग ६०० में महाराष्ट्रमें आकर बसे। वे पाणिनिके पश्चात् और कात्यायनसे पहिले महाराष्ट्रमें आये, इसमें हमारा और राजवाड़ेजीका मतभेद नहीं है। दोनोंके मतोंमें अन्तर इतना ही है कि हमारे मतसे वे बुद्धपूर्व कालमें आये और राजवाड़े कहते हैं कि वे बुद्धके पश्चात आये। परन्तु यहां यह विवाद वृथा है। इस सम्बन्धमें हमने अपना मत १९२३ के जनवरी मासके 'चित्रमयजगत्' में विस्तारपूर्वक प्रकाशित किया है। यहां विचार इस प्रश्नपर करना है कि ईसवी सन्के पूर्व जो प्रथम आर्य उत्तरसे महाराष्ट्रमें आये और यहां आकर मराठा बन गये, उन्हींमेंसे चालुक्यादि राजवंश हैं या वे नये उत्साहके उत्तरीय क्षत्रिय हैं जो अपने अपने राज्योंकी स्थापनाके समय महाराष्ट्रमें आये थे? इसलिये हरएक राजवंशकी छानबीन करना आवश्यक है।

प्रथम पूर्व चालुक्योंके पुलकेशी आदि राजवंशोंका विचार करें। इन्होंने महाराष्ट्रमें ईसवी सन् ५०० (वि० ५५७) के लगभग राज्य स्थापन किया। राजवाड़ेके मतसे ये नये आये हुए अवधके क्षत्रिय थे। परन्तु जिन लेखोंके आधारपर यह कहा जाता है, वे लेख बहुत पीछेके हैं और यह कल्पना नवीन है। पूर्व चालुक्योंके किसी लेखमें यह कल्पना नहीं है। इसका विस्तारपूर्वक विचार हमने इस इतिहासके पहिले भागमें (पुस्तक २, प्रकरण ९ में) किया है। चालुक्योंके अवधसे आनेकी कथा प्राच्य चालुक्योंकी वेंगी शाखाके लेखमें पीछेसे मिला दी गयी है। वह मनगढ़न्त है और पुराणोंके सूर्यचन्द्रवंशकी कल्पनाके अनुसार बनायी गयी है। वहां हमने सिद्ध किया है कि ये चालुक्य नये आये हुए क्षत्रिय नहीं, किन्तु पहिले आये हुए मराठा क्षत्रिय हैं। वह प्रकरण पाठकोंको पढ़ लेना चाहिये। शिला-ताम्रलेखोंकी सभी बातें सच्ची नहीं होतीं; विशेषतया प्राचीन समयकी बातें काल्पनिक और दन्तकथात्मक होती हैं। उनके खरे-खोटेपनकी छानबीन कर लेनी चाहिये। महाराष्ट्रके चालुक्य मानव्य

गोत्री हैं और उत्तरके चालुक्योंसे भिन्न हैं। उनका गोत्र भारद्वाज है। उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा है कि हम अवधसे आये हैं। दो-ढ़ाई सौ वर्षोंके उनके राजत्व-कालमें यह बात कहीं नहीं लिखी गयी है। यह कल्पना प्रथम प्राच्य चालुक्योंके 'रणस्तिपुंडी' लेखमें सन् १०११ (वि० १०६८) में समाविष्ट की गयी है। अर्थात् यह कल्पना पूर्व चालुक्यके राज्यारम्भसे ५०० वर्ष पश्चात् प्रचलित हुई है। पल्लव, राष्ट्रकूट, कदम्ब, सेन्द्रक आदि विशुद्ध मराठा राजवंशोंसे इन चालुक्योंके सम्बन्ध हुए थे। इससे यह प्राचीन मराठाकुल था, इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

दूसरा राजवंश राष्ट्रकूटोंका था। उसका राज्य सन् ७५० (वि० ८०७) के लगभग स्थापित हुआ। यह भी विदेशी क्षत्रिय घराना नहीं कहा जा सकता। राजवाड़ेके मतसे ये राष्ट्रकूट चेदि देशके रतनपुरसे आये हुए विदेशी क्षत्रिय थे। राष्ट्रकूटोंके लेखोंमें 'लट्टलूर परमेश्वर' शब्द रहता है। परन्तु यह नाम उन्हें कैसे प्राप्त हुआ, इसका निर्णय आजतक किसीने नहीं किया; यह हम इसी भागके पृष्ठ १४५ में लिख चुके हैं। राजवाड़े कहते हैं कि लट्टलूर चेदि देशका रतनपुर है। परन्तु हम इस बातको नहीं मानते। संस्कृत लेखोंमें मालखेड़का जिस प्रकार मान्यखेट रूप बनाया गया है, उस प्रकार लट्टलूरका रत्नपुर रूप हो सकता है। परन्तु इस विवादग्रस्त विषय-को हम यहीं छोड़ते हैं। अब यदि राष्ट्रकूटोंको चेदि देशसे आये हुए मान भी लें, तो यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि वे कब आये थे। उनका साम्राज्य सन् ७५० (वि० ८०७) के आसपास प्रस्थापित हुआ। उसी समय उनका आना सम्भव नहीं है। राष्ट्रकूटोंसे पूर्व-चालुक्योंने राज्य छीन लिया, इस सम्बन्धके अनेक लेख हैं। पूर्वचालुक्योंके ही लेखोंसे ज्ञात होता है कि महाराष्ट्रमें सन् ५०० (वि० ५५७) के आसपास राष्ट्रकूटोंका राज्य था (पहिला भाग-पुस्तक १, प्रकरण ९ देखें)। राष्ट्रकूटोंके लेखोंसे भी यही बात झलकती है। चालुक्योंसे पूर्व हमारा राज्य था और वह हमने फिर प्रस्थापित कर लिया, यह भावना उनमें जागरित थी। नित्यवर्षके शक ८३४ (सन् ९१२ = वि० ९६९) के एक लेखमें (जरनल बम्बई ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसाइटी-भाग १८, पृष्ठ २६०) राष्ट्रकूटोंके पहिले दन्तिदुर्गके सम्बन्धमें लिखा है—

"निमग्नां यश्चलुक्याब्धौ रट्टराज्यश्रियं पुनः।
पृथ्वीमिवोद्धरन्धीरो वीर नारायणोऽभवत् ॥"

इससे स्पष्ट है कि पूर्व-चालुक्योंसे पहिले राष्ट्रकूटोंका राज्य था और सन् ४०० के आसपास वे महाराष्ट्रमें ही रहते थे। साम्राज्यस्थापनासे ३५० वर्ष पूर्व वे महाराष्ट्रमें ही थे। अतः उन्हें नये आये हुए उत्तरीय क्षत्रिय नहीं मान सकते। लेखोंसे यह स्पष्ट है कि उनके सम्बन्ध दक्षिणके चालुक्य आदि मराठोंसे हुआ करते थे। कई लेखोंसे यह भी जान पड़ता है कि पूर्व चालुक्य राष्ट्रकूटोंके सम्बन्धी थे।

हमारे मतसे राष्ट्रकूट सन् ४०० से भी पहिलेके महाराष्ट्रके निवासी हैं। जिन राष्ट्रिकोंका अशोकके लेखमें उल्लेख है, वे ये ही राष्ट्रकूट थे। रट्ट अथवा राष्ट्रकूटोंके ही कारण वह देश 'महाराष्ट्र' नामसे प्रसिद्ध हुआ। मराठोंका मूल शब्द राष्ट्र है। राष्ट्रसे ही वे रट्ट अथवा राष्ट्रिक कहलाये। इनके लेखोंमें कहा है कि सात्यकिके वंशमें रट्ट नामक एक राजपुरुष हुआ; उसके पुत्रका नाम राष्ट्रकूट था। उसीके नामसे यह वंश विख्यात हुआ। यह पीछे गढ़ी हुई कल्पना जान पड़ती है। वास्तवमें राष्ट्रिकोंमें जो मुख्य हों, वे ही राष्ट्रकूट कहलाये। पिछले भागमें हमने कहा है कि यह शब्द साधारण रीतिसे प्रचारमें था। यह भी हमने बताया है (भाग १, पुस्तक ३, प्रकरण ११) कि प्राच्य चालुक्योंके लेखोंमें राष्ट्रकूट शब्द 'मराठा पटेल' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। सारांश, राष्ट्रकूट अथवा रट्ट बहुत पुराना शब्द है और इस शब्दसे राष्ट्रिकोंका ही बोध होता है। पहिले उद्धृत किये हुए श्लोकसे यह सिद्ध है कि इनके राज्यको 'रट्ट राज्य' कहते थे। कर्नाटकके विरोधके कारण ये मराठा कहाते थे। पहिले भागमें हमने यह भी कहा है कि कर्नाटकके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वास्तवमें मराठा अथवा महाराष्ट्रीय ही हैं। कर्नाटकी और मराठोंमें भेद नहीं है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि पूर्व चालुक्य राज्य अन्तमें कर्नाटक राज्य माना जाने लगा। इसीसे राष्ट्रकूटोंके लेखमें उल्लेख है कि दन्तिदुर्गने चालुक्य कर्नाटकोंका राज्य थोड़े ही प्रयत्नसे ढाह दिया। (इस भागका पृष्ठ २३० और २७० देखें।) सारांश, चालुक्योंको, विशेषतया उत्तर चालुक्योंको,

कर्नाटकी कहा जा सकता है, राष्ट्रकूटोंको नहीं। वे असल मराठा थे। अस्तु, मजा यह है कि कितने ही लोग चालुक्य-राष्ट्रकूटोंको कर्नाटकी सिद्ध करना चाहते हैं, राजवाड़े उत्तरीय क्षत्रिय कहते हैं और हम उन्हें असल मराठा मानते हैं। सर्वानुमतिसे वे आर्य क्षत्रिय हैं, इसमें सन्देह नहीं। भेद इतना ही है कि उन्हें राजवाड़े उत्तरसे आये हुए कहते हैं और कितने ही इतिहासज्ञ दक्षिणसे आये हुए बताते हैं। हम तो उनकी गणना महाराष्ट्रमें आये हुए प्रथम आर्योंमें करते हैं।

अस्तु, हमारे मतसे राष्ट्रकूट शुद्ध मराठा हैं। यादवोंके विषयमें भी यही बात है। वे श्रीकृष्णके वंशज थे, इसमें किसीका मतभेद नहीं है। उनका राज्य सन् ११०० (वि० ११५७) के लगभग स्थापित हुआ; इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वे नये आये हुए उत्तरीय क्षत्रिय थे? हेमाद्रिकी प्रशस्तिसे तो वे नये आये हुए नहीं जान पड़ते। हेमाद्रिका श्लोक इस प्रकार है—

"सर्वेपि पूर्वं मथुराधिनाथाः
कृष्णादितो द्वारवतीश्वरास्ते।
सुबाहुसूनोरनु दक्षिणाशा—
प्रशासिनो यादववंशवीराः॥"

इससे ज्ञात होता है कि सुबाहुके वंशज दक्षिणमें राज्य करने लगे। उनके कई वंशजोंके राज्य करनेपर सेऊण आदि राजाओंका उल्लेख है। अतः ये नये आये हुए उत्तरीय वीर नहीं माने जा सकते। जाधवोंका दक्षिणके चालुक्य आदि कुलोंसे सम्बन्ध था। अतः वे मराठा थे अथवा मराठा हो गये थे, यह सिद्ध है। ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव ये कुलनाम दक्षिणी हैं, और न भी हों, तो उत्तरके कुल भिन्न हैं। उत्तरके चालुक्य भारद्वाज गोत्रके, राठोर सूर्यवंशी गोतम गोत्रके और जाधव भी भिन्न गोत्रके हैं।

चालुक्य, राष्ट्रकूट और यादव वंशोंको और उनके राज्योंको राजवाड़े पराये समझते हैं, तो शिवाजीके कुल और राज्यको वे पराया क्यों नहीं समझते? राजवाड़े इस बातको मानते हैं कि शिवाजीका जन्म सिसो-दिया कुलमें हुआ था। जयराम पिंड्येने भी चंपूमें शहाजीका कुल सिसो-

दिया ही बताया है। अतः यह कहना कि यह कल्पना मंत्रियोंने शिवाजीके राज्याभिषेकके समय प्रचलित की, नितान्त भूल है। राजवाड़ेने यह बात भली भाँति सिद्ध की है, अतः सन्देहके लिए अवकाश ही नहीं रह जाता। हमने भी अपना यही मत इस भागके प्रथम प्रकरणमें ही प्रकट किया है। उक्त ग्रन्थ हमारे सामने नहीं था। परन्तु जब कि यह धारणा बहुत पुरानी है और शिवाजीसे पूर्वकी मराठोंकी सूचीमें भोंसले वंशका नाम नहीं है, तब यह बात ठीक जँचती है कि भोंसले महाराष्ट्रमें नये आये हुए राजपूत थे। भोसलोंका गोत्र कौशिक और सिसोदियोंका वैजवाप है। एक ही वंशमें दो गोत्रोंका होना आश्चर्यजनक है। परन्तु हमारी समझमें यह गोत्र-भेद किसी अन्य कारणसे हुआ है। दक्षिणमें विज्ञानेश्वरके लेखसे लोगोंकी यह धारणा हो गयी है कि क्षत्रियोंका अपना कोई गोत्र नहीं है। वे पुरोहितके गोत्रका स्वीकार कर सकते हैं। भोसलोंने भी इसी धारणाके अनुसार दक्षिणके अपने प्रथम पुरोहितका कौशिक गोत्र ग्रहण किया है। यह इस कारण भी ठीक जान पड़ता है कि शिवाजीके राज्यारोहणके समयमें उनका नवीन सिसोदिया वंश नहीं माना गया था। माना गया होता, तो उसका वैजवाप गोत्र भी स्वीकार कर लिया जाता। शहाजीके समयमें भी नये वंशकी कल्पना नहीं की गयी थी। उस समय उदयपुरका राज्य भी बहुत समृद्ध नहीं था, जिससे भोंसले सिसोदियोंसे अपना सम्बंध सिद्ध करनेकी आवश्यकता समझते। इसमें सन्देह नहीं कि शिवाजीका भोंसला कुल सिसोदियोंके ही वंशके अन्तर्गत है; परन्तु यह कुल दो तीन सौ वर्षोंकी अवधिमें मराठाकुल बन गया था। उसके विवाह-सम्बन्ध मराठोंके साथ ही हुआ करते थे। भोसलोंने राजपूतानेका कभी अभिमान नहीं किया और महाराष्ट्रमें ही स्वराज्यकी स्थापना करनेकी शिवाजीकी इच्छा थी। सारांश, भोसलोंका महाराष्ट्र राज्य स्व-राज्य था, पर-राज्य नहीं। फिर जब कि राजवाड़ेजी चालुक्योंके राज्यको पर-राज्य मानते हैं, तब भोसलोंके राज्यको पर-राज्य क्यों नहीं मानते?

राजवाड़ेजीकी सबसे बड़ी भूल यह है कि वे मराठोंको संस्कृतिहीन समझते हैं। हमारे मतसे महाराष्ट्रके मराठा आर्य क्षत्रियों और नागवंशि-

योंकी मिश्र सन्तान हैं। नागवंशी आर्य हैं या नहीं, इस प्रश्नका विचार न करें तो भी यह निर्विवाद है कि वे द्रविड़ोंसे कुछ भिन्न हैं और उनकी शूरता तथा पुरुषार्थ-शक्ति द्रविड़ोंसे अधिक है। दक्षिणके तामिल लेखों और महाभारतसे भी यही बात सिद्ध होती है। महाभारतसे ज्ञात होता है कि नागोंका पाण्डवोंके साथ विद्वेष तक्षकसे आरम्भ हुआ और जनमेजयतक वह बराबर बना रहा। सर्पसत्रके समय बहुतसे नाग कुल नष्ट हुए और बहुतसे बच भी गये। राजवाड़े स्वयं कहते हैं कि महाभारतमें जिन नागकुलोंके नाम लिखे हैं, वे मराठोंके कुल-नामोंसे बहुत कुछ मिलते हैं। उनके और सूर्य-चन्द्रवंशी क्षत्रियोंके मिश्रणसे वर्तमान मराठा हुए हैं। उत्तरके क्षत्रियोंमें भी इस प्रकारका मिश्रण हुआ है। अस्तु, बताना यह है कि असल मराठा हीन संस्कृति अथवा हीन बुद्धिके नहीं थे। कौन कह सकता है कि राणोजी सिन्धिया अथवा मल्हारराव होलकर असाधारण राजनीतिकुशल नहीं थे? राजनीतिमें महादजी सिन्धिया सबसे अधिक प्रवीण थे, यह तो सभी मानते हैं। आज भी देखा जाता है कि शूर जातियोंमें मराठा ही सबसे अधिक राजनीतिकुशल हैं।

शिवाजी महाराजका भोंसला कुल दक्षिणमें तब आया, जब उत्तरमें मुसलमानोंका प्रभाव बढ़ रहा था। समय समयपर अन्य उत्तरीय क्षत्रिय भी महाराष्ट्रमें आकर बस गये हैं; क्योंकि तब महाराष्ट्रमें पराक्रम प्रकट करनेका अवसर था। ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध की जा सकती है। उदाहरणार्थ, 'राष्ट्रौढकाव्य' में लिखा है कि बागलानके बागुल उत्तरके गौतमगोत्री राठोर हैं। इसी तरह पाटणकर उत्तरके भारद्वाजगोत्री सोलंखी (चालुक्य) हैं। उन्होंने दक्षिणमें आकर चालकों (सम्भवतः मानव्यगोत्री पूर्व चालुक्यों) को हराकर उनका राज्य छीन लिया था। कऱ्हाड़के ढुवल भी भारद्वाज-गोत्री चालुक्य हैं। म्हसवड़के माने अत्रिगोत्री गौर हैं। निम्बालकर सुप्रसिद्ध वसिष्टगोत्री परमार हैं। सारांश, जब मुसलमानोंका प्रभाव उत्तरमें बढ़ रहा था, उस समय या उससे पहिले बहुतसे उत्तरीय क्षत्रिय महाराष्ट्रमें आकर बस गये। स्मरण रखना चाहिये कि ये

सब मराठोंसे सम्बन्धयुक्त होकर मराठा बन गये । उनकी दृष्टि न तो उत्तर की ओर रही और न उन्होंने उत्तरीय क्षत्रियोंसे कोई नाता ही रखा। ऐसे भी ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि मुसलमानोंके प्रभावसे पहिले—विशेषतया राष्ट्रकूटोंके समयमें—समस्त भारतवर्षमें महाराष्ट्रीय क्षत्रियोंका ही प्रभाव था और वे दक्षिणसे उत्तरकी ओर भी गये थे। १८ वीं शताब्दीमें मराठोंका जैसा उत्कर्ष हुआ—जिससे गायकवाड़ गुजरातके और पवांर, होलकर, सिन्धिया आदि मालवा तथा उत्तर भारतके बहुतसे भूभागके अधिपति बन गये—वैसा उत्कर्ष एक सहस्र वर्ष पूर्व राष्ट्रकूटोंके समयमें भी हुआ था। इतिहाससे सिद्ध है कि गुजरातमें चालुक्यों और राष्ट्रकूटोंके माण्डलिक राज्य थे। इस पुस्तकके तीसरे भागमें राठोरोंकी परम्परासे हम यह सिद्ध करेंगे कि वर्तमान उत्तरीय सुप्रसिद्ध राठोरोंका घराना दक्षिणके राष्ट्रकूटोंका घराना है और वह दक्षिणसे ही उत्तरमें जाकर बसा है । इस शाखाके सब लोग उत्तरीय क्षत्रियोंमें मिल गये । इन बातोंसे स्पष्ट है कि उत्तरीय क्षत्रियोंके दक्षिणमें आनेके प्रमाण मिलनेसे दक्षिणके मराठा क्षत्रियोंका अस्तित्व नष्ट नहीं होता; न उनकी शक्तिमत्ता तथा राजनीतिक तेजस्वितामें ही सन्देह रह जाता है । दक्षिणके मराठा क्षत्रिय-वंशोंमें चालुक्य, राष्ट्रकूट और यादव वंश इतिहासप्रसिद्ध हैं। वर्तमान समयके शिर्के, शेलार, महाडिक, गूजर आदि मराठा प्राचीन क्षत्रिय ही हैं। इस सम्बन्धमें अधिक विचार अन्यत्र किया जायगा ।

अन्तमें, महाराष्ट्रीय मराठोंके क्षत्रियत्वके सम्बन्धमें जो ऐतिहासिक प्रमाण इस पुस्तकमें दिये गये हैं, उनका सारांश यहाँ लिख देना उचित होगा । महाराष्ट्रमें क्षत्रिय हैं, इसका प्रथम प्रमाण नासिकके कारुकार्योंमें शातवाहनके लेखके 'खतिय दपमान दमनस्स' इन शब्दोंसे मिलता है। यह प्रमाण ईसवी सन् १०० के आसपासका है। दूसरा प्रमाण शबरभाष्य (इसका समय सन् ४०० के आसपास है) के 'जनपदपुररक्षण-वृत्ति मनुपजीवत्यपि क्षत्रिये राजशब्दमान्ध्राः प्रयुञ्जन्ते' इस वाक्यसे मिलता है । इसमें शबर स्वामीने, जो मीमांसा-सूत्रोंके भाष्यकार थे, स्वीकार

किया है कि दक्षिणमें क्षत्रिय हैं। तीसरा प्रमाण हुएनसंग (सन् ६४०) का है। उसने महाराष्ट्रके राजा चालुक्य पुलकेशीको स्पष्ट रूपसे क्षत्रिय कहा है। कांचीके पल्लवोंको भी वह क्षत्रिय कहता है, जिन्हें हम पहिले भागमें महाराष्ट्रीय मराठा सिद्ध कर चुके हैं। सबसे बढ़कर प्रमाण कुमारिल भट्ट (सन् ७०० = वि० ७५७ के आसपास) का है। कुमारिल शबर भाष्यके सुप्रसिद्ध वृत्तिकार (टीकाकार) थे। भाष्यकारके उक्त वचनकी टीका करते हुए कुमारिल कहते हैं—"आन्ध्राणामिति दाक्षिणात्य सामान्येन भाष्यकारेणोक्तम्।" भाष्यकारका अभिप्राय यह है कि आन्ध्र अर्थात् साधारण दक्षिणी (महाराष्ट्रीय) क्षत्रियगण नगर अथवा जनपद्का रक्षण भले ही न करते हों, किन्तु राजा कहाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाराष्ट्रमें चाहे क्षत्रियोंका राज्य भले ही न हो, किन्तु साधारण जनतामें क्षत्रिय थे और वे राजा कहाते थे। अर्थात् महाराष्ट्रके पटेलों (पटवारियों) तथा अन्य कृषिजीवियोंमें बहुतसे क्षत्रिय थे जो अपने आपको राजा कहते थे। इसके बादका प्रमाण हेमाद्रिके 'यादव कुलप्रशस्ति' (सन् १२०० के आसपास) का है। इसमें रामदेव-रावके कुलको कृष्णकुलोत्पन्न कहा है। किंबहुना, ज्ञानेश्वर महाराजने राम-देवरावकी 'यदुकुलवंशतिलक' कहकर प्रशंसा की है। अतः उसका क्षत्रियत्व ज्ञानेश्वर मानते थे और सन् १२०० तक मराठोंका क्षत्रियत्व अच्छे अच्छे धर्मशास्त्रज्ञ पण्डित भी स्वीकार करते थे। चालुक्य पुलकेशीने अश्वमेध यज्ञ कर अपना क्षत्रियत्व सिद्ध किया है। राष्ट्रकूट यादवोंने अपने लेखोंमें अपनेको 'यदुकुलोत्पन्न' कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि वे अपनेको क्षत्रिय मानते थे। पल्लवों और शिलाहारोंके लेखोंमें भी 'क्षत्रिय चूड़ामणि' आदि विशेषण पाये जाते हैं। सारांश, धर्मशास्त्रकार ब्राह्मणों और राजवंशोंके लेखोंसे महाराष्ट्रीय मराठोंका क्षत्रियत्व सिद्ध है। 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' यह वाक्य पीछे बना है और इसे उत्तरीय क्षत्रियोंने कभी नहीं माना। अब प्रश्न यह बच रहता है कि उत्तरीय क्षत्रिय मराठोंको अपनेसे निम्न श्रेणीके क्यों समझते हैं और उनसे बेटी-व्यवहार क्यों नहीं करते? तीसरे भागमें इसका विस्तारपूर्वक उत्तर दिया जायगा।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि १२ वीं सदीके पश्चात् जातिवन्धन इस देशमें बड़े कड़े हो गये जिससे उत्तरीय क्षत्रियोंने क्या, ब्राह्मणोंने भी दक्षिणके ब्राह्मणोंसे विवाह-सम्वन्ध करना बन्द कर दिया। जब कि कनौजिया आदि पंचगौड़ दक्षिणी ब्राह्मणोंको अपनेसे निम्न श्रेणीके समझते हैं, उनसे रोटी-व्यवहार भी नहीं करते; किन्तु इससे दक्षिणी ब्राह्मणोंका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होता; तब मराठोंसे उत्तरीय क्षत्रिय वेटीव्यवहार न भी करें, तो उनका (मराठोंका) क्षत्रियत्व कैसे नष्ट हो सकता है ?

मराठा क्षत्रिय हैं, इसीसे उनके अपने गोत्र भी हैं। प्राचीन शिलालेखोंमें उनके गोत्रोंका उल्लेख है। पल्लवों (पालवे) का भारद्वाज गोत्र, चालुक्यों और कदम्बों (कदम) का मानव्य गोत्र तो चौथी-पाँचवीं सदीके लेखोंमें भी देख पड़ता है। आगे चलकर राष्ट्रकूट, यादव और शिलाहारोंके लेखोंमें गोत्रोंका उल्लेख नहीं है। आठवीं, नवीं शताब्दीके सभी शिलालेखोंकी यही वात है। उस समयके उत्तरीय प्रतिहार, चालुक्य, सिसोदिये आदिके लेखोंमें भी गोत्रोंका उल्लेख नहीं है। इसीसे अर्वाचीन कुलोंके प्राचीन गोत्रोंका पता नहीं चलता। अनुसन्धान और लेखोंसे जिनके गोत्रोंका पता चला है, उनका उल्लेख कर दिया जाता है। भोंसले (दानपत्रोंसे) कौशिक गोत्री, पाटणकर और डुवल (सोलुंकी) भारद्वाज गोत्री, निंवालकर और पंवार वशिष्ठ गोत्री, गायकवाड़ भार्गवगोत्री और माने (गौर) अत्रि गोत्री हैं। शिवपूर्वकालीन मराठोंकी यह उपलब्ध वंशावली महत्वपूर्ण है।

---

(६) बाप्पारावलके विषयमें रा० व० पं० गौरीशंकर ओझाका लेख।

मध्ययुगीन भारतका दूसरा भाग प्रकाशित हो चुकनेपर सुदैववश हमें (काशी) नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १ सं० ३ में बाप्पारावल विषयक भिन्न भिन्न प्रश्नोंके सम्बन्धमें रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाके मत देखनेका अवसर मिला। रायबहादुरजीको हालमें बाप्पारावलके सोनेके सिक्के मिले हैं, उन्हींके विशदीकरणके लिए यह लेख

लिखा गया है। इसमें वाप्पारावलसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विवादग्रस्त प्रश्नोंकी सम्पूर्ण आधारों सहित विस्तारसे समीक्षा की गयी है। ओझाजीके राजपूताने तथा समस्त भारतके प्राचीन लेखोंके गम्भीर अध्ययनकी बात इतनी प्रसिद्ध है कि उनके मतोंका सदा ही अतिशय आदर होना चाहिये। अतः वाप्पारावल सम्बन्धी उनके मतोंका दिग्दर्शन इस पुस्तकके परिशिष्टमें हो जाना आवश्यक है। कुछ थोड़ी सी बातोंके सम्बन्धमें ओझाजीके मत इस पुस्तकमें प्रतिपादित मतके विरुद्ध हैं, फिर भी हम उन सब मतोंको, उनके आधारों सहित, यहाँ दे रहे हैं और उनके मतों तथा युक्तियोंको पढ़कर भी एक दो विषयोंमें अपना मत क्यों बदल न सके, इसकी विवेचना भी कर रहे हैं।

१—क्या वाप्पारावल ब्राह्मण था ?

वाप्पारावल ब्राह्मण था अथवा क्षत्रिय, यही प्रश्न सबसे पहला है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बड़े ही सन्तोषकी बात है कि ओझाजीकी रायमें वाप्पारावल ब्राह्मण नहीं किन्तु सूर्यवंशी क्षत्रिय था। उन्हें जो वाप्पाके सोनेके सिक्के मिले हैं और जिनका सूक्ष्म विवरण उन्होंने उक्त ग्रंथमें दिया है, उनमें आगेकी ओर सूर्यविम्ब अंकित है। वाप्पाका क्षत्रियत्व सिद्ध करनेके लिए ओझाजीका यह पहला आधार है। पर उन्होंने एक ही हेतु देकर सन्तोष नहीं कर लिया है। वे लिखते हैं—"आटपुराके विक्रम संवत् १०३४ के शिलालेखके प्रथम श्लोकमें महीदेव शब्द आया है और यह ठीक है कि इस शब्दका अर्थ राजा भी हो सकता है और ब्राह्मण भी। यह भी सही है कि इसके बाद आबू और चित्तौड़ दोनों स्थानोंके शिलालेखोंमें प्रारम्भमें ही वाप्पाका ब्राह्मण (विप्र) होना स्पष्ट लिखा हुआ है। तथापि हमारा मत है कि आटपुराके लेखसे भी पहलेका सं० १०२८ वै० का नरवाहनका जो शिलालेख है उसमें एकलिंगके महन्तके सम्बन्धमें प्रयुक्त 'रघुवंशकीर्ति पिशुनाः' विशेषणसे इस प्रश्नका निर्णय हो जाता है। इस लेखको डाक्टर भांडारकरने भी पुनः बी० बी० आर० ए० एस० जिल्द २२ पृष्ठ १६७ पर प्रकाशित किया है। आगे चलकर

ओझाजी लिखते हैं—"डाक्टर भांडारकारने इस लेखके आरम्भमें ही नरवाहनके शिलालेखका जो खुलासा दिया है उसमें भूलसे इस विशेषणको छोड़ दिया है। डाक्टर महाशयने १५२ पृष्ठपर उक्त खुलासा देते हुए लिखा है कि इन महन्तोंकी कीर्ति हिमालयसे रामेश्वरतक फैल गयी।" यह गलत है। ठीक अर्थ यह है कि "इन महन्तोंने हिमालयसे रामेश्वर अर्थात् कन्याकुमारीतक रघुवंशकी कीर्ति फैलायी।" इस लेखको ध्यानपूर्वक देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि डाक्टर भांडारकरने जान बूझकर अथवा बिना जाने यह भूल यहाँ की है और अपने भाषान्तरमें रघुवंश शब्दको बिलकुल रखा ही नहीं। हम लिख आये हैं कि इस प्राचीनतम लेखमें पहले पहल बाप्पाका उल्लेख हुआ है और वह गुहिलगोत्र नरेन्द्रोंमें चन्द्रवत् कहा गया है। इस लेखसे स्पष्ट प्रकट होता है कि एकलिंगके महन्त गुहिलगोत्रके गुरु थे और वे गुहिलवंशीय राजाओंकी कीर्ति फैलानेमें कारणीभूत हुए। नरवाहनके लेखके शब्द इस प्रकार हैं—"योगिनः। शापानुग्रह भूमयो हिमशिलाबन्धोज्वलादागिरेरासेतो रघुवंशकीर्तिपिशुनास्तीव्रं तप (स्तेपिरे)।" पिशुन शब्दका अर्थ प्रसारक अथवा सूचक होता है। (देखिये आपटेका कोष) फलतः इस पदका अर्थ कीर्तिमान नहीं हो सकता, कीर्तिसूचक ही होगा; और रघुवंश शब्दको तो डाक्टर भांडारकरने बिलकुल छोड़ ही दिया है। अस्तु। इस पदसे निश्चित होता है कि नरवाहनका लेख लिखे जानेके समय, सं० १०२८ वै० में बाप्पा सुप्रसिद्ध गुहिलवंश-संस्थापक राजा मान लिया गया था। यही नहीं, यह भी माना जाता था कि गुहिलवंश वाले सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। बाप्पाके शुद्ध सूर्यवंशी क्षत्रिय होनेका यह प्रबल प्रमाण जगत्के सामने प्रस्तुत करनेका श्रेय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाको है और इसके आधार नरवाहनवाला शिलालेख तथा खुद बाप्पाके सोनेके सिक्के हैं। (पृ० २६०)

इससे स्वभावतः ही यह बात सिद्ध होती है कि नरवाहनके लेखके छः ही वर्ष बाद लिखे गये आटपुरा वाले लेखके प्रथम श्लोकमें जो महीदेव शब्द रखा गया है वह राजाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है, ब्राह्मणके अर्थमें नहीं। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि तब चित्तौड़ और आबूके

शिलालेखोंमें बाप्पा स्पष्ट रूपसे विप्र अर्थात् ब्राह्मण कैसे कहा गया है? ओझाजी कहते हैं और ठीक कहते हैं कि इन लेखोंमें भूलसे ऐसा लिखा गया है। पर यह भूल क्यों हुई इसकी चर्चा उन्होंने विस्तारसे नहीं की है। अवश्य ही यह बात कही जा सकती है कि महीदेव शब्दके कारण लेखकों-को भ्रम हुआ। पर जैसा कि इस पुस्तकके ८३ वें पृष्ठपर हम लिख आये हैं, तीन सौ वर्ष बाद भाटोंके सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि क्षत्रि-योंके ब्राह्मण गोत्र क्यों हैं और उनकी यही कठिनाई उक्त भ्रमका कारण हुई होगी। इस समस्याको हल करनेके लिए उन्होंने अनेक राजपूत कुलोंकी नवीन व्युत्पत्ति कल्पित कर ली और उनके गोत्र-ऋषियों—ब्राह्मणों—से ही उन कुलोंकी उत्पत्ति होने की कथाएँ गढ़ डालीं। उदाहरणार्थ, हम दिखा चुके हैं कि यद्यपि चाहमान कुल प्रारंभसे ही सूर्यवंशीय क्षत्रिय प्रसिद्ध था, पर इस समय इस कथाकी सृष्टि हुई कि एक वत्सगोत्री ब्राह्मणसे सामन्त नामक व्यक्तिकी उत्पत्ति हुई जो चाहमान कुलका प्रवर्तक हुआ। यही नहीं, शिलालेखोंमें यह कथा भी मिलती है कि सबसे पहला चाहमान क्षत्रिय वत्स ऋषिके नेत्रोंसे निर्गत आनन्दाश्रुसे उत्पन्न हुआ। इसी तरह परमारोंके वसिष्ठ गोत्री होनेसे उनके मूल-पुरुषके वसिष्ठ ऋषिके होम-कुण्डसे, चालुक्य क्षत्रियोंके मूल-पुरुषके द्रोण भारद्वाजके हाथके चुल्लूसे उत्पन्न होनेकी कथा भी इस कालमें प्रचलित हुई। गोत्र और प्रवर-प्रकरणमें (पृष्ठ ६३-७४) हमने, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके गोत्र एक ही क्यों हैं, इसका समाधान किया है। परन्तु मध्ययुगके भाटोंको वैदिक सूत्रोंका परिचय प्रायः न था, इसीसे उन्होंने क्षत्रिय कुलोंकी उत्पत्ति ब्राह्मणोंसे ही होनेकी कथा गढ़ ली। १०वीं शताब्दीमें रचित भोज-प्रशस्तिमें प्रतिहार क्षत्रियोंके सूर्य-वंशी लक्ष्मणसे उत्पन्न होनेकी बात लिखी है, फिर भी १३वीं शताब्दीके एक शिलालेखमें ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय मातासे उनकी उत्पत्ति बतायी गयी है। सार यह कि नरवाहनके लेखके बाद आबू चित्तौड़ वाले लेखोंके कालतक २०० वर्षोंमें, महीदेव शब्दके कारण बाप्पाके ब्राह्मण होनेकी कल्पना की गयी और वही आबू तथा चित्तौड़ वाले लेखोंमें प्रकट की गयी है। पर जिस तरह पृथ्वीराज रासोके एक दोहेके भ्रान्त अर्थसे उत्पन्न हुई अग्नि-

ओझाजी लिखते हैं—"डाक्टर भांडारकरने इस लेखके आरम्भमें ही नरवाहनके शिलालेखका जो खुलासा दिया है उसमें भूलसे इस विशेषणको छोड़ दिया है। डाक्टर महाशयने १५२ पृष्ठपर उक्त खुलासा देते हुए लिखा है कि इन महन्तोंकी कीर्ति हिमालयसे रामेश्वरतक फैल गयी।" यह गलत है। ठीक अर्थ यह है कि "इन महन्तोंने हिमालयसे रामेश्वर अर्थात् कन्याकुमारीतक रघुवंशकी कीर्ति फैलायी।" इस लेखको ध्यानपूर्वक देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि डाक्टर भांडारकरने जान बूझकर अथवा बिना जाने यह भूल यहाँ की है और अपने भाषान्तरमें रघुवंश शब्दको बिलकुल रखा ही नहीं। हम लिख आये हैं कि इस प्राचीनतम लेखमें पहले पहल बाप्पाका उल्लेख हुआ है और वह गुहिलगोत्र नरेन्द्रोंमें चन्द्रवत् कहा गया है। इस लेखसे स्पष्ट प्रकट होता है कि एकलिंगके महन्त गुहिलगोत्रके गुरु थे और वे गुहिलवंशीय राजाओंकी कीर्ति फैलानेमें कारणीभूत हुए। नरवाहनके लेखके शब्द इस प्रकार हैं—"योगिनः। शापानुग्रह भूमयो हिमशिलाबन्धोज्वलादागिरेरासेतो रघुवंशकीर्तिपिशुनास्तीव्रं तप (स्तेपिरे)।" पिशुन शब्दका अर्थ प्रसारक अथवा सूचक होता है। (देखिये आपटेका कोष) फलतः इस पदका अर्थ कीर्तिमान नहीं हो सकता, कीर्तिसूचक ही होगा; और रघुवंश शब्दको तो डाक्टर भांडारकरने बिलकुल छोड़ ही दिया है। अस्तु। इस पदसे निश्चित होता है कि नरवाहनका लेख लिखे जानेके समय, सं० १०२८ वै० में बाप्पा सुप्रसिद्ध गुहिलवंश-संस्थापक राजा मान लिया गया था। यही नहीं, यह भी माना जाता था कि गुहिलवंश वाले सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। बाप्पाके शुद्ध सूर्यवंशी क्षत्रिय होनेका यह प्रबल प्रमाण जगत्के सामने प्रस्तुत करनेका श्रेय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाको है और इसके आधार नरवाहनवाला शिलालेख तथा खुद बाप्पाके सोनेके सिक्के हैं। (पृ० २६०)

इससे स्वभावतः ही यह बात सिद्ध होती है कि नरवाहनके लेखके छः ही वर्ष बाद लिखे गये आटपुरा वाले लेखके प्रथम श्लोकमें जो महीदेव शब्द रखा गया है वह राजाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है, ब्राह्मणके अर्थमें नहीं। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि तब चित्तौड़ और आबूके

शिलालेखोंमें वाप्पा स्पष्ट रूपसे विप्र अर्थात् ब्राह्मण कैसे कहा गया है? ओझाजी कहते हैं और ठीक कहते हैं कि इन लेखोंमें भूलसे ऐसा लिखा गया है। पर यह भूल क्यों हुई इसकी चर्चा उन्होंने विस्तारसे नहीं की है। अवश्य ही यह बात कही जा सकती है कि महीदेव शब्दके कारण लेखकोंको भ्रम हुआ। पर जैसा कि इस पुस्तकके ८३ वें पृष्ठपर हम लिख आये हैं, तीन सौ वर्ष बाद भाटोंके सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि क्षत्रियोंके ब्राह्मण गोत्र क्यों हैं और उनकी यही कठिनाई उक्त भ्रमका कारण हुई होगी। इस समस्याको हल करनेके लिए इन्होंने अनेक राजपूत कुलोंकी नवीन व्युत्पत्ति कल्पित कर ली और उनके गोत्र-ऋषियों—ब्राह्मणों—से ही उन कुलोंकी उत्पत्ति होने की कथाएँ गढ़ डालीं। उदाहरणार्थ, हम दिखा चुके हैं कि यद्यपि चाहमान कुल प्रारंभसे ही सूर्यवंशीय क्षत्रिय प्रसिद्ध था, पर इस समय इस कथाकी सृष्टि हुई कि एक वत्सगोत्री ब्राह्मणसे सामन्त नामक व्यक्तिकी उत्पत्ति हुई जो चाहमान कुलका प्रवर्तक हुआ। यही नहीं, शिलालेखोंमें यह कथा भी मिलती है कि सबसे पहला चाहमान क्षत्रिय वत्स ऋषिके नेत्रोंसे निर्गत आनन्दाश्रुसे उत्पन्न हुआ। इसी तरह परमारोंके वसिष्ठ गोत्री होनेसे उनके मूल-पुरुषके वसिष्ठ ऋषिके होम-कुण्डसे, चालुक्य क्षत्रियोंके मूल-पुरुषके द्रोण भारद्वाजके हाथके चुल्लूसे उत्पन्न होनेकी कथा भी इस कालमें प्रचलित हुई। गोत्र और प्रवर-प्रकरणमें (पृष्ठ ६३-७४) हमने, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके गोत्र एक ही क्यों हैं, इसका समाधान किया है। परन्तु मध्ययुगके भाटोंको वैदिक सूत्रोंका परिचय प्रायः न था, इसीसे उन्होंने क्षत्रिय कुलोंकी उत्पत्ति ब्राह्मणोंसे ही होनेकी कथा गढ़ ली। १०वीं शताब्दीमें रचित भोज-प्रशस्तिमें प्रतिहार क्षत्रियोंके सूर्यवंशी लक्ष्मणसे उत्पन्न होनेकी बात लिखी है, फिर भी १२वीं शताब्दीके एक शिलालेखमें ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय मातासे उनकी उत्पत्ति बतायी गयी है। सार यह कि नरवाहनके लेखके बाद आबू चित्तौड़ वाले लेखोंके कालतक २०० वर्षोंमें, महीदेव शब्दके कारण वाप्पाके ब्राह्मण होनेकी कल्पना की गयी और वही आबू तथा चित्तौड़ वाले लेखोंमें प्रकट की गयी है। पर जिस तरह पृथ्वीराज रासोके एक दोहेके भ्रान्त अर्थसे उत्पन्न हुई अग्नि-

कुलकी कल्पना, उसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन लेखोंके आधारपर, अब निर्मूल सिद्ध होगयी है उसी प्रकार आबू-चित्तौड़ वाले लेखोंमें जो बाप्पाके ब्राह्मण होनेकी बात लिखी है वह भी नरवाहनके प्राचीनतर लेख तथा खुद बाप्पाकी स्वर्ण मुद्राओंसे खण्डित हो जाती है। चित्तौड़वाले लेखके बादके सब लेखोंमें, एकलिंग पुराणमें भी, उक्त लेखकी ही नकल की गयी है, अतः इस विषयमें वे सभी गलत ठहरते हैं। वंशभास्करमें दी हुई चाहमान कुलकी उत्पत्ति जिस तरह चाहमानोंके ही हर्षशिलालेख आदि प्राचीनतर लेखोंके प्रमाणसे भ्रान्त सिद्ध होती और फलतः त्याग देनी पड़ती है, उसी तरह यह आधुनिक कल्पना भी कि बाप्पाका जन्म तो क्षत्रिय कुलमें ही हुआ था, पर वह एक ब्राह्मणको पालन-पोषणके लिए दे दिया गया था, अग्राह्य ठहरती है और नरवाहनके अत्यन्त प्राचीन लेखमें जो बाप्पाके सूर्यवंशी क्षत्रिय होनेकी बात लिखी है वह मान्य होने योग्य है।

यहाँ चाटसुके लेखपर कुछ विस्तारसे विचार कर लेना उचित होगा; क्योंकि डाक्टर भाण्डारकरने इस लेखके दो शब्दोंको भी, उनका गलत अर्थ लगाकर, गुहिल वंशके ब्राह्मण होनेका आधार बनाया है। ओझाजीने पृष्ठ २८३ पर भिन्न प्रसंगमें इस शिलालेखकी चर्चा की है, पर डाक्टर भाण्डारकरने इनका भ्रान्त अर्थ किया है यह बात कदाचित् उनके ध्यानमें नहीं आयी, अन्यथा 'रघुवंशकीर्ति पिशुनाः' की तरह इसका अर्थ करनेमें भी डाक्टर भांडारकरकी भूल उन्होंने अवश्य दिखायी होती। यह चाटसुमें (यह स्थान जयपुर राज्यमें एक तहसीलका कसबा है, जयपुर नगरके दक्षिण ओर पड़ता है) प्राप्त लेख एक गुहिल वंशीयका अवश्य है, पर इस गुहिल कुल और उदयपुरके गुहिल कुल दोनोंका एक ही वंशका होना निश्चित नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि चाटसुके लेखका गुहिल कुल-विषयक वर्णन अथवा शब्द उदयपुरके गुहिल कुल-पर नहीं लगते। तथापि इन दोनों कुलोंका समान-वंशीय होना भी संभव है, इसीसे हम इस शिलालेखपर यहाँ विस्तारसे विचार करते हैं। इस शिलालेखके कालका निश्चय नहीं होता; क्योंकि इसके अन्तमें संवत्

शब्द तो है पर उसके आगे कोई अंक अथवा शब्द नहीं है। इस लेखमें गुहिल वंशीय किसी भर्तृपट्टसे प्रारंभ करके १२ राजाओंकी क्रमगत नामावली दी हुई है। पहले श्लोकमें कहा गया है कि प्रथम भर्तृपट्ट रामके समान था। इसपर डाक्टर भांडारकर (ए० ई० भाग १२ पृष्ठ ११) लिखते हैं—"इस श्लोकका राम शब्द परशुरामका वाचक है। इस श्लोकका भाव यह है कि जिस तरह परशुराम जातिसे ब्राह्मण होते हुए कर्म क्षत्रियके करते थे उसी प्रकार भर्तृपट्ट जन्मना ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोंके पराक्रमयुक्त कार्य करता था। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि भर्तृपट्ट ब्रह्मक्षत्र—आज कलके अर्थमें—था।" इस अवतरणसे पता चलता है कि गुहिलोत क्षत्रियोंके ब्राह्मणसे उत्पन्न होनेकी बात डाक्टर भांडारकरके दिमागमें किस तरह जमकर बैठ गयी थी। क्योंकि पहले तो इस कल्पनामें केवल एक बाप्पा ही ब्राह्मण माना गया है; उसके बादका प्रत्येक गुहिलवंशी ब्राह्मण था, यह बात कहीं भी नहीं कही गयी है, फलतः भर्तृपट्टका ब्राह्मण होना भी कहीं नहीं माना गया है। यही नहीं, आगे चलकर हम विस्तारसे दिखावेंगे कि उसका ब्राह्मण होना संभव ही नहीं है। दूसरे, यह भी मान लें कि इस श्लोकके रामका अभिप्राय परशुरामसे है तो भी इससे यह नहीं निकलता कि वह ब्राह्मण था। 'साधर्म्य उपमा भेदे'-मम्मटके किये हुए उपमाके इस लक्षणको ध्यानमें रखना चाहिये। अर्थात् उपमा वहीं होती है जहाँ कुछ विषयोंमें साधर्म्य और कुछमें वैधर्म्य हो। अतः भर्तृपट्ट परशुरामके समान पराक्रमी था इतना कह देने मात्रसे भर्तृपट्टका ब्राह्मण होना नहीं सिद्ध हो सकता। ऐसा माननेके लिए उसके ब्राह्मण होनेका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। तीसरे, इससे भी बड़ी बात यह है कि यहाँ डाक्टर महाशयने "असमे" शब्दपर ध्यान न देनेकी भूल जान कर या बिना जाने की है। इस शब्दसे उपमेय उपमानका भेद स्पष्ट बता दिया गया है। *

---

* उक्त श्लोक इस प्रकार है—

खलग्रामोपदेशैरवनतनृपतीन् भूतलं भूरिभूत्या
भूदेवान् भूमिदानैस्त्रिदिवमपि मखैर्नन्दयन्नन्दितात्मा।

श्री भांडारकरने इस लेखके जिस दूसरे शब्दका अर्थ करनेमें ऐसी ही भूल की है वह है शंकरगणपुत्र श्रीहर्षराजके सम्बंधमें प्रयुक्त द्विज शब्द । इस शब्दके सम्बन्धमें वे १२ वें पृष्ठपर लिखते हैं—"इस कालके उत्कीर्ण लेखोंमें, जहांतक मुझे मालूम है, द्विज शब्द केवल ब्राह्मण-वाचक है ।" पर यह बात प्रसिद्ध है कि द्विज शब्दसे तीनोंमेंसे किसी भी वर्णके पुरुषका बोध होता है और विशेषण होनेसे उसका अर्थ द्विजन्मा होगा । हमारी रायमें इस श्लोकमें वह विशेषण है और उसका अर्थ द्विजन्मा है। यह और इसके पहलेका श्लोक दोनोंको मिलाकर पढ़नेसे अर्थ स्पष्ट हो जाता है । ये श्लोक इस प्रकार हैं—'महामहीभृतः पुत्री शिवानन्दित मानसा । तेनोढा पार्वती-तुल्या यज्ञा नाम यशस्विनी ॥... (अस्पष्ट)...निश्चलमति, शक्तिं दधानंपराम् । सेनारक्षणदक्षसुप्र-महसं व्यावृत्तविद्वेषिणम् ॥ सानन्दं शिखिनः परिग्रहतया श्रीहर्षराजं द्विजम् । तस्यां वीरमजीजनत्स तनयं स्कन्दोपमम् भूभुजम् ॥" पहले श्लोकमें कहा गया है कि शंकरगणकी परिणीता पत्नी यज्ञा पार्वतीके समान है । महामहीभृतः पुत्री और शिवानन्दित मानसा ये दोनों विशेषण स्पष्टतः द्व्यर्थी हैं और यज्ञा तथा पार्वती दोनोंको लागू हैं। फलतः अगले श्लोकमें, जिसके विषयमें वाद है-उनका पुत्र स्कन्दके समान है-यह उपमा स्वभावतः ही आती है। और पुत्र श्रीहर्षराजके विशेषण भी द्व्यर्थी हैं जो स्कन्दके लिए भी आ सकते हैं । अतः यहां द्विज द्विजन्मा अर्थमें विशेषण जान पड़ता है। जिस प्रकार स्कन्द शिखि अर्थात् अग्निके उन्हें आनन्दपूर्वक ग्रहण करनेसे द्विजन्मा हुए उसी प्रकार शंकरगण भी अग्नि-का ग्रहण करनेसे मौञ्जीबंधनके अनन्तर द्विज हुआ । क्षत्रिय राजाओंके मध्ययुगमें, बल्कि आजकल भी, मौञ्जीबन्धनके अनन्तर अग्नि-परिग्रह करनेकी बात प्रसिद्ध है । अतः श्रीहर्षराज भी "शिखिनः" (इसे यहां कर्मणि षष्ठीका प्रयोग मानना चाहिये) अर्थात् अग्निका परिग्रह करनेके

ब्रह्मक्षत्रान्वितोऽस्मिन् समभवदसमे रामतुल्यो विशल्यो
शौर्याढ्यो भर्तृपट्टः रिपुभटविटपिच्छेदकेलीपटीयान् ।
(एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १२ पृष्ठ १३)

अनन्तर द्विज हो गया—ऐसा दुहरा अर्थ इस श्लोकके विशेषणोंसे निकलता है। इस श्लोकके 'शक्ति दधानम, सेनारक्षणदक्ष' शब्द भी दुहरे अर्थवाले हैं और स्कन्द तथा श्रीहर्षराज दोनोंको स्पष्टतः लगते हैं। तथापि तीसरे चरणके शिखि और द्विज शब्द द्व्यर्थी हो कर भी सन्दिग्ध हैं। पर इस चरणका अर्थ कुछ भी क्यों न हो, यह बात निश्चित है कि द्विज शब्दका अर्थ यहां ब्राह्मण नहीं है। कारण यह कि भर्तृपट्टके १२ वंशजोंमेंसे एक हर्षराजके विषयमें ही यह कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई कि वह ब्राह्मण था। फिर जबतक यह न कहा जाय कि शंकरगण और यज्ञा ये दोनों भी ब्राह्मण थे तबतक उनका पुत्र ब्राह्मण नहीं हो सकता। यहां तो बस इतना ही बताया गया है कि यज्ञा एक बड़े राजाकी बेटी थी। ध्यान रहे, उस समयकी वर्ण-व्यवस्थाका विचार करनेसे श्रीहर्षराजका ब्राह्मण होना नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह बात कह देना उचित होगा कि उस समयकी वर्णव्यवस्था सम्प्रति प्रचलित व्यवस्थासे भिन्न थी और इस भेदको ध्यानमें रखनेसे कितने ही भ्रमोंका निवारण हो जायगा। ५ वीं पुस्तकके दूसरे प्रकरणमें हमने उस समयकी सामाजिक स्थितिका विस्तारसे वर्णन किया है। एक पृथक् टिप्पणीमें यह भी दिखाया है कि अनुलोम विवाह-पद्धति उस समय प्रचलित थी (पृष्ठ ३३१-३५)। तथापि पुनरुक्ति दोषकी परवाह न कर यहाँ पुनः यह कह देना चाहिये कि आजकल ब्राह्मणोंको केवल ब्राह्मण स्त्री ग्रहण करनेका ही अधिकार है, पर मध्ययुगमें ऐसा न था, उस समय ब्राह्मणोंको क्षत्रियाका पाणिग्रहण करनेका भी अधिकार था और वे ऐसा करते भी थे। परन्तु प्राचीन कालमें जहाँ ऐसे विवाहकी सन्तति प्रारम्भमें ही ब्राह्मण मानी जाती थी, और परवर्ती कालमें मिश्र वर्णकी मानी जाती थी, वहाँ इस मध्ययुगमें ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय मातासे उत्पन्न संतति क्षत्रिय मानी जाती थी। इस परिस्थितिके कारण यदि तत्कालीन भाटोंने बाप्पाको ब्राह्मण मान लिया तो इससे गुहिलकुल ब्राह्मण नहीं हो गया। ऐसा तो तब होता जब यह भी कह दिया गया होता कि बाप्पाके बाद उसके प्रत्येक राजने ब्राह्मण स्त्रीसे ही विवाह किया और

अगली पीढ़ीका जन्म उस ब्राह्मण स्त्रीके ही उदरसे हुआ। इसके विरुद्ध भाटोंने स्पष्ट लिखा है कि बाप्पाने अनेक स्त्रियोंसे विवाह किया था और उनमें अधिकतर राजकन्याएँ थीं। फलतः बाप्पा सचमुच ब्राह्मण रहा भी हो तो उसका पुत्र अथवा नाती गुहिल किंवा भोज ब्राह्मण नहीं हो सकता। जब गुहिलकी माताका ब्राह्मण होना कहीं भी लिखा नहीं मिलता, बल्कि उसके क्षत्रिय-कन्या होनेकी ही पूर्ण संभावना है, तब उसका क्षत्रिय होना ही निर्विवाद है। आटपुरावाले लेखमें भिन्न भिन्न राजाओंकी माताओंका अलग अलग उल्लेख नहीं है। केवल तीन स्थानोंपर है, वहाँ राष्ट्रकूट, चाहमान और हूणराजकन्या लिखा है, (हूण म्लेच्छ कुल नहीं, क्षत्रिय कुल हैं। देखो जे० ए० बी० जिल्द ३१, पृष्ठ ११७, नोट ११) फलतः इनके पुत्र क्षत्रिय ही होने चाहिये। इस चाटसुके लेखमें दो रानियाँ चोहमान और परमार कुलकी बतायी गयी हैं, अतः उनके पुत्र क्षत्रिय ही होंगे। सार यह कि चाटसु अथवा आटपुराके शिलालेखके लेखककी दृष्टिसे गुहिलकुल ब्राह्मणकुल कदापि न था, सूर्यवंशी क्षत्रियकुल ही था। गुहिलकुलके ब्राह्मणकुल होनेकी प्रसिद्धि अथवा धारणा भी कहीं नहीं दिखाई देती। उस समय किसी राजकुलके ब्राह्मणकुल होनेकी प्रसिद्धि किसी प्रकार हीनतासूचक अथवा अयुक्त नहीं मानी जाती थी। सिंधका चच राजकुल ब्राह्मण था और मुसलमान इतिहासकारोंने लिख रखा है कि दाहरके मरनेपर ब्राह्मणोंने नंगे सिर आकर महम्मद कासिमसे कहा कि हम लोग दाहरके सम्बन्धी हैं और हमें सूतक लगा है। इसी तरह अलबरूनीने लिखा है कि ल्ललिय द्वारा स्थापित काबुलका राजवंश ब्राह्मण था। अतः बाप्पा द्वारा स्थापित राजवंश भी यदि ब्राह्मण होता तो वैसी प्रसिद्धि अवश्य होती। इसी प्रकार क्षत्रिय-कुल ही ब्रह्मक्षत्र समझा जायगा (ब्राह्मण-कुल ब्रह्मक्षत्र नहीं कहा जायगा), यदि उस कुलका आचार श्रुतिस्मृतिके अनुसार शुद्ध क्षत्रियका हो। उदयपुरके राजवंशको ब्रह्मक्षत्रकुलीन कहनेसे उनको ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त होता, न इसमें कुछ दोष ही है, बल्कि ऐसा कहानेमें ही इस कुलकी शोभा है, क्योंकि यह कुल सदा मद्यपानसे बचा रहा है और अरबी प्रवासियोंने उस समयके राजपूत

राजाओंके सम्बन्धमें जो कुछ लिख रखा है वह इस कुलके विषयमें आज भी सत्य है।

तात्पर्य यह कि यद्यपि आबू (१३३१ वै०) और चित्तौड़ (१३४२ वै०) के शिलालेखोंमें वाप्पाको स्पष्टतः विप्र लिखा है तथापि इससे गुहिलवंशका ब्राह्मण होना नहीं सिद्ध होता। इन लेखोंमें कहीं भी इस कुलको ब्राह्मण-कुल नहीं कहा है। यह ध्यान देनेकी बात है। पण्डित गौरीशंकर ओझाको इस सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारका भ्रम हुआ दिखाई देता है; क्योंकि उन्होंने २६६ पृष्टपर आबू-चित्तौड़के लेखोंमें "गुहिलवंशजोंको ब्राह्मण लिखा है"—इस संदिग्ध तथा व्यापक वाक्यका व्यवहार किया है। अतः यह बात यहाँ स्पष्ट रूपसे कह देनी चाहिये कि इन दोनों लेखोंमें और इनका अनुसरण करनेवाले अन्य लेखोंमें भी केवल वाप्पाको ही ब्राह्मण कहा है, समस्त गुहिल-कुलको नहीं कहा है और उस समयकी सामाजिक प्रथाके अनुसार गुहिल-कुल ब्राह्मण नहीं हो सकता। यद्यपि उस समयके भाटोंने गोत्र-प्रवरकी भ्रान्त कल्पनावश महीदेव शब्दका ग़लत अर्थ कर वाप्पाको ब्राह्मण मान लिया, तथापि गुहिल-कुलको वे क्षत्रिय—सूर्य वंशी क्षत्रिय—ही मानते रहे; वाप्पाको ब्राह्मण मान लेनेसे उनकी इस धारणामें बाधा नहीं पड़ी। हम आज भिन्न सामाजिक स्थितिमें रहते हैं, इसलिये कहीं इतना ही लिखा देख लेनेसे कि वाप्पा ब्राह्मण था, भ्रममें पड़ जाते हैं और इससे गुहिल-वंशका रूप ही बदल देनेको तैयार हो जाते हैं। हम ऊपर दिखा आये हैं कि वाप्पाके ब्राह्मण होनेके उल्लेख मात्रसे गुहिलवंशके क्षत्रियत्वमें बाधा नहीं आती। यह बात सही भी मान ली जाय तो भी प्रत्येक राजाकी माताके ब्राह्मणी होनेसे ही यह कुल क्षत्रिय-कुलके बदले ब्राह्मण-कुल होता। पर अब तो, जैसा कि ओझा जीने दिखाया है, गुहिल-कुलके सबसे प्राचीन लेख—नरवाहनके शिलालेख—में उसे स्पष्टतः सूर्यवंशी क्षत्रिय (रघुवंश) लिखा होनेकी बात प्रकट हो जानेसे वाप्पाके ब्राह्मण होनेकी कल्पना ही अर्वाचीन और अयथार्थ सिद्ध हो रही है। ऐसी दशामें इस ब्राह्मण-कुल-कल्पनाका आधार ही नहीं रहा, फिर इमारत किसके सहारे खड़ी रहेगी?

यहां इतना और भी कह देना है कि 'महीदेव' शब्दका अन्यथा अर्थ कर लेनेसे यह जो मिथ्या प्रवाद प्रारंभ हुआ उसको 'आनन्दपुर' शब्दकी भ्रान्त कल्पनासे और भी पुष्टि मिली। यह शब्द भी आटपुरावाले शिलालेखके प्रथम श्लोकमें आया है। (पहले श्लोकका पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—"आनन्दपुरविनिर्गत विप्रकुलानन्दनो महीदेवः") आजकल आमतौरसे आनन्दपुरसे वड़नगरका मतलब लिया जाता है। फलतः आनन्दपुरविनिर्गत महीदेवका अर्थ वड़नगरका ब्राह्मण सहजही निकाल लिया जाता है। पर आटपुरावाले शिलालेखके पहले श्लोकमें जिस आनन्दपुरका उल्लेख है वह नागह्रद नगर है। चित्तौड़वाले लेखमें यह बात साफ लिखी है। डाक्टर भांडारकरने भी स्वीकार किया है कि आटपुरावाले लेखमें आनन्दपुर नागह्रदका बोधक है। इस नगरके सिवाय अन्य अनेक नगरोंका नाम आनन्दपुर है। अत्यन्त आश्चर्य है कि पंडित गौरीशंकर ओझाने आनन्दपुरका भाषान्तर वड़नगर ही किया है और आनन्दपुरके ब्राह्मणका अर्थ नागर ब्राह्मण किया है (पृष्ठ २९७)। "आनन्दपुरके महीदेव" का अर्थ गलतीसे वड़नगरका ब्राह्मण मान लिये जानेसे यह कल्पना रूढ़ हुई कि उदयपुरके गुहिलवंशको एक नागर ब्राह्मणने स्थापित किया। हम दिखा चुके हैं (पृष्ठ १२८) कि आबू और चित्तौड़के शिलालेखोंका लेखक खुद ब्राह्मण था, तथापि उसने बाप्पाको नागर ब्राह्मण नहीं लिखा है। बाप्पा नागर ब्राह्मण रहा होता तो इस लेखकने बड़े हौसिलेसे जोर दे कर यह बात लिखी होती। उसने स्पष्टतः नागह्रदको ही आनन्दपुर नाम दिया है। उसने पहले श्लोकमें नागह्रदका वर्णन कर दूसरेके प्रारंभमें ही कहा है—"जीयादानन्दपूर्वं तदिहपुरमिलाखण्डसौन्दर्यशोभि।" बाप्पाके नागर ब्राह्मण होनेकी बात एकलिंगपुराण और उसके पीछेके लेखोंमें कही गयी है, अतः वह भ्रान्त और त्याज्य है। तात्पर्य यह कि बाप्पाके नागर ब्राह्मण होनेकी दन्तकथा अग्निकुलकी कल्पनाकी तरह एक श्लोकके पदका गलत अर्थ समझ लेनेसे उत्पन्न हुई और जिस प्रकार प्राचीनतर लेखोंके देखनेसे अग्निकुलकी कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है उसी प्रकार, जैसा कि ओझाजीने दिखाया है, बाप्पा रावलका ब्राह्मण न होकर सूर्य-

वंशी क्षत्रिय होना उसीके सोनेके सिक्के तथा नरवाहनके प्राचीनतम लेखसे निश्चित रूपसे सिद्ध हो जाता है।

अब आगेके प्रश्नपर विचार करें। वह यह है कि क्या वलभी वंशकी कोई शाखा नागदामें स्थापित हुई और उसी शाखामें वाप्पाका जन्म हुआ? इतिहासकी दृष्टिसे वाप्पाका प्रधान पराक्रम मुसलमानोंको हराकर चित्तौड़में मोरी राजवंशकी जगह अपने वंशका राज्य स्थापित करना है। इस महापराक्रमके आसपास विविध दन्तकथाओंका इकट्ठा हो जाना स्वाभाविक ही है। इस विषयमें वाप्पा और शिवाजीकी कथाओं-में बड़ी ही समानता है। चार मुसलमान राज्योंको हराकर शिवाजीने जब स्वतंत्र हिन्दू राज्यकी स्थापना की तब उनकी अत्यन्त प्रशंसा हुई और बखरकार, इतिहासलेखक तथा मंत्रिमण्डलको स्वभावतः ही यह इच्छा हुई कि उनकी वंशावली ऊँची होनी चाहिये। अतः उस समय जो क्षत्रिय-कुल उत्तम माना जाता था उससे उनका सम्बंध जोड़ा गया अथवा सचमुच ही ढूंढ़ निकाला गया। इसके फलस्वरूप शिवाजीका सम्बंध उनके जीवनकालमें ही उदयपुरके सिसोदिया कुलसे निश्चित हो गया। इसी प्रकार वाप्पाका सम्बंध भी उस समय उत्तम माने हुए क्षत्रिय-कुल वलभीके सूर्यवंशी मैत्रक घरानेसे जोड़ा जाना स्वाभाविक था। वलभीके राजकुलके उत्तम होनेकी बात हुएनसंगने लिखी है। यह भी प्रसिद्ध बात है कि श्रीहर्षने इस कुलमें अपनी बेटी ब्याही थी। यह भी कह सकते हैं कि वाप्पाका सम्बंध इस कुलसे जोड़ा गया, इसीसे साबित है कि यह घराना उस समय (७५० ई०) उत्तम क्षत्रिय-कुल समझा जाता था। यहां यह बात कह देनी चाहिये कि हमारे मतसे उदयपुरके राजवंशके साथ शिवाजीका सम्बंध कल्पित नहीं, सच्ची बात है और शाहजीके समयमें भी यह बात प्रसिद्ध थी। इसी प्रकार वलभी वंशके साथ वाप्पाका सम्बंध जोड़ना भी हमारी रायमें कल्पना नहीं किन्तु तथ्य है। हमारे मतसे इस कुलकी एक शाखा नागदामें स्थापित हुई और उसीमें वाप्पाका जन्म हुआ।

२—बाप्पाका जन्म, राज्यारोहण और राज्यत्याग ।

बाप्पाके सम्बधमें दूसरा वादग्रस्त विषय उपर्युक्त बातोंका समय है। सौभाग्यवश इस विषयमें भी हमने इस पुस्तकमें जिस मतका प्रतिपादन किया है वही मत रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाका भी है। कुछ छोटी बातोंमें हमारा मतभेद है, उनकी यहां थोड़े विस्तारसे चर्चा कर देनी चाहिये।

बाप्पाके जन्म-समयके सम्बंधमें विचार करते हुए हमने उसे ७०० ई० (वि० ७५७) माना है। इस अनुमानका मुख्य आधार मेवाड़में प्रसिद्ध परम्परा है। टाडने लिखा है कि इस परम्पराको ठीक माननेमें कितनी ही अड़चनें हैं, परन्तु मेवाड़के भाट और तत्कालीन महाराणा साहब इसे छोड़नेको राजी नहीं थे। परम्परा यह है कि बाप्पाका जन्म संवत् १९१ में हुआ। फलतः यह परम्परा एक पहेली है। यह संवत् विक्रम संवत् नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है। तब यह कौनसा संवत् है? टाडने इस संवत्का आरंभ वलभी वंशके राज्यके नाशसे मानकर इस कालकी संगति इतिहाससे बैठानेका प्रयत्न किया है। परन्तु वलभी वंशके राज्यके नाशका काल उन्होंने भूलसे २०० साल पहले मान लिया है। शिलालेखों और ताम्रपत्रोंसे यह बात भलीभांति प्रमाणित हो चुकी है कि बाप्पाके अभ्युदयके अनन्तर जब चित्तौड़में उसका राज्य स्थापित हुआ उस समय वहाँ भी वंशका राज्य कायम था। इस कारण टाडकी दी हुई संवत् १९१ की उपपत्ति अग्राह्य हो जाती है। इन अंकोंकी जो उपपत्ति हमने इस पुस्तकमें दी है वह इस प्रकार है कि इस संवत्का आरंभ वलभी वंशके राज्यके नाशसे न मानकर भट्टार्कने ५०९ ई० में जब वलभी कुलका राज्य स्थापित किया, जो उसीके लेखोंसे सिद्ध है, तबसे मानना चाहिये। अर्थात् संवत् १९१ का अर्थ ५०९ ई०+१९१=७०० ई० समझना और यही बाप्पाका जन्मकाल मानना चाहिए। इस कालका इतिहाससे पूरा मेल है। मानमोरीका चित्तौड़का शिलालेख संवत् ७७० विक्रमीका है। अतः उस समय तक चित्तौड़में इस वंशका राज्य कायम होना निश्चित है।

इसके बाद अर्थात् ७१३ ई० के अनन्तर किसी समय वाप्पाने मोरी राज्यका नाश कर वहां अपना राज्य स्थापित किया होगा, यह अनुमान सर्वथा इतिहाससंगत है ।

यहां यह बात पाठकोंको बता देना आवश्यक है कि रायबहादुर गौरीशंकर ओझाने दिखाया है कि मेवाड़की परम्परामें यह काल बाप्पाके जन्मका नहीं, उसके राज्यारोहणका है और हम स्वीकार करते हैं कि ओझाजीका यह मत ठीक है । बल्कि हमारा कहना है कि यह भूल मूलतः टाडकी है । क्रुकने हालमें टाड राजस्थानकी जो संशोधित आवृत्ति निकाली है उसमें भी यह ग़लती वैसी ही रह गयी है । हमने टाडकी प्रथम संस्करणकी प्रति निकाल कर देखी तो उसमें भी यह काल बाप्पाके जन्मका ही दिया हुआ है (पृ० २२९) । क्रुक महाशयको चाहिये था कि मूल वैसा ही रहने दे कर टिप्पणीमें बता देते कि यह काल बाप्पाके जन्मका नहीं, राज्यारोहणका है । पर कदाचित् उनका ध्यान इस ओर नहीं गया और ओझाजीका लेख पढ़नेके पूर्वतक हमारा ध्यान भी इस भूलकी ओर नहीं गया था । पर अब बारीकीसे देखनेसे मालूम हुआ कि इसे बाप्पाका जन्मकाल न मानकर राज्यारोहण-काल माननेके लिए केवल दन्तकथाका ही आधार नहीं है, बल्कि 'भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स' नामक पुस्तकमें दिये हुए एक शिलालेखमें भी यह बात वर्णित है । पंडित गौरीशंकर ओझाने २७२ पृष्ठपर इस लेखको उद्धृत किया है । राजप्रशस्तिमें (भावनगर इं० पृ० १५२) दिये हुए ये श्लोक इस प्रकार हैं—

"प्राप्येत्यादिवरान् वाप्पः एकस्मिन् शतके गते ।
एकाग्रनवतिसृष्टे माघे पक्षवलक्षके ॥
सप्तमी दिवसे वाप्पः सपञ्चदशवत्सरः ।
एकलिंगेशहारीत प्रसादाद्भाग्यवानभूत् ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक वर प्राप्त करनेके अनन्तर १९१ वर्ष बीतने पर माघ शुद्ध ७ को एकलिंग महादेव तथा हारीत ऋषिके प्रसादसे, १५वें वर्षमें वाप्पाका भाग्य उदय हुआ ।" अतः शिलालेख और दन्तकथा

दोनोंमें संवत् १९१ वाप्पाका जन्मकाल नहीं, किन्तु राज्यारोहण-काल बताया गया है और इसे मान लेना चाहिये।

पर यह संवत् कौन सा है, यह समस्या अब भी हल नहीं हुई। श्री गौरीशंकर ओझाका अनुमान है कि किसी लेखमें मूल संवत् ७९१ रहा होगा। परवर्ती लेखकोंने उसे १९१ पढ़ लिया होगा और फिर वही चलने लगा। उनका कहना है कि प्राचीन लेखोंमें कहीं कहीं ७ का अंक १ जैसा लिखा दिखाई देता है। अतः बाप्पाका राज्यारोहणकाल सं० ७९१ वै० अर्थात् ७३४ ई० ठहरता है। और चूँकि राजप्रशस्ति तथा दन्तकथामें जो कहा गया है कि राज्यारोहणके समय बाप्पाका वय १५ वर्षका था वह अतिशयोक्ति है, अतः टाडका यह मत मान लेना चाहिये कि बाप्पाका जन्म ७६९ वै० (७१२ ई०) में हुआ, इस प्रकार राज्यारोहणके समय उसका वय कमसे कम २२ वर्षका ठहरता है। अर्थात् ओझाजीके मतसे बाप्पाका जन्मकाल ७१२ ई० है।

• इस मतके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि १९१ के अंककी यह उपपत्ति यह मान लिये बिना कि किसी मूल लेखमें वह ७९१ था, पर १९१ पढ़ लिया गया अथवा वह लेख प्रत्यक्ष देखे बिना ग्राह्य नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि प्राचीन लेखोंमें अंकोंके अतिरिक्त शब्दोंमें भी काल दिया रहता है और संस्कृत श्लोकोंमें प्रायः कालबोधक अन्य शब्दोंका भी व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जिस शिलालेखमें उक्त काल दिया हुआ है उसमें अंक न देकर संख्यावाचक शब्द ही रखे गये हैं। अतः अंक पढ़नेमें भूल हुई, इस तर्कके लिए स्थान नहीं रहता। और फलतः ओझाजीकी उक्त उपपत्ति काल्पनिक प्रतीत होती है। उसके बदले हम दूसरी उपपत्ति पाठकोंके सामने रखते हैं और वह यह है कि इस संवत्का आरंभ गुहसेनके राज्यारोहणके समयसे मानें। भट्टार्कके बादके वलभीके इस तीसरे राजाके समय गुहिलवंशकी एक शाखा ईडरसे निकली, ऐसा माना जाता है। भाग १ में गुहसेनका राज्यारोहण-काल ५३९ ई० दिया गया है। इसमें १९१ जोड़नेसे ७३० ई० आता है। बाप्पाका वय इस समय ३० का मानें तो उसका जन्मकाल

७०० ई० ठहरता है, २२ मानें तो ७०८ ई० और १८ मानें तो ७१२। ये तीनों ही वय १८, २२ और ३० साल, संभव हैं। इतिहासज्ञोंको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि कमसे कम १८ और अधिकसे अधिक ३० सालका वय माना जा सकता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि १९१ के अंकको ऊपर हमने जो उपपत्ति दी है, वह रायसागरके शिलालेखसे संभव दिखाई देती है। इस लेख अर्थात् राजप्रशस्तिमें संवत् शब्द आया ही नहीं है—बस इतना ही कहा गया है कि "१९१ वर्ष बीतनेपर वाप्पाका भाग्योदय हुआ।" अतः लेखक कबसे लगाकर १९१ वर्षका व्यतीत होना कहना चाहता था, इसका निश्चय करनेके लिए जिस सर्गमें यह वर्षाङ्क दिया है उसके आरम्भसे वर्णित वृत्तान्तकी ओर ध्यान देना चाहिये। इसके पूर्वके सर्गमें कनकसेनके अयोध्यासे निकलनेका वृत्तान्त देकर कहा गया है कि उसका वंशज विजयसेन जब दक्षिणमें पहुँचा तब आकाशवाणीके रूपमें उसे आज्ञा मिली कि सेन उपपद (अल्ल) छोड़कर आदित्य उपपद ग्रहण करो (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स पृ० १४९)। अनन्तर इस सर्गके आरम्भमें कहा गया है कि विजयसेनका पुत्र पद्मादित्य राजा हुआ और उसके १४ आदित्य उपपदधारी वंशजोंके राज्य कर चुकनेपर अन्तिम गुहादित्यसे वाप्पाका जन्म हुआ। इस पूर्वसन्दर्भके विचारसे साफ मालूम होता है कि वलभी अथवा ईडरमें आदित्य उपपदधारी राजाओंके १९१ वर्ष राज्य करते बीत चुकनेपर और इनकी १४ पीढ़ियोंके अनन्तर वाप्पाका भाग्योदय हुआ। १४ पीढ़ियोंके लिए १९१ वर्षका समय सम्भव दिखाई देता है। अतः यह बात निस्संशय होकर कही जा सकती है कि वलभी अथवा ईडरमें जबसे आदित्य उपाधिकी परम्परा प्रारंभ हुई तभीसे १९१ वर्ष गिने गये हैं। इस उपपत्तिसे भी वाप्पाका उस समयके इतिहाससे संगत काल निकलता है। ओझाजीकी कल्पनाके अनुसार मान लें कि ७९१ के बदले कहीं १९१ पढ़ लिया गया तो वाप्पाके राज्यारोहणका काल ७३४ ई० आता है। दोनोंमें केवल ४ वर्षका अन्तर है। यदि यह मान लें कि गुहादित्य (उर्फ गुहसेन) ने राज्यारूढ़ होनेके चार वर्ष पहले ही ईडर शाखाकी

स्थापना की तो यही सन् ठीक मालूम होता है। तात्पर्य यह कि ओझा-जीने वाप्पाके राज्यारोहणका जो काल-निर्णय किया है, हमारे निश्चित किये हुए समयसे उसका अधिक अन्तर नहीं है, तथापि हमने १९१ की जो नयी उपपत्ति दी है वह अधिक युक्तिसंगत और रायसागरके शिलालेखसे समर्थित है। वाप्पाके राज्यारोहणका काल निश्चित हो जानेपर उसका जन्म-काल, उसका वय अनुमानसे उस समय जितना मानें उसी हिसाबसे आगे पीछे पड़ेगा। दन्तकथा इसे १५ वर्ष बताती है, पर वह अग्राह्य है। उसकी उम्र उस समय १८ से ३० वर्षके बीच मानी जा सकती है, अतः उसका जन्मकाल ७१२ ई० से ७०० ई० के बीच मानना होगा। इससे अधिक निश्चित काल-निरूपणके लिए अभी साधन उपलब्ध नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचनमें वाप्पाके राज्यारोहणका सन् निश्चित किया जा चुका है, फिर भी एक दो बातोंका और स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। दन्तकथामें और रायसागरके शिलालेखमें १९१ वर्ष राज्यारोहणका काल बताया गया है। उक्त लेखके पूर्व-संदर्भका विचार कर-नेसे मालूम होता है कि विजयभूपके पुत्रने जबसे सेन उपाधि छोड़कर आदित्य उपाधि ग्रहण की तबसे आरंभ कर यह वर्ष-गणना की गयी है। यह निर्देश वलभी कुलके विषयमें ही है, यह बात स्पष्ट है। इस कुलमें पहले सेन उपाधिवाले राजा हुए, पर पीछे सभी शीलादित्य नामके राजा हुए। (देखिये वलभी वंशावली, प्रथम भाग) दुर्भाग्यसे वलभी वंशावलीमें विजयसेन नाम नहीं है और दूसरी परम्परामें जो १४ नाम आदित्यांत दिये हैं उनमें भी पद्मादित्य, शिवादित्य आदि कई नाम छूटे हुए हैं। केवल एक शीलादित्य नाम है (यह नाम वलभी राज-वंशमें ७ बार आया है, ६ बार लगातार)। रायसागरके लेखमें जो पद्मा-दित्य आदि नाम दिये हुए हैं उनके विषयमें विस्तारसे आगे लिखा जायगा। पर यहाँ इतना कह देना उचित है कि हमारे मतसे ये नाम ईडर अथवा नागदा (नागह्रद) के राजाओंके हैं और ऐसा मानते हैं कि यह शाखा वलभी कुलके गुहसेनसे निकली। इस धारणाकी पुष्टिके लिए कोई लेखादि उपलब्ध नहीं हैं, हम केवल दन्तकथाके आधारपर ऐसा लिख

रहे हैं। पर यह शाखा ईडरमें रही हो अथवा नागदामें, इस बातका विशेष महत्व नहीं है। इतना निश्चित है कि रायसागरका लेख १७३२ वै० (१६७५ ई०) का है, उस समय तक उदयपुर राजकुलको जो कुछ मालूम था और जो उसकी धारणा थी वह इस लेखमें प्रकट की गयी है। इसके अनुसार जिस समय वलभी कुलके साथ उदयपुरके घरानेका सम्बंध मिलता है, तबसे बाप्पातक १९१ वर्ष बीत जाना माना जाता था। दन्तकथामें यह सम्बन्ध वलभी वंशके गुहसेनसे जोड़ा गया है और उसे ही गुहिल भी कहा है। इसका राज्यारोहण-काल ५३९ ई० है, उसमें १९१ जोड़नेसे ७३० ई० वाप्पाका राज्यारोहण-काल ठहरता है और यह काल इतिहाससे सुसंगत है। पहले कहा जा चुका है कि मानमोरीका ७७० वै० अर्थात् ७१३ ई० का शिलालेख उपलब्ध है। अरवोंने ७१२ ई० में सिंध विजय कर जब राजपूतानेपर चढ़ाई की तब ७३० ई० में वाप्पाने उन्हें हराकर मेवाड़की गद्दीसे मोरी राजाको हटाया और वह स्वतः राज्यारूढ़ हुआ।

अन्तमें हमें बाप्पाके राज्यत्यागका सन् निश्चित करना है। मेवाड़की दन्तकथाके आधारपर टाडने यह काल ८२० वै० माना है। परन्तु रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने, अनेक लेखोंके अंकोंसे ही नहीं, वल्कि "खचन्द्रदिग्गज" इस स्पष्ट शब्दसे भी दिखाया है कि यह काल ८१० वै० है। (एकलिंग माहात्म्य तथा अन्य लेख प्रमाणमें दिये हैं। पृ० २७०) पर उन्होंने यह भी लिखा है कि बीकानेरके शिलालेखमें यह काल "शाक पञ्चाष्टपट" (६८५) दिया हुआ है। इसमें ७८ मिलानेसे ७६३ ई० आता है। और भी ५७ साल जोड़ देनेसे विक्रम संवत् ८२० ही आ जाता है। (डाक्टर टेसिटोरी द्वारा सम्पादित भाटोंके तथा अन्य लेखोंकी वर्णनात्मक सूची, भाग २, पृ० ६२) इस प्रकार मेवाड़ और बीकानेरके लेखोंमें फर्क होनेसे इस कालके ८१० अथवा ८२० विक्रमाब्द होनेका संशय रह जाता है। हमारे मतसे इनमें ८२० वै० ही ग्राह्य है। कारण यह कि यह दन्तकथा सर्वमान्य है कि वाप्पाने बहुत बरसोंतक राज्य किया और अन्तमें प्राचीन कालके राजाओंकी तरह पुत्रको राज्य सौंपकर श्री एकलिंगके

निकट तप करने चला गया। यदि ओझाजीके स्वीकार किये हुए कालको ठीक मानें तो बाप्पाका जन्म ७१२ ई० में, राज्यारोहण ७३४ ई० में और राज्यत्याग ७५३ ई० (८१० वै०) में पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य-परित्यागके समय उसकी उम्र कुल ४१ वर्षकी थी और उसने केवल १९ वर्ष राज्य किया। इस कारण हमारा दिया हुआ सन् अधिक संगत है। बाप्पाका जन्म ७०० ई० में, राज्यारोहण ७३० ई० में और राज्य-त्याग ७६३ ई० में (८२० वै०) माननेसे उसका राज्यकाल ३३ वर्ष और राज्यपरित्यागके समय उसका वय ६३ वर्षका ठहरता है और यह इस दन्तकथासे अधिक संगत है कि बाप्पाने बहुत वर्ष राज्य करके उत्तर वयमें सिंहासन-त्याग किया। तात्पर्य यह कि बाप्पाके राज्यत्यागका सन् बीकानेरकी लिखित परम्परा तथा टाडकी दी हुई मेवाड़की दन्तकथात्मक परम्पराके अनुसार ८२० ही मानना ठीक है। इस प्रकार यद्यपि ओझाजी-का और हमारा मतभेद है, पर वह बहुत थोड़ा है और यह बात तो निर्वि-वाद है कि ओझाजीने दो तीन भूलें स्पष्ट रूपसे दिखाकर अनेक लेखोंका आधार जिज्ञासु पाठकोंके सामने रख दिया है, जिससे प्रत्येक पाठकको इस सम्बन्धमें अपना मत उचित प्रकारसे स्थिर करनेका साधन प्राप्त हो गया है। अस्तु, मतभेदकी बातोंको छोड़ दें तो यह बात निश्चित रहती है कि ७५० ई० में बाप्पा चितौड़की गद्दीपर था।

३—गुहिलोत वंशावलीमें बाप्पाका स्थान।

यह प्रश्न बाप्पा सम्बन्धी प्रश्नोंमें अत्यन्त वादग्रस्त है और दुर्भाग्यसे इस विषयमें श्रीगौरीशंकर ओझाके साथ हमारा गहरा मतभेद है। उनके मतसे गुहिलोत वंशावलीका कालभोज बाप्पा है और हमारे मतसे इस वंशावलीका प्रथम पुरुष गुहदत्त ही बाप्पा है। इस वंशावलीकी अन्य बातोंके सम्बन्धमें अधिक मतभेद नहीं है। डाक्टर भांडारकरने हालमें ही जो आटपुराका शिलालेख प्रकाशित किया है वह सर्वमान्य है और उसमें दी हुई वंशावली इस समय प्रायः सर्वस्वीकृत है। इस शिलालेखके

आरम्भके श्लोकका महीदेव शब्द वादग्रस्त है जिसके विषयमें विस्तारसे इस भागमें लिखा जा चुका है। इस श्लोकका गुहदत्त कौन है, इस विषयमें बहुत मतभेद है। श्लोक इस प्रकार है—

आनन्दपुरविनिर्गत विप्रकुलान्दनो महीदेवः।
जयतिश्रीगुहदत्त प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य ॥

अर्थ—"विप्रकुलको आनन्द देने वाले आनन्दपुरसे आये हुए श्री गुहिलवंश-संस्थापक श्रीगुहदत्तकी जय हो।" इसके बाद इस लेखमें राजाओंके नाम दिये हैं जो इस प्रकार हैं—२ गुहिल, ३ भोज, ४ महेन्द्र, ५ नाग, ६ शील, ७ अपराजित, ८ महेन्द्र द्वितीय और ९ कालभोज। ओझाजी इनमेंसे कालभोजको बाप्पा मानते हैं, पर हम पहले गुहदत्तको ही। हमारे ऐसा माननेका आधार केवल दन्तकथा ही नहीं, किन्तु आबू और चित्तौड़के शिलालेखोंमें दी हुई वंशावलियाँ भी हैं। ओझाजीने २७५ पृष्ठपर भिन्न भिन्न ५ शिलालेखोंसे ५ वंशावलियाँ कोष्टकके रूपमें उद्धृत की हैं। ये पाँच लेख हैं—१ आटपुराका लेख (१०३४ वै०), २ चित्तौड़का लेख (१३३५ वै०), ३ आबूका लेख (१३४२ वै०), ४ बाग-पुरका लेख (१४३६ वै०) और ५ कुमारगढ़का लेख (१५१७ वै०)। इनमेंसे तीन—चित्तौड़, आबू और बाग्पुरके—लेखोंमें बाप्पा मूलपुरुष और गुहिल उसका पुत्र बताया गया है। भोज, शील और कालभोज उसके वंशज बताये गये हैं। कुमल गढ़के लेखमें शीलकी जगह बाप्पाका नाम है और उसकी चौथी पीढ़ीमें कालभोजको रखा है। आटपुरा वाले लेखमें बाप्पाका नाम दिया ही नहीं है। पर चूंकि इसके छः ही वर्ष पहलेके अर्थात् १०२८ वै० के नरवाहनके लेखमें बाप्पाका नाम प्रारंभमें ही दिया गया है इसलिये यह बात असन्दिग्ध जान पड़ती है कि इस लेखके लेखकने गुहदत्तको ही बाप्पा माना है। यही नहीं, उसने जो केवल गुहदत्तका ही जयकार किया हैं और उसे गुहिल-वंशका जनक कहा है इससे भी यही अनुमान निकलता है कि गुहदत्त और बाप्पा एक ही व्यक्तिके नाम है।

अब यह भी देख लीजिये कि किन अड़चनोंके कारण ओझाजीको सरल मार्ग छोड़ कर कालभोजको वाप्पा मानना पड़ा और क्या वे अड़चनें अपरिहार्य हैं। पहली अड़चन शील और अपराजित राजाओंके शिलालेखोंसे उत्पन्न होती है। इस वंशावलीमें ये नाम आये हैं और इनके शिलालेखोंका काल क्रमसे ७०३ और ७०८ विक्रमाब्द है। अर्थात् इन राजाओंका समय ६४६ ई० और ६६१ ई० ठहरता है और बाप्पाके राज्यारोहणका काल ७३० ई० एक प्रकारसे निश्चित हो चुका है, अतः ये राजा बाप्पाके वंशज नहीं हो सकते, बल्कि बाप्पाको ही इनका, कमसे कम इनसे तीन पीढ़ी बादका, वंशज मानना पड़ेगा। पर ये राजा इसी गुहिलवंशके अन्तर्गत हुए हैं, ऐसा निश्चय करनेका इनके लेखोंमें कुछ भी मसाला नहीं है। ये गुहिलवंशी हैं—बस इतना ही निश्चित हो सकता है। पर गुहिल नाम भी अनेक राजाओंका है, और गुहिल-वंश भी एकाधिक हैं। चाटसुके लेखमें गुहिल नाम दो बार आया है और वर्तमान कालमें उदयपुरके गुहिलवंशी तथा भावनगरके गुहिलवंशी दो सर्वथा भिन्न राजकुल हैं। और यदि इन सबको एक ही गुहिलवंशके राजा मानें तो भी यह बात हो सकती है कि जिन राजाओंके ६४६ ई० और ६६१ ई० के शिलालेख मिले हैं वे बाप्पाके पूर्वज दूसरे ही राजा हों और पुनः वही नाम बाप्पा (७३० ई०) के बाद इस वंशमें आये हों। अतः यह कठिनाई अनिवार्य नहीं है।

पहला कारण यह है कि गुहिल बाप्पाका पुत्र था और वह स्वयं भी गुहिलवंशमें जन्मा था, अर्थात् उसका एक पूर्वज गुहिल था। चित्तौड़ और आबूके शिलालेख स्पष्ट रूपसे बताते हैं कि बाप्पाका पुत्र गुहिल था, और वह उसके बाद गद्दीपर बैठा तथा उसीके नामसे आगे वंश चला। (यस्य नामकलितं किल जातिं भूभुजो दधति तत्कुलजाताः) यह नाम गुहिल वंश है, जिसे आजकलकी भाषामें गुहिलपुत्र अथवा गुहिलोत कहते हैं। अतः इतने पुराने लेखों (१३३२ और १३४१ वै०) को अमान्य कर बाप्पाको कालभोज और उसका पुत्र कोई मनमाना किस लिए मान ले? नरवाहनके लेख (१०२८ वै०) के 'गुहिलगोत्रनरेन्द्रचन्द्र'

पदका अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है। या तो गुहिल गोत्रसे वाप्पाके बादके सब राजाओंका अभिप्राय समझकर इन्हें तारासमूह और वाप्पाको चन्द्र मानें अथवा वलभीके गुहसेनसे नागदामें जो गुहिलगोत्र चला और जिसमें वाप्पाका जन्म हुआ उस गोत्रके राजतारकोंके मध्य वाप्पाके चन्द्रवत् होनेका अर्थ करें। तात्पर्य यह कि दोनों गुहिल इसी कुलमें हुए—एक वाप्पाका पुत्र और दूसरा उसका पूर्वज—इस विषयमें हमारे मनमें शंका नहीं है। वाप्पाके पूर्वके राजाओंकी गुहिल संज्ञा थी और वाप्पाके बादके राजाओंके लिए गुहिलोत संज्ञा रूढ़ हुई। सम्भवतः यह दूसरी संज्ञा पिछले राजाओंसे भेद दिखानेके लिए ही प्रचलित हुई होगी।

इस रीतिसे आटपुरा और चित्तौड़के लेखोंकी संगति भलीभाँति हो जाती है। इसके बादके लेखोंमें कुछ राजाओंके नाम नहीं हैं, महत्वहीन होनेके कारण छोड़ दिये गये हैं। परन्तु आटपुरा-लेखके गुहदत्त और गुहिलको एक ही मानने और आगे कई पीढ़ियोंके बाद होनेवाले कालभोजको वाप्पा मान लेनेसे इन दोनों लेखोंमें प्रारंभमें ही बड़ा भारी विरोध पड़ जायगा। हमारे विचारसे आटपुरा-लेखके प्रथम श्लोकके गुहदत्तको गुहिलसे भिन्न माननेमें कोई बाधा नहीं। 'गुहदत्तः प्रभवः श्री गुहिलवंशस्य' इन पदोंसे गुहदत्त और गुहिलका एक ही होना सूचित नहीं होता। कारण यह कि गुहिलवंशका जनक गुहदत्त था—इस कथनमें इस कथाका अन्तर्भाव है कि गुहिल गुहदत्तका पुत्र था और उसीके नामपर उसके कुलकी संज्ञा बनी। इसके सिवाय गुहदत्तका जयजयकार हो, इस कथनसे ध्वनित होता है कि गुहदत्त अत्यन्त पूज्य और महत्वशाली राजा था। यदि गुहदत्तको वाप्पा न मानकर उसकी कई पीढ़ी पीछे होने वाले कालभोजको वाप्पा मानें तो यह भी मालूम करना होगा कि गुहदत्तने कौनसा सर्वातिशय पराक्रम किया था। फिर चित्तौड़में गुहिलोतोंका राज्य स्थापित करनेका श्रेय वंश-संस्थापकको न मिल कर कई पीढ़ी बाद होनेवाले कालभोजको प्राप्त होगा!

जान पड़ता है, यह दोष श्रीगौरीशंकर ओझाके ध्यानमें भी आ गया था। क्योंकि इन्होंने यह दिखानेके लिए कि वंशसंस्थापक गुहदत्त उर्फ

गुहिल प्रबल पराक्रमी था, कहा है कि उसके सिक्के आगरेके पास मिलनेसे प्रकट होता है कि उसके राज्यकी सीमा आगरे तक थी (पृ० २८३)। ये सिक्के दस पांच नहीं, एकदम दो हजार मिले हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कोई मेवाड़से इन्हें ले गया होगा। कनिंगहम आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग ४ के सम्पादक श्री कार्लाइल कहते हैं कि ये सिक्के वहीं प्रचलित थे (पृ० ९५)। हमने यह रिपोर्ट निकाल कर देखी तो मालूम हुआ कि श्री कार्लाइलके मतसे यह गुहिल आटपुराके शिलालेखका गुहिल नहीं हो सकता। ओझाजी इसे शील और अपराजितका पूर्वज मानते हैं। ऐसी दशामें इसका समय ५९८ ई० के आसपास पड़ता है। हम आगे दिखायेंगे कि आटपुरावाले लेखमें दी हुई वंशावलीके प्रत्येक राजाके राज्यकालका औसत १२ वर्ष आता है, २० वर्ष नहीं। शीलका शिलालेख ६४६ ई० का है। गुहिलका स्थान इससे ऊपरकी चौथी पीढ़ीमें है। अतः इसमें से ४८ वर्ष घटा देनेसे ५९८ ई० आता है। इस समय भारतवर्षमें थानेश्वरका प्रतापवर्द्धन अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। अतः इस समय गुहिलका राज्य उत्तर भारतमें आगरेतक विस्तृत होना संभव नहीं। यदि प्रत्येक पीढ़ीका औसत राज्यकाल २० वर्ष मान लें और गुहिलका समय और भी ४० साल पीछे ले जायँ तो उसका समय ५५८ के आसपास पड़ेगा। पर यह गुहिल वलभी वंशके गुहसेनसे भिन्न नहीं हो सकता। श्री कार्लाइलने उसीका नाम सुझाया भी है। वे लिखते हैं—"आगरेके पास १८६९ ई० में दो हजार सिक्के मिले हैं। उनपर संस्कृतकी एक प्राचीन पश्चिमी लिपिमें 'गुहिल श्री' अथवा 'श्री गुहिल' लिखा हुआ मैंने स्पष्ट पढ़ लिया है। ये सिक्के मेवाड़के गुहिलोत वंशके संस्थापक श्री गुहदत्त अथवा गुहिलके ही (७५० ई०) माने गये हैं, पर इनपरके अक्षर इतने इधरके नहीं है, वल्कि वहुत प्राचीन कालके हैं। तव ये सिक्के वलभी अथवा सौराष्ट्र राजवंशके शीलादित्यके पुत्र गुहिल अथवा गुहादित्य अथवा ग्रहादित्यके हो सकते हैं। उसका समय निश्चित नहीं हुआ है पर वह छठी ईसवी शताब्दीके आसपास मालूम होता

है।" वलभी अथवा सौराष्ट्रका इतिहास कार्लाइलके समयतक पूर्ण रूपसे उपलब्ध नहीं हुआ था, तथापि उन्होंने उक्त सिक्कोंको छठी शताब्दीके आसपासका बताया है और ये सिक्के गुहिलवंश शाखाके संस्थापक वलभीके प्रथम गुहदत्तके हैं, यह अनुमान उन्होंने भी किया है। हमें आज निश्चित रूपसे मालूम है कि गुहसेनका राज्यकाल ५३९ से ५६९ ई० तक है और इसीने पहले पहल नामशेष गुप्तवंशका आधिपत्य अस्वीकार कर स्वाधीनताकी घोषणा की। गुप्तवंशके पतनकालमें इसका राज्य आगरेतक फैल जाना संभव है, क्योंकि अभीतक थानेश्वरके वर्द्धन अथवा कन्नौजके मौखरि राजा प्रबल नहीं हुए थे। इस प्रकार यह बात निश्चित होती है कि गुहिल नामके दो राजा प्रसिद्ध हुए—एक बाप्पाका पूर्ववर्ती और दूसरा उसका पुत्र गुहिल जिसके नामपर उसके वंशका नाम गुहिलोत पड़ा। हमारा कहना है कि जिन शील तथा अपराजितके ६४६ और ६६१ ई० के शिलालेख मिले हैं वे बाप्पाके पूर्वज तथा पूर्व-गुहिलवंशी थे, और आटपुराके लेखमें जिन शील और अपराजितके नाम आये हैं वे दूसरे हैं तथा बाप्पाके वंशज हैं। एक ही वंशमें वारम्बार वही नाम आता है, यह सभी जानते हैं।

यहाँ चाटसुके लेखपर पुनः विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसमें गुहिलवंशका उल्लेख है और यह गुहिलवंश तथा मेवाड़का गुहिलवंश एक मान लिया गया है। इस शिलालेखमें भर्तृपट्टसे आरम्भ कर बारह राजाओंके नाम दिये गये हैं और वे इस प्रकार हैं—१ ईशान-भट, २ उपेन्द्रभट, ३ गुहिल, ४ धनिक, ५ ओक, ६ कृष्णराज, ७ शंकर-गण, ८ हर्षराज, ९ गुहिल, १० भट्ट, ११ भटादित्य और १२ विग्रह राज। इनमेंसे हर्षराजके सम्बन्धमें लिखा है कि इसने उत्तरके राजाओंको जीत लिया और भोजराजको घोड़ा नज़र किया। इससे सूचित होता है कि वह भोजराजका समकालीन और उसके अधीन था। उसका समय ८४० ई० ठहरता है। डाक्टर भाण्डारकरके कथनानुसार इस भोजको कन्नौजका सम्राट् भोज प्रतिहार मान कर यह समय दिया गया है। अब हम वंश-संस्थापक भर्तृपट्टका समय श्रीहर्षसे आठ पीढ़ी ऊपर जाते

तो यह ८४०—१६०=६८० ई० के लगभग आता है। बाप्पाका निश्चित समय ७५० ई० है और कालभोजको ही बाप्पा मान लें तो आटपुराकी वंशावलीमें भी भर्तृपट्ट कालभोजके ६ पीढ़ी नीचे रखा गया है। फलतः वह भर्तृपट्ट यह नहीं हो सकता। चाटसुके लेखका भर्तृपट्ट गुहिलवंशी अवश्य है, पर वह ६८० ई० के आसपासका है और आटपुराके लेखका भर्तृपट्ट (७५० ई०) बहुत वर्ष बाद हुआ। अतः यही मानना ठीक है कि भर्तृपट्ट नाम इस वंशमें दो तीन बार आया और एक भर्तृपट्ट बाप्पाके पहले और एक पीछे हुआ। इसी प्रकार बाप्पाके पूर्वके भर्तृपट्टका गुहिलवंश आटपुरावाले लेखमें कथित गुहिलवंशसे भिन्न है। गुहदत्त अथवा गुहिल और कालभोजके बीच कोई भर्तृपट्ट नहीं हुआ। फलतः ऐसा दिखाई देता है कि चाटसुके शिलालेखमें वर्णित गुहिलवंश बाप्पाके पहलेका है जिसमें शील (६४६ ई०) तथा अपराजित, ये दो राजा हुए और इस वंशका आरम्भ वलभीके गुहसेन अथवा गुहिल राजासे हुआ। तात्पर्य यह कि चाटसु शिलालेखका गुहिलवंश, और आटपुरा शिलालेखका गुहिलवंश, जैसा कि श्री गौरीशंकर ओझा मानते हैं, एक नहीं हैं। (पृ० २८३)

इस प्रकार शील और अपराजितके शिलालेखोंसे उत्पन्न होनेवाली कठिनाईका परिहार हो जाता है। अब दूसरी अड़चन यह उपस्थित होती है कि यदि गुहदत्तको ही बाप्पा मानें तो आटपुरा-लेखकी वंशावलीके राजाओंका औसत राज्यकाल बहुत कम ठहरता है। बाप्पाने ७६३ ई० में राज्य-त्याग किया, यह हम स्थिर कर चुके हैं। इसके बादकी वंशावलीके शील और अपराजितको पहलेके शील-अपराजितसे भिन्न मानें तो भर्तृपट्ट द्वितीय, जिसका १००० विक्रमाब्द (९४३ ई०) का शिलालेख मिला है, १६ वीं पीढ़ीका राजा ठहरता है। अतः १५ पीढ़ियोंके लिए १८० वर्षका ही समय बचता है। अर्थात् प्रत्येक पीढ़ीके राज्य-कालका औसत १२ साल आता है। यह बहुत ही कम है। इसीसे डाक्टर भांडारकरने कालभोजके पुत्र प्रथम खोम्माणको ही बाप्पा बना दिया है। इससे प्रत्येक पीढ़ीका औसत काल २०-२० वर्ष पड़ जाता है। पर साधाणतः माने

हुए औसतको कायम रखनेके लिए स्पष्टतः वर्णित वंशावलीमें उलट पुलट करना कदापि उचित नहीं है। कारण यह कि पहले तो हम इसी वंशावलीमें देखते हैं कि भर्तृपट्ट द्वितीय (१००० वै०) के बादके चार राजाओंमें से प्रत्येकके लिए १२ वर्षसे भी कम समय पड़ता है। शक्तिकुमारका शिलालेख १०३८ वै० का मिला है। इस प्रकार आटपुराके लेखमें ही ३८ वर्षमें चार पीढ़ियोंका होजाना बताया गया है। अर्थात् प्रत्येक पीढ़ीके लिए ९ ही वर्ष दिये गये हैं। फिर, यदि कालभोजको ही बाप्पा मानें और जिस शीलका ६४६ ई० का शिलालेख मिला है उसे उसका पूर्वज मानें तो जब बाप्पाका राज्यारोहण-काल ७३० ई० निश्चित हो चुका है तब आगे शीलतक तीन ही राजा होते हैं और उनका राज्यकाल ८६ वर्ष—प्रत्येक पीढ़ीका २९ वर्ष—रखना पड़ता है। ओझाजीकी रायमें ऐसा होना असम्भव नहीं है, क्योंकि अर्वाचीन इतिहासमें अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरङ्गजेब लगातार चार राजाओंका दीर्घ कालतक राज्य करते जाना मिलता है। पर इसपर हमारा निवेदन यह है कि जैसे लगातार दीर्घकालतक राज्य करनेवाले राजाओंका दृष्टान्त इतिहासमें मिलता है वैसेही अल्प कालतक राज्य कर चल बसनेवाले राजाओंकी परम्परा भी उसमें उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, पेशवाओंने लगभग १०० वर्ष राजकाज किया और इतने ही समयमें उनकी ७ पीढ़ियाँ हो गयीं (१ बालाजी, २ बाजीराव, ३ नाना साहब, ४ माधवराव, ५. नारायण राव, ६ सवाई माधवराव और ७ बाजीराव द्वितीय; बीचमें रघुनाथ राव और अमृतराव जो आ कूदे थे वह अलग ही है)। इनका औसत १४ वर्ष पड़ता है। सार यह कि केवल २० वर्षका निश्चित औसत निकालनेके ही लिए शिलालेख-वर्णित वंशावलीमें उलट-पुलट करना अनुचित है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि आटपुरावाले शिलालेखके प्रथम श्लोकमें जिस गुहदत्तका वर्णन है उसे हमारे मतानुसार गुहिलसे भिन्न मानें और उक्त लेखमें जो १ गुहदत्त, २ गुहिल, ३ भोज, ४ महेन्द्र, ५ नाग, ६ शील—इस क्रमसे वंशावली दी है, उसमें छठे शीलको वही शील मानें जिसका ७०३ विक्रमाब्द (६४६ ई०) का शिलालेख मिला है तथा उसके

ऊपरकी ५ पीढ़ियोंमेंसे प्रत्येकका समय २०-२१ वर्षका रखें तो गुहदत्तका समय १०० वर्ष आगे जाकर ५४६ के आसपास ठहरता है और इस प्रकार वह वलभी राजवंशका गुहसेन ठहरता है। यही नहीं, कालभोजको ही बाप्पा मान कर गुहसेनसे कालभोजतककी पीढ़ियोंको ही लें तो भी निष्कर्ष यही निकलता है। क्योंकि कालभोज उर्फ बाप्पाका राज्यारोहण-काल तो ७३४ ई० निश्चित हो चुका है। उससे पहलेकी पीढ़ियाँ आटपुरा-लेखमें इस प्रकार दी हुई हैं—१ गुहदत्त, २ गुहिल, ३ भोज, ४ महेन्द्र, ५ नाग, ६ शील, ७ अपराजित, ८ महेन्द्र द्वितीय। आठ पीढ़ियोंमेंसे प्रत्येकका राज्यकाल २५ वर्ष रखें तो गुहदत्तका समय २०० वर्ष पीछे जाता है जो वलभीके गुहसेनका ही समय (५३९ ई०) है। यह निष्कर्ष एक दृष्टिसे हमें अनुचित नहीं जान पड़ता। कारण यह कि वलभी वंशके जिस राजासे नागदावाली शाखा निकली, आटपुरावाले लेखमें उसका प्रथम उल्लेख होना ठीक ही है। परन्तु पंडित गौरीशंकर ओझा आटपुरा वाले लेखके गुहदत्तको ही वलभीका गुहसेन मानते हों, ऐसा स्पष्ट नहीं दिखाई देता। उनके मतसे किसी अनिश्चित राजाके सिक्के आगरेके पास मिले हैं और वही गुहदत्त है। पर ओझा जी अथवा दूसरा कोई व्यक्ति कहे कि गुहदत्त और वलभीके गुहसेन एक ही थे तो वह यद्यपि उपर्युक्त रीतिसे ठीक होगा, परन्तु आटपुरा और चित्तौड़वाले लेखोंकी अभिन्नताका विचार रखते हुए हमारे मनमें यह बात नहीं बैठती, कारण यह कि ऐसा होनेसे आटपुरावाले लेखमें बाप्पाके असाधारण पराक्रम—मुसलमानोंको हरा कर चित्तौड़की गद्दी हस्तगत करने—की उपेक्षा होती है, जो वहां उल्लेखनीय है। फिर कालभोजका नाम लेनेके समय कुछ तो उसकी बड़ाईकी चर्चा होनी ही चाहिये थी। पहले श्लोकका जयजयकार गुहसेनके हिस्से पड़ा। बीचमें कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं। १०२८ वै० के शिलालेखमें बाप्पाके पराक्रम वल्कि नामतकका उल्लेख न होना असंभव बात है। ६ वर्ष पहलेके नरवाहनके लेखमें बाप्पाका नाम भी आया है और उसकी बड़ाई भी उचित प्रकारसे गायी गयी है ("गुहिल गोनत्ररेन्द्रचन्द्रः")। दूसरी बात यह कि "आनन्दपुरविनिर्गत" विशेषणका गुहसेनके विषयमें प्रयोग

नहीं हो सकता । वलभीका ही नाम आनन्दपुर होनेकी बात अभीतक प्रसिद्ध नहीं हुई है । यह सही है कि आनन्दपुर नाम कई नगरोंको मिल चुका है और आजकल विशेषतः बड़नगरका नाम है और यदि गुहदत्त ब्राह्मण रहा होता तो उसके लिए आनन्दपुरका महीदेव अर्थात् बड़नगरका ब्राह्मण कहना ठीक ही होता । पर हम पहले ही दिखा आये हैं कि गुहदत्त न तो ब्राह्मण था और न बड़नगरका निवासी । क्योंकि आबू और चित्तौड़के शिलालेखोंमें आनन्दपुरसे नागदाका अभिप्राय होना स्पष्ट है । अतः "आनन्दपुरविनिर्गत" (नागदासे आया हुआ) विशेषण वाप्पाके लिए ही प्रयुक्त हो सकता है । वह मूलतः नागदा-निवासी था और उसने चित्तौड़के गुहिलवंशकी स्थापना की । डाक्टर भांडारकर अपनी आदतके अनुसार चित्तौड़के शिलालेखका भाषान्तर देते समय भी "तद्" शब्दका अर्थ करना छोड़ गये हैं । "जीयादानन्दपूर्वं तदिहपुरमिलाखण्ड सौन्दर्यशोभि" का अनुवाद (बंगाल रा० ए० सो० न्यूसिरीज, जिल्द ५, पृष्ठ ७०) उन्होंने केवल "मे आनन्दपुर बी विक्टोरियस व्हिच शाइनज़" इ० * दिया है । वास्तवमें "मे दैट आनन्दपुर" † होना चाहिये था । 'तद्' (वह) से पूर्व श्लोकमें वर्णित नागह्रदका मतलब है । चित्तौड़वाले लेखके इस श्लोकसे स्पष्टतः यह अर्थ निकलता है कि वाप्पा नामधारी विप्र आनन्दपुर अर्थात् नागह्रदका रहनेवाला था । आशय यह कि चित्तौड़ और आटपुरा दोनों स्थानोंके लेखोंसे यह बात स्पष्ट है कि वाप्पाका मूलस्थान आनन्दपुर अर्थात् नागह्रद था और नागह्रदका दूसरा नाम आनन्दपुर होनेकी बात प्रसिद्ध ही है । अतः हमारा कहना यह है कि आटपुरावाले लेखका "आनन्दपुरविनिर्गत' विशेषण गुहसेनके लिए नहीं व्यवहार किया जा सकता, वाप्पाके ही लिए किया जा सकता है, क्योंकि उसने वहांसे आकर चित्तौड़ विजय किया और वहां स्थापित हुआ । 'विनिर्गत' शब्दका अर्थ यही होता है कि एक मनुष्य एक स्थानका निवासी था, पर उसे छोड़कर वह अन्यत्र जा बसा । इसी प्रकार "विप्र कुलानन्दन" विशेषणका भी

* May Anandpur be victorious which shines etc.

† May that Anandpur

वाप्पाके लिए उचित रीतिसे प्रयोग किया जा सकता है। अवश्य ही इस शब्दका प्रयोग अनुप्रास (आनन्दपुर और आनन्दन) लानेके लिए किया गया है, फिर भी उसमें कुछ अर्थ तो होना चाहिये। अतः उसमें बाप्पाकी अतिशय ब्राह्मण-भक्ति और हारीत मुनिकी उचित सेवाका निर्देश दिखाई पड़ता है। हमारे मतसे सारी वातोंका बाप्पाके चरित्रसे पूरी तरह मेल है। जिस आटपुरा-लेखमें मेवाड़के समस्त राजकुलकी वंशावली दी हुई है उसमें वाप्पाके पराक्रम और वड़प्पनकी चर्चातक न होना असंभव है, अतः यही जान पड़ता है कि इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें बाप्पाका ही उल्लेख है। तात्पर्य यह कि नरवाहनके शिलालेख और आबू-चित्तौड़वाले शिलालेखोंकी संगति आटपुरावाले लेखसे बैठानेसे यह बात निश्चित जान पड़ती है कि इस (आटपुरा) शिलालेखके प्रथम श्लोकमें वंशसंस्थापक बाप्पाका ही जय-जयकार तथा गुहदत्त शब्दसे उसीका निर्देश किया गया है।

अन्तमें इस बातका विचार करना है कि उक्त श्लोकमें बाप्पाके लिए गुहदत्त नामका प्रयोग कैसे किया गया। हम इसी भागमें अन्यत्र (पृष्ठ ११४) लिख आये हैं कि बाप्पा मूल नाम था, वंशसंस्थापक होनेके कारण "बाप" (पिता) के अर्थमें इसका प्रयोग नहीं चला था। अब कहना यह है कि सम्पूर्ण वंशपरम्पराको देखते बाप्पाका दूसरा नाम भी होना संभव है, वह नाम गुहदत्त है, और वंशपरम्पराका सम्बन्ध दिखानेके लिए वह आटपुरावाले लेखमें दिया गया है। हमारे सिद्धान्तानुसार वलभी राजवंशकी एक शाखा नागदामें स्थापित हुई और उसीमें बाप्पाका जन्म हुआ। रायसागर वाले शिलालेखमें लिखा है कि इस शाखाके राजा 'आदित्य' उपपदवाले नाम ग्रहण किया करते थे। इस लेखमें ये नाम दिये हैं और उनका क्रम यह है—१पद्मादित्य, २ शिवादित्य, ३ हरदत्त, ४ सुजसादित्य, ५ सुमुखादित्य, ६ सोमदत्त, ७ शीलादित्य, ८ केशवादित्य, ९ नागादित्य, १० भोगादित्य, ११ देवादित्य, १२ आसादित्य, १३ कालभोजादित्य, १४ गुहादित्य (भावनगर इं० पृष्ठ १५०)। यह लेख सत्रहवीं सदीका है और मालूम होता है कि उस समय कितने ही नाम विस्मृत हो गये थे जिनकी जगह दूसरे नाम कल्पित

कर लिये गये हैं। पर इसमें एक नाम शीलादित्य आया है। यह वही शीलादित्य होगा जिसका ७०३ वै० का शिलालेख मिला है—प्रो० रि० वेस्टर्न सर्किल १९०९, पृष्ठ ४८ पर जिस शीलादित्यका उल्लेख है उसका, (भांडारकर डी० आर० इं० ऐ० भाग ३९) केवल शील नामवाले राजाका नहीं। यहां यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि मेवाड़में ऐसी दन्तकथा है कि वलभीसे वंशशाखा चल निकलने पर १४ पीढ़ियोंतक तो आदित्य उपपद बना रहा, पर जब बाप्पाने नया वंश चलाया तब यह उपपद त्याग दिया गया और इसीसे आटपुरावाले लेखमें कोई नाम आदित्यान्त नहीं है। इस कारण हमारा कहना है कि इस लेखमें उल्लिखित शील भिन्न है और ७०३ वै० के शिलालेखका शीलादित्य भिन्न पुरुष है। पर जो बात हमें यहां मुख्यतः कहनी है वह यह है कि १४ नामोंमें अन्तिम नाम गुहादित्य है। दूसरी बात इस रायसागरवाले लेखसे यह भी दिखाई देती है कि दो चार नामोंके अन्तमें आदित्यके बदले केवल दत्त पद है और इसका कारण उच्चारणकी सुविधा होगा। अतः आटपुरावाले लेखका गुहदत्त नाम गुहादित्यके बदले लिखा जाना संभव है और श्लोककी वृत्त-मर्यादाकी रक्षाके लिए ऐसा किया गया होगा। बाप्पा नागदाके आदित्यान्त नामवाले राजाओंमें अन्तिम था। उसने चित्तौड़में अपना राज्य स्थापित किया और उससे एक अतिशय शौर्यशाली तथा प्रसिद्ध वंशका आरंभ हुआ। उसके पुत्रका नाम गुहिल होनेसे इस वंशको गुहिलोत नाम मिला। आटपुरावाले प्रथम वादग्रस्त श्लोकका अर्थ हम ऐसा ही करते हैं और श्री गौरीशंकर ओझासे इस विषयमें हमारा मतभेद होनेसे हम कुछ डरते डरते यह अर्थ पाठकोंके सामने रख रहे हैं। अन्तमें हम फिर कहना चाहते हैं कि आटपुरावाले लेख (१०३८ वै०) का अर्थ आबू और चित्तौड़ गढ़वाले लेखोंसे (१२२२ तथा ४१ वै०) मेल बैठाकर ही करना उचित है। इन्हीं लेखोंकी पुनरुक्ति बाणपुरावाले लेख (१४९८ वै०)में हुई है। इन तीनों लेखोंमें दी हुई वंशावली इस प्रकार है—१ श्री बाप्पा, २ श्री गुहिल, ३ भोज, ४ महेन्द्र, ५ शील, ६ कालभोज, ७ भर्तृपट्ट, ८ सिंह आदि। इस अर्वाचीन लेखमें यदि वंशावलीमें थोड़ा अदल-बदल होगया हो तो उसका

पुराने लेखोंसे संशोधन कर लेनेसे ही काम हो जायगा । शिलालेखोंके पूर्व प्रामाण्यका नियम अवश्य होना चाहिये । पर जब अर्वाचीन लेखका पुराने लेखसे विरोध न हो तब वह अवश्य माननीय है । अतः हम चित्तौड़ और घाणपुरके तथा सर्वोपरि आटपुरावाले लेखको अग्राह्य कर कालभोज अथवा खोम्माणको बाप्पा मान लेनेके लिए तैयार नहीं हैं । फलतः हम आटपुरावाले लेखकी विस्तृत वंशावलीके प्रारंभमें बाप्पाका नाम रखते हैं ।

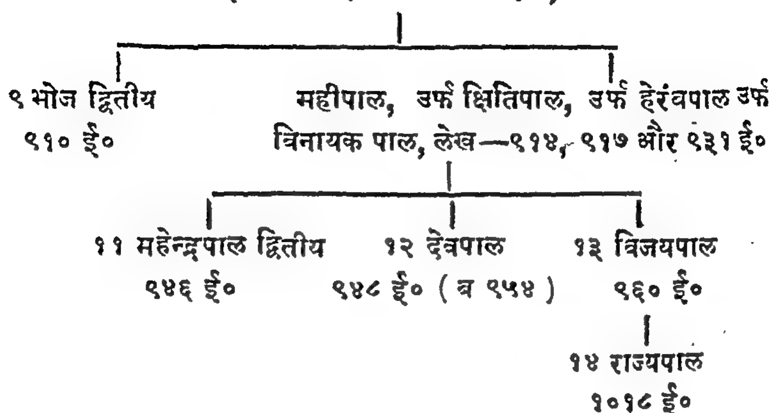
---

(७) हालकी ऐतिहासिक खोज और इस कालके इतिहासके सम्बन्धमें उससे उपलब्ध तथ्य ।

१—कन्नौजका प्रतिहार राजवंश ।

रायबहादुर गौरीशंकर ओझाने हालमें ही प्रतिहार राजवंशका एक नया शिलालेख प्रकाशित किया है । इससे इस वंशके राजाओंकी सूचीमें एककी वृद्धि होती है । इस राजाका नाम महेन्द्रपाल द्वितीय मालूम होता है (प्रतापगढ़का शिलालेख, एपि० इं० भाग १४, पृष्ठ १८२७) । ओझाजीने इस लेखकी मिति १००३ पढ़ी है । उसे विक्रम संवत् माननेसे इस लेखका काल ९४६ ई० ठहरता है । इस लेखमें वंशावलीका आरंभ महाराज देवशक्तिसे किया गया है और प्रत्येक राजाकी माता और इष्टदेवका नाम भी दिया है । यह विशेषता प्रतिहार राजाओंके लेखोंकी साधारण प्रथाके अनुरूप ही है । सम्राट् प्रतिहार घरानेकी जो वंशावली हमने १७६–७७ पृष्ठपर दी है उसमें महेन्द्रपाल द्वितीयका नाम नहीं है । प्रतापगढ़में उपलब्ध दानपत्रका कर्त्ता यही है । उसमें यह विनायकपालका पुत्र कहा गया है । खजुराहोके शिलालेखमें (एपि० इं० भाग १) हेरब-

पालके पुत्र हयपति देवपालका उल्लेख मिलता है और सियाडोनीका शिलालेख (एपि० इं० भाग १) भी "क्षितिपाल पादानुध्यात देवपालः" कहकर उसका १००५ विक्रमाब्द अर्थात् ९४८ ई० में उल्लेख करता है। ये दोनों देवपाल एक ही माने गये हैं (अर्थात् देवपालके पिता क्षितिपालका ही दूसरा नाम हेरम्बपाल होना मान लिया गया है), परन्तु पंडित गौरीशंकर ओझाकी राय है कि ये दोनों देवपाल एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि प्रतिहार सम्राटोंकी उपाधि हयपति होना नहीं दिखाई देता। पर इस विषयमें हमारा मत यह है कि हयपति विशेषणसे कन्नौजके प्रतिहार राजाओंका ही बोध होता है। हम लिख चुके हैं कि अरबी प्रवासियोंके वर्णनोंसे प्रकट होता है कि कन्नौजके प्रतिहार राजा अपनी घुड़सवार सेनाके लिए प्रसिद्ध थे (देखो पृ० २५६)। दूसरे परिशिष्टमें उद्धृत शिलाहारोंके नवीन शिलालेखमें भी "वाजीश" शब्द स्पष्टतः कन्नौजके प्रतिहारोंके लिए लिखा हुआ मिलता है (पृ० ४४९)। अतः यह सिद्ध है कि कन्नौजके प्रतिहार राजाओंने चाहे स्पष्टरूपसे हयपति पदवी ग्रहण न की हो अथवा अपने शिलालेखोंमें उसका व्यवहार न किया हो, परन्तु अन्य राष्ट्रों तथा उनके लेखोंमें उन्हें यह उपाधि दी गयी है। प्रतिहारोंने अपने लेखोंमें अपने आपको गुर्जर नहीं कहा है, परन्तु राष्ट्रकूट और अरब लेखकोंने उन्हें गुर्जर कहा है। इसी तरह यह पदवी भी दूसरोंके द्वारा उन्हें मिली हुई दिखाई देती है। अतः यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि खजुराहोवाले दूसरे राष्ट्रके लेखमें हेरम्बपालके पुत्र जिस हयपति देवपालका उल्लेख है वह कन्नौजका प्रतिहार राजा देवपाल ही है और उसीसे यशोवर्माको वैकुण्ठकी (विष्णुकी) मूर्ति प्राप्त हुई और सियाडोनीका लेख प्रतिहारोंका ही लेख है इसलिये उसमें "क्षितिपाल पादानुध्यात" मात्र कह कर उसीका (देवपालका) उल्लेख किया गया है। इन दोनों देवपालोंको भिन्न भिन्न व्यक्ति मानकर ओझाजीने जो वंशावली दी है उसे यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, पर दोनोंको एक मानकर जो नयी वंशावली दी है उसे उद्धृत कर देना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—



पंडित गौरीशंकर ओझाकी दी हुई इस वंशावलीके सम्बन्धमें हम अपने दो विचार पाठकोंके सामने रखना चाहते हैं। पहला यह कि यह बात संभव है कि देवपालका ही दूसरा नाम महेन्द्रपाल रहा हो। उसके समय ९४६ और ९४८ में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। और महेन्द्र देवका ही एक विशिष्ट रूप है। दूसरा यह, कि खजुराहोका पूर्वोक्त शिलालेख ९५४ ई० का है और उसके अन्तमें "विनायकपालके राजत्वमें" शब्द लिखे हैं, जिससे हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि ९५४ ई० तक चन्देल राजा नामधारी प्रतिहार सम्राटोंका साम्राज्य स्वीकार करते थे। पर इस दशामें यह मानना पड़ेगा कि तबतक विनायकपाल जीवित था। परन्तु विनायकपाल उर्फ महीपाल इस समय मर चुका था, ९४८ ई० के सियाडोनीवाले शिलालेखमें उसके पुत्र देवपालका उल्लेख हुआ है। अब यह मान लें कि ९५५ ई० तक जीवित रहनेवाला विनायकपाल दूसरा था और मरणोन्मुख मुगल साम्राज्यका अधिकार जिस तरह मराठे और अंग्रेज मानते थे उसी प्रकार उसका (विनायकपालका) आधिपत्य चन्देल राजा स्वीकार करते थे, तो वंशावलीमें पुनः संशोधन कर यह मानना होगा कि देवपालके विनायकपाल नामका पुत्र था, वंशावलीमें

उसका १३ वाँ स्थान था और वह बहुत ही थोड़े दिन राज्य कर सका और उसके बाद उसका चचा विजयपाल गद्दीपर बैठा । मथनदेवके राजोर स्थानके शिलालेखसे इसका काल ९६० ई० निश्चित हो गया है (एपि० इं० भाग ३) । दादाका नाम पोतेको देनेकी प्रथा सभी कहीं है । प्रतिहार वंशावलीमें भी वह दिखाई देती है और तदनुसार विनायकपालके पुत्र देवपालका नाम पुनः विनायकपाल पड़ना क्रमप्राप्त है । तथापि और खोजसे जबतक इस सम्बन्धमें अधिक जानकारी नहीं होती तबतक हमारी राय ओझाजीका संशोधन स्वीकार कर लेनेकी है ।

एक और महत्वपूर्ण बात कहनी है और वह यह कि इस नवप्रकाशित दानपत्रपर महेन्द्रपालकी सही केवल 'श्रीविदग्ध' अथवा 'विदग्ध' लिखकर की हुई है । संभव है, भविष्यमें इस पदवीके सहारे देवपालसे उसकी एकता अथवा भिन्नता सिद्ध की जा सके । खुद देवपालका कोई लेख अभीतक नहीं मिला है । स्मिथने प्रतिहारोंके लेखोंकी जो सूची दी है (ज० रा० ए० सो० १९०९ ई० पृ० ३३) उसमें देवपालका उल्लेख खजुराहो और सियाडोनीके शिलालेखोंके आधारपर किया गया है । देवपालका शिलालेख मिलनेसे यह समझना संभव होगा कि प्रतिहार सम्राटोंकी प्रथाके अनुसार उसने अपनी सही करते समय कौनसी पदवी ग्रहण की थी । जबतक उसका खास लेख नहीं मिलता तबतक यह विषय अनिर्णीत ही रहेगा ।

२—परमार राजवंश ।

पूर्वोक्त प्रतापगढ़के शिलालेखसे एक प्रश्न और भी उपस्थित होता है और वह धारके परमार राजाओंके सम्बन्धमें है । इस लेखसे मालूम होता है कि इन्द्रराज नामक किसी चौहान माण्डलिक राजाने प्रतापगढ़में एक सूर्य-मन्दिर बनवाया था और उसकी विनतीपर श्रीविदग्ध सम्राट् अर्थात् द्वितीय महेन्द्रपालके महासामन्त महादण्डनायक दामोदर-पुत्र माधवने उस मन्दिरको एक गाँव दान किया । यह दान उज्जैनमें किया गया और दानपत्रपर माधव तथा श्रीविदग्ध दोनोंकी सही है । इस दानकी मिति

नहीं लिखी है, पर इसका काल उक्त घटनाके समय ९४६ ई० (१००३ वै०) के पास ही होना चाहिये। इससे यह भी प्रकट होता है कि ९४६ ई० तक मालवा और उसकी राजधानी उज्जैनपर कन्नौजके सम्राटोंका अधिकार था। परन्तु परमारोंके प्रकरणमें (पृ० १९१) हम लिख चुके हैं कि कृष्ण परमारने ९१० ई० के लगभग मालवा और उज्जैनपर अपना अधिकार स्थापित किया। ऐसी स्थितिमें ९४६ ई० में कन्नौजके प्रतिहार सम्राट्के प्रतिनिधि माधवका उज्जैन जाना कैसे संभव होगा। इससे यह बात तो सिद्ध होती है कि हमारा यह कहना ठीक है कि कृष्णराजके पहले मालवापर परमारोंका अधिकार नहीं स्थापित हुआ था। परन्तु प्रस्तुत प्रतापगढ़वाले लेखके कारण यह भी मानना पड़ता है कि ९१० ई० का कृष्णराज परमार भी मालवाका स्वतंत्र राजा न हो सका था। वह वस्तुतः पूर्ण स्वतंत्र रहा हो तो भी पूर्व प्रथाका अनुसरण कर कन्नौजके सम्राट्के प्रतिनिधि (गवर्नर) को उज्जैन आने देता था। इतिहास बताता है कि विनाशोन्मुख साम्राज्यके प्रतिनिधि (वायसराय) कुछ दिन चलाये जाते हैं। लोगोंके समाधानके लिए यह स्वांग, बंगालकी दीवानगिरीकी तरह, कुछ दिन बनाये रहना पड़ता है। अंग्रेजोंने प्रत्यक्षतः बंगालपर अधिकार कर लिया था, फिर भी मुमूर्षु मुग़ल साम्राज्यसे कुछ दिनोंके लिए उसकी दीवानीका ठेका ले लिया और जब कुछ दिनमें धीरे धीरे लोगोंका मन बदल गया तब मुग़लोंका अधिकार खुल्लमखुल्ला अस्वीकार कर दिया।

३—राष्ट्रकूट वंश।

एपिग्राफिका इंडिका भाग १४ पृष्ठ १२५ में एक नया लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें डाक्टर भाण्डारकरके मतके आधारपर श्री सुखठाणकर लिखते हैं कि "दन्तिदुर्गके पश्चात् कृष्णने सरल उत्तराधिकारके मार्गसे ही गद्दी प्राप्त की, दन्तिदुर्गका उच्छेद करके नहीं जैसा कि बड़ोदाके दानपत्रसे डाक्टर फ्लीट अनुमान करते हैं। इस भागमें पृष्ठ ३०-३१ पर हमने कृष्णपर लगाये गये इस अपवादकी चर्चा की है और यह मत दिया है

कि कृष्णने दन्तिदुर्गका वध करके राज्य हस्तगत किया तथा यह भी कहा है कि यह बात एक ही दानपत्रमें मिलती हो तो भी वह मान लेने लायक है। यह दानपत्र खुद कृष्णका ही है जिसका काल शकाब्द ६९४=ईसवी ७७२ है। उसे प्रकाशित करते हुए श्री सुखठाणकर लिखते हैं—"चूँकि कृष्ण दन्तिदुर्गकी किसी बुराईकी चर्चा नहीं करता है इसलिये यह बात विश्वासके योग्य नहीं है कि आगे चलकर दन्तिदुर्गके कुपथगामी होनेपर कृष्ण उसका उन्मूलन कर स्वयं राज्यारूढ़ हुआ।" इस विषयमें भिन्न भिन्न लेखोंकी समीक्षा करनेके अनन्तर हमारी राय है कि इस मतको थोड़ासा बदल कर स्वीकार कर लेना चाहिये। इस घटनाके ४० ही वर्ष बाद लिखे गये (८१२ ई०) बड़ौदाके दानपत्रमें इस बातका उल्लेख हुआ है। अतः वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। कृष्णकी मृत्युके इतने थोड़े दिन बाद उसके सम्बन्धमें बड़ौदाके दानपत्रमें झूठी बात लिखी जानेका कोई कारण नहीं है। साधारणतः इतने प्राचीन लेखकी प्रत्येक बात-को सच ही मानना चाहिये, मिथ्या तभी मानना चाहिये जब ऐसा समझ-नेके लिए उचित कारण हो। बादके शिलालेखादिमें जो इस बातकी पुनः चर्चा नहीं की गयी इसका कारण यह होगा कि यह घटना लोगोंको भूल गयी होगी अथवा इस अप्रासंगिक बातका उल्लेख अनावश्यक समझा गया होगा। इसी प्रकार दो सौ साल पीछे कर्डाके दानपत्रमें (९७२ ई०) इस गलत बातका लिखा जाना संभव है कि दन्तिदुर्गके पुत्र न था इसलिये उसका चचा कृष्ण गद्दीपर बैठा, क्योंकि इतने दिन बाद यह बात भूल गयी होगी कि कृष्णने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया था।

अतः सब लेखोंकी संगति मिलानेके लिए हम इस वृत्तान्तमें इस प्रकार थोड़ासा संशोधन कर लेनेकी सलाह देते हैं कि दन्तिदुर्गके काल-गतिसे परलोक गमन करने पर उसके पुत्रके दुराचारी होनेके कारण कृष्णने उसे हटाकर राज्यको स्वाधिकृत कर लिया। बड़ौदावाले दानपत्रके शब्द कुछ अनिश्चितार्थक हैं और उनसे यह अर्थ निकाला जा सकता है। ये शब्द हैं—"यो वंश्यमुन्मूल्य विमार्गभाजं राज्यं स्वयं गोत्र हिताय चक्रे" इनमें 'वंश्य' सामान्य शब्द है जिसका अर्थ दन्तिदुर्गका पुत्र भी हो

सकता है। इसके सिवा इस उक्ति द्वारा राजनीतिका एक तत्व भी सूचित किया गया है और वह यह कि राज्यका वास्तविक उत्तराधिकारी यदि दुराचारी होनेके कारण राजा होनेके अयोग्य हो तो उसके बादके उत्तराधिकारीको चाहिये कि "गोत्र-हिताय" उसे हटाकर स्वयं राज्यारूढ़ हो जाय। राष्ट्रकूट राजवंशकी अगली पीढ़ीमें इसी तत्वका अनुसरण हुआ दिखाई देता है। कारण यह कि आगेके दानपत्रमें लिखा है कि कृष्णका बड़ा लड़का विषयभोगमें निमग्न हो गया था इसलिये उसके छोटे भाई ध्रुवने उससे राज्य छीन लिया (देखिये देवलीका दानपत्र)। पैठणके लेखमें (एपि० इं० भाग ३ पृ० १६७) तो यहांतक लिखा है कि कांची, गंग, वेंगी और मालव राजाओंने गोविन्दकी सहायता की, तिसपर भी ध्रुवने उसको हरा दिया। इससे पता चलता है कि राजनीतिका सदाका ढंग उस समय भी प्रचलित था और उस समय भी पास-पड़ोसके राजा भाई भाईके झगड़ेमें दख़ल देनेके मौक़ेकी ताकमें रहते थे। परन्तु इन दोनों प्रसंगोंसे यह भी प्रकट होता है कि इस समयके राजपूत राजा राजनीतिमें पक्के थे और साधारण लोग भी शुद्धाचारी तथा तेजस्वी राजाका ही पक्ष लेते थे। अस्तु, हमारा मत यह है कि इस नवीन लेखका अर्थ यह न करना चाहिये कि वह खुद आगे चलकर दुराचारी हो गया और कृष्णने उसका बध किया, बल्कि यह करना चाहिये कि उसके पुत्रकी ऐसी गति हुई। बड़ौदाके दानपत्रका अन्य लेखोंसे मेल बैठाते हुए ऐसा माना जा सकता है। *

* राष्ट्रकूटोंके दानपत्र कालानुक्रमसे इस प्रकार हैं—१. हालमें प्रकाशित कृष्ण प्रथमका भांडक स्थानका दानपत्र, ७७२ ई० (एपि० इ० १४); २. पैठणका दानपत्र, ७९४ ई० (एपि० इं० भाग ३, पृ० १६७); ३. बड़ौदाका दानपत्र, ८१२ ई० (इं० एं० भाग १२ पृष्ठ १८२); ४. बगुम्राका दानपत्र, ८६७ ई० (इं० ऐं० भाग १२, पृ० १८७); ५. गोविन्द तृतीयका अलास स्थानका दानपत्र (एपि० इं० भाग ६ पृ० २०९); ६. सामनगढ़का लेख (तथा ई०) और ७. कर्डाका लेख (इं० ऐं० भाग १२ पृष्ठ २६७), ९७२ ई० आदि।

४—बंगालका पाल वंश ।

श्रीयुत बनर्जीने विग्रहपाल तृतीयका आमगाछी स्थानका लेख पुनः प्रकाशित किया है। अनेक वर्ष पूर्व डाक्टर कीलहार्नने इस लेखका आधा भाग प्रकाशित किया था। हालमें प्रकाशित प्रतिमें (एपि० इं० भाग १५ पृष्ठ २९५) पूर्व प्रकाशित वंशावली ही, जो इस पुस्तकमें भी दी गयी है, दी हुई है, केवल एक राजाका नाम अधिक है और वह जयपाल है। यह जयपाल धर्मपालके भाई वाक्पालका पुत्र बताया गया है (इसी भागमें पृष्ठ २२८ पर दी हुई वंशावली देखिये)। इसका पुत्र विग्रहपाल प्रथम हुआ। इसके आगेकी वंशावलीमें कोई फर्क नहीं हुआ है। एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह कि इस दानपत्रके कर्ता तीसरे विग्रहपालके बौद्ध होनेकी बात इस लेखमें स्पष्ट रूपसे लिखी है।

५—मलखेड ।

दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेड अर्थात् मालखेड़ समझी जाती है। इस स्थानको मैं स्वतः जाकर देख आया हूँ। इसका शुद्ध नाम मलखेड है, इस भागमें वह ग़लतीसे मालखेड़ लिख दिया गया है। राष्ट्रकूटोंके लेखोंमें वह "अमरपुरीसे स्पर्धा करनेवाला मान्यखेट" कहा गया है, परन्तु ऐसे विशाल नगरका उस स्थानपर कुछ भी अवशेष अथवा निशान नहीं मिलता। हमारी रायमें उस स्थानपर किसी विशाल नगरका होना सम्भव भी नहीं। कारण यह कि मलखेडके पाससे बहनेवाली कागिणी नदी भी गरमीमें सूख जाती है और वहाँ कुएँ भी नहीं हैं। कुआँ खोदना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज़मीन पथरीली है, पत्थर बहुत ऊपर ही मिलता है और बहुत गहराईतक मिलता जाता है। केवल एक ही बात अनुकूल है और वह यह कि यहाँ कागिणी नदीमें एक नाला मिलता है और इनके सङ्गमके समीप ही एक ऊँचा तथा विस्तीर्ण टीला है, जिसपर आज भी एक विशाल दुर्ग विद्यमान है। प्राचीन कालमें जब तोपें न थीं, आसपासके चौरस मैदानपर इस किलेमें रह कर अधिकार चलाना सुगम था। पर कहते हैं कि वर्तमान क़िला मुजफ्फर नामके मुसलमान सरदारका बनवाया हुआ

है और उसका नाम भी मुजफ्फर क़िला है। यह किला अत्यन्त विस्तीर्ण है। भीतर लगभग ५ हजार आदमियोंकी बस्तीके लायक जगह है। वर्तमान मुसलमान जागीरदार क़िलेमें ही रहता है। क़िलेके भीतर गिरे हुए मकानोंके पत्थर सर्वत्र बिखरे हुए हैं। एक जैन मन्दिरका अवशेष और एक परित्यक्त वैष्णव मठ आज भी विद्यमान है। यह मठ तेरहवीं शताब्दीका बना मालूम होता है। दन्तकथा है कि मुजफ्फरने यह किला कौशल द्वारा एक जैन सरदारसे ले लिया था। इससे अनुमान होता है कि यहाँ किला पहलेसे था, मुजफ्फरने उसको मरम्मत करा कर ठीक किया। राष्ट्रकूटोंने उस पुराने किलेको सुदृढ़ देखकर वहाँ अपनी राजधानी बनायी होगी। जिस प्रकार शिवाजीने रायगढ़के किलेको, उसके बाहर बड़े नगरका बसना संभव न होते हुए भी, अपनी राजधानी बनाया, उसी प्रकार राष्ट्रकूटोंने भी कर्नाटककी नुक्कड़पर सुदृढ़ स्थान देख कर, वहां विस्तीर्ण नगर न होने पर भी, राजधानी बना ली होगी। पुराने समयमें मजबूत किला ही राजधानीका मुख्य अंग था, नगरकी आवश्यकता न थी। अरब पर्यटकोंने लिख रखा है कि मान्यखेट पहाड़ोंसे घिरा हुआ है। पर यह वर्णन मलखेडसे बिलकुल नहीं मिलता। यह बसती बिलकुल चौरस मैदानपर बसी है। हाँ, मूल अरबीमें 'पथरीली जमीन' लिखा हो, अनुवादकने भूलसे इसकी जगह 'पहाड़ियाँ' लिख दिया हो तो अवश्य ही यह वर्णन मलखेडके लिए बिलकुल ठीक उतरेगा। क्योंकि किलेके बाहर घुड़सवारोंकी सेनासे काम लेने लायक स्थान बिलकुल ही नहीं है, इस किलेपर आक्रमण भी पैदल सेनासे ही हो सकेगा और रक्षा भी उसीसे की जा सकेगी। सब बातोंका विचार करनेसे यह बात अब भी संशययुक्त जान पड़ती है कि मलखेड ही राष्ट्रकूटोंका मान्यखेट है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मलखेड वैष्णव लोगोंका तीर्थस्थान है। किलेमें पहले वैष्णवोंका मठ था, उसे छोड़ कर वैष्णव गुरु टीका स्वामी (इन्होंने मध्वाचार्यके ग्रंथोंपर टीका की है) बसतीसे एक मीलकी दूरीपर काँगिणीके किनारे जाकर रहने लगे। वहीं आजकल वृन्दावन है और प्रतिवर्ष यात्रा होती है। किलेमें जैन मन्दिरका अवशेष

है और बसतीमें भी एक पुराना जैन मंदिर है। इससे अनुमान होता है कि पूर्वकालमें यहाँ राज्य था और वह किसी राष्ट्रकूट सरदारका रहा होगा। राष्ट्रकूटोंका झुकाव आगे चलकर जैन धर्मकी ओर हो गया था, यह बात प्रसिद्ध है। किलेमें जैनों और वैष्णवोंके प्राचीन स्थानोंका होना इस बातका सूचक है कि प्राचीन समयमें भी इस स्थानको राजनीतिक महत्व प्राप्त था।

अन्तमें हम प्रस्तुत तथा आगेके कालके संबंधमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करनेवाली बातकी चर्चा करना चाहते हैं जिसकी ओर हमारा ध्यान पीछेसे गया है। गुलबर्गा ज़िला निज़ाम राज्यमें है। मलखेड इसी ज़िलेमें है। इस ज़िलेके अधिकतर लोग कानड़ी भाषा बोलते हैं। परन्तु पटेल, पटवारी गाँवका स्याहा, जमाबन्दी आदि मराठी तथा मोड़ी लिपिमें लिखते हैं। यही नहीं, बाजारके कानड़ी बोलनेवाले व्यापारी भी अपना जमा-खर्च मराठी-मोड़ीमें ही रखते हैं। यह प्रथा कैसे चली, इस विषयमें पूछताछ करनेसे लोगोंने बताया कि यहाँ बीजापुरवालोंका राज्य था, तभीसे यह रिवाज चला आरहा है। हमें मालूम हुआ कि केवल इसी जिलेमें ऐसा रिवाज नहीं है, बल्कि बेलगाँव, धारवाड़ और मैसूर तकके कानड़ी-भाषी प्रदेशमें यही प्रथा है। अवश्य ही इन सब स्थानोंमें बीजापुरके बादशाहका राज्य था। परन्तु मुसलमान बादशाहने मराठीमें हिसाब-किताब रखनेकी प्रथा क्यों चलायी? बहमनी राज्यका विभाग भाषानुसार हुआ, यह स्पष्ट दिखाई देता है। कानड़ी-भाषी प्रदेशमें बीजापुरकी आदिलशाही, मराठी प्रदेशमें नगरकी निज़ामशाही और तेलंगनामें हैदराबाद (गोलकुंडा) की कुतुबशाही स्थापित हुई। इस प्रकार बीजापुरके बादशाहका सम्बंध महाराष्ट्रसे न होने पर भी उसने कानड़ी प्रदेशमें-मराठी मोड़ीमें हिसाब-किताब रखनेकी प्रथा चलायी, यह एक पहेली ही है। हमारे विचारसे इस प्रथाका सूत और भी दूर तक जाता है। बहमनी राज्यकी राजधानी पहले पहल गुलबर्गामें स्थापित हुई थी और इस राज्यकी स्थापना करनेवाला दौलताबाद-निवासी दिल्लीका सूबेदार था। महाराष्ट्रमें आनेवाला यह सम्भवतः पहला मुसल-

मान सरदार था। इसके दौलताबादका होनेके कारण संभव है कि इसीके समयसे उक्त प्रथा चली हो। पर इसको भी आखिर कानड़ी प्रदेशमें मराठी-मोड़ी लिपि चलानेकी अनिवार्य आवश्यकता क्यों जान पड़ी? अतः इस प्रथाको और भी आगे ले जाकर यह मान सकते हैं कि यह देवगिरि (दौलताबाद) के यादव राजाओंके समय चली होगी। देवगिरि-के यादव पक्के मराठे थे। यह प्रसिद्ध बात है कि उनके विख्यात मंत्री हेमाद्रि उर्फ हेमाडपन्तने मालगुजारीका बन्दोवस्त किया और मोड़ी लिपिका आविष्कार किया। अतः यह अनुमान अधिक संभव दिखाई देता है कि यादव राजाओंके समय हेमाडपन्तने यह प्रथा चलायी होगी। अगले भागमें यह बात दिखाई जायगी कि यादवोंके राज्यकी सीमा कृष्णा नदीके पारतक चली गयी थी। अतः गुलबर्गा आदि प्रदेशमें जनताकी भाषा कानड़ी होते हुए भी राज्यकी सुविधाके लिए पटवारीके कागजपत्र और व्यापारियोंका हिसाब-किताब मराठी तथा मोड़ीमें लिखा जाना उचित ही था। आज भी तो कितने ही दफ्तरोंमें अंग्रेजीका चलन है। भूकर और व्यापार-शुल्क उस समय राज्यको प्राप्य था, अतः इनके सम्बंधके कागजपत्रोंका मराठी तथा मोड़ीमें लिखा जाना आवश्यक था। आशय यह कि यादव राजाओंके समयसे यह प्रथा चलनेका अनुमान ठीक बैठता है।

इससे भी आगे जानेपर दिखाई देगा कि राष्ट्रकूटोंका मराठी राज्य गुलबर्गा जिलेके मलखेड स्थानमें था। अतः जनसाधारण कानड़ी बोलते थे अथवा मराठी, इस प्रश्नका उत्तर इस भागमें सन्दिग्ध दिया है। मुसलमानोंने जिसे किरिया भाषा कहा है वह कानड़ी है अथवा मराठी, यह बात अभी सन्दिग्ध ही है। महाराष्ट्रमें कृष्णाके इस पार कानड़ी भाषाका प्रवेश कब हुआ, यह एक मनोरञ्जक ऐतिहासिक प्रश्न है। आजकलका गुलबर्गा जिला शोलापुरके दक्षिण कानड़ी भाषाकी सीमापर स्थित है, इससे वहां प्रायः दोनों भाषाएँ समझी जाती हैं। परन्तु वहांके मूल निवासियोंकी भाषा कौनसी थी यह नहीं मालूम होता। प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयके कागजपत्र मिलनेसे इस विषयपर बहुत प्रकाश पड़ता। परन्तु

दुर्भाग्यवश देशमुख और देशपाण्डे लोगोंके यहां ढूंढ़नेसे अभीतक मुगलोंसे पहलेका कोई कागजपत्र नहीं मिला। मलखेडके पास हेलंब नामक एक बड़े तालुके (तहसील) का स्थान है। वहां एक प्राचीन शिव-मंदिर है। इसके सामने एक स्तम्भ है जो एक ही पत्थरका बना हुआ है। इसकी ऊँचाई लगभग ७५ फुट और मोटाई डेढ़-दो फुट होगी। यह आश्चर्यजनक स्तम्भ किसने कब खड़ा कराया? इस विषयके लेखादि मिलनेसे इन अनेक प्रश्नोंपर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। ऐतिहासिक खोज करनेवालोंको उक्त हिसाब-किताब और कागजपत्र प्राप्त करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

महाराष्ट्रकी राजधानियाँ प्राचीन कालसे प्रायः इसी भागमें रही हैं, अतः यह अनुमान होता है कि यहाँ आदिमें मराठी भाषा रही होगी। पूर्व चालुक्योंकी राजधानी बदामी बीजापुरके पास कृष्णाके उत्तर ओर है। राष्ट्रकूटोंकी राजधानी यहीं कहीं रही होगी। मलखेड अथवा उत्तर चालुक्य राजाओंकी राजधानी कल्याण गुलबर्गासे उत्तर और यादवोंकी राजधानी देवगिरि इसके भी उत्तर है। इसके बाद मुसलमानों-का बहमनी राज्य स्थापित हुआ तो इसने भी गुलबर्गाको और फिर कल्याणके समीपस्थ बेदरको राजधानी बनाया। आशय यह कि यह भूभाग मध्यवर्ती तथा दक्षिणके पांड्य, चोल, केरल, गाँग आदि राज्योंके नुक्कड़पर होनेसे राजधानीके लिए उपयुक्त समझा जाता था और ठीक ही समझा जाता था। इतना कहकर हम यह लेख समाप्त करते हैं।

अनुक्रमणिका

फ

ब

व

स